श्री पट्टावली - परागसंग्रह

लेखक और सम्पादक :

पं० कल्याणविजय गणि

卐

शा. कुन्दनमलजी, छगनराजजी, भमरलालजी, मिश्रीमलजी, तलाजी
श्री मांडवला वालों की आर्थिक सहायता से

प्रकाशक :

श्री क० वि० शास्त्रसंग्रहसमिति के व्यवस्थापक-
शा० मुनिलालजी थानमलजी
श्री जालोर (राजस्थान)

श्रीवीर सं० २४९२
वि० सं० २०२३
ई० सन् १९६६

मूल्य ६ रुपया

मुद्रक :
श्री चिम्मनसिंह लोढ़ा के प्रबन्ध से—
श्री महावीर प्रिन्टिंग प्रेस,
लोहिया बाजार, ब्यावर.

प्रास्ताविक दो शब्द

पट्टावलीपराग ग्रन्थ में दो पट्टावलियां सूत्रोक्त हैं, पहली पर्युषणाकल्प सूत्रोक्त और दूसरी नन्दीसूत्र के प्रारम्भ में लिखी हुई अनुयोगधरों की परम्परा।

इन सूत्रोक्त पट्टावलियों के आगे दिगम्बर सम्प्रदाय की कतिपय पट्टावलियों की चर्चा करके प्रथम परिच्छेद की समाप्ति की है।

द्वितीय परिच्छेद में मुख्य रूप से तपागच्छ की धर्मसागर उपाध्याय-कृत पट्टावली दी है और उसके बाद तपागच्छ की अनेक शाखा-पट्टावलियां और अन्यान्य प्रकीर्णक गच्छों की पट्टावलियां देकर दूसरा परिच्छेद पूरा किया है।

तीसरे परिच्छेद में केवल खरतर-गच्छ की १२ पट्टावलि-गुर्वावलियां देकर इसे भी पूरा किया है।

चतुर्थ परिच्छेद में लौंकागच्छ, बाईस सम्प्रदाय और कडवामत की पट्टावलियां दी हैं।

ग्रन्थ का नाम हमने "पट्टावलीपराग" दिया है, क्योंकि प्रत्येक पट्टावली अक्षरशः न लेकर उसका मुख्य सारभाग लिया है। पट्टावलियों में जहां-जहां समालोचना की आवश्यकता प्रतीत हुई वहां सर्वत्र समालोचना गर्भित उसके गुण-दोषों की चर्चा भी करनी पड़ी है, हमारा उद्देश्य किसी भी पट्टावली के खण्डन-मण्डन का नहीं था, फिर भी जहां-जहां जिनमें

टीका टिप्पण करने की आवश्यकता प्रतीत हुई वहां उन पर टीका-टिप्पणी भी की है, यह बात पाठकगण को पढ़ने पर स्वयं ज्ञात होगी। कई पट्टावलि-लेखकों ने अपनी पट्टावलियों में अपने आचार्यों और उनके कर्त्तव्यों के निरूपण में वास्तविकता से अधिक अतिशयोक्तियां कर मर्यादा का उल्लंघन किया है। ऐसे स्थलों पर आलोचना करना जरूरी समझ कर हमने वहीं सत्य बातें लिख दी हैं। हमारा अभिप्राय किसी गच्छ की पट्टावली का महत्त्व घटाने का नहीं पर वास्तविक स्थिति बताने का था। इसलिए ऐसे स्थलों को पढ़कर पाठक महोदय अपने दिल में दुःख अथवा रागद्वेष की भावना न लायें।

पट्टावली पराग की विशेषता :

पट्टावलियां तो अनेक छपी हैं और छपेंगी, पर एक ही पुस्तक में छोटी-बड़ी ६४ पट्टावलियां आज तक नहीं छपीं। सौत्र-पट्टावलियों के अतिरिक्त "पराग संग्रह" में १ बृहद्गच्छीय, २ तपागच्छीय, ३ खरतर-गच्छीय, ४ पौर्णमिक-गच्छीय, ५ साधु पौर्णमिक-गच्छीय, ६ अंचल-गच्छीय, ७ आगमिक-गच्छीय, ८ लघु पौषध शालिक, ९ बृहत् पौषध शालिक, १० पल्लिवाल-गच्छीय, ११ ऊकेशगच्छीय, १२ लौंकागच्छीय, १३ कटुक-मतीय, १४ पार्श्वचन्द्रगच्छीय, १५ बाईस सम्प्रदाय की और तेरा पंथ आदि की मिलकर ६४ पट्टावलियां 'पट्टावली-पराग' में संगृहीत हैं।

अन्य पट्टावलियों के पढ़ने से प्रायः गच्छों की गुरु-परम्पराओं और उनके समय का ही पता लगता है पर "पट्टावली-पराग" के पढ़ने से उक्त बातों की जानकारी के उपरान्त किन-किन गच्छों की उत्पत्ति में कौन-कौन साधु श्रावक श्राविका आदि निमित्त बने थे इस बात का भी ज्ञान हो जाता है। दृष्टान्त के तौर पर श्री राधनपुर में तपागच्छ में "विजय" और "सागर" नाम के गृहस्थों की दो पार्टियां किस गृहस्थ के प्रपंच से कब हुई? श्री विजयसेन सूरिजी के पट्ट पर श्री राजविजय सूरिजी और विजय-हीर सूरिजी दो आचार्य किन के प्रपंच से बैठे? और ब्रह्मऋषि ने किसके प्रपंच से अपना "ब्रह्म-मत" निकाला इत्यादि अश्रुतपूर्व और रसपूर्ण बातों के खुलासे "पट्टावली-पराग" से पाठकों को प्रामाणिक रूप में मिल सकेंगे।

आंखों की कमजोरी और प्रत्येक फार्म का प्रूफ अपने पास मंगवाने पर ग्रन्थ के मुद्रण में समय बहुत लग जायगा इस विचार से प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रूफ सुधारने का कार्य ब्यावर के एक जैन विद्वान् को सौंपा था और प्रारम्भ में प्रूफ संशोधन ठीक ही हुआ है पर नियुक्त पंडितजी के दूसरे व्यक्ति को प्रूफ देखने का कार्य सौंप कर मास भर तक अन्यत्र चले जाने के बाद में नये प्रूफ रीडर के संशोधन में अशुद्धियां अधिक रह गई हैं, कुछ अशुद्धियां घिसे हुए रद्दी टाइपों के इस्तेमाल करने से भी बढ़ी हैं यह पाठकगण को स्वयं ज्ञात हो जायगा।

हमने प्रूफ रीडिंग की और टूटे घिसे टाइपों के कारण से हुई अशुद्धियां भी शुद्धिपत्रक में ले ली हैं, पाठक महाशय जहां कहीं अक्षर सम्बन्धी स्थल शंकित जान पड़े वहां शुद्धिपत्रक देख लिया करें।

विषयानुक्रम

प्रथमपरिच्छेद [सौत्रपट्टावलियां]

आः]

द्वितीय परिच्छेद [तपागच्छीय पट्टावलियां]

[आगे

तृतीय परिच्छेद [खरतरगच्छ की पट्टावलियां]

चतुर्थ परिच्छेद [लौंकागच्छ और कडवामत की पट्टावलियां]

प्रथम परिच्छेद

[सौत्र-पट्टावलियाँ]

मंगलाचरण

वर्धमानं जिनं नत्वा, वर्धमानगुणोदधिम् ।
पट्टावली-परागस्य, संग्रहोऽयं विधीयते ॥ १ ॥

दशाश्रुताऽष्टमाध्याये, कल्पाध्ययननामनि ।
स्थविरावलिका दृब्धा, प्राच्यैः सा प्रथमा मता ॥ २ ॥

नन्दीमङ्गलमध्यस्था, वाचकानामथावलिः ।
एषा वाचकवंशस्य, द्वितीया स्थविरावली ॥ ३ ॥

स्थविरावलिकायुग्मं, सौत्रमेतत्प्रकीर्तितम् ।
अत्र दिगम्बराम्नाय-संक्षेपोपि प्रदर्शितः ॥ ४ ॥

चन्द्रकुलोद्भवाग्रे, सूरिपट्टपरम्परा ।
क्वचिद् भिन्ना क्वाप्यभिन्ना, "तपागच्छ" मताऽऽदृता ॥५॥

अनेकगच्छसंबद्धाः पट्टावल्यः प्रकीर्णकाः ।
सम्पूर्णाः खण्डिता वापि, यथालब्धास्तथाऽऽदृताः ॥ ६ ॥

आचार्यवर्धमानाद्धि, खरभाविमताः स्मृताः ।
गुर्वावल्य प्रबन्धादि-पट्टावल्यो ह्यनेकधा ॥ ७ ॥

लक्ष--लेखक-कद्वादि--गृहस्थमतविस्तृतम् ।
पट्टावलीद्वयं प्रान्ते, विस्तरेण विवेचितम् ॥ ८ ॥

अर्थ : बढ़ते हुए गुणों के समुद्र ऐसे श्रीवर्धमान जिनको नमन करके पट्टावलियों के सार का यह संग्रह किया जाता है। दशाश्रुतस्कन्ध के अष्टमाध्ययन में, जिसका नाम "पर्युषणा कल्पाध्ययन" है, पूर्वाचार्यों ने स्थविरावली बनाकर उसके अन्तर्गत की, उसको हम "प्रथम स्थविरावली" मानते हैं। नन्दी सूत्र के मंगलाचरण में अनुयोगधरों की जिस वाचकपरम्परा

को वन्दन किया है उस वाचकपरम्परा को अर्थात् अनुयोगधरों की पट्टावली को हम "द्वितीय स्थविरावली" मानते हैं। उक्त दोनों स्थविरावलियां सूत्रोक्त होने से हम इन्हें "सौत्र स्थविरावलियां" कहते हैं। सौत्रस्थविरावलियों का निरूपण करने के अनन्तर बीच में दिगम्बर संप्रदाय के संक्षिप्त स्वरूप का भी दिग्दर्शन कराया है। "चन्द्रकुल" की उत्पत्ति के बाद जो आचार्य-परम्परा चली है उसमें, कहीं कहीं मतभेद भी दृष्टिगोचर होते हैं, फिर भी उसकी मौलिकता में वास्तविक अन्तर नहीं पड़ता। इसी परम्परा को "तपागच्छ" ने अपनी मूल परम्परा माना है और यह मान्यता ठीक भी है।

तपागच्छीय पट्टावलियों के अन्त में "प्रकीर्णक पट्टावलियां" दी हैं, जिनमें अधिकांश "तपागच्छ की शाखा-पट्टावलियां" हैं, और कुछ स्वतंत्र गच्छों की पूर्ण, अपूर्ण पट्टावलियां भी हैं जो जिस हालत में मिली उसे उसी हालत में ले लिया है।

"खरतरगच्छ" के अधिकांश लेखक "श्रीवर्द्धमानसूरि" से अपनी पट्टा-वलियां शुरु करते हैं। कई लेखकों ने प्रारंभ से अर्थात् सुधर्मा से भी पट्टा-वलियां लिखी हैं, परन्तु उसमें वे सफल नहीं हुए। अनेक छोटी बड़ी गुर्वा-वलियों और प्रबन्धों में अपनी परम्पराएँ लिखी हैं, परन्तु उनमें मौलिकता की मात्रा कम है।

ग्रन्थ के अन्त में दो ऐसे गच्छों की पट्टावलियां दी हैं जो गच्छ गृहस्थ व्यक्तियों से प्रचलित हुए थे। इन दो गच्छों में, पहला है "लौंका गच्छ" जो "लक्खा" नामक पुस्तक-लेखक से चला था, जो आजकल "लौंकागच्छ" के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरा "गृहस्थगच्छ" "कडुआ-मत गच्छ" इस नाम से प्रसिद्ध है, इस गच्छ का नेता गृहस्थ होता है और "शाहजी" कहलाता है। इस के खंडहर :"थराद" में आज भी विद्यमान हैं।

कल्प - स्थविरावली

उपोद्‌घात :

"कल्प" शब्द से यहाँ दशाश्रुतस्कन्धान्तर्गत "पर्युषणा कल्प" समझना चाहिए। यद्यपि पर्युषणाकल्प दशाश्रुतस्कन्धका एक अध्याय है, तथापि जैन सम्प्रदाय में प्रस्तुत कल्प का प्रचार अधिक होने के कारण दशाश्रुत-स्कन्ध की स्थविरावली न लिखकर हमने इसे "कल्पस्थविरावली" लिखना ठीक समझा है ।

"कल्पस्थविरावली" आर्य यशोभद्र तक एक ही है, परन्तु आर्य यशोभद्र के आगे इसकी दो धाराएँ हो गई हैं। एक संक्षिप्त और दूसरी विस्तृत। संक्षिप्त स्थविरावली में मूल परम्परा के स्थविरों का मुख्यतया निर्देश किया गया है। तब विस्तृत स्थविरावली में पट्टधर स्थविरों के अतिरिक्त उनके गुरुभ्राता स्थविरों की नामावलियों, उनसे निकलने वाले गण और गणों के कुल तथा शाखाओं का भी निरूपण किया है।

संक्षिप्त स्थविरावली में आर्य वज्र के शिष्य चार बताए हैं। उनके नाम "आर्य नागिल, आर्य पद्मिल, आर्य जयंत और आर्य तापस" लिखे हैं। तब विस्तृत स्थविरावली में आर्य वज्र के शिष्य तीन लिखे हैं, जिनके नाम "आर्य वज्रसेन, आर्य पद्म और आर्य रथ" हैं। इन दो स्थविरावलियों के बीच जो मत-भेद सूचित होता है, उसके सम्बन्ध में हम यथास्थान विवरण देंगे ।

"कल्प-स्थविरावली" भी प्रारंभ से अंत तक एक ही समय में लिखी हुई नहीं है, जिस प्रकार आगम तीन बार व्यवस्थित किये गये थे, उसी प्रकार स्थविरावली भी तीन विभागों में व्यवस्थित की हुई प्रतीत होती है। आगमों

की प्रथम वाचना पाटलिपुत्र में हुई, उस समय तक संभवतः यशोभद्र-स्थविर स्वर्गवासी हो चुके थे, और आर्य संभूतविजयजी भी या तो परलोकवासी हो चुके हों अथवा वार्द्धक्य के कारण कहीं पर वृद्धावास के रूप में ठहरे हुए हों। क्योंकि पाटलिपुत्र के श्रमणसंघ ने दृष्टिवाद पढ़ाने के लिए दो बार भद्रबाहु के पास 'श्रमण संघाटक' भेजकर उन्हें दृष्टिवाद पढ़ाने की विज्ञप्ति की। यदि उस समय स्थविर सम्भूतविजयजी जीवित होते और दृष्टिवाद पढ़ाने की स्थिति में होते तो पाटलीपुत्र का संघ दूसरा संघाटक भद्रबाहु के पास कभी नहीं भेजता, क्योंकि भद्रबाहु ने प्रथम संघाटक के सामने ही अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी थी कि "मैं महाप्राण ध्यान की साधना में लगा हुआ हूं। अतः पाटलिपुत्र आ नहीं सकता", इस पर भी पाटलिपुत्र का श्रमणसंघ दूसरी बार भद्रबाहु के पास संघाटक भेजकर दबाव डालता है। इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि उस समय भद्रबाहु को छोड़कर अन्य कोई भी दृष्टिवाद का अनुयोगधर विद्यमान नहीं होना चाहिए।

आर्य संभूतविजयजी के शिष्य आर्य स्थूलभद्र राजा नन्द के प्रधान मंत्री शकटाल के बड़े पुत्र थे। इन्होंने अपने पिता के मरण के बाद तुरंत आर्य संभूतविजयजी के पास श्रमणमार्ग स्वीकार किया था और चौदह पूर्व का अध्ययन आर्य श्रीभद्रबाहुस्वामी के पास किया था। इससे भी यही सूचित होता है कि स्थूलभद्र की दीक्षा होने के बाद थोड़े ही वर्षों में आर्य सभूतविजयजी स्वर्गवासी हो गये थे। यहां आर्य श्रीभद्रबाहु स्वामी के स्वर्गवाससमय के संबंध में हमें कुछ स्पष्टीकरण करना पड़ेगा।

प्रसिद्ध आचार्य श्रीहेमचन्द्र सूरिजीने श्रीभद्रबाहुस्वामी का स्वर्गवास परिशिष्ट पर्व में "जिननिर्वाण से १७० वें वर्ष में होना लिखा है और इसी कथनका आधार लेकर डॉ० चार्पेण्टियर, हर्मन जेकोबि और इनके पीछे चलने वाले विद्वानों ने भगवान् महावीर के निर्वाणसमय में से ६० वर्ष कम करके जिननिर्वाण का समय सूचित किया है। परन्तु इसको ठीक मानने पर जैन परम्परा में जिस कालगणना के अनुसार निर्वाण संवत् और युगप्रधान स्थविरावलियों का मेल मिलाया गया है, वह सब एक दूसरे से असंगत

हो जाता है, इसलिए प्रस्तुत कल्पस्थविरावली की परम्परा लिखने के पहले हम जैनकालगणना पर चार शब्द लिख देना उचित समझते हैं।

जैन कालगणना पद्धति दो परम्पराओं पर चलती है। एक तो युग-प्रधानों के युगप्रधानत्व पर्याय काल के आधार पर और दूसरी राजाओं के राजत्वकाल की कड़ियों के आधार पर। निर्वाण के बाद की दो मूल परम्पराओं में जो अनुयोगधरों की परम्परा चली है उसके वर्षों की गणना कर जिननिर्वाण का समय निश्चित किया जाता था। परन्तु जैन श्रमण स्थायी एक स्थान पर तो रहते नहीं थे, पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम भारत के सभी प्रदेश उनके विहारक्षेत्र थे। कई बार अनेक कारणों से श्रमणगण एक दूसरे से बहुत दूर चले जाते थे और वर्षों तक उनका मिलना असंभव बन जाता था, ऐसी परिस्थितियों में जुदे पड़े हुए श्रमणगण अपने अनुयोग धर-युगप्रधानों का समय याद रखने में असमर्थ हो जाते थे, इसलिए युग-प्रधानत्वकाल-शृंखला के साथ भिन्न भिन्न स्थानों के प्रसिद्ध राजाओं के राजत्वकाल की शृंखला भी अपने स्मरण में रखते थे। इतनी सतर्कता रखते हुए भी कभी कभी सुदूरवर्ती दो श्रमणसंघों के बीच कालगणना-सम्बन्धी कुछ गड़बड़ी हो ही जाती थी। भगवान् महावीर के समय में उनका श्रमण-संघ भारत के उत्तर तथा पूर्व के प्रदेशों में अधिकतया विचरता था। आर्य भद्रबाहु स्वामी के समय तक जैन श्रमणों का विहारक्षेत्र यही था, परन्तु मौर्यकालीन भयंकर दुष्कालों के कारण श्रमण-संघ पूर्व से पश्चिम की तरफ मुड़ा और मध्य भारत के प्रदेशों तक फैल गया, इसी प्रकार सैकड़ों वर्षों के बाद भारत के उत्तर-पश्चिमीय भागों में दुष्काल ने दीर्घकाल तक अपना अड्डा जमाए रक्खा। परिणाम स्वरूप जैन श्रमण-संघ की दो टुकड़ियां बन गईं। एक टुकड़ी सुदूर दक्षिण की तरफ पहुँची और वहीं विचरने लगी, तब दूसरी टुकड़ी जो अधिक वृद्ध श्रुतधरों की बनी हुई थी, भारत के मध्य प्रदेश में रहकर विषम समय व्यतीत करती रही। विषम समय व्यतीत होने के बाद मध्यभारत तथा उत्तर भारत के भागों में विचरते हुए श्रमण 'मथुरा' में सम्मिलित हुए। थोड़े वर्षों के बाद दाक्षि-णात्य प्रदेश में घूमने वाले श्रमण भी पश्चिम भारत की तरफ मुड़े और

'सौराष्ट्र' के केन्द्र नगर "वलभी" में एकत्र हुए। 'मथुरा' तथा 'वलभी' में सम्मिलित होने वाली टुकड़ियों के नेता क्रमशः "स्कन्दिलाचार्य" और "नागार्जुन वाचक' थे। दुष्काल के प्रभाव से श्रमणों का पठन-पाठन तो बन्द हो ही गया था, परन्तु पूर्व पठित श्रुत भी धीरे धीरे विस्मृत हो चला था। सघों के नेता दोनों श्रुतधरों ने कुछ समय तक ठहर कर विस्मृतप्रायः आगमों को लिपिबद्ध करवाया। किसी को कोई अध्ययनादि याद था, तो किसी को कोई, उन सब को पूछ पूछ कर और श्रुतधरों की अपनी स्मृतियों के आधार से आगम लिखवाए गए और उनके आधार से श्रमणों का पठन-पाठन फिर प्रारंभ हुआ। यह समय लगभग विक्रम की चतुर्थ शताब्दी में पड़ता था।

मथुरा में जो आगम लिखवाये और पढ़ाए गए उसका नाम "माथुरी-वाचना" और वलभी में जो लिखाए पढ़ाए गए उसका नाम "वालभी-वाचना" प्रसिद्ध हुआ, इस प्रकार की दोनों वाचनाओं के अनुयायी देश में विहार-चर्या के क्रम से विचरते हुए लगभग दो सौ वर्षों के भीतर फिर "वलभी नगरी" में सम्मिलित हुए। इस समय "माथुरी वाचना" के अनुयायी श्रमण संघ के नेता "श्रीदेवर्द्धिगणि" और "वालभी वाचना" के श्रमणसंघ के प्रधान "कालकाचार्य" थे, दूरवर्ती स्थानों में स्मृतियों के आधार पर लिखे गये आगमों में कई स्थानों पर पाठान्तर और विषयान्तर के पाठ थे। उन सबका समन्वय करने में पर्याप्त समय लगा। इस पर भी कोई स्थल ऐसे थे कि जिनकी सच्चाई पर दोनों संघ निश्शंक थे, ऐसे विषयों पर समझौता होना कठिन जानकर दोनों ने एक दूसरे के पाठों को वैसा का वैसा स्वीकार किया। इसके परिणाम स्वरूप कल्पान्तर्गत श्रमण भगवान् महावीर के जीवन-चरित के अन्त में तत्कालीन समय का निर्देश दो प्रकार से हुआ है। "माथुरी वाचना" के अनुयायियों का कथन था कि वर्तमान वर्ष ९८० वां है। तब वालभ्य संघ की गणना से वही वर्ष ९९३ वां आता था, इन १३ वर्षों के अन्तर का मुख्य कारण एक दूसरे से दूरवर्तित्व था। उत्तरीय संघ ने जिन युगप्रधानों का समय गिनकर ९८० वां वर्ष निश्चित किया था उसमें दाक्षिणात्य संघ ने एक युगप्रधान १५ वर्ष के

पर्यायवाला अधिक माना और एक युगप्रधान के युगप्रधानत्व के ४१ वर्षों के स्थान पर ३६ वर्ष ही माने। इस प्रकार उन्होंने अपनी गणना में १३ वर्ष बढ़ा दिये थे जिसका माथुरी वाचना के अनुयायियों को पता तक नहीं था, दाक्षिणात्य संघ दूर निकलने के बाद केवल युगप्रधानत्व काल की ही गणना करता रहा, तब उत्तरीय सघ युगप्रधानत्व के साथ राजत्वकाल का भी परिगणन करता रहा। इस कारण वह अपनी गणना को प्रामाणिक मनवाने का आग्रही था, परन्तु दूसरी पार्टी ने अपनी गणना को गलत मानने से साफ इन्कार कर दिया। फलस्वरूप कालनिर्देश विषयक दोनों की मान्यता के सूचन मूल सूत्र में करने पड़े। माथुरी वाचना को प्रथम से ही मुख्यता दे दी थी। इसलिए प्रथम "माथुरी वाचना" का मन्तव्य सूचित किया गया और बाद में वालभी वाचना का।

कल्प स्थविरावली में आर्य यशोभद्र तक की स्थविरावली पाटलीपुत्र में होने वाली वाचना के पहले की है, तब उसके बाद की संक्षिप्त तथा विस्तृत दोनों स्थविरावलियां, जिनकी समाप्ति क्रमशः "आर्य तापस" और "आर्य फल्गुमित्र" तक जाकर होती है, ये दोनों स्थविरावलियां दूसरी वाचना के समय यशोभद्रसूरि पर्यन्त की मूलस्थविरावली के साथ जोड़ी गई थी, और आर्य तापस तथा आर्य फल्गुमित्र के बाद की स्थविरों की नामावली आचार्य श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय में होने वाले आगमलेखन के समय पूर्वोक्त सन्धित पट्टावली के अन्त में जोड़ दी गई हैं।

पहली वाचना हुई तब भूतकालीन स्थविरों की नामावली सूत्र के साथ जोड़ी गई। दूसरी वाचना के प्रसंग पर उसके पूर्ववर्ती स्थविरों की नामावली पूर्व के साथ अनुसन्धित कर दी गई, और देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय में द्वितीय वाचना के परवर्ती स्थविरों की नामावली यथाक्रम व्यवस्थित करके अन्तिम वाचना के समय पूर्वतन स्थविरावली के साथ जोड़ दी गई है।

कुल गण और शाखाएं

कल्प-स्थविरावली में कुल, गण और शाखाएं निकलने का वर्णन आया करता है, परन्तु इन नामों का पारिभाषिक अर्थ क्या है और इन नामों के प्रचलित होने के कारण क्या होंगे, इन बातों को समझने वाले पाठक बहुत कम होंगे। भगवान् महावीर के समय में भी नव गण थे, परन्तु उन गणों के साथ कुल तथा शाखाओं की चर्चा नहीं थी। भगवान् महावीर का निर्वाण होने के बाद भी लगभग २०० वर्षों तक सैकड़ों की संख्या में जैन श्रमण विचरते थे और उनका अनुशासन करने वाले आचार्य भी थे तथापि उस समय कुल, गण आदि की चर्चा क्यों नहीं, यह शंका होना विचारवान् के लिए स्वाभाविक है। इसलिए स्थविरावली का प्रारंभ करने के पहले ही हम इन सब बातों का स्पष्टीकरण करना आवश्यक समझते हैं।

भगवान् महावीर के समय में 'गण' थे, इसीलिए उनके व्यवस्थापक मुख्य शिष्य "गणधर" कहलाते थे। "गण का अर्थ यहां एक साथ बैठकर अध्ययन करने वाले श्रमणों का समुदाय" होता है। महावीर के गणधर ११ थे परन्तु गण ९ ही माने गये हैं, क्योंकि अन्तिम चार गणधरों के पास श्रमणसमुदाय कम होने के कारण दो दो "गणधरों" के छात्र-समुदायों को सम्मिलित करके शास्त्राध्ययन कराया जाता था। अतः गणधर दो दो होने पर भी उनका समुदाय एक एक ही माना जाता था।

अब रही "कुलों" की बात; सो तीर्थङ्करों के गणधरों में से एक एक के पास जितने भी श्रमण होते थे वे सब गणधर के शिष्य माने जाते थे। इस लिए गणधरों के समय में कुल नहीं थे। भगवान् महावीर के जितने भी गणधर थे वे सब अपने शिष्यों को निर्वाण के समय में दीर्घजीवी गणधर

सुधर्मा को सौंप जाते थे, और बाद में वे सब सुधर्मा के शिष्य माने जाते थे। गणधरों के सम्बन्ध में ही नहीं, यह परिपाटी लगभग भद्रबाहु स्वामी के समय तक चलती रही। किसी के भी उपदेश से प्रतिबोध पाकर दीक्षा लो, पर उसे शिष्य तो मुख्य पट्टधर आचार्य का ही होना पड़ता था।

आचार्य भद्रबाहु के शिष्य स्थविर 'गोदास' से सर्वप्रथम उनके नाम से 'गोदास गण' निकला। इसका कारण यह था कि तब तक जैन श्रमणों की सख्या पर्याप्त बढ़ चुकी थी और सब श्रमणों को वे सम्हाल नहीं सकते थे। इसलिए अपने समुदाय के अमुक साधुओं की वे स्वयं व्यवस्था करते थे, तब उनसे अतिरिक्त जो सैकड़ों साधु थे उनकी देखभाल तथा पठन-पाठन की व्यवस्था भद्रबाहु के अन्य तीन स्थविर करते थे जिनके नाम अग्नि-दत्त, यज्ञदत्त और सोमदत्त थे। ये सभी स्थविर काश्यप गोत्रीय थे। जो समुदाय 'स्थविर गोदास' की देखभाल में था उसका नाम "गोदास गण" हो गया, उसकी चार शाखाएँ थी, ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षीया, पौण्ड्रवर्ध-नीया और दासीकर्पटिका।

शाखाओं के नाम बहुधा श्रमणों के अधिक विहार अथवा अधिक निवास के कारण नगर अथवा गांवों के नामों से प्रचलित हो जाते थे, जैसे ताम्रलिप्ति नगरी से ताम्रलिप्तिका, पुण्ड्रवर्धन नगर से पौण्ड्रवर्धनिका, कोटिवर्ष नगर से कोटिवर्षीया, दासीकर्पट नामक स्थान से दासीकर्पटिका। आर्य गोदास के समय में श्रमणों की संख्यावृद्धि के कारण गण पृथक् निकला, शाखाएँ प्रसिद्ध हुईं। परन्तु कुल उत्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि तब तक मुख्य आचार्य के अतिरिक्त किसी भी स्थविर ने अपने नाम से शिष्य बनाने का प्रारंभ नहीं किया था, परन्तु मौर्यकाल में श्रमणों की अत्यधिक वृद्धि और दूर दूर प्रदेशों में विहार प्रचलित हो चुका था, परिणाम यह हुआ कि पट्टधर के अतिरिक्त अन्य योग्य स्थविर भी अपने नाम से पुरुषों को दीक्षा देकर उनके समुदाय को अपने "कुल" के नाम से प्रसिद्ध करने लगे और उसकी व्याख्या निश्चित हुई, कि "कुलं एकाचार्यसन्तति:" जब तक साधु-संख्या अत्यधिक बढ़ी नहीं थी, तब तक आचार्य की आज्ञा में रहने वाले साधुसमुदाय गण के नाम से ही पहिचाने जाते थे। परन्तु आचार्य के गुरु-

भाई अथवा तो उनके शिष्यों ने अपने अपने नाम से शिष्य बनाकर अपने नाम से "कुल" प्रसिद्ध किये तब आचार्यों को 'कुल' तथा 'गणों' के सम्बन्ध में नये नियम निर्माण करने पड़े ।

"एत्थ कुलं विण्णेयं, एगायरियस्स संतती जाउ ।
तिण्ह कुलाणमिहो पुण, साविक्खाणं गणो होइ ॥"

अर्थात् : एक आचार्य का शिष्यपरिवार 'कुल' कहलाता है, ऐसे परस्पर सापेक्ष याने-एक दूसरे से सभी प्रकार के साम्भोगिक व्यवहार रखने वाले तीन कुलों का समुदाय "गण" कहलाता है ।

ऊपर की गाथा में "कुल" तथा "गण" की सूचना की है; शास्त्रों में कुल की परिभाषा यह बांधी गयी है कि "आठ साधुओं के ऊपर नवमां उनका गुरु स्थविर हो, तभी उसका नाम "कुल" कहलाता था, आठ में एक भी संख्या कम होने पर वह कुल कहलाने का अधिकारी नहीं होता था । यह कुल की कम से कम संख्या मानी गयी । उससे अधिक कितनी भी हो सकती थी, परन्तु इस प्रकार के कम से कम तीन 'कुल' सम्मिलित होते, तभी अपने संघटन को 'गण' कह सकते थे । जिस प्रकार एक कुल में ६ श्रमणों का होना आवश्यक माना गया था, उसी प्रकार एक गण में "अट्ठाईस २८ साधु सम्मिलित होने," तीन कुलों के २७ और २८ वां "गणस्थविर" तभी वह संघटन "गण" नाम से अपना व्यवहार कर सकता था, और गण को जो जो अधिकार प्राप्त थे वे उसको मिलते थे । इस प्रकार "कुल" तथा "गण" की व्याख्या शास्त्रकारों ने बांधी है, जब तक "युगप्रधान शासन-पद्धति" चलती रही तब तक इसी प्रकार की 'कुल' तथा "गण" की परिभाषा थी, संघ स्थविर-शासन पद्धति विच्छेद होने के बाद कुल, गण की परिभाषाएँ भी धीरे धीरे भुलायी जाने लगीं और परिणामस्वरूप 'गण' शब्द का स्थान 'गच्छ' ने ग्रहण किया । वास्तव में गच्छ शब्द प्राचीन काल में 'राशि' के अर्थ में प्रयुक्त होता था । दो साधुओं की सम्मिलित संख्या 'संघाटक' कहलाती थी, तब तीन, चार, पांच आदि से लेकर हजारों तक की सम्मिलित संख्या 'गच्छ' नाम से व्यवहृत होती थी । 'गच्छ' शब्द का

व्यावहारिक अर्थ हम 'टुकड़ी' कर सकते हैं, "बृहत्कल्पभाष्य" में तीन से लेकर ३२ हजार तक की श्रमणसंख्या को 'गच्छ' के नाम से निर्दिष्ट किया है। धीरे धीरे 'गण' शब्द व्यवहार में से हटता गया और उसका स्थान 'गच्छ' शब्द ने ग्रहण किया, परन्तु वास्तव में 'गण' का प्रतिनिधि 'गच्छ' नहीं है। गण में जो आचार्य, उपाध्याय, गणी, स्थविर, प्रवर्तक और गणावच्छेदक प्रमुख अधिकारी माने गये हैं, वे गच्छ में नहीं माने, क्योंकि गच्छ शब्द का अर्थ ही साधुओं की टुकड़ी माना गया है और सूत्रकाल में तो गच्छ के स्थान पर "गुच्छ" शब्द ही प्रयुक्त होता था। परन्तु भाष्यकारों ने "गुच्छ" को 'गच्छ' बना दिया, स्थविर-शासन-पद्धति उठ जाने के बाद "कुल" 'गण' शब्द बेकार बने और "गच्छ" शब्द ने 'गण' शब्द के स्थान में अपनी सत्ता जमा ली। यही कारण है कि पिछले सूत्र-टीकाकारों को "गच्छानां समूहः कुलं" यह व्याख्या करनी पड़ी। स्थविर-शासन-पद्धति बंद पड़ने के बाद 'कुल' तथा 'गणों' के 'आभवद् व्यवहार' 'प्रायश्चित्त व्यवहार' आदि सभी प्रकार के व्यवहार अनियमित हो गये थे, सभी समुदायों के पास अपने अपने कुल, गण; के नाम रह गए थे, उनका उपयोग प्रव्रज्या के समय अथवा तो महापरिठावणिया के समय में 'दिक्श्रावण' में होता था और होता है।

ऊपर हम लिख आये हैं कि 'सापेक्ष तीन कुलों का एक गण बनता था।' इसका तात्पर्य यह है, कुल में साधु संख्या कितनी भी अधिक क्यों न हो, तीन कुलों से कम दो अथवा एक कुल 'गण' का नाम नहीं पा सकता था। तीन अथवा उससे कितने भी अधिक कुल एक गण में हो सकते थे, परन्तु तीन से कम कुल गण में नहीं होते थे। 'एत्थ कुलं विण्णेय' यह उपर्युक्त गाथा कल्पसूत्र की अनेक टीकाओं में उद्धृत की हुई दृष्टिगोचर होती है। 'कल्पसुबोधिका' में भी जब वह पहले छपी थी उपर्युक्त गाथा शुद्ध रूप में छपी थी, परन्तु बाद की आवृत्तियों में संपादकों की अनभिज्ञता से अथवा एक दूसरे के अनुकरण से यह गाथा अशुद्ध हो गयी है। 'तिण्ह कुलाण मिहो पुण' इस चरण में "तिण्ह" के स्थान में "दुण्ह" हो गया है जो अशुद्ध है, सर्वप्रथम "कल्पकिरणावली" में "दुण्ह कुलाण मिहोपुण" यह अशुद्ध पाठ

छपा, कल्पकिरणावली के बाद छपने वाली अनेक कल्पटीकाओं में "दुण्ह कुलाणमिहो" यह अशुद्ध रूप छपा है जो परिमार्जनीय है।

१. मूल कल्पस्थविरावली सानुवाद :

मू० : "तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स नव गणा इक्कारस गणहरा होत्था ॥२०१॥"

अर्थ : उस काल और उस समय में श्रमण भगवन्त महावीर के ९ गण और ११ गणधर हुए।

"से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चई—समणस्स भगवओ महावीरस्स नव गणा इक्कारस गणहरा होत्था ? समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे इंदभूई अणगारे गोयमे गोत्तेणं पंचसमणसयाइं वातेइ, मज्झिमे अणगारे अग्गिभूई नामेणं गोयमे गोत्तेणं पंचसमणसयाइं वाएइ, कणीयसे अणगारे नामेणं वाउभूई गोयमे गोत्तेणं पंचसमणसयाइं वाएइ, थेरे अज्जवियत्ते भारद्दाये गोत्तेणं पंचसमणसयाइं वाएइ, थेरे अज्जसुहम्मे अग्गिवेसायणे गोत्तेणं पंचसमणसयाइं वाएइ, थेरे मंडियपुत्ते वासिट्ठे गोत्तेणं अद्धुट्ठाइं समणसयाइं वाएइ, थेरे मोरियपुत्ते कासवे गोत्तेणं अद्धुट्ठाइं समणसयाइं वाएइ, थेरे अकंपिए गोयमे गोत्तेणं, थेरे अयलभाया हारियायणे गोत्तेणं एते दुन्नि थेरा तिन्नि तिन्नि-समणसयाइं वाइंति, थेरे मेयज्जे थेरे अज्जपभासे एए दोन्निवि थेरा कोडिन्ना गोत्तेणं तिन्नि तिन्नि समणसयाइं वाएंति, से एतेणं अट्ठेणं अज्जो एवं वुच्चइ-समणस्स भगवओ महावीरस्स नव गणा, एक्कारस गणहरा होत्था ॥२०२॥"

'भगवान् महावीर के ९ गण और ११ गणधर होने की बात सुनकर शिष्य गुरु से पूछता है : 'भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि भगवान् महावीर के नव गण थे और ग्यारह गणधर ? प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं : भगवान् महावीर के शिष्य जिनका नाम इन्द्रभूति था। और जो तीन भाइयों में बड़े थे तथा गोत्र से गौतम थे, ५०० श्रमणों को सूत्रवाचना देते थे। अग्निभूति नामक अनगार जो गोत्र

से गौतम और मझोले थे, ५०० श्रमणों को आगम पढ़ाते थे। कनिष्ठ वायुभूति नामक गोत्र से गौतम थे जो ५०० साधुओं को वाचना देते थे। स्थविर-आर्यव्यक्त जो गोत्र से भारद्वाज थे और ५०० श्रमणों को वाचना देते थे, स्थविर आर्य सुधर्मा जो गोत्र से अग्निवेश्यायन थे और ५०० श्रमणों को वाचना देते थे, स्थविर मंडिकपुत्र जो गोत्र से वासिष्ठ थे और साढ़े तीन सौ श्रमणों को वाचना देते थे, स्थविर मौर्यपुत्र जो गोत्र से काश्यप थे साढ़े तीन सौ श्रमणों को वाचना देते थे, स्थविर अकम्पित गोत्र से गौतम, स्थविर अचलभ्राता गोत्र से हारितायन; ये दोनों स्थविर तीन-तीन सौ श्रमणों को सम्मिलित रूप से वाचना देते थे। स्थविर मेदार्य और स्थविर प्रभास ये दोनों स्थविर गोत्र से कौण्डिन्य थे, और अपने तीन-तीन सौ श्रमणों को एकत्र वाचना देते थे। इस कारण से हे आर्य ! यह कहा जाता है कि श्रमण भगवन्त महावीर के ९ गण और ११ गणधर थे।

स्पष्टीकरण :

आठवें तथा नवमें गणधरों के तीन-तीन सौ शिष्य थे परन्तु उनकी वाचना एक ही साथ होती थी। अतः एक गण कहलाता था, इसी प्रकार दसवें तथा ग्यारहवें गणधरों के भी तीन-तीन सौ श्रमण शिष्य थे, परन्तु वे ६००-६०० श्रमण सम्मिलित वाचना लेते थे, इसलिये "एकवाचनिको गणः" इस नियमानुसार पिछले ४ गणधरों के २ ही गण माने गए हैं। परिणामस्वरूप ९ गण और ११ गणधर बताए हैं।

"जे इमे अज्जत्ताते समणा निग्गंथा विहरंति एए णं सव्वे अज्ज-सुहम्मस्स अणगारस्स आहावच्चिज्जा, अवसेसा गणहरा निरवच्चा वोच्छिन्ना ॥२०४॥"

"सव्वे एए समणस्स भगवओ महावीरस्स एक्कारस वि गणहरा दुवालसंगिणो चोद्दसपुव्विणो समत्तगणिपिडगधरा रायगिहे नगरे मास-एणं भत्तेणं अपाणएणं कालगया जाव सव्वदुक्खप्पहीणा। थेरे इंदभूई, थेरे अज्जसुहम्मे, सिद्धिं गए महावीरे पच्छा दोन्निवि परिनिव्वुया ॥२०३॥

'ये सर्व श्रमण भगवन्त महावीर के ग्यारह ही गणधर द्वादशांगधारी चतुर्दश पूर्वी सम्पूर्ण गणिपिटक के धारक राजगृह नगर के परिसर में मासिक भोजन-पानी का त्याग कर निर्वाणप्राप्त हुए, सर्वदुःख रहित हुए। इनमें स्थविर इन्द्रभूति और स्थविर आर्यसुधर्मा ये दो स्थविर महावीर के निर्वाण के बाद निर्वाण प्राप्त हुए थे।' अर्थात् शेष नौ गणधर महावीर की विद्यमानता में ही मोक्ष प्राप्त हो चुके थे। २०३।'

'जो ये आजकल श्रमण निर्ग्रन्थ विचर रहे हैं वे सभी आर्य सुधर्मा के सन्तानीय कहलाते हैं, अवशेष गणधरों की परम्परा विच्छिन्न हो चुकी है २०४।'

"समणे भगवं महावीरे कासवे गोत्तेणं।

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स कासवगोत्तस्स अज्जसुहम्मे थेरे अंतेवासी अग्गिवेसायणसगोत्ते।

थेरस्स णं अज्जसुहम्मस्स अग्गिवेसायणसगोत्तस्स अज्ज जंबू नामे थेरे अंतेवासी कासवगोत्ते।

थेरस्स णं अज्जजंबुनामस्स कासवगोत्तस्स अज्जपभवे थेरे अंतेवासी कच्चायणसगोत्ते।

थेरस्स णं अज्जप्पभवस्स कच्चायणसगोत्तस्स अज्जसेज्जंभवे थेरे अंतेवासी मणगपिया वच्छसगोत्ते।

थेरस्स णं अज्जसेज्जंभवस्स मणगपिउणो वच्छसगोत्तस्स अज्जजसभद्दे थेरे अंतेवासी तुंगीयायणसगोत्ते ॥२०५॥"

'श्रमण भगवान् महावीर काश्यप-गोत्रीय थे, काश्यप-गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के शिष्य अग्निवेश्यायन सगोत्र आर्य-सुधर्मा हुए, अग्नि-वेश्यायन सगोत्र आर्य-सुधर्मा स्थविर के शिष्य काश्यप गोत्रीय आर्य जम्बू हुए, काश्यप गोत्रीय स्थविर आर्य जम्बू के शिष्य कात्यायन सगोत्र आर्य प्रभव हुए, कात्यायन गोत्रीय स्थविर आर्य प्रभव के शिष्य वत्स-सगोत्रीय स्थविर आर्य शय्यम्भव हुए, जो मनक मुनि के पिता थे, वत्ससगोत्र और

मनक पिता स्थविर आर्य शय्यम्भव के शिष्य तुंगियायनसगोत्र आर्य यशोभद्र हुए।२०५।'

'इसके आगे स्थविरावली दो प्रकार की देखने में आती है: एक संक्षिप्त और दूसरी विस्तृत, पहले संक्षिप्त स्थविरावली दी जा रही है:

"संखित्तवायणाए अज्जजसभद्दाओ अग्गओ एवं थेरावली भणिया तं जहा-थेरस्स णं अज्जजसभद्दस्स तुंगियायणसगोत्तस्स अंतेवासी दुवे थेरा-थेरे अज्जसंभूयविजए माढरसगोत्ते, थेरे अज्जभद्दबाहू पाईणसगोत्ते, थेरस्स णं अज्जसंभूयविजयस्स माढरसगोत्तस्स अंतेवासी अज्जथूलभद्दे थेरे गोयम-सगोत्ते, थेरस्स णं अज्जथूलभद्दस्स गोयमसगोत्तस्स अंतेवासी-दुवे थेरा-थेरे अज्जमहागिरी, एलावच्छसगोत्ते, थेरे अज्जसुहत्थी वासिट्ठसगोत्ते, थेरस्स णं अज्जसुहत्थिस्स वासिट्ठसगोत्तस्स अंतेवासी दुवे थेरा-सुट्ठिय-सुप्पडिबुद्धा कोडिय-काकंदगा-वग्घावच्चसगोत्ता। थेराणं सुट्ठिय-सुप्पडिबुद्धाणं कोडिय-काकंदगाणं वग्घावच्चसगोत्ताणं अंतेवासी थेरे अज्जइंदद्दिन्ने कोसियगोत्ते॥"

'संक्षिप्त वाचना मे आर्य यशोभद्र के आगे की स्थविरावली इस प्रकार कही है: यथा तुंगियायणसगोत्र स्थविर यशोभद्र के दो स्थविर शिष्य थे: माठरसगोत्रीय स्थविर सभूतविजय और प्राचीन-सगोत्र स्थविर भद्र-बाहु, स्थविर आर्य सभूतविजय के स्थविर शिष्य गौतम सगोत्र आर्य स्थूल-भद्र हुए, स्थविर स्थूलभद्र के स्थविर शिष्य दो हुए, स्थविर एलावत्स-सगोत्रीय आर्य महागिरि और वासिष्ठसगोत्र आर्य सुहस्ती। स्थविर सुहस्ती के स्थविर शिष्य दो हुए: स्थविर सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध, गृहस्थाश्रम में सुस्थित स्थविर कोटिवर्ष नगर के निवासी होने से कोटिक कहलाते थे और सुप्रतिबुद्ध गृहस्थाश्रम में काकन्दीनगरी निवासी होने से काकन्दक नाम से प्रसिद्ध हुए थे। ये दोनों स्थविर व्याघ्रापत्यसगोत्र थे, इन दोनों स्थविरों के स्थविर शिष्य कौशिकगोत्रीय 'इन्द्रदिन्न' थे।'

"थेरस्स णं अज्जइंददिन्नस्स कोसियगोत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जदिन्ने गोयमसगोत्ते, थेरस्स णं अज्जदिन्नस्स गोयमसगोत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्ज-सीहगिरी जाइस्सरे कोसियगोत्ते, थेरस्स णं अज्जसिंहगिरिस्स जातिसरस्स

कोसियगोत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जवइरे गोयमसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जवइ-रस्स गोयमसगोत्तस्स अंतेवासी चत्तारि थेरा-थेरे अज्जनाइले, थेरे अज्जपो-मिले, थेरे अज्जजयंते, थेरे अज्जतावसे। थेराओ अज्जनाइलाओ अज्ज-नाइला साहा निग्गया, थेराओ अज्जपोमिलाओ अज्जपोमिला साहा निग्गया, थेराओ अज्जजयंताओ अज्जजयंती साहा निग्गया, थेराओ अज्जतावसाओ अज्जतावसी साहा निग्गया इति ॥२०६॥"

'कौशिक गोत्रीय स्थविर आर्य इन्द्रदिन्न के शिष्य स्थविर गौतम सगोत्र आर्य दिन्न हुए, आर्य दिन्न के स्थविर शिष्य आर्य सिंहगिरि कौशिक गोत्रीय हुए, जिनको जाति-स्मरण ज्ञान था। स्थविर आर्य सिंहगिरि के स्थविर शिष्य आर्य वज्र गोतमगोत्रीय हुए, स्थविर आर्य वज्र के स्थविर शिष्य चार थे : स्थविर आर्य नागिल, स्थविर आर्य पद्मिल, स्थविर आर्य जयन्त और स्थविर आर्य तापस। स्थविर आर्य नागिल से आर्यनागिला शाखा निकली, स्थविर आर्य पद्मिल से आर्यपद्मिला शाखा निकली, स्थविर आर्य जयन्त से आर्यजयन्ती शाखा निकली और स्थविर आर्य तापस से आर्यतापसी शाखा निकली। २०६'

"वित्थरवायणाए पुण अज्जजसभद्दाओ पुरओ थेरावली एवं पलोइ-ज्जइ, तंजहा-थेरस्स णं अज्जजसभद्दस्स इमे दो थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था तंजहा-थेरे अज्जभद्दबाहू पाईणसगोत्ते, थेरे अज्जसंभूय-विजये माढरसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जभद्दबाहुस्स पाईणसगोत्तस्स इमे चत्तारि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिण्णाया होत्था, तं० थेरे गोदासे, थेरे अग्गिदत्ते, थेरे जण्णदत्ते, थेरे सोमदत्ते कासवेगोत्तेणं। थेरेहिंतो णं गोदासेहिंतो कासवगोत्तेहिंतो एत्थ णं गोदासगणे नामं गणे निग्गए, तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ एवमाहिज्जंति, तं० तामलित्तिया, कोडीवरिसिया, पोंडवद्धणिया, दासीखब्बडिया ॥२०७॥"

'सविस्तर वाचना के अनुसार आर्य यशोभद्र के आगे स्थविरावली इस प्रकार देखी जाती है, जैसे : आर्य यशोभद्र स्थविर के ये दो स्थविर अपत्यसमान और प्रख्यात शिष्य हुए, स्थविर आर्य भद्रबाहु प्राचीन

गोत्रीय और संभूतविजय स्थविर माठर गोत्रीय, स्थविर आर्य भद्रबाहु के ये चार स्थविर शिष्य हुए, जो निजसन्तान तुल्य और प्रख्यात थे। उनके नाम स्थविर गोदास, स्थविर अग्निदत्त, स्थविर यज्ञदत्त और स्थविर सोमदत्त थे। ये सभी काश्यप गोत्रीय थे, स्थविर गोदास से यहां गोदास नामक गण निकला। उसकी ये चार शाखाएँ इस प्रकार कही जाती हैं, जैसे :

ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षीया, पौण्ड्रवर्धनिका और दासीकर्पटिका⊛।
॥२०७॥

"थेरस्स णं अज्जसंभूयविजयस्स माढरसगोत्तस्स इमे दुवालसथेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिण्णाया होत्था, तंजहा।

नंदणभद्दुवनंदणभद्द तह तीसभद्द जसभद्दे।
थेरे य सुमणभद्दे, मणिभद्दे पुन्नभद्दे य ॥१॥
थेरे य थूलभद्दे, उज्जुमती जंबुनामधेज्जे य।
थेरे य [illegible] थेरे तह पंडुभद्दे य ॥२॥"

थेरस्स णं [illegible]जयस्स माढरसगोत्तस्स इमाओ सत्त अंतेवासिणीओ अहावच्चाओ [illegible]ताओ होत्था, तंजहा :

जक्खा य जक्खदिन्ना, भूया तह होइ भूयदिन्ना य।
सेणा, वेणा, रेणा, भगिणीओ थूलभद्दस्स ॥१॥२०८॥

⊛ इनमें पहली शाखा "ताम्रलिप्तिका" की उत्पत्ति वंग देश की उस समय की राजधानी ताम्रलिप्ति वा ताम्रलिप्तिका से थी जो दक्षिण बंगाल का एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। आजकल यह स्थान "तमलुक" जिला मेदिनीपुर बंगाल में है। दूसरी शाखा "कोटिवर्षीया" की उत्पत्ति कोटिवर्ष नगर से थी, यह नगर 'राढ' देश (आजकल का मुर्शिदाबाद जिला पश्चिमी बंगाल) की राजधानी थी। तीसरी शाखा "पौण्डवर्धनिका" थी जो पुण्ड्रवर्धन (उत्तरी बंगाल की राजधानी गंगा के उत्तरी तट स्थित पौण्ड्रवर्धन नगर) से उत्पन्न हुई थी। पुण्ड्रवर्धन को आजकल "पाण्डुआ" कहते हैं (फिरोजाबाद) मालदा से ६ मील उत्तर की ओर था। इसमें राजशाही, दीनाजपुर, रंगपुर, नदिया, वीरभूम, मिदनापुर, जंगलमहल, पचेत और चुनार शामिल थे। और चौथी शाखा पूर्व बंगाल के समुद्र समीपवर्ती "दासीकर्पट" नामक स्थान से प्रसिद्ध हुई थी।

स्थविर आर्य संभूतविजयजी के ये १२ स्थविर शिष्य हुए, जो सन्तान-तुल्य प्रसिद्धिप्राप्त थे। उनके नाम ये हैं : नन्दनभद्र, उपनन्दनभद्र, तिष्यभद्र, यशोभद्र, स्थविर सुमनोभद्र, मणिभद्र, पूर्णभद्र*, स्थविर स्थूलभद्र, ऋजुमति, जम्बूनामा, स्थविर दीर्घभद्र तथा स्थविर पाण्डुभद्र ॥२॥

स्थविर आर्य संभूतविजयजी की ये सात शिष्याएँ हुईं, जो अपत्य-समान प्रसिद्धिप्राप्त थीं, उनके नाम ये हैं : यक्षा, यक्षदत्ता, भूता, भूतदत्ता, सेना, वेना और रेणा ये आर्य स्थूलभद्र की बहनें थीं ॥२०८॥

"थेरस्स णं अज्जथूलभद्दस्स गोयमसगोत्तस्स इमे दो थेरा अहावच्चा अभिन्नाया होत्था, तंजहा थेरे अज्जमहागिरी एलावच्छसगोत्ते, थेरे सुहत्था वासिट्ठसगोत्ते। थेरस्स णं अज्जमहागिरिस्स एलावच्छसगोत्तस्स इमे अट्ठ थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था। तंजहा : थेरे उत्तरे, थेरे बलिस्सहे, थेरे धणड्ढे, थेरे सिरिड्ढे, थेरे कोडिन्ने, थेरे नागे, थेरे नागमित्ते, थेरे छडुलूए रोहगुत्ते कासिए गोत्तेणं। थेरेहितो णं छडुलूएहिंतो रोहगुत्तेहितो-कोसियगोत्तेहिंतो तत्थ णं तेरासिया निग्गया। थेरेहितो णं उत्तर-बलिस्सहेहिंतो तत्थ णं उत्तरबलिस्सहगणे नामं गणे निग्गए, तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ एवमाहिज्जंति, तंजहा : कोसंबिया, सोत्तिवत्तिया, कोडंवाणी, चंदनागरी ॥२०६॥"

'स्थविर आर्य स्थूलभद्र के ये दो स्थविर शिष्य थे जो यथापत्य अभिज्ञात थे। इनके नाम स्थविर आर्य महागिरि एलावत्सगोत्रीय और स्थविर आर्य सुहस्ती वासिष्ठगोत्रीय, स्थविर आर्य महागिरि के ये आठ स्थविर शिष्य थे, जो यथापत्य और अभिज्ञात थे। उनके नाम ये हैं : स्थविर उत्तर, स्थविर बलिस्सह, स्थविर धनाढ्य, स्थविर श्रीआढ्य, स्थविर कौण्डिन्य, स्थविर नाग, स्थविर नागमित्र, स्थविर पडुलूक रोहगुप्त कौशिक गोत्रीय। स्थविर पडुलूक रोहगुप्त से त्रैराशिक निकले, स्थविर उत्तर और बलिस्सह से उत्तरबलिस्सह नामक गण निकला। उसकी ये शाखाएँ चार इस प्रकार कही जाती हैं जैसे : **कौशाम्बिका*, शुक्तिमतीया, कौडम्बाणी**, चन्द्रनागरी ।२०६।'

---

* कौशाम्बी नगरी में प्रसिद्ध होने वाली शाखा कौशाम्बिका कहलाई। कौशांबी

"थेरस्स णं अज्जसुहत्थिस्स वासिट्ठसगोत्तस्स इमे दुवालस थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था, तंजहा।

थेरेत्थ अज्जरोहण-भद्दजसे गणी य कामिड्ढी।
सुट्ठियसुप्पडिबुद्धे, रक्खिय तह रोहगुत्ते य ॥१॥
इसिगुत्ते सिरिगुत्ते, गणी य बंभे गणी य तह सोमे।
दस दो य गणहरा खलु, एए सीसा सुहत्थिस्स ॥२॥२१०॥"

'स्थविर आर्य सुहस्ती के ये १२ स्थविर शिष्य हुए, जो यथापत्य अभिज्ञात थे। उनके नाम ये हैं :

स्थविर आर्यरोहण, स्थविर भद्रयशा, आर्य मेघगणि, स्थविर कामर्द्धि, स्थविर सुस्थित, सुप्रतिबुद्ध, आर्यरक्षित और स्थविर रोहगुप्त।१। ऋषिगुप्त, श्रीगुप्त, ब्रह्मगणि तथा सोमगणि, ये १२ गणधर आर्यसुहस्ती के शिष्य हुए ॥२॥२१०॥'

"थेरेहिंतो णं अज्जरोहणेहिंतो कासवगुत्तेहिंतो तत्थ णं उद्देहगणे नामं गणे निग्गए। तस्सिमाओ चत्तारि साहाओ निग्गयाओ छच्चकुलाइं एवमाहिज्जंति। से किं तं साहाओ ? साहाओ एवमाहिज्जंति उदुंबरिज्जिया, मासपुरिया, माहुरिज्जिया, पुन्नपत्तिया, से तं साहाओ। से किं तं कुलाइं ? कुलाइं एवमाहिज्जंति, तंजहा :

इस समय "कौसम" इस नाम से अधिक प्रसिद्ध है जहानपुर से दक्षिण १२ मील, इलाहाबाद से दक्षिण-पश्चिम ३१ मील है। पभोसा नामक पहाड़ी पर एक स्तम्भ और एक मन्दिर है जो कौसम से तीन मील पश्चिम में है। शुक्तिमती दक्षिण मालवा की एक प्रसिद्ध नगरी थी, उससे प्रसिद्ध होने वाली शाखा शौक्तिमतीया कहलाई।

कौडम्बाण स्थान कहां था इसका पता नहीं लगा, संभव है यह स्थान युक्तप्रदेश में कही होना चाहिये।

चन्द्रनगर सेवड़ाफुली जंक्शन से ७ मील (हावड़ा से २१ मील) उत्तर चन्द्रनगर का रेल्वे स्टेशन है। फ्रांसीसियों के भूतपूर्व राज्य में २२/५१/४० उत्तर अक्षांश पर और ८८/२४/५० पूर्व देशान्तर में हुगली नदी के दाहिने किनारे पर चन्द्रनगर एक छोटा सुन्दर शहर है, हुगली के रेल्वे स्टेशन से ३ मील दक्षिण में चन्द्रनगर रेल्वे स्टेशन है।

पढमं च नागभूयं, बीयं पुण सोमभूइयं होई।
अह उल्लगच्छ तइयं, चउत्थयं हत्थिलिज्जं तु ॥१॥

पंचमगं नंदिज्जं, छट्ठं पुण पारिहासियं होई।
उद्देहगणस्सेते, छच्च कुला होंति नायव्वा ॥२॥२(१॥"

'स्थविर आर्यरोहण काश्यपगोत्रीय से उद्देहगण नामक गण निकला, उसकी ये चार शाखाएँ और छः कुल निकले जो ये हैं :

प्रथम शाखाओं के नाम लिखे जाते हैं : उदुम्बरीया[1], मासपुरिया[2], माथुरीया[3]; पूर्णपत्रिका, ये शाखाएँ हैं। अब कुल क्या हैं सो कहते हैं : १ नागभूत, २ सोमभूतिक, ३ आर्द्रकच्छ, ४ हस्तलेह्य ॥१॥ ५ नन्दीय, पारिहासिक, उद्देहगण के उक्त छः कुल जानने चाहिए ॥२॥२११॥

'थेरेहिंतो णं सिरिगुत्तेहिंतो एत्थ णं चारणगणे नामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ सत्त य कुलाइं एवमाहिज्जंति। से किं तं साहातो ? साहातो एवमाहिज्जंति-तंजहा : हारियमालागारी, संकासिया, गवेधूया, वज्जनागरी, से तं साहाओ। से किं तं कुलाइं ? कुलाइं एवमाहिज्जंति तंजहा :

पढमेत्थ वच्छलिज्जं, बीयं पुण पीइधम्मयं होइ।
तइयं पुण हालिज्जं चउत्थगं पूसमित्तिज्जं ॥१॥

---

१ उदुम्बरीया आजकल का डोमरिया गंज समझना चाहिए, यह स्थान रापती नदी के दाहिने किनारे तहसील का सदर मुकाम है। इसके पूर्व मे करीब १६-१७ मील पर बांसी, पश्चिमोत्तर में उतने ही फासले पर उतरौली तहसील का सदर मुकाम है। इसके पश्चिम में करीब ४८ मील पर जिले का सदर मुकाम गोंडा है। अक्षांश २७/१२ रेखांश ८२/३४/३६ पर डोमरिया गंज अवस्थित है।

२ 'मासपुरीया' वर्त देश की राजधानी "मासपुर" थी जिससे "मासपुरिया" शाखा निकली।

३ 'माथुरीया' यह शाखा मथुरा नगरी से प्रसिद्ध हुई है, आगरा से मथुरा ३१ मील पश्चिमोत्तर मे अक्षांश २७/३० रेखांश ७७/४१ पर अवस्थित है।

पंचमगं मालिज्जं, छट्ठं पुण अज्जचेडयं होइ।
सत्तमगं कण्हसहं, सत्तकुला चारणगणस्स ॥२॥२१२॥"

स्थविर श्रीगुप्त हारितगोत्रीय से यहां चारणगण नामक गण निकला, उसकी ये चार शाखाएँ और सात कुल इस प्रकार कहे जाते हैं: प्रथम: १. वत्सलीय, २. प्रीतिधर्मक, ३. हालीय, ४. पुष्यमित्रीय, ५. मालीय, ६. आर्य चेटक और ७. सातवां कृष्णसख ये चारण गण के ७ कुलों के नाम हैं। २१२।'

"थेरेहिंतो भद्दजसेहिंतो भारद्दायसगोत्तेहिंतो एत्थ णं उडुवाडियगणे निग्गए। तस्स ण इमाओ चत्तारि साहाओ, तिन्नि कुलाइं एवमाहिज्जंति। से किं तं साहाओ? साहाओ एवमाहिज्जंति तं०: चंपिज्जिया, भद्दिज्जिया, काकंदिया, मेहिलिज्जिया, से तं साहाओ। से किं तं कुलाइं? कुलाइं एवमाहिज्जंति:

भद्दजसियं तह भद्द-गुत्तियं-तइयं च होइ जसभद्दं।
एयाइं उडुवाडिय*गणस्स तिन्नेव य कुलाइं ॥१॥२१३॥"

'स्थविर भद्रयशा भारद्वाज गोत्रीय से यहां ऋतुवाटिक* नामक गण निकला, जिसकी ये चार शाखाएँ और तीन कुल इस प्रकार कहे जाते हैं: शाखाएँ: चंपीया, भद्दीया, काकन्दिका और मैथिलीया इस नाम से हुईं और कुल: भद्रयशीय, भद्रगुप्तीय, यशोभद्रीय ये ऋतुवाटिका गण के ३ कुल हैं। २१३।'

"थेरेहिंतो णं कामिड्ढिहिंतो कुंडिल (कोडिल) सगोत्तेहिंतो एत्थ णं वेसवाडियगणे नामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ,

* उडुवाडिय' (ऋतुवाटिक) नामक स्थान आजकल का उलबड़िया है। कलकत्ता से १५ मील दक्षिण भागीरथी गंगा के बायें किनारे पर हावड़ा जिले के सबडिविजन का सदर स्थान 'उलबड़िया' एक छोटा कस्बा है। स्टीमर हर रोज कलकत्ते के आरमेनियन घाट से खुलकर उलबड़िया से नहर द्वारा मेदनीपुर जाती है। उलबड़िया से एक अच्छी सड़क मेदनीपुर बालासोर और कटक होकर जगन्नाथपुरी तक पहुंची है उलबड़िया से आगे दामोदर नदी के मुहाने के सामने फुल्य नामक एक बड़ी बस्ती है।

चत्तारि कुलाइं एवमाहिज्जंति । से किं तं साहाओ ? साहाओ एव० सावत्थिया, रज्जपालिया, अन्तरञ्जिया, खोमिलिज्जिया, से तं साहाओ । से किं तं कुलाइं ? कुलाइं एवमाहिज्जंति तंजहा :

गणियं मेहिय कामड्डियं च तह होइ इंदपुरगं च ।
एयाइं वेसवाडिय-गणस्स चत्तारि उ कुलाइं ॥१॥२१४॥"

'स्थविर कामर्द्धि कोडालगोत्रीय से यह वेशवाटक नामक गरा निकला, इसकी चार शाखाएँ तथा ४ कुल कहे जाते हैं। शाखाएँ : श्रावस्तिका, राज्यपालिता, अन्तरंजिया, क्षोमिलीया ये शाखाओं के नाम हैं और गरिएक, मेघिक, कामर्द्धिक और इन्द्रपुरक ये वैशवाटिक गरा के ४ कुल हैं। २१४।'

"थेरेहिंतो णं इसिगुत्तेहिंतो णं काकंवएहिंतो वासिट्ठसगोत्तेहिंतो एत्थ णं माणवगणे नामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ तिण्णि य कुलाइं एव०। से किं तं साहाओ ? साहाओ एवमाहिज्जंति : कासविज्जिया, गोयमिज्जिया, वासिट्ठिया, सोरट्ठिया, से तं साहाओ। से किं तं कुलाइं ? कुलाइं एवमाहिज्जंति तंजहा :

इसिगुत्तियऽत्थ पढमं, बिइयं इसिदत्तियं मुणेयव्वं ।
तइयं च अभिजयंतं, तिन्नि कुला माणवगणस्स ॥१॥२१५॥"

'काकन्दक स्थविर ऋषिगुप्त वासिष्ठगोत्रीय से यहां मानव नामक गण निकला, उसकी ये चार शाखाएँ और तीन कुल इस प्रकार कहे जाते हैं, शाखाएँ : काश्यपीया, गौतमीया, वासिष्ठीया, सोरट्ठीया ये शाखाओं के नाम हैं। १. ऋषिगुप्तिक, २. ऋषिदत्तिक और तीसरा अभिजयंत ये मानवगरा के कुल हैं। २१५।'

"थेरेहिंतो णं सुट्ठिय-सुपडिबुद्धेहिंतो कोडिय-काकन्दएहिंतो वग्घावच्चसगोत्तेहिंतो एत्थ णं कोडियगणे नामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ चत्तारि कुलाइं एव०। से किं तं साहाओ ? साहाओ एवमाहिज्जंति तंजहा :

उच्चानागरी विज्जा-हरी य वइरी य मज्झिमिल्ला य ।
कोडियगरणस्स एया, हवंति चत्तारि साहाओ ॥१॥

से किं तं कुलाइं ? कुलाइं एवमाहिज्जंति तंजहा :

पढमेत्थ बंभलिज्जं (बभवासिय) तियं नामेण वच्छलिज्जं तु ।
ततियं पुण ठाणिज्जं चउत्थयं पन्नवाहणयं ॥ १ ॥ २१६ ॥"

'स्थविर सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध जो कि गृहस्थाश्रम में क्रमश: कोटि-वर्ष और काकन्दी नगरी के रहने वाले और व्याघ्रापत्य गोत्रीय थे । उनसे यहां "कोटिक गण" नामक एक गण निकला, उसकी ये चार शाखाएँ तथा चार कुल हैं, जैसे शाखाएँ : उच्चानागरी, विद्याधरी, वाज्री और मध्यमा तथा पहला ब्रह्मलीय, २ वस्त्रलीय, ३ वाणिज्य, ४ प्रश्नवाहन नामक कुल हुए । २१६ ।'

"थेराणं सुट्ठिय-सुपडिबुद्धाणं कोडिय काकंदयाणं वग्घावच्चसगोत्ताणं इमे पंच थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था, तंजहा : थेरे अज्ज-इंददिन्ने, थेरे पियगंथे, थेरे विज्जाहर गोवाले कासवे गोत्तेणं, थेरे इसिदत्ते थेरे अरहदत्ते । थेरेहिंतो णं पियगंथेहिंतो एत्थ णं "मज्झिमा" साहा निग्गया । थेरेहिंतो णं विज्जाहर गोवालेहिंतो कासवगुत्तेहिंतो एत्थ णं विज्जाहरी साहा निग्गया ॥२१७॥"

'स्थविर सुस्थित सुप्रतिबुद्ध के ये पांच स्थविर शिष्य हुए, जो अपत्य तुल्य और अभिज्ञात थे । उनके नाम : स्थविर आर्य इन्द्रदत्त, स्थविर प्रिय-ग्रन्थ, स्थविर विद्याधर गोपाल काश्यपगोत्रीय, स्थविर ऋषिदत्त और स्थविर अर्हद्दत्त । स्थविर प्रिय-ग्रन्थ से यहाँ "मध्यमा शाखा" निकली और स्थविर विद्याधर गोपाल से "विद्याधरी शाखा" निकली । २१७ ।'

"थेरस्स णं अज्जइंदविन्नस्स कासवगोत्तस्स अज्जदिन्ने थेरे अंतेवासी गोयमसगोत्ते । थेरस्स णं अज्जइंददिन्नस्स कासवगोत्तस्स इमे दो थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था, त० थेरे अज्जसंतिसेणिए माढर-सगोत्ते, थेरे अज्जसीहगिरी जाइस्सरे कोसियगोत्ते । थेरेहिंतो णं अज्जसंति-

सेणिएहिंतो णं माढरसगोत्तेहिंतो एत्थ णं उच्चानागरी साहा निग्गया ॥ २१८ ॥"

'स्थविर आर्य इन्द्रदत्त काश्यप गोत्रीय के आर्यदत्त स्थविर गोतम गोत्रीय शिष्य हुए, स्थविर आर्यदत्त के ये दो स्थविर शिष्य हुए जो यथापत्य और अभिज्ञात थे, पहले स्थविर आर्य शान्तिश्रेणिक माठर गोत्रीय और दूसरे स्थविर सिंहगिरि जातिस्मरण वाले कौशिक गोत्रीय, स्थविर आर्य शान्तिश्रेणिक से यहां उच्चानागरी शाखा निकली। २१८।'

"थेरस्स णं अज्जसंतिसेणियस्स माढरसगोत्तस्स इमे चत्तारि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था तं० : थेरे अज्जसेणिए, थेरे अज्ज-तावसे, थेरे अज्जकुबेरे, थेरे अज्जइसिपालिते। थेरेहिंतो णं अज्जसेणिए-हिंतो एत्थ णं अज्ज सेणिया साहा निग्गया। थेरेहिंतो णं अज्जतावसेहिंतो एत्थ णं अज्जतावसी साहा निग्गया। थेरेहिंतो णं अज्ज कुबेरेहिंतो एत्थ णं अज्जकुबेरा साहा निग्गया। थेरेहिंतो णं अज्जइसिपालिएहिंतो एत्थ णं अज्जइसिपालिया साहा निग्गया ॥२१९॥"

'स्थविर शान्तिश्रेणिक के ये चार स्थविर शिष्य हुए जो यथापत्य और अभिज्ञात थे, इनके नाम ये हैं : स्थविर आर्य श्रेणिक, स्थविर आर्य तापस, स्थविर आर्य कुबेर और स्थविर आर्य ऋषिपालित। स्थविर आर्य श्रेणिक से यहां आर्य श्रेणिका शाखा निकली, स्थविर आर्य कुबेर से यहाँ आर्य कुबेरा शाखा निकली और स्थविर आर्य ऋषिपालित से यहां आर्य ऋषिपालिता शाखा निकली। २१९।'

"थेरस्स णं अज्जसीहगिरिस्स जातिसरस्स कोसियगोत्तस्स इमे चत्तारि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिण्णाया होत्था तं० : थेरे धणगिरी, थेरे अज्जवइरे, थेरे अज्जसमिए, थेरे अरहदिन्ने। थेरेहिंतो णं अज्जसमिए-हिंतो गोयमसगोत्तेहिंतो एत्थ णं बंभदीविया साहा निग्गया। थेरेहिंतो णं अज्जवइरेहिंतो गोयमसगोत्तेहिंतो एत्थ णं अज्जवइरा साहा निग्गया ॥ २२० ॥"

'स्थविर आर्य सिंहगिरि के ये चार स्थविर शिष्य यथापत्य तथा आभिजात्य हुए, जिनके नाम : स्थविर धनगिरि, स्थविर आर्य वज्र, स्थविर आर्य समित, आर्य अर्हद्दत्त, स्थविर आर्य समित से यहां ब्रह्मद्वीपिका शाखा निकली, स्थविर आर्य वज्र गौतम गोत्रीय से यहां आर्य वाज्री शाखा निकली । २२० ।'

"थेरस्स णं अज्जवइरस्स गोतमसगोत्तस्स इमे तिन्नि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था, तं० : थेरे अज्जवइरसेणे, थेरे अज्जपउमे, थेरे अज्जरहे । थेरेहिंतो णं अज्जवइरसेणेहिंतो एत्थ णं अज्जनाइली साहा निग्गया । थेरेहिंतो णं अज्जपउमेहिंतो एत्थ णं अज्ज पउमा साहा निग्गया । थेरेहिंतो णं अज्जरहेहिंतो एत्थ णं अज्ज जयंती साहा निग्गया ॥२२१॥"

स्थविर आर्य वज्र गौतम गोत्रीय के ये तीन स्थविर शिष्य हुए जो यथापत्य अभिज्ञात थे । उनके नाम : आर्य वज्रसेन, आर्य पद्म और आर्य रथ थे । स्थविर आर्य वज्रसेन से यहां आर्यनागिली शाखा निकली, स्थविर आर्य पद्म से आर्य पद्मा और स्थविर आर्य रथ से यहां आर्य जयन्ती शाखा निकली । २२१ ।'

"थेरस्स णं अज्जरहस्स वच्छसगोत्तस्स अज्जपूसगिरी थेरे अंतेवासी कोसियगोत्ते । थेरस्स णं अज्जपूसगिरिस्स कोसियगोत्तस्स अज्जफग्गुमित्ते थेरे अंतेवासी गोयमसगुत्ते ॥२२२॥"

'स्थविर आर्य रथ वत्सगोत्रीय के कौशिक गोत्रीय शिष्य आर्य पुष्यगिरि हुए स्थविर आर्य पुष्यगिरि के शिष्य आर्य फल्गुमित्र गौतम गोत्रीय हुए ॥२२२॥'

"थेरस्स णं अज्जफग्गुमित्तस्स गोयमसगुत्तस्स अज्जधणगिरी थेरे अंतेवासी वासिट्ठसगोत्ते ॥३॥ थेरस्स णं अज्जधणगिरिस्स वासिट्ठसगोत्तस्स अज्जसिवभूई थेरे अंतेवासी कुच्छसगोत्ते ॥४॥ थेरस्स णं अज्जसिवभूइस्स कुच्छसगोत्तस्स अज्जभद्दे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते ॥५॥ थेरस्स णं अज्ज-

भद्दस्स कासवगुत्तस्स अज्जनक्खत्ते थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते ॥६॥ थेरस्स णं अज्जनक्खत्तस्स कासवगुत्तस्स अज्जरक्खे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते ॥७॥ थेरस्स णं अज्जरक्खस्स कासवगुत्तस्स अज्जनागे थेरे अंतेवासी गोयमसगोत्ते ॥८॥ थेरस्स णं अज्जनागस्स गोयमसगुत्तस्स अज्जजेहिले थेरे अंतेवासी वासिट्ठसगुत्ते ॥९॥ थेरस्स णं अज्जजेहिलस्स वासिट्ठसगुत्तस्स अज्ज विण्हू थेरे अंतेवासी माढरसगोत्ते ॥१०॥ थेरस्स णं अज्जविण्हुस्स माढरस-गुत्तस्स अज्जकालए थेरे अंतेवासी गोयमसगोत्ते ॥११॥"

'स्थविर आर्य फल्गुमित्र के स्थविर शिष्य आर्य धनगिरि वासिष्ठ गोत्रीय हुए। स्थविर आर्य धनगिरि के आर्य शिवभूति स्थविर कौत्स गोत्रीय हुए। स्थविर शिवभूति के स्थविर शिष्य आर्यभद्र काश्यप गोत्रीय हुए, स्थविर आर्यभद्र के स्थविर शिष्य आर्य नक्षत्र काश्यप गोत्रीय हुए। स्थविर आर्य नक्षत्र के स्थविर शिष्य आर्यरक्ष काश्यप गोत्रीय हुए। स्थविर आर्यरक्ष के स्थविर शिष्य आर्य नाग गौतम गोत्रीय हुए, स्थविर आर्य नाग के स्थविर शिष्य आर्य जेहिल वासिष्ठ गोत्रीय हुए, स्थविर आर्य जेहिल के स्थविर शिष्य आर्य विष्णु माठर गोत्रीय हुए, स्थविर आर्य विष्णु के स्थविर शिष्य आर्यकालक गौतम गोत्रीय हुए। ११।'

"थेरस्स णं अज्जकालगस्स गोयमसगुत्तस्स इमे दुवे थेरा अंतेवासी गोयमसगुत्ता : थेरे अज्जसंपलिए, थेरे अज्जभद्दे ॥१२॥ एएसिं दुण्हवि थेराणं गोयमसगुत्ताणं अज्जवुड्ढे थेरे अंतेवासी गोयमसगुत्ते ॥१३॥ थेरस्स णं अज्ज वुड्ढस्स गोयमसगोत्तस्स अज्ज संघपालिए थेरे अंतेवासी गोयम-सगोत्ते ॥१४॥ थेरस्स णं अज्ज संघपालियस्स गोयमसगोत्तस्स अज्जहत्थी थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते ॥१५॥ थेरस्स णं अज्जहत्थिस्स कासवगुत्तस्स अज्जधम्मे थेरे अंतेवासी सुव्वयगोत्ते ॥१६॥ थेरस्स णं अज्जधम्मस्स सुव्वय-गोत्तस्स अज्जसीहे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते ॥१७॥ थेरस्स णं अज्जसीहस्स कासवगुत्तस्स अज्जधम्मे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते ॥१८॥ थेरस्स णं अज्जधम्मस्स कासवगुत्तस्स अज्ज संडिल्ले थेरे अंतेवासी ॥१९॥"

'स्थविर आर्य कालक के ये दो स्थविर शिष्य गौतम गोत्रीय हुए, स्थविर आर्य सम्पलित और स्थविर आर्यभद्र, इन दो स्थविरों के स्थविर

शिष्य आर्यवृद्ध गौतम गोत्रीय हुए, स्थविर आर्य वृद्ध के आर्य संघपालित गौतम गोत्रीय शिष्य हुए, स्थविर आर्यसंघपालित के आर्य हस्ती स्थविर शिष्य काश्यप गोत्रीय हुए, स्थविर आर्य हस्ती के आर्य धर्मस्थविर शिष्य सुव्रत गोत्रीय हुए, स्थविर आर्यधर्म के आर्यसिंह स्थविर शिष्य काश्यप गोत्रीय हुए, स्थविर आर्यसिंह के आर्यधर्म काश्यप गोत्रीय शिष्य हुए, स्थविर आर्यधर्म के आर्य शाण्डिल्य स्थविर शिष्य हुए । १६ ।'

"वंदामि फग्गुमित्तं च, गोयमं धणगिरिं च वासिट्ठं ।
कोच्छं सिवभूइं पिय, कोसियदोज्जितकण्हे य ॥ १ ॥

ते वंदिऊण सिरसा, भद्दं वंदामि कासवसगोत्तं ।
णक्खं कासवगोत्तं, रक्खं पि य कासवं वंदे ॥ २ ॥

वंदामि अज्जनागं च, गोयमं जेहिलं च वासिट्ठं ।
विण्हुं माढरगोत्तं, कालगमवि गोयमं वंदे ॥ ३ ॥

गोयमगोत्तकुमारं, संपलियं तह य भद्दयं वंदे ।
थेरं च अज्ज वुड्ढं गोयमगुत्तं नमंसामि ॥ ४ ॥

तं वंदिऊण सिरसा, थिरसत्तचरित्तनाणसंपन्नं ।
थेरं च संघवालिय, गोयमगुत्तं पणिवयामि ॥ ५ ॥

वंदामि अज्जहत्थिं च, कासवं खंतिसागरं धीरं ।
गिम्हाण पढममासे, कालगयं चेव सुद्धस्स ॥ ६ ॥

वंदामि अज्जधम्मं च, सुव्वयं सीललद्धिसंपन्नं ।
जस्स निक्खमणे देवो, छत्तं वरमुत्तमं वहइ ॥ ७ ॥

हत्थिं कासवगुत्तं, धम्मं सिवसाहगं पणिवयामि ।
सीहं कासवगुत्तं, धम्मं पि य कासवं वंदे ॥ ८ ॥

तं वंदिऊण सिरसा, थिरसत्तचरित्तनाणसंपन्नं ।
थेरं च अज्जजंबुं, गोयमगुत्तं नमंसामि ॥ ९ ॥

मिउमद्दवसंपन्नं, उवउत्तं नाण-दंसण-चरित्ते ।
थेरं च नंदियं पि य, कासवगुत्तं पणिवयामि ॥ १० ॥

तत्तो य थिरचरित्तं, उत्तमसम्मत्तसत्तसंजुत्तं ।
देसिगणि खमासमणं, माढरगुत्तं नमंसामि ॥ ११ ॥

तत्तो अणुओगधरं, धीरं मइसागरं महासत्तं ।
थिरगुत्तखमासमणं, वच्छसगुत्तं पणिवयामि ॥ १२ ॥

तत्तो य नाण-दंसण-चरित्त-तव सुट्ठियं गुणमहंतं ।
थेरं कुमारधम्मं, वंदामि गणि गुणोवेयं ॥ १३ ॥

सुत्तत्थरयणभरिए, खमदममद्दवगुणेहिं संपन्ने ।
देविड्ढिखमासमणे, कासवगुत्ते पणिवयामि ॥ १४ ॥"

'गौतमगोत्रीय फल्गुमित्र, वासिष्ठगोत्रीय धनगिरि, कुत्सगोत्रीय शिवभूति और कौशिकगोत्रीय दुर्जयन्तकृष्ण को वन्दन करता हूं। उनको मस्तक से वन्दन कर काश्यपगोत्रीय भद्र, नक्षत्र और रक्ष को नमस्कार करता हूँ। गौतमगोत्रीय आर्य नाग, वासिष्ठगोत्रीय आर्य जेष्ठिल, माठरगोत्रीय विष्णु और गौतमगोत्रीय कालक स्थविर को वन्दन करता हूँ। गौतमगोत्रीय कुमारधर्म, संपलित और आर्यभद्र को वन्दन करता हूँ, उनको मस्तक से वन्दन कर स्थिरसत्त्ववान् तथा चारित्र, ज्ञान से सम्पन्न गौतमगोत्रीय संघपालित स्थविर को प्रणिपात करता हूँ। काश्यपगोत्रीय आर्यहस्ती का वन्दन करता हूँ, जो क्षमा के सागर और धीर पुरुष थे और जो चैत्र मास के शुक्ल पक्ष में कालधर्म प्राप्त हुए थे। शीललब्धि से सम्पन्न, सुव्रतगोत्रीय आर्यधर्म को नमस्कार करता हूँ, कि जिनकी दीक्षा के समय में देव ने उनके ऊपर छत्र धारण किया था, काश्यपगोत्रीय हस्ती और शिवसाधक धर्म को प्रणिपात करता हूँ तथा काश्यपगोत्रीय सिंह तथा काश्यपगोत्रीय धर्म को भी वन्दन करता हूँ। उनको नमन करने के उपरान्त स्थिर सत्त्ववान् और चारित्र-ज्ञान से सम्पन्न गौतमगोत्रीय स्थविर आर्य जम्बू को नमस्कार करता हूँ। कोमलप्रकृति, मार्दवसम्पन्न, ज्ञान, दर्शन, चारित्र में उपयोगवान् ऐसे काश्यपगोत्रीय स्थविर नन्दित को भी प्रणिपात करता हूँ। इनके बाद स्थिरचारित्र, उत्तम सम्यक्त्व तथा सत्त्वसंयुक्त माठरगोत्रीय देसिगणि क्षमाश्रमण को नमन करता हूँ, तदनन्तर

अनुयोगधारक, धीर, मतिसागर और महासत्त्ववन्त वत्सगोत्रीय स्थिर-गुप्त क्षमाश्रमण को प्रणिपात करता हूँ, फिर ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप से सुस्थित गुणों से महान् और गुणोपेत स्थविर कुमारधर्म गणि को वन्दन करता हूँ। सूत्र तथा अर्थ रूप रत्नों से भरे क्षमा, दम, मार्दवगुणों से सम्पन्न ऐसे काश्यपगोत्रीय देवर्द्धि क्षमाश्रमण को प्रणिपात करता हूँ।

श्री देवर्द्धिगणि की गुरु-परम्परा

कल्प-स्थविरावली वास्तव में स्थविर देवर्द्धि की गुरु-परम्परा है। कल्प-स्थविरावली में आर्यवज्र का नम्बर १३वां आता है और इनके तृतीय शिष्य आर्यरथ से परम्परा आगे चलती है : १३—आर्य वज्र, १४—आर्य रथ, १५—आर्य पुष्यगिरि, १६—आर्य फल्गुमित्र, १७—आर्य धनगिरि, १८—आर्य शिवभूति, १९—आर्य भद्र, २०—आर्य नक्षत्र, २१—आर्य रक्ष, २२—आर्य नाग, २३—आर्य जेष्ठिल, २४—आर्य विष्णु, २५—आर्य कालक, २६—आर्य संपलित, २७—आर्य वृद्ध, २८—आर्य संघपालित, २९—आर्य हस्ती, ३०—आर्यधर्म, ३१—आर्यसिंह, ३२—आर्यधर्म, ३३—आर्य शाण्डिल्य।

इस प्रकार गद्य कल्पस्थविरावली में सुधर्मा से लेकर शाण्डिल्य तक ३३ पट्टधर आर्य सुहस्ती की परम्परा में होते हैं। श्री देवर्द्धिगणि ने इसमें अपना नाम नहीं लिखा- क्योंकि वे स्वयं स्थविरावली के संकलनकार हैं। वास्तव में देवर्द्धिगणि इस पट्टावली के ३४वें पट्टधर हैं, इसमें कोई विवाद नहीं है। स्थविरावली के गद्यसूत्र में शाण्डिल्य के आगे किसी भी स्थविर का नाम नहीं मिलता। फल्गुमित्र से लेकर आर्यसिंह तक के सभी स्थविरों के नाम पद्यों में निबद्ध कर वन्दन किया है, परन्तु अन्तिम दो सूत्रों में निर्दिष्ट आर्यधर्म और शाण्डिल्य के नाम नहीं मिलते, तब पद्यों में शिवभूति के बाद दुर्जयन्त कृष्ण का नाम अधिक उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त आर्यसिंह के आगे आर्यजम्बू और आर्यधर्म के आगे आर्यनन्दित की स्तुति की गई है। इसके उपरान्त देसिगणि, स्थिरगुप्त क्षमाश्रमण कुमारधर्म गणि और देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की नामावली पद्यों में दी है। इससे प्रमाणित होता है कि स्थविरावली के उपर्युक्त गद्य-सूत्र देवर्द्धिगणि के पुस्तक-लेखन के पहले ही निर्मित हो चुके थे। कल्प के टीकाकार लिखते

हैं कि गद्य में लिखा हुआ अर्थ पद्यों में दिया गया है। यह कथन अधिकांश में ठीक है, परन्तु कतिपय स्थविरों के नाम गद्य में न होते हुए भी पद्यों में दिये गये हैं, जैसे: दुर्जयन्त कृष्ण, धर्म के बाद आर्यहस्ती, आर्यधर्म, सिंह के बाद आर्यजम्बू और आर्यनन्दित नाम के स्थविर पट्टधर न होते हुए भी अपने समय में अनुयोगधर होने से प्रसंगवश उनका स्मरण किया गया है और देसिगणि, स्थिरगुप्त, क्षमाश्रमण; कुमारधर्मगणि और देवर्द्धि-गणि क्षमाश्रमण इन चार स्थविरों की स्तुति देवर्द्धि क्षमाश्रमण के पुस्तक-लेखन के बाद परवर्ती किसी विद्वान् ने बना कर गाथाओं के साथ जोड़ दी मालूम होती है।

कल्प-स्थविरावली की प्राचीनता की कसौटी

कल्प-स्थविरावली में आर्यसुधर्मा गणधर से लेकर अन्तिम श्रुतधर देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमण तक के स्थविरों के नाम आते हैं। इससे कतिपय अदीर्घदर्शी विद्वान् श्वेताम्बरमान्य जैनसिद्धान्त देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमण के समय में लिपिबद्ध किये मानते हैं, तब दिगम्बरीय 'कषाय-पाहुड" तथा "षट्खण्डागम" जैसे अर्वाचीन दिगम्बर जैन-मान्य निबन्धों को ईसा के पूर्व चतुर्थ शती में लिखे गए मानते हैं, जो प्राचीनसाहित्यविहीन अपने साधर्मिक दिगम्बर भाइयों को झूठा आश्वासन देने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है : यह चर्चा बड़ी गम्भीर है, अतः अन्य प्रसंग के लिए छोड़ कर आज हम प्रस्तुत "कल्प-स्थविरावली" की प्राचीनता प्रमाणित करने के लिए कुछ विवरण देंगे।

प्रकृत-स्थविरावली में कोई आठ नये गण उत्पन्न होने की सूचना मिलती है। इनमें सर्वप्रथम भद्रबाहु के शिष्य स्थविर गोदास की तरफ से 'गोदास गरण' का प्रादुर्भाव और इसको ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्षीया, पुण्ड्रवर्धनिका और दासीकर्पटिका नामक ४ शाखाओं से बंगाल के सुदूरवर्ती पूर्व उत्तर तथा दक्षिण प्रदेशों में उसका विकास हो रहा था। श्रद्धालु दिगम्बर विद्वानों की मान्यतानुसार श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी अपने शिष्यों के साथ दक्षिण भारत में चले गए होते तो 'गोदास गरण' और उसकी उक्त चार शाखाएँ गंगा नदी के तट पर तथा पूर्वी समुद्र के समीप भद्रबाहु के शिष्यों द्वारा प्रचलित और दृढ़मूल नहीं होतीं।

इसी प्रकार आर्यसुहस्ती के बड़े गुरुभ्राता आर्यमहागिरि के शिष्य उत्तर और बलिस्सह स्थविरों से प्रसिद्धिप्राप्त 'उत्तर-बलिस्सह गरण' और

उसकी चार शाखाएँ प्रसिद्ध हुई थीं जिनके नाम कौशाम्बीया १, शुक्तिमतिका २, कोडम्बाणी ३ और चन्द्रनागरी ४ थे। इन शाखाओं से ज्ञात होता है कि श्री भद्रबाहु स्वामी की दो पीढ़ी के बाद भी जैन श्रमणों का विहार मध्यभारत में कौशाम्बी तथा शुक्तिमती नगरी तक—जो मध्यभारत के दक्षिण-विभाग में विन्ध्याचल की घाटियों की तराई में थी—पहुंच चुका था और पूर्व में कोडम्बाण नगर और उसके आगे चन्द्रनगर तक हो रहा था। यदि भद्रबाहु स्वामी १२००० श्रमणों के साथ दक्षिण में पहुँच गये होते तो भारत के मध्यप्रदेश में तथा पूर्व देशों में जैन श्रमणों की शाखाएँ कैसे प्रचलित होतीं, यह बात मध्यस्थबुद्धि से विद्वानों को विचारने योग्य है।

आर्यसुहस्ती के शिष्य आर्यरोहण से "उद्देहगण" नामक श्रमणों का एक गण प्रसिद्ध हुआ था, जिसकी चार शाखाएँ और छः कुल थे। शाखाओं के नाम : उदुम्बरीया, मासपुरीया, माहुरिज्जीया, पोण्णपत्तीया थे। इनमें उदुम्बरीया, प्राचीन श्रावस्ती के निकट प्रदेश से निकली थी, मासपुरीया वर्त देश की राजधानी मासपुर से निकली थी, माहुरिज्जीया-माथुरीया-मथुरा से प्रसिद्ध हुई थी, पौर्णपत्रीया शाखा का पता नहीं लगा, फिर भी "प्रारम्भ की तीन शाखाओं" से इतना तो निश्चित रूप से जाना जा सकता है कि भद्रबाहु और उनके परम्परा-शिष्यों के समय से ही निर्ग्रन्थ श्रमणसंघ धीरे-धीरे पूर्व से मध्यभारत और उससे भी पश्चिम की तरफ आ रहा था। आर्य महागिरि तथा आर्य सुहस्ती के समय में अवन्ती नगरी में सम्प्रति का राज्य था, इसी कारण से उस समय में जैन श्रमण मध्यभारत में अधिक फैले थे।

आर्य सुहस्ती के शिष्य श्रीगुप्त स्थविर से चारण गण नामक एक श्रमणों का गण प्रसिद्धि में आया था, जिसकी चार शाखाएँ और तीन कुल थे। शाखाएँ : हारियमालाकारी, सांकाश्यिका, गवेधुका और वज्रनागरी नामों से प्रसिद्ध थीं। इन शाखाओं के नामों से ज्ञात होता है कि चारण गण के श्रमण भी कान्यकुब्ज के समीपवर्ती प्रदेशों में अधिक विचरते थे।

स्थविर भद्रयशा नामक आर्य सुहस्ती के एक शिष्य से ऋतुवाटिक नामक एक गण प्रसिद्ध हुआ था, जिसकी चार शाखाएँ और तीन कुल थे। शाखाएँ : चम्पीया, भद्रीया, काकन्दीया और मैथिलीया नामक थीं जो क्रमशः अंग देश की राजधानी चम्पा, मलय देश की राजधानी भद्रिका, विदेह स्थित काकंदी और विदेह की राजधानी मिथिला से प्रसिद्ध हुई थीं। इससे यह बात भी स्पष्ट होती है कि भद्रबाहु ही नहीं किन्तु उनके परवर्ती आर्य सुहस्ती के शिष्य भी अंग, मगध, विदेह आदि देशों में विचरते हुए जैन-धर्म का प्रचार कर रहे थे।

आर्य सुहस्ती के शिष्य कामर्द्धि स्थविर से वेशवाटिक नामक गण प्रसिद्ध हुआ था, जिसकी चार शाखाएँ और चार कुल थे। शाखाओं के नाम : श्रावस्तीया, राज्यपालिता, अन्तरञ्जिया और क्षौमिलीया थे। आर्य कामर्द्धि के वेशवाटिक गण की प्रथम तथा तृतीय शाखाओं के नामों पर से ज्ञात होता है कि उनके शिष्य बस्ती तथा गोरखपुर जिलों में अधिक विचरे थे। वेशवाटिक गण की द्वितीय शाखा का पता नहीं लगा, परन्तु चौथी शाखा पूर्व बंगाल के "क्षौमिल नगर" से निकली थी जो स्थान आजकल "कोमिला" के नाम से प्रसिद्ध है।

आर्य सुहस्ती सूरिजी के शिष्य ऋषिगुप्त स्थविर से भी 'मानवगण' नामक एक गण निकला था, जिसकी शाखाएँ ४ और कुल ३ प्रसिद्ध थे। मानवगण की प्रथम द्वितीय और तृतीय शाखा काश्यप, गौतम और वासिष्ठ इन गोत्रों से प्रसिद्ध होने वाले स्थविरों के नामों से प्रसिद्ध हुई थीं, तब चौथी शाखा 'सारट्ठिया' यह एक स्थान के नाम से प्रसिद्ध हुई जो 'सोरठ नगर' कहलाता था। यह स्थान मधुबनी से उत्तर-पश्चिम आठ मील पर "सोरठ" इस नाम से प्रख्यात है।

स्थविर आर्य सुहस्ती के शिष्यों से निकलने वाले गणों में अन्तिम "कोटिक गण" है, इसकी उत्पत्ति सुस्थित सुप्रतिबुद्ध नामक दो स्थविरों से हुई थी। उक्त दोनों स्थविर गृहस्थाश्रम में क्रमशः 'कोटिवर्ष नगर' और 'काकन्दी नगरी' के रहने वाले होने से "कोटिक" तथा "काकन्दक"

इन उपनामों से विख्यात हुए थे और इनसे निकलने वाला श्रमणगण भी "कोटिक" नाम से ही प्रसिद्ध हुआ। कोटिक गण की भी चार शाखाएँ और चार कुल थे। शाखाओं के नाम : उच्चानागरी, विद्याधरी, वइरी और मध्यमिका थे। उच्चानागरी शाखा प्राचीन "उच्चानगरी" से प्रसिद्ध हुई थी। उच्चानगरी को आजकल "बुलन्द शहर" कहते हैं, माध्यमिका शाखा "मध्यमिका नगरी" से प्रसिद्ध हुई थी जो चित्तौड़ के समीपवर्ती प्रदेश में थी। विद्याधरी और वइरी शाखाओं के नामों का प्रवृत्तिनिमित्त जानने में नहीं आया। यद्यपि विद्याधर गोपाल से विद्याधरी और आर्य वज्र से आर्य वज्री शाखा निकलने का कारण स्थविरावली में आगे लिखा है, परन्तु वे 'शाखाएँ' स्वतन्त्र हैं, गच्छप्रतिबद्ध नहीं। तब प्रस्तुत विद्याधरी और 'वैरी' शाखा कोटिक गण से प्रतिबद्ध हैं।

वेशवाटिक गण' की क्षामिलीया और मानवगण की सौरट्ठीया शाखाओं से ज्ञात होता है, कामर्द्धि और ऋषिगुप्त आचार्यों के कुछ शिष्य बंगाल की तरफ विचरते थे, तब "कोटिक गण" की "उच्चानागरी" और "माध्यमिका" शाखाओं से निश्चित होता है कि "सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध" के शिष्य "मध्य-भारत" और "पश्चिम-भारत" के प्रदेशों तक पहुँच चुके थे।

उपर्युक्त गण तथा शाखाओं से जो फलितार्थ निकलता है उसका सारांश यह है कि आर्य भद्रबाहु स्वामी, जिनका युगप्रधानत्व समय जिन-निर्वाण से २०८ से २२२ तक माना गया है। भद्रबाहु के शिष्य गोदास स्थविर ने अपने नाम से जो गण प्रसिद्ध किया, उसका समय भी निर्वाण से २२२ से २३० का होना चाहिए, जो विक्रमपूर्व की तीसरी शताब्दी में पड़ता है। गोदास गण की तथा आचार्य महागिरि के शिष्य "उत्तर" तथा "बलिस्सह" से निकलने वाले "उत्तर-बलिस्सह गण" की शाखाएँ हैं, परन्तु कुल नहीं। इसका कारण यही है कि तब तक दीक्षित होने वाले सभी साधु पट्टधर आचार्य के ही शिष्य माने जाते थे। श्रमणसमुदाय अधिक होने से भिन्न २ स्थानों को अपना केन्द्र बना कर उसके आसपास धर्म का प्रचार करते थे। उन्हीं केन्द्रों के नाम से उनकी शाखाओं के नाम पड़ते थे। आर्य महागिरि का समय जिननिर्वाण से २६८—२९८ तक था।

इस दशा में इनके शिष्य उत्तर और बलिस्सह का समय भी यही अथवा इससे कुछ परवर्ती विक्रमपूर्व द्वितीय शताब्दी में आएगा।

स्थविरावलीसूचित आठ गणों में से "गोदासगण" और "उत्तर-बलिस्सहगण" के अतिरिक्त "उद्देहगण, चारणगण, ऋतुवाटिकगण, वेशवाटिकगण, मानवगण" और "काटिकगण" ये छः गण आर्य सुहस्ती सूरि के भिन्न-भिन्न शिष्यों से प्रसिद्ध हुए हैं। आर्य सुहस्तीजी का युग-प्रधानत्व समय 'जिननिर्वाण' २९८ से ३४३ तक का माना है। इससे इनके शिष्यों का समय भी यही अथवा कुछ परवर्ती विक्रमपूर्व के द्वितीय शतक में पड़ता है। यह समय मौर्य्य राजा सम्प्रति के राजत्वकाल के साथ ठीक मिल जाता है। आर्य सुहस्ती के शिष्यों से छः गणों, २४ शाखाओं और २७ कुलों का प्रादुर्भाव होना यह बताता है कि उस समय में जैन श्रमणों की संख्या पर्याप्त बढ़ी हुई थी और धर्म-प्रचार के केन्द्र पूर्व में पूर्व बंगाल, दक्षिण में विन्ध्याचल की घाटियों, पश्चिम में पूर्व-पंजाब और उत्तर में गोरखपुर और श्रावस्ती के प्रदेश तक स्थापित हुए थे और अपने अपने केन्द्रों से निर्ग्रन्थ श्रमण जैनधर्म का प्रचार कर रहे थे। यद्यपि राजा सम्प्रति की प्रेरणा से आर्य सुहस्ती ने अपने श्रमणों को दक्षिण भारत में भी विहार करवाया था, परन्तु उस प्रदेश में उस समय में व्यवस्थित केन्द्र नियत नहीं हुए थे।

अब हम कल्प-स्थविरावलीगत गण, शाखा और कुलों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करेंगे कि इन गण आदि का प्राचीनत्व-साधक स्थविरावली के अतिरिक्त भी कोई प्रमाण है या नहीं?

स्थविरावली के गण आदि के प्राचीनत्व का विचार करते ही हमें मथुरा का देवनिर्मित स्तूप याद आ जाता है। यों तो जैनों के अनेक प्राचीन तीर्थस्थान हैं जिनमें देवनिर्मित स्तूप भी एक प्राचीन तीर्थ है, परन्तु अन्य जैन प्राचीन तीर्थ धर्म-चक्र, गजाग्रपद, अहिच्छत्रा नगरी आदि प्राचीन स्थानों की अब तक शोध-खोज नहीं हुई है, जितनी कि मथुरा समीपवर्ती—देवनिर्मित स्तूप की, जो आजकल "कंकाली टीला" के नाम से प्रसिद्ध है,

अंग्रेजों के शासनकाल में हुई है। देवनिर्मित स्तूप विक्रम की १४वीं शती तक जैनतीर्थ के रूप में प्रसिद्ध था, परन्तु विदेशियों के आक्रमण से और खास करके इस देश में मुसलमानों की राज्यसत्ता स्थापित होने के बाद यह स्थान धीरे-धीरे भूला जाने लगा था। जैनधर्मियों का उत्तर भारत से सामूहिक रूप से दक्षिण की तरफ प्रयाण हो गया और उत्तरीय जैन-तीर्थ धीरे-धीरे स्मृतिपट से उतर गए। अंग्रजों के शासन में प्राचीन स्मारकों की जांच करते हुए कंकाली टीला भी खोदा गया और भीतर से जैन स्तूप के अतिरिक्त अनेक जैन-मूर्तियां, पूजापाट, अन्यान्य स्मारक, प्राचीन लेखों के साथ हाथ लगे और उन प्राचीन लेखों से ज्ञात हुआ कि यह एक अति-प्राचीन जैन-स्तूप है, जो कुषाणवंशीय राजा कनिष्क आदि के समय में उत्तर भारत का एक अतिप्रसिद्ध जैनतीर्थ था।

कंकाली टीला में से प्रकट हुए जो प्राचीन लेख मिले थे, वे डा० कनिंघहाम के आर्चिओलॉजिकल रिपोर्ट के ३ वॉल्यूम में छपे थे और वहाँ से उद्धृत कर अन्यान्य शोधकों ने उन पर प्रकाश डाल कर अपनी तरफ से छपाये थे। यहां हम "श्री माणिकचन्द्र जैन-ग्रन्थ-माला" के ४५वें ग्रन्थ के रूप में छपे हुए "जैन शिलालेख-संग्रह" के द्वितीय भाग में प्रकाशित उक्त स्तूप के शिलालेखों के आधार से कल्प-स्थविरावलीगत गणों, शाखाओं और कुलों की प्राचीनता के सम्बन्ध में ऊहापोह करके प्रमाणित करेंगे कि "कल्प-स्थविरावली" आर्य देवर्द्धिक्षमाश्रमण के समय का सन्दर्भ नहीं है, अपितु भगवान् महावीर के निर्वाण की तीसरी शती में लिखी हुई एक प्राचीन पट्टावली है।

मथुरा के स्तूप से निकले हुए कुषाणकालीन लगभग ८३ लेखों में 'जैनधर्म सम्बन्धी विवरण है' उनमें से ४८ लेखों में गण, कुल, शाखाओं के उल्लेख हैं, स्थविरावलीगत आठ गणों में से इन लेखों में ३ गणों के उल्लेख हुए हैं, कोटिकगण के २० बार, वारणगण के १२ बार और उद्देहगण के २ बार। स्थविरावलीगत ४४ स्थविर शाखाओं में से ८ शाखाओं का २५ लेखों में उल्लेख हुआ है और स्थविरावलीगत २७ कुलों में से १३ कुलों का ३२ लेखों में उल्लेख मिलता है।

इन लेखों में जिन आठ शाखाओं के उल्लेख हुए हैं, वे उल्लेख संख्या के साथ नीचे दिये जाते हैं :

३ वज्रनागरी, २ आर्यवज्री, ७ वइरी, ६ उच्चानागरी, १ पूर्णपत्रिका, १ मध्यमा, १ सांकाश्यिका, १ हारितमालाकारी।

शिलालेखों में १३ कुलों के ३२ लेखों में जो उल्लेख हुए हैं, वे इस प्रकार से हैं : ६ ब्रह्मदासिक, ४ आर्यहट्टीय, १० स्थानीय, २ प्रीतिधर्मक, १ मेघिक, १ पुष्यमित्रीय, १ आर्यचेटक, १ आर्यमित्र, १ वात्सलिक, १ प्रश्नवाहन, १ पारिहासिक, १ कृष्णसख, १ नाड़िक ।

गरा-शाखा-कुलों में परिमार्जन

मथुरा के शिलालेखों में 'चारणगण' का आदि अक्षर "चा" सर्वत्र "वा" पढ़ा गया है; जो यथार्थ नहीं है। क्योंकि "वारण" शब्द की गण के साथ कोई अर्थ-संगति नहीं बैठती, जब कि "चारण" शब्द गण के साथ बिल्कुल संगत हो जाता है : जैन सूत्रों में "विद्याचारण, जंघाचारण, जलचारण" आदि अनेक प्रकार के आत्म-शक्ति-सम्पन्न श्रमणों के नाम मिलते हैं। उन्हीं में से किसी प्रकार की चारणलब्धि से सम्पन्न गण-प्रवर्तक श्रीगुप्त स्थविर होंगे, जिससे उनके "गण" का नाम "चारण गण" पड़ गया है।

शाखाओं में उच्चानागरी शाखा का उल्लेख अधिकांश स्थानों में "उच्चे नागरी" के रूप में किया गया है। सम्भव है उच्चानागरी शाखा के वाचकों को "उच्चैर्नागर वाचक" नाम से सम्बोधित किया जाता था, उसी के अनुकरणों में लेखकों ने "उच्चा" के स्थान पर "उच्चे" कर दिया हैं। हमने स्थविरावलीगत "उच्चानागरी" नाम ही कायम रखा है।

कोटिक गण को "वइरी" शाखा "वइरी" अथवा "वइरा" इस प्रकार से शिलालेखों में उत्कीर्ण मिलती है। परन्तु दो लेखों में "कोटिक गण" के साथ इसका आर्य वज्री के रूप में उल्लेख हुआ है। कतिपय स्थविरावलीगत कुल-नामों के साथ शिलोत्कीर्ण नाम अधिक जुदा पड़ जाते हैं। "कोटिक गण" के "बंभलिज्जिय" नाम के स्थान में लेखों में कोई सात जगह "ब्रह्मदासिका" नाम मिलता है, इधर पट्टावलीगत "बंभलि-ज्जिय" शब्द से भी कोई विशिष्ट अर्थ नहीं निकलता। संभव है "कोटिक गण" के जन्मदाता "सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध के गुरुभ्राता "ब्रह्मगणी" का पूरा नाम "ब्रह्मदास गणि" हो और उन्हीं के नाम से "ब्रह्मदासिक कुल" प्रसिद्ध

हुआ हो, परन्तु स्थविरावली की प्रति में लेखक की भूल से "बंभलिज्जिय" हो गया हो। कुछ भी हो, हमारी राय में "ब्रह्मदासीय" नाम ही शुद्ध प्रतीत होता है।

मुद्रित स्थविरावलियों में अधिकांश में 'वच्छलीज्ज' के स्थान में "वत्थलिज्ज" नाम दृष्टिगोचर होता है: कुल का सही नाम 'वत्सलीय" है, जिसका प्राकृत रूप "वच्छलिज्ज" है न कि "वत्थलिज्ज"।

कोटिक गण के "वाणिज्ज" कुल के स्थान पर शिलालेखों में कोई ५ स्थानों पर "ठाणियातो" और पांच ही स्थानों पर "स्थानिकातो कुलातो" उत्कीर्ण मिलता है। जहां तक स्मरण है किसी प्राचीन ग्रन्थ की प्रशस्ति में भी "स्थानीय" नाम "कुल" के अर्थ में पढ़ा है। इससे हम "वाणिज्य" अथवा "वणिद्दि" कुल के स्थान पर "स्थानीय" कुल विशेष ठीक समझते हैं, "चारण गण" के "प्रीतिधर्मक" कुल के स्थान पर पाठान्तर "विचिधम्मयं" और शिलालिखों में "प्रीतिधामिके" आदि अशुद्ध नाम मिलते हैं। वास्तव में इस कुल का खरा नाम "प्रीतिधर्म्मकं" ही है। चारण गण के एक कुल का नाम मुद्रित स्थविरावलियों में "हालिज्ज" आता है, तब शिलालेखों में कहीं "अर्यहाट्टकीय", कहीं "हट्टियातो", कहीं "आर्यहट्टिकीय" और कहीं "अयहट्टीये" इत्यादि खुदे हुए मिलते हैं। नाम की आदि में 'अय्य' अथवा 'आर्य' शब्द होने से हमारा अनुमान है कि यह नाम किसी आचार्य का है, जो शुद्ध रूप में "आर्यहस्ती" यह नाम हो तो इसका खरा रूप 'आर्यहस्तीय-कुल" होना चाहिए। स्थविरावली में "आर्य" शब्द न होने के कारण मूल नाम बिगड़ कर कुछ का कुछ हो गया है। वास्तव में इसका प्राकृत रूप "अज्जहत्थिय" होना चाहिए।

चारण गण के एक कुल का नाम स्थविरावली की पुस्तकों में "अज्जवेडयं" और "अज्जचेडयं" इन दो रूपों में उपलब्ध होता है। मथुरा के एक शिलालेख में इस कुल का नाम "आर्य-चेटके-कुले" इस प्रकार उल्लिखित हुआ है। इससे निश्चित है कि स्थविरावली का खरा पाठ "अज्जचेडयं" है।

मथुरा के देवनिर्मित स्तूप के शिलालेखों में "वाचक" शब्द और "गणि" शब्द अधिक प्रयुक्त हुए हैं, और उनके उपदेश से जो कार्य हुए हैं; उनके अन्त में "निर्वर्तन" अथवा निर्वर्तना" शब्दों का प्रयोग किया गया है। कहीं कहीं "दान" तथा "धर्म" शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। लेखों की भाष. तथा शैली का कुछ आभास देने वाले कतिपय वाक्य-खण्ड उद्धृत करके प्रस्तुत प्रकरण को पूरा कर देंगे।

"अय्य जेष्ठ हस्तिस्य वाचक ×, ज्येष्ठ हस्ती शिष्य ×, गणिस्य, अर्य्य वुडुसिरिस्य॥ वाचकस्य अर्य्य संघसिंघस्य ×, वाचकस्य अर्य्य मातृदिनस्य ×, वाचकस्य हरिनन्दिसीसो नागसेनस्य निवर्तनम्॥ वाचकस्य ओहनंदिस्य सीसस्य सेनस्य निर्वर्तना॥" इत्यादि लेखों में "वाचक" और "गणि" शब्द सब से अधिक प्रयुक्त हुए हैं। वाचक श्री देवर्द्धिगणि ने अपनी नन्दी-स्थविरावली में वाचक वंश का जो वर्णन किया है, उसका मथुरा के इन शिलालेखों से समर्थन होता है।

मथुरा के देवनिर्मित स्तूप के शिलालेख राजा कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव के समय के लिखे हुए हैं और उन सभी में कुषाण राजाओं के संवत्सर का प्रयोग किया गया है। कुषाण राजा कनिष्क का राज्य संवत्सर ई० सं० ५८ से प्रारम्भ होता है, जो टाईम विक्रम के संवत्सर का प्रारम्भ है। मथुरा के प्राचीन सभी कुषाणकालीन लेख विक्रम की प्रथम शताब्दी के हैं और वे "मूर्तियों, आयागपट्टों" तथा अन्यान्य धार्मिक कार्यों के साथ सम्बन्ध रखने वाले हैं। कई विद्वान् भारत में मूर्तिपूजा के प्रचारक जैनों को मानते हैं, वह मान्यता मथुरा स्तूप के लेखों से किसी अंश में सत्य प्रतीत होती है। जैन होते हुए भी कतिपय जैन-सम्प्रदाय प्रतिमा-पूजा से विमुख बने बैठे हैं उनको प्रस्तुत मथुरा के स्तूप की हकीकत से बोधपाठ लेना चाहिए और जो नग्नता में ही परमधर्म मानने वाले दिगम्बर विद्वान् आर्य स्थूलभद्र से श्वेताम्बर सम्प्रदाय का उद्भव मानते हैं, वे कल्प-स्थविरावली के गणों, कुलों और शाखाओं का मथुरा के लेखों से मिलान करके देखें कि ये सब गण, कुलादि श्वेताम्बर निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के

हैं या दिगम्बर सम्प्रदाय के ? "षट्खण्डागम, कषाय-पाहुड" अथवा इनकी टीकाओं में इन बातों का कहीं भी सूचन तक न होने पर भी अतिश्रद्धावान् भक्त दिगम्बरों के आगमों को ईसा के पूर्व चतुर्थ शती में लिपिबद्ध होने और श्वेताम्बरसम्मत आगमों का पुस्तकों पर लेखन देवद्धिगणि क्षमाश्रमण का कहने वाले अपनी मान्यता पर विचार करेंगे, तो उनको अपनी खरी स्थिति का ज्ञान होगा ।

मथुरा के स्तूप में से निकली हुई जैन-प्रतिमाओं के सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों का कथन है कि वे दिगम्बर मूर्तियां हैं, कह कथन यथार्थ नहीं । क्योंकि आज से २००० वर्ष पहले मूर्तियां इस प्रकार से बनाई जाती थीं कि गद्दी पर बैठी हुई तो क्या खड़ी मूर्तियां भी खुले रूप में नग्न नहीं दिखती थीं । उनके वामस्कन्ध से देवदूष्य वस्त्र का अंचल दक्षिण जानु तक इस खूबी से नीचे उतारा जाता था कि आगे तथा पीछे का गुह्य अंग भाग उससे आवृत हो जाता था और वस्त्र भी इतनी सूक्ष्म रेखाओं से दिखाया जाता था कि ध्यान से देखने से ही उसका पता लग सकता था । विक्रम की छठवीं तथा सातवीं शती की खड़ी जिनमूर्तियां इसी प्रकार से बनी हुई आज तक दृष्टिगोचर होती हैं, परन्तु उसके परवर्ती समय में ज्यों-ज्यों दिगम्बर सम्प्रदाय व्यवस्थित होता गया त्यों-त्यों उसने अपनी जिनमूर्तियों का अस्तित्व पृथक् दिखाने के लिए जिनमूर्तियों में भी प्रकट रूप से नग्नता दिखलाना प्रारम्भ कर दिया । गुप्तकाल से बीसवीं शती तक की जितनी भी जिनमूर्तियां दिगम्बर-सम्प्रदाय द्वारा बनवाई गई हैं वे सभी नग्न हैं । मथुरा के स्तूप में से भी गुप्तकाल में बनी हुई इस प्रकार की नग्न मूर्तियों के कतिपय नमूने मिले हैं, परन्तु वे सभी विक्रम की आठवीं शती के बाद की हैं, कुषाणकाल की नहीं । मथुरा के स्तूप में से निकले हुए कई आयागपट्ट तथा प्राचीन जिनप्रतिमाओं के छायाचित्र हमने देखे हैं, उनमें नग्नता का कहीं भी आभास नहीं मिलता और यह भी सत्य है कि उन मूर्तियों के "कच्छ" तथा "अंचलि" आदि भी नहीं होते थे, क्योंकि श्वेताम्बर मूर्तियों की यह पद्धति विक्रम की ग्यारहवीं शती के बाद की है ।

इसके अतिरिक्त मथुरा के स्तूप में से एक जैन श्रमण की मूर्ति मिली है, जिस पर "कण्ह" नाम खुदा हुआ मिलता है। ये "कण्ह" आचार्य दिगम्बर सम्प्रदाय प्रवर्तक शिवभूति मुनि के गुरु "कृष्ण" हों तो आश्चर्य नहीं, क्योंकि वह मूर्ति अर्धनग्न होते हुए भी उसके कटिभाग में प्राचीन निर्ग्रन्थ श्रमणों द्वारा नग्नता ढांकने के निमित्त रक्खे जाते "अग्रावतार" नामक वस्त्र-खण्ड की निशानी देखी जाती है। यह "अग्रावतार" प्रसिद्ध स्थविर आर्य रक्षित के समय तक श्रमणों में व्यवहृत होता था। बाद में धीरे-धीरे छोटा कटिवस्त्र जिसे "चुल्लपट्टक" (छोटा पट्टक) कहते थे, श्रमण कमर में बांधने लगे तब से प्राचीन "अग्रावतार वस्त्रखण्ड" व्यवहार में से निकल गया।

स्थविरावली की प्राचीनता

उपर्युक्त कल्प-स्थविरावली में स्थविरों के सत्ता-समय के सम्बन्ध में कुछ भी सूचन नहीं मिलता, अपितु भिन्न गाथाओं में इनका समय निरूपण किया हुआ है। युगप्रधानों की पट्टावलियां भी दो प्रकार की मिलती हैं, एक माथुरीवाचनानुयायिनी और दूसरी वालभीवाचनानुयायिनी। माथुरी वाचनानुयायिनी पट्टावली में युगप्रधानों के नाम मात्र दिये हुए हैं, उनका समयक्रम नहीं लिखा, तब वालभीवाचनानुयायिनी पट्टावली में स्थविरों के नामों के साथ उनके युगप्रधानत्व पर्याय का समय भी दिया हुआ है। इन गाथाओं में गोविन्द वाचक का नाम भी सम्मिलित किया है और आर्य सुहस्ती का नाम कम करके आर्य महागिरि के बाद बलिस्सह से प्रारम्भ कर देवर्द्धिगणि तक २७ नामों की सूची दी है। इस सूची में आर्य सुहस्ती को छोड़ देना और गोविन्द-वाचक को ग्रहण करना ये दोनों बातें अयथाथ हैं। यह पट्टावली गुरुपरम्परा नहीं किन्तु वाचक स्थविर-परम्परा है। आर्य महागिरि के बाद आर्य सुहस्ती वाचक रहे हुए हैं, जब कि गोविन्द वाचक का नाम नन्दि-स्थविरावली में प्रक्षिप्त गाथा में आया है, मूल में नहीं। इसलिए हमने इस माथुरी वाचना के अनुयायी स्थविरों के नामों में आर्य सुहस्ती का नाम कायम रक्खा है और "गोविन्द वाचक" नाम हटा दिया है। इस प्रकार "बलिस्सह को ११वां वाचक मानने से देवर्द्धि क्षमाश्रमण तक के वाचकों की संख्या २७ हो जाती है। पहले हम माथुरीवाचनानुयायिनी स्थविरावली के नाम बताने वाली गाथाओं को उद्धृत करेंगे, आर्य महागिरि के परवर्ती स्थविर वाचकों के नाम निम्न प्रकार से हैं :

"सूरि बलिस्सह साई, सामज्जो संडिलो य जीयधरो।
अज्जसमुद्दो मंगू, नंदिल्लो नागहत्थी य ॥

रेवइसिंहो खंदिल - हिमवं नागज्जुणा य तेवीसं ।
सिरिभूइ–दिन्न–लोहिच्च–दूसगणिणो य देवड्ढी ॥"

अर्थात् : 'आचार्य बलिस्सह ११, स्वाति १२, श्यामाचार्य १३, जीतधर शाण्डिल्य १४, आर्य समुद्र १५, आर्य मंगू १६, नंदिल्ल १७, नागहस्ती १८, रेवतिनक्षत्र १९, ब्रह्मद्वीपिकसिंह २०. स्कन्दिल २१, हिमवान् २२, नागार्जुनवाचक २३, श्री भूतिदिन्न २४, श्री लोहित्य २५, श्री दूष्यगणि २६ और श्री देवर्द्धिगणि २७; ये २७ स्थविर माथुरीवाचना के अनुसार युगप्रधान वाचक हुए ।

अब हम वालभीवाचनानुयायिनी स्थविर परम्परा का निरूपण करते हैं :

"सिरि वीराउ सुहम्मो, वीसं चउचत्त वास जंबुस्स ।
पभवेगारस सिज्जं, –भवस्स तेवीस वासाणि ॥ १ ॥
पन्नास जसोभद्दे, संभूयसट्ठि भद्दबाहुस्स ।
चउदस य थूलभद्दे, पणयालेवं दुसगसट्ठी ॥ २ ॥
अज्ज महागिरि तीसं, अज्जसुहत्थीण वरिस छायाला ।
इगचालीसं जाणसु, निणोयवक्खाय सामज्जे ॥ ३ ॥
रेवइमित्ते वासा, होंति छत्तीस उवहि नामम्मि ।
वासाणि नवमंगू – थेरंमि वीसव साणि ॥ ४ ॥
चउयाल अज्जधम्मे, एगुणचालीस भद्दगुत्ते य ।
सिरिगुत्ति पनर वइरे, छत्तीसं हुंति वासाणि ॥५॥
तेरस वासा सिरिअज्ज, –रक्खिए वीस पूसमित्तस्स ।
सिरि वज्जसेणि तिण्णि य गुरुससरि नागहत्थिस्स ॥६॥"

अर्थात् : 'वीरनिर्वाण से २० वर्ष व्यतीत होने पर सुधर्मा का निर्वाण हुआ, सुधर्मा से ४४ वर्ष के बाद जम्बू का निर्वाण हुआ, जम्बू से ११ वर्ष के बाद प्रभव का और प्रभव से २३ वर्ष के बाद शय्यम्भव का स्वर्गवास हुआ। शय्यम्भव से ५० वर्ष बाद यशोभद्र का तथा यशोभद्र से

६० वर्ष के बाद सम्भूतविजय का स्वर्गवास हुआ। सम्भूतविजय से १४ वर्ष के बाद भद्रबाहु और उनमें ४५ वर्ष के बाद स्थूलभद्र स्वर्ग प्राप्त हुए, इस प्रकार स्थूलभद्र के स्वर्गवास तक २६७ वर्ष महावीर-निर्वाण को हुए।

स्थूलभद्र से आर्य महागिरि ३० और महागिरि से आर्य सुहस्ती ४६ वर्ष तक युगप्रधान रहे और आर्य सुहस्ती के बाद ४१ वर्ष तक निगोद व्याख्याता श्यामार्य का युगप्रधानत्व रहा। श्यामार्य के स्वर्गवासानन्तर रेवतिमित्र ३६ वर्ष, रेवतिमित्र के बाद ९ वर्ष आर्य समुद्र और आर्य समुद्र से २० वर्ष तक आर्य मंगू युगप्रधान रहे, आर्य मंगू के बाद ४४ आर्यधर्म के, ३९ वर्ष भद्रगुप्त के, भद्रगुप्त के बाद १५ वर्ष श्री गुप्त के, श्री गुप्त के अनन्तर ३६ वर्ष आर्यवज्र के, १३ वर्ष श्री आर्यरक्षित के, २० वर्ष पुष्यमित्र के, ३ वर्ष श्री वज्रसेन के, ६९ नागहस्ती के, ५९ रेवतिमित्र के; ७८ सिंहसूरि के और ७८ वर्ष नागार्जुन वाचक के।

> "रेवइमित्ते गुणसट्ठि, सिंहसूरिम्मि अट्ठहत्तरी य ।
> नागज्जुणि अडहत्तरि, भूयदिन्ने य इगुणयासी ॥७॥
> एगारस कालगज्जे, सिद्धंतुद्धारकारि वलहीए ।
> एवं नवसय तिणउइ, वासा वालब्भ संघस्स ॥८॥"

और ७९ भूतदिन्न आचार्य के मिलकर वीरनिर्वाण से ९८२ वर्ष हुए, इनमें वलभी में सिद्धान्त का उद्धार करने वाले आचार्य कालक के ११ वर्ष मिलाने पर वालभ्य संघ की मान्यतानुसार ९९३ वर्ष होते हैं, परन्तु माथुरी गणना में ९८० वर्ष आते हैं। वलभी में किये गये पुस्तक लेखन के समय दो गणनाओं में जो १३ वर्ष का अन्तर पड़ा, उसका कारण यह है कि माथुरी वाचनानुयायी संघ ने अपनी गणना में श्रीगुप्त स्थविर को स्थान नहीं दिया और आर्य मंगू के युगप्रधानत्व पर्याय के ४१ वर्ष माने हैं जिससे गणना का अंक ९८० का होता है। दूसरी तरफ वलभी-वाचनानुयायियों ने आर्य मंगू का युगप्रधानत्व पर्याय ३९ वर्ष का माना और श्रीगुप्त को अपनी गणना में स्थान देकर उनके १५ वर्ष माने, फलस्वरूप दोनों वाचनानुयायियों में १३ वर्ष का अन्तर अमिट हो गया।

वलभी के पुस्तक लेखन में माथुरी वाचना को मुख्य माना था, अतः समय के निर्देश में :

"समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणस्स नव वास-सयाइं विइक्कंताइं दसमस्स य वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरे काले गच्छइ"

इस प्रकार माथुरी-वाचना की कालविषयक मान्यता का प्रथम निर्देश किया, परन्तु वालभ्य वाचना वाले अपनी मान्यता को गलत मानकर उक्त मान्यता को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुए, परिणामस्वरूप :

"वायणंतरे पुण अयं तेणउए संवच्छरे काले गच्छइ इइ दीसइ ।"

यह सूत्रान्तर लिख कर वालभ्य संघ की मान्यता का भी उल्लेख करना पड़ा ।

ऊपर जिन गाथाओं द्वारा हमने दोनों स्थविरावलियों की काल-विषयक मान्यता का प्रतिपादन किया है, वे गाथाएं प्राचीन होने पर भी उनमें कई स्थानों में संशोधन करना पड़ा है ।

राजकाल गणना सम्बन्धी "तित्थोगालीपयन्ना" की गाथाओं में एक दो स्थानों पर परिमार्जन करना पड़ा है । नन्दों की वर्षगणना में ५ वर्ष कम किये हैं, "पणपन्नसयं" के स्थान में "पुण पण्णसय", "अट्ठसयं मुरियाणं" के स्थान में "सट्ठिसयंमुरियाणं", "तीसा पुण पूसमित्तस्स" के स्थान में "पणतीसा पूसमित्तस्स" करके पुस्तकलेखकों द्वारा प्रविष्ट अशुद्धियों का परिमार्जन किया है ।

गाथा के अशुद्ध पाठानुसार नन्दों का काल १५५ और मौर्यों का काल १०८ वर्ष परिमित माना जाता था, जो ठीक नहीं था । गणना-विषयक इस गड़बड़ी के कारण से ही आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजी ने "परिशिष्ट पर्व" में चन्द्रगुप्त मौर्य को वीरनिर्वाण से १५५ में मगध के साम्राज्य पर आसीन होने का लिखा है जो असंगत है, क्योंकि जिननिर्वाण

से ६० वर्ष व्यतीत होने के बाद नन्द को पाटलीपुत्र के राज्य पर बैठाकर १५५ में चन्द्रगुप्त को उस गादी पर बैठाने का अर्थ तो यही हो सकता है, कि नन्द ने पाटलीपुत्र पर केवल ७४ वर्ष ही राज्य किया था, परन्तु पौराणिक तथा जैन गणनाओं के अनुसार यह मान्यता असंगत प्रमाणित होती है। पुराणों में 'बिम्बसार-श्रेणिक के उत्तराधिकारी अजातशत्रु' का राज्यकाल ३७, वंशक का २४, उदायिन् का ३३, नन्दिवर्द्धन का ४२, महानन्दिन का ४३ और नव नन्दों का १०० वर्ष का माना है। श्रमण-भगवन्त महावीर अजातशत्रु के राज्य के २२वें वर्ष में निर्वाण प्राप्त हुए थे, अतः उसके राजत्वकाल में से २२ वर्ष कम करने पर भी भगवान् महावीर के निर्वाण से २५७ वर्ष में मौर्य राज्य का प्रारम्भ आता है, जब कि आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजी नन्दों का राज्य समाप्त कर १५५ में ही चन्द्रगुप्त को मगध की गद्दी पर बैठाते हैं। संशोधित जैनकाल गणना के अनुसार नन्दों के राज्य की समाप्ति २१० वर्ष में होती है और मौर्य चन्द्रगुप्त मगध का राजा बनता है। बौद्धों की गणनानुसार मौर्य्य राज्य का समय जल्दी आता है, परन्तु इस विषय की बौद्ध काल-गणना सर्वथा अविश्वसनीय है, क्योंकि सुदूर लंका में बैठे हुए बौद्ध स्थविरों ने जो कुछ सुना उसी को लेखबद्ध कर दिया, औचित्य अथवा संगति का कुछ भी विचार नहीं किया। उदाहरणस्वरूप हम नवनन्दों के राजत्वकाल के सम्बन्ध में ही दो शब्द कहते हैं।

बौद्धों ने नवनन्दों का राज्यकाल केवल २२ वर्ष लिखा है, जो किसी प्रकार से ग्राह्य नहीं हो सकता।

जिस प्रकार राजाओं के राजत्वकाल के सम्बन्ध में लेखकों की असावधानी से समय विषयक अनेक अशुद्धियां होने पाई हैं, उसी प्रकार स्थविरों की काल-गणना में भी लेखकों के प्रमाद से अशुद्धियां घुस गई हैं जिनके कारण से कई बातों में विसंवाद उपस्थित होते हैं।

ऊपर हमने स्थविरों के काल सम्बन्धी जो गाथाएँ लिखी हैं उनमें आर्य सम्भूतविजयजी के युगप्रधानत्व समय में लेखकों ने बड़ा घोटाला कर

दिया है : "सम्भूयसट्ठी" इस शुद्ध पाठ को बिगाड़ कर किसी लेखक ने "सम्भूयस्सट्ठ" बना दिया, जिसका अर्थ किया गया सम्भूत के ८ आठ वर्ष, बस एक इकार के अकार के रूप में परिवर्तन होने से ६० के ८ बन गये। मजा तो यह है कि यह भूल आज की नहीं, कोई ८०० सौ वर्षों से भी पहले की है। इसी भूल के परिणामस्वरूप आचार्य श्री हेमचन्द्रजी ने भद्रबाहु स्वामी को जिननिर्वाण से १७० वर्ष में स्वर्गवासी होना लिखा है और इसी भूल के कारण से पिछले पट्टावली-लेखकों ने आर्य स्थूलभद्रजी को निर्वाण से २१५ में स्वर्गवासी होना लिखा है, इस भूल का परिणाम बहुत ही व्यापक बना है, इस सम्बन्ध में हम एक दो ही उदाहरण देकर इस प्रसंग को समाप्त कर देंगे।

सभी पट्टावलाकारों ने आर्य स्थूलभद्रजी का स्वर्गवास वीरनिर्वाण २१५ में माना है। स्वर्गवास की मान्यता के अनुसार इनकी दीक्षा १४६ में आती है, क्योंकि उन्होंने ३० वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली थी और ९९ वर्ष तक ये जीवित रहे थे, इस प्रकार १४६ में दीक्षित स्थूलभद्र मुनि अपने गुरु सम्भूतविजयजी के पास अनेक वर्षों तक रह कर पूर्वश्रुत का अध्ययन कर सकते थे परन्तु पठन-पाठन के सम्बन्ध में सर्वत्र भद्रबाहु स्थूलभद्र का ही गुरु-शिष्य भाव दृष्टिगोचर होता है, इससे ज्ञात होता है कि स्थूलभद्र की दीक्षा का समय पट्टावलीकारों के माने हुए समय से बहुत परवर्ती है। शायद सम्भूतविजयजी के अन्तिम वर्ष में ही स्थूलभद्र दीक्षित हुए होंगे।

आर्य सुहस्ती स्थूलभद्रजी के हस्तदीक्षित शिष्य थे। उन्होंने ३० वर्ष की अवस्था में स्थूलभद्रजी के पास दीक्षा ली थी और १०० वर्ष की अवस्था में जिननिर्वाण से २९१ के वर्ष में उनका स्वर्गवास हुआ था, ऐसा पट्टावलीकार लिखते हैं। पट्टावलीकारों के उक्त लेखानुसार आर्य सुहस्ती की दीक्षा और स्थूलभद्र के पास इनके शिष्य आर्य महागिरि तथा आर्य सुहस्ती का १० पूर्व पढ़ना असम्भव हो जाता है। इससे मानना होगा कि स्थूलभद्र का स्वर्गवास २१५ में नहीं पर २२१ के बहुत पीछे हुआ है। स्थूलभद्रजी ने आर्य सुहस्ती को जुदा गण दिया था, ऐसा निशीथ विशेष-

चूर्णि आदि में लेख है। इससे भी ज्ञात होता है कि स्थूलभद्र के स्वर्गवास के समय में आर्य सुहस्ती कम से कम १०–११ वर्ष के पर्यायवान् गीतार्थ होंगे। इन सब बातों के पर्यालोचन से यही सिद्ध होता है कि स्थूलभद्र का स्वर्गवास का समय माने हुए समय से बहुत पीछे का है।

संप्रति के जीव द्रमक को 'कोशम्बाहार' में आर्य सुहस्ती ने दीक्षा दी; उस समय आर्य महागिरिजी जीवित थे और उस समय में मगध की राजगद्दी पर मौर्य अशोक था, क्योंकि द्रमक साधु उसी रात को मर कर राजकुमार कुणाल की रानी की कोख में पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ माना गया है।

प्रचलित पट्टावलियों में आर्य महागिरि का स्वर्गवास निर्वाण से २४५ में माना गया है। यदि यह समय ठीक होता तो द्रमक के दीक्षा-प्रसंग पर उनकी विद्यमानता के उल्लेख नहीं मिलते, क्योंकि २४५ में चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार का पाटलिपुत्र में राज्य था, अशोक का नहीं। शास्त्र में अशोक के राज्यकाल में द्रमक को दीक्षा देने का लिखा है।

उपर्युक्त असंगतियां तो उदाहरण के रूप में लिखी हैं। इस प्रकार की और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण असंगतियां प्रचलित माथुरी तथा वालभी पट्टावलियों में दृष्टिगोचर होती है, जो आर्य सभूतविजयजी के ६० वर्षों के स्थान पर ८ वर्ष मान लेने का परिणाम है। इसलिए हमने प्राचीन गाथा में "सम्भूयसट्ठि" इस प्रकार का पाठ स्वीकार कर उक्त प्रकार की असंगतियों को दूर किया है।

हमने गाथाओं में से आर्य सुहस्ती के बाद के स्थविर "गुणसुन्दर" और निगोदव्याख्याता श्यामार्य के बाद के "स्कन्दिल" के नाम कम किये हैं, क्योंकि ये दोनों नाम "प्राचीन वालभी वाचना" की थेरावली में नहीं हैं। आचार्य मेरुतुंग कहते हैं, "मूल स्थविरावली में न होते हुए भी सम्प्रदाय से ये दोनों नाम लिए गए हैं"। वालभी स्थविरावली में आर्य समुद्र का नाम हमने दाखिल किया है, क्योंकि सूत्रों की चूर्णियों में आर्य समुद्र तथा आर्य मंगू के नाम युगप्रधान के रूप में लिखे मिलते हैं।

"प्रचलित पट्टावली की गाथाओं में आर्य मंगू के वर्ष २० और आर्य धर्म के २४ लिखे हुए हैं। कहीं-कहीं आर्य धर्म का युगप्रधानत्व समय ४४ वर्ष का भी लिखा है। आर्य धर्म के ४४ वर्ष मानने वाले आर्य मंगू को उड़ाकर २० वर्ष कम कर देते हैं, परन्तु हमने आर्य मंगू को भी कायम रक्खा है, और आर्य धर्म के भी ४४ वर्ष माने हैं। "गुणसुन्दर" तथा "स्कन्दिल" को कम करने के बाद इस मान्यता के अनुसार ऐतिहासिक संगति ठीक मिल जाती है।"

वालभी वाचना के अनुयायियों तथा लेखकों ने भी आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण को २७वां पुरुष माना है। हमारी संशोधित वालभी पट्टावली में कालकाचार्य का नाम २७वां आता है और नन्दी-स्थविरावली की माथुरी गणना के अनुसार भी देवर्द्धि क्षमाश्रमण का नाम २७वां ही आता है। देवर्द्धिगणि युगप्रधान के रूप में २७वें हैं, परन्तु गुरु-शिष्य क्रम के अनुसार ३४वें पुरुष हैं।

नन्दीसूत्रकार द्वारा अंगीकृत २७ स्थविरों के नामों में से वालभी वाचनानुयायिनी स्थविरावली में ९ नाम भिन्न प्रकार के हैं। आर्य सुहस्ती तक के ११ नामों में कोई फरक नहीं है, परन्तु इसके बाद के वालभी के नामों में १५ से २१ तक के स्थविर धर्म, भद्रगुप्त, श्रीगुप्त, वज्र, रक्षित, पुष्यमित्र और वज्रसेन के नाम वालभी में जुदे पड़ते हैं। ये सात नाम वास्तव में युगप्रधान-स्तोत्र में से वालभी स्थविरावली में जोड़ दिये हैं। अन्तिम नाम कालकाचार्य का भी माथुरी से जुदा पड़ता है। वालभी में १२वां नाम रेवतिमित्र का है, जब कि माथुरी में "स्वाति" का। इस प्रकार माथुरी के २७ नामों में से वालभी के ९ नाम जुदे पड़ते हैं, इसका कारण तत्कालीन जैन श्रमणसंघ के दो विभाग हैं, प्रथम दुष्काल के समय श्रमणों की छोटी-छोटी टुकड़ियां समुद्रतट तथा नदी मातृक देशों में पहुँची थी और दुष्काल के अन्त में फिर सम्मिलित हो गई थीं, परन्तु सम्प्रति मौर्य के समय में सुदूर दक्षिण में पहुंचे हुए श्रमण तथा आर्य वज्र के समय के दुर्भिक्ष में दक्षिण, मध्यभारत तथा पश्चिम भारत में पहुँचे हुए श्रमण उत्तर-भारतीय श्रमणगणों से बहुत दूर विचर रहे थे, इस कारण

से तत्कालीन जैन-श्रमणों में चलती हुई "संघ स्थविर शासन पद्धति" के अनुसार उत्तरीय श्रमणगणों के "संघस्थविर" के स्थान में अपना नया संघस्थविर नियुक्त करके संघ स्थविर-पद्धति को निभाते थे। आर्य धर्म से लेकर आर्य वज्रसेन तक के ७ ही स्थविर बहुधा भारत के मध्य तथा दक्षिण प्रदेश में विन्ध्याचल के आसपास विचरने वाले थे, इसलिए उधर के श्रमणगणों ने इन स्थविर आचार्यों को अपनी वाचक-परम्परा में मान लिया था। स्थविर वज्रसेन के बाद दाक्षिणात्य श्रमणसंघ पश्चिमोत्तर की तरफ मुड़कर जब विदर्भ में होता हुआ सौराष्ट्र की तरफ पहुँचा तब उत्तरीय श्रमणसंघ भी पश्चिम की तरफ विचरता हुआ मथुरा के आसपास के प्रदेशों में पहुँच चुका था, फलस्वरूप फिर दोनों संघों का एक दूसरे से सम्पर्क हुआ और स्थविर शासन-पद्धति फिर एक हो गई। आर्य वज्रसेन के बाद के उत्तरीय संघ के आर्य नागहस्ती, आर्य रेवतिनक्षत्र, ब्रह्मदीपिकसिंहसूरि, नागार्जुन वाचक और भूतदिन्न इन पांच संघस्थविरों को अपनी स्थविरावली में स्थान देकर श्रमणसंघ का अखण्डत्व कायम किया। इस प्रकार दाक्षिणात्य श्रमणसंघ ने १७० वर्ष तक अपनी संघस्थविर शासन-पद्धति को स्वतन्त्र रूप से निभा कर विक्रम की दूसरी शताब्दी के मध्य में फिर वे उत्तरीय संघ में सम्मिलित हुए और ३६० से अधिक वर्षों तक संघ स्थविर-पद्धति अखण्डित रही। इस समय के दर्मियान दुर्भिक्षादि विषमकाल के वश जैन श्रमणों का आगमाध्ययन अव्यवस्थित बन गया था, अतः उत्तरीय संघ के नेता आर्य स्कन्दिल और दाक्षिणात्य संघ के नायक नागार्जुन वाचक ने क्रमशः मथुरा तथा वलभी में अपने श्रमणगणों को इकट्ठा कर आगमों को व्यवस्थित करके ताड़पत्रों पर लिखवाया। कालान्तर में उत्तरीय तथा दाक्षिणात्य संघ फिर वलभी में सम्मिलित हुए और दोनों वाचनाओं के अनुगत आगमों का समन्वय किया, इस समन्वयकारक सम्मेलन में माथुरी वाचनानुयायी श्रमणसंघ के प्रमुख स्थविर 'देवर्द्धिगणि वाचक' थे, तब वालभी वाचनानुयायी श्रमणसंघ के नेता आर्य "कालक", यह समय वीरनिर्वाण से दशम शतक का अन्तिम चरण था।

आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण-निरूपित :

१. नन्दी-स्थविरावली : सानुवाद

नन्दीसूत्र के प्रारम्भ में सूत्रकार ने अपनी परम्परा के अनुयोगधरों का सविस्तर वर्णनपूर्वक वन्दन किया है। ये स्थविर अनुयोगधर वाचक थे, न कि गुरु-शिष्य के क्रम से आए हुए पट्टधर, किसी अनुयोगधर के बाद उनका शिष्य ही अनुयोगधर बना है तो अनेक अनुयोगधरों के बाद अन्य श्रुतधर वाचक पद प्राप्त कर वाचकों की परम्परा में आए हैं। यह परम्परा अनुयोगधरों की है, यह बात देवर्द्धिगणीजी ने स्वयं अन्तिम गाथा ४३वीं में सूचित की है।

नन्दी-स्थविरावली की मूल गाथाएँ नीचे दी जाती हैं। गाथाओं का अंक सूत्रोक्त ही दिया गया है :

"सुहम्मं अग्गिवेसाणं, जंबूनामं च कासवं।
पभवं कच्चायणं वंदे, वच्छं सिज्जंभवं तहा ॥२३॥
जसभद्दं तुंगियं वंदे, संभूयं चेव माढरं।
भद्दबाहुं च पाइन्नं, थूलभद्दं च गोयमं ॥२४॥
एलावच्चसगोत्तं, वंदामि महागिरिं सुहत्थिं च।
तत्तो कोसिअगोत्तं, बहुलस्स सरिव्वयं वंदे ॥२५॥"

अर्थ : 'अग्निवैश्यायनगोत्रीय सुधर्मा, काश्यपगोत्रीय जम्बू, कात्यायनगोत्रीय प्रभव तथा वत्सगोत्रीय शय्यम्भव को वन्दन करता हूँ। तुंगियायनगोत्रीय यशोभद्र, माठरगोत्रीय सम्भूत, प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु

और गौतमगोत्रीय स्थूलभद्र को वन्दन करता हूं। ऐलापत्यगोत्रीय महागिरि (वासिष्ठगोत्रीय) सुहस्ती और कौशिकगोत्रीय बहुल के समवयस्क बलिस्सह को वन्दन करता हूं।२३।२४।२५।।'

"हारियगुत्तं साइं च, वंदिमो हारियं च सामज्जं।
वंदे कोसियगोत्तं, संडिल्लं अज्जजीयधरं ॥२६॥
तिसमुद्दखायकित्तिं, दीवसमुद्देसु गहियपेयालं।
वंदे अज्जसमुद्दं, अक्खुभिय-समुद्द-गंभीरं ॥२७॥
भणगं करगं झरगं, पभावगं णाण-दंसण-गुणाणं।
वंदामि अज्जमंगुं, सुयसागरपारगं धीरं ॥२८॥"

'हारितगोत्रीय स्वाति और श्यामार्य को वन्दन करते हैं। कौशिक-गोत्रीय आर्य जीतधर शाण्डिल्य को वन्दन करता हूं। तीन समुद्रपर्यन्त जिनकी कीर्ति प्रसिद्ध है और द्वीप-समुद्र सम्बन्धी ज्ञान में जो गहरे उतरे हुए हैं ऐसे अक्षुब्ध-समुद्र के जैसे गम्भीर आर्य समुद्र को वन्दन करता हूँ। प्रतीच्छकों को सूत्रों का पाठ देने वाले, शास्त्रोक्त क्रियामार्ग में प्रवृत्तिमान् ज्ञान-दर्शन के गुणों को शोभाने वाले और श्रुत-समुद्र के पारंगत धीर पुरुष आर्य मंगू को वन्दन करता हूँ।२६।२७।२८।।'

"नाणम्मि दंसणम्मि अ, तव-विणए णिच्चकालमुज्जुत्तं।
अज्जं नन्दिलखमणं, सिरसा वन्दे, पसन्नमणं ॥२९॥
वड्ढउ वायगवंसो, जसवंसो अज्जनागहत्थीणं।
वागरणकरण - भंगिय - कम्मपयडीपहाणाणं ॥ ३० ॥
जच्चंजणधाउ - सम-प्पहाण मुद्दियकुवलयनिहाणं।
वड्ढउ वायगवंसो, रेवइनक्खत्तनामाणं ॥ ३१ ॥"

अर्थ : 'ज्ञान, दर्शन तथा तप विनय में नित्यकाल उद्यमवन्त और प्रसन्नचित्त आर्य नन्दिल क्षपक को सिर नवां कर वन्दन करता हूँ। व्याकरण, चरण-करण, भंगिकसूत्र और कर्मप्रकृति में प्रधान, ऐसे आर्य नागहस्ती का यशस्वी वाचक वंश वृद्धिगत हो, जात्य अंजनधातु के समान

तेजस्वी और द्राक्षा तथा नीलकमल के समान कान्ति वाले ऐसे रेवतिनक्षत्र अर्थात् रेवतिमित्र नामक आचार्य का वाचकवंश वृद्धि को प्राप्त हो। ।२९ ३०।३१।।'

"अयलपुरा णिक्खंते, कालियसुयआणुओगिए धीरे।
बंभद्दीवगसीहे, वायगपयमुत्तमं पत्ते ॥ ३२ ॥

जेसि इमो अणुओगो, पयरइ अज्जावि अड्ढभरहम्मि।
बहुनयरनिग्गयजसे, ते वंदे खंदिलायरिए ॥ ३३ ॥

तत्तो हिमवन्तमहन्त-विक्कमे धिइपरक्कममणंते।
सज्झाय मणंतधरे, हिमवंते वंदिमो सिरसा ॥३४॥"

अर्थ : 'अचलपुर से निकल कर प्रव्रजित होने वाले, कालिक श्रुत के अनुयोगधर, धीर और उत्तम वाचक पद को प्राप्त ब्रह्मद्वीपिकसिंह स्थविर को वन्दन करता हूँ। जिनका यह अनुयोग आज भी इस अर्द्ध भरतक्षेत्र में प्रचलित है और अनेक नगरों में जिनका यश फैल रहा है, उन श्री स्कन्दिलाचार्य को वन्दन करता हूँ। स्कन्दिल के बाद हिमवन्त के समान महाविक्रमशाली अमर्यादित-धृतिपराक्रम वाले और अपरिमित स्वाध्याय के धारक आचार्य हिमवन्त को सिर नवा कर वन्दन करते हैं। ।३२।३३।३४।'

"कालियसुयअणुओगस्स, धारए धारए य पुव्वाणं।
हिमवंतखमासमणे, वंदे णागज्जुणायरिए ॥ ३५ ॥

मिउमद्दवसंपन्ने, अणुपुव्वि वायगत्तणं पत्ते।
ओहसुयसमायारे, नागज्जुणवायए वंदे ॥ ३६ ॥"

अर्थ : 'कालिक श्रुतानुयोग के और पूर्वों के धारक हिमवन्त क्षमाश्रमण को वन्दन करता हूँ। जो मृदुमार्दव से सम्पन्न, उत्सर्गश्रुतानुसार चलने वाले तथा अनुक्रम से वाचक-पद पाने वाले हैं, उन नागार्जुन वाचक को वन्दन करता हूँ। ।३५।३६।।

"वरकणग तविय चंपग-विमलयर कमलगब्भसरिवन्ने ।
भविश्रजणहियपवइए, दयागुणविसारए धीरे ॥ ३७ ॥

अड्ढभरहप्पहाणे, बहुविह सज्झाय सुमुणिय पहाणे ।
अणुओगियवरवसभे, नाइलकुलवंशनंदिकरे ॥ ३८ ॥

भूयहिअप्पगब्भे, वंदेऽहं भूयदिन्नमायरिए ।
भवभयवुच्छेयकरे, सीसे नागज्जुणरिसीणं ॥ ३९ ॥"

अर्थ । 'अग्नितप्त श्रेष्ठ सुवर्णतुल्य, चम्पकपुष्पसदृश, कमलपुष्प के गर्भसदृश वर्ण वाले, भाविक जनों के हृदयप्रिय, दयागुण में विशारद, धैर्यवन्त, दक्षिणार्धभरत में प्रधान, अनेकविध स्वाध्याय से यथार्थज्ञाततत्त्व, पुरुषों में प्रधान, अनुयोगधर पुरुषों में श्रेष्ठ, नागिल कुल की परम्परा के वृद्धिकारक, प्राणियों का हित करने में दक्ष, संसार के भय का नाश करने वाले ऐसे नागार्जुन ऋषि के शिष्य आचार्य भूतदिन्न को वन्दन करता हूं । ।३७।३८।३९।।'

"सुमुणियनिच्चाऽनिच्चं, सुमुणियसुत्तत्थधारयं वंदे ।
सब्भावुब्भावणया - तत्थं लोहिच्चणामाणं ॥४०॥

अत्थमहत्थक्खाणिं, सुसमणवक्खाण-कहणनिव्वाणिं ।
पयईइ महुरवाणिं, पयश्रो पणमामि दूसगणिं ॥४१॥

सुकुमालकोमलतले, तेसिं पणमामि लक्खणपसत्थे ।
पाए पावयणीणं, पडिच्छ (ग) सएहिं पणिवइए ॥४२॥"

अर्थ । 'जिन्होंने पदार्थों की नित्यानित्य अवस्था को अच्छी तरह जाना है, जो यथार्थसूत्र अर्थ के धारक हैं और जो सद्भावों के प्रकाशन में यथार्थ हैं, ऐसे "लोहित्य" नामक अनुयोगधर को वन्दन करता हूं । पदार्थों के अर्थविस्तार की जो खान हैं, उत्तम श्रमणों को सूत्रों की व्याख्या द्वारा निर्वृत्तिदायक हैं और प्रकृति से मधुरभाषी हैं, ऐसे दूष्यगणि को प्रयत्नपूर्वक नमन करता हूं । जिन प्रावचनिक दूष्यगणि के चरण सुकुमाल और कोमल तल वाले तथा शुभ लक्षणों से प्रशस्त हैं और जो

सैकड़ों प्रतीच्छकों से वन्दित हैं, उन दूष्यगणि के चरणों में नमन करता हूँ ।४०।४१।४२।।'

"जे अन्ने भगवन्ते, कालिअसुयआणुओगिए धीरे।
ते पणमिऊण सिरसा, नाणस्स परूवणं वोच्छं ॥४३॥"

अर्थ : 'उक्त अनुयोगधरों के अतिरिक्त जो कालिक श्रुत के अनुयोगधारी धीर पुरुष हैं, उन सब भगवन्तों को सिर से प्रणाम कर ज्ञान का प्ररूपण करूंगा ।४३।'

कल्प-स्थविरावली का वर्णन शाण्डिल्य तक सर्वप्रथम दिया है। उसके बाद माथुरी वाचनानुयायी स्थविरावलीगत अनुयोगधरों की नामावली बताने वाली मौलिक गाथाएँ लिखकर उनकी चर्चा की है। माथुरी के बाद वालभी वाचनानुगत स्थविरों का निरूपण करने वाली गाथाएँ समय-प्रतिपादन के साथ लिखी हैं। इन सब बातों को कोष्टकों के रूप में लिख कर अन्त में स्थविर देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की गुर्वावली का कोष्टक देकर इस लेख को पूरा करेंगे।

माथुरी-वाचनानुगत-स्थविर-क्रम

१ सुधर्मा	१० सुहस्ती	१९ रेवतिनक्षत्र
२ जम्बू	११ बलिस्सह	२० ब्रह्मद्वीपिकसिंह
३ प्रभव	१२ स्वाति	२१ स्कन्दिलाचार्य
४ शय्यम्भव	१३ श्यामार्य	२२ हिमवन्त
५ यशोभद्र	१४ शाण्डिल्य	२३ नागार्जुन वाचक
६ सम्भूतविजय	१५ समुद्र	२४ भूतदिन्न
७ भद्रबाहु	१६ मंगू	२५ लोहित्य
८ स्थूलभद्र	१७ नन्दिल	२६ दूष्यगणि
९ महागिरि	१८ नागहस्ती	२७ देवर्द्धिगणि

वालभी-वाचनानुगत-स्थविर-क्रम

श्री महावीरनिर्वाण विक्रम पूर्व ४७० ई० स० पू० ५२७ ।

क्रमांक	नाम	नि. से नि. तक	वि० पू०	ई० स० पू०	तक
१	सुधर्मा	२०	४७०–४५०	५२७–५०७	,,
२	जम्बू	२०–६४	४५०–४०६	५०७–४६३	,,
३	प्रभव	६४–७५	४०६–३९५	४६३–४५२	,,
४	शय्यम्भव	७५–९८	३९५–३७२	४५२–४२९	,,
५	यशोभद्र	९८–१४८	३७२–३२२	४२९–३७९	,,
६	सम्भूतविजय	१४८–२०८	३२२–२६२	३७९–३१९	,,
७	भद्रबाहु	२०८–२२२	२६२–२४८	३१९–३०५	,,
८	स्थूलभद्र	२२२–२६७	२४८–२०३	३०५–२५९	,,
९	महागिरि	२६७–२९७	२०३–१७३	२५९–२२९	,,
१०	सुहस्ती	२९७–३४३	१७३–१२७	२२९–१८४	,,
११	कालकाचार्य	३४३–३८४	१२७–८६	१८४–१४३	,,
१२	रेवतिमित्र	३८४–४२०	८६–५०	१४३–१०७	,,
१३	आर्य समुद्र	४२०–४२९	५०–४१	१०७–९८	,,
१४	आर्य मंगू	४२९–४४९	४१–२१	९८–७८	,,
१५	आर्य धर्म	४४९–४९३	२१ से वि. सं. २३	७८–३४	,,
१६	भद्रगुप्त	४९३–५३२	२३–६२	३४ ई. स. ५	,,
१७	श्रीगुप्त	५३२–५४७	६२–७७	५–२०	,,
१८	आर्य वज्र	५४७–५८३	७७–११३	२०–५६	,,
१९	आर्य रक्षित	५८३–५९६	११३–१२६	५६–६९	,,
२०	पुष्यमित्र	५९६–६१६	१२६–१४६	६९–८९	,,
२१	वज्रसेन	६१६–६१९	१४६–१४९	८९–९२	,,
२२	नागहस्ती	६१९–६८८	१४९–२१८	९२–१६१	,,
२३	रेवतिमित्र	६८८–७४७	२१८–२७७	१६१–२२०	,,
२४	ब्रह्मद्वीपिक सिंहसूरि	७४७–८२५	२७७–३५५	२२०–२९८	,,
२५	नागार्जुन	८२५–९०३	३५५–४३३	२९८–३७६	,,

क्रमांक	नाम	नि. से तक	वि० स०	ई० स०	तक
२६	भूतदिन्न	६०३-६८२	४३३-५१२	३७६-४५५	,,
२७	कालकाचार्य	६८२-६९३	५१२-५२३	४५५-४६६	,,*

श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की गुर्वावली

१ सुधर्मा	११ आर्य दिन्न	२३ जेष्ठिल
२ जम्बू	१२ आर्य सिंहगिरि	२४ आर्य विष्णु
३ प्रभव	१३ आर्य वज्र	२५ आर्य कालक
४ शय्यम्भव	१४ आर्य रथ	२६ संपलित तथा आर्यभद्र
५ यशोभद्र	१५ आर्य पुष्यगिरि	२७ आर्य वृद्ध
६ संभूतविजय भद्रबाहु	१६ फल्गुमित्र	२८ आर्य संघपालित
	१७ आर्य धनगिरि	२९ आर्य हस्ती
७ स्थूलभद्र	१८ आर्य शिवभूति	३० आर्य धर्म
८ महागिरि तथा सुहस्ती	१९ आर्यभद्र	३१ आर्य सिंह
	२० आर्य नक्षत्र	३२ आर्य धर्म
९ सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध	२१ आर्य रक्ष	३३ आर्य शाण्डिल्य
१० आर्य इन्द्रदिन्न	२२ आर्य नाग	३४ देवर्द्धिगणि

* १५ वें आर्य धर्म से विक्रमपूर्व का समय समाप्त होकर विक्रम के पश्चात् का समय आरम्भ होता है और १९ वें समुद्रगुप्त से ई० पू० का काल समाप्त होकर बाद का आरम्भ होता है।

श्वेताम्बर जैनों के आगम

दिगम्बर जैन-लेखक कहा करते हैं कि श्वेताम्बर मतप्रवर्तक जिनचन्द्र ने अपने आचरण के अनुसार नये शास्त्र बनाये और उनमें स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति और महावीर का गर्भापहार आदि नई बातें लिखीं। इस आक्षेप के ऊपर हम शास्त्रार्थ करना नहीं चाहते, क्योंकि "केवलिभुक्ति" का निषेध पहले-पहल दिगम्बराचार्य देवनन्दी ने किया है, जो विक्रम की छठी सदी के विद्वान् ग्रन्थकार माने जाते हैं। "स्त्रीमुक्ति" का निषेध दशवीं शती के दिगम्बर ग्रन्थकारों ने किया है। इनके पहले के किसी भी दिगम्बर जैन ग्रन्थकार ने उक्त दो बातों का निषेध नहीं किया था, इसलिए इन बातों की प्रामाणिकता स्वयं सिद्ध है।

श्वेताम्बर जैन-संघमान्य वर्तमान आगमों की प्रामाणिकता और मौलिकता के विषय में हम यहां कुछ भी नहीं लिखेंगे, क्योंकि हमारे पहले ही जैन आगमों के प्रगाढ़ अभ्यासी डॉक्टर हर्मन जेकोबि जैसे मध्यस्थ यूरोपियन स्कॉलरों ने ही इन आगमों को वास्तविक "जैन-श्रुत" मान लिया है और इन्हीं के आधार से जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध करने में वे सफल हुए हैं। इस बात को बाबू कामताप्रसाद जैन जैसे दिगम्बर सम्प्रदायी विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। वे "भगवान् महावीर" नामक अपनी पुस्तक में लिखते हैं : "जर्मनी के डॉक्टर जैकोबिसदृश विद्वानों ने जैन-शास्त्रों को प्राप्त किया और उनका अध्ययन करके उनको सभ्य संसार के समक्ष प्रकट भी किया कि "ये श्वेताम्बराम्नाय के अंगग्रन्थ हैं। और डॉ० जैकोबि इन्हीं को वास्तविक जैन श्रुतशास्त्र समझते हैं।"

हम यह दावा भी नहीं करते कि जैनसूत्र जिस रूप में महावीर के मुख्य शिष्य गणधरों के मुख से निकले थे, उसी रूप में आज भी हैं और,

न हमारे पूर्वाचार्यों ने ही यह दावा किया है, बल्कि उन्होंने तो भिन्न-भिन्न समयों में अंगसूत्र किस प्रकार व्यवस्थित किये और लिखे गये, यह भी स्पष्ट लिख दिया है।

गुरु-शिष्य क्रम से आये हुए सूत्रों की भाषा और शैली में हजार आठ सौ वर्षों में कुछ भी परिवर्तन न हो यह सम्भव भी नहीं है। यद्यपि सूत्रों में प्रयुक्त प्राकृत भाषा उस समय की सीधीसादी लोकभाषा थी, परन्तु समय के प्रवाह के साथ ही उसकी सुगमता ओझल हो गई और समझने के लिए व्याकरणों की आवश्यकता हुई। प्रारम्भ में व्याकरण तत्कालीन भाषानुगामी बने, परन्तु पिछले समय में ज्यों-ज्यों प्राकृत का स्वरूप अधिक मात्रा में बदलता गया त्यों-त्यों व्याकरणों ने भी उसका अनुगमन किया। फल यह हुआ कि हमारी "सौत्र-प्राकृत" पर भी उसका असर पड़े बिना नहीं रहा। यही कारण है कि कुछ सूत्रों की भाषा नयी-सी प्रतीत होती है।

प्राचीन सूत्रों में एक ही आलापक, सूत्र और वाक्य को बार-बार लिखकर पुनरुक्ति करने का एक साधारण नियम-सा था। यह उस समय की सर्वमान्य शैली थी। वैदिक, बौद्ध और जैन उस समय के सभी ग्रन्थ इसी शैली में लिखे हुए हैं, परन्तु जैन आगमों के पुस्तकारूढ़ होने के समय यह शैली कुछ अंशों में बदलकर सूत्र संक्षिप्त कर दिये गये और जिस विषय की चर्चा एक स्थल में व्यवस्थित रूप से हो चुकी होती, उसे अन्य स्थल में संक्षिप्त कर दिया जाता था और जिज्ञासुओं के लिए उसी स्थल में सूचना कर दी जाती थी कि "यह विषय अमुक सूत्र अथवा अमुक स्थल में देख लेना"। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी बातें, जो उस समय शास्त्रीय मानी जाने लगी थीं, उचित स्थान में यादी के तौर पर लिख दी गई जो आज तक उसी रूप में दृष्टिगोचर होती हैं और अपने स्वरूप से ही वे नयी प्रतीत होती हैं।

दिगम्बर सम्प्रदाय भी पहले उन्हीं आगमों को प्रमाण मानता था, जिन्हें आज तक श्वेताम्बर जैन मानते आए हैं। परन्तु छठी शताब्दी से जब कि दिगम्बर सम्प्रदाय बहुत-सी बातों में श्वेताम्बर सम्प्रदाय से जुदा

पड़ गया था, खासकर केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति आदि बातों के एकान्त निषेध की प्ररूपणा प्रारम्भ कर दी, तब से इन्होंने इन आगमों को अप्रामाणिक कह कर छोड़ दिया और नई रचनाओं से अपनी परम्परा को समृद्ध करने लगे थे।

दिगम्बर विद्वान् महावीर के गर्भापहार की बात को अर्वाचीन मानते हैं; परन्तु यह मान्यता दो हजार वर्ष से भी अधिक प्राचीन है, ऐसा कथन डॉ० हर्मन जैकोबि आदि विद्वानों का है। यह कथन अटकल मात्र नहीं, ठोस सत्य है। इस विषय में जिनको शंका हो, वे मथुरा के कंकाली टीला में से निकले हुए "गर्भापहार का शिलापट्ट" देख लें, जो आजकल लखनऊ के म्युजियम में सुरक्षित हैं। प्राचीन लिखित कल्पसूत्रों की पुस्तकों में जैसा इस विषय का चित्र मिलता है, ठीक उसी प्रकार का दृश्य उक्त शिलापट्ट पर खुदा हुआ है। माता त्रिसला और पंखा झलने वाली दासी को अवस्वापिनी निद्रा में सोते हुए और हिरन जैसे मुख वाले हरिनैगमेषी का अपने हस्त-संपुट में महावीर को लेकर ऊर्ध्वमुख जाता हुआ बताया है। इस दृश्य के दर्शनार्थी लखनऊ के म्युजियम में नं० जे ६२६ वाली शिला की तलाश करें।

इसी प्रकार भगवान् महावीर की "आमलकीक्रीडा" सम्बन्धी वृत्तान्तदर्शक तीन-शिलापट्ट कंकाली टीला में से निकले हैं और इस समय मथुरा के म्युजियम में सुरक्षित हैं। इन पर नम्बर १०४६ F ३७ तथा १११५ हैं, उपर्युक्त दोनों प्रसंगों से सम्बन्ध रखने वाले शिलालेख भी वहां मिलते हैं।

पाठकगण को ज्ञात होगा कि महावीर की "आमलकीक्रीडा" का वर्णन भी जैन श्वेताम्बर शास्त्रों में ही मिलता है, दिगम्बरों के ग्रन्थों में इसका कहीं भी उल्लेख नहीं है।

उपर्युक्त दो प्रसंगों के प्राचीन लेखों और चित्रपटों से यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि श्वेताम्बर जैन आगमों में वर्णित गर्भापहार और आमलकी क्रीडा का वृत्तान्त दो हजार वर्षों से भी अधिक प्राचीन है।

इस प्रकार श्वेताम्बर जैन-शास्त्रोक्त वृत्तान्तों के प्रामाणिक सिद्ध होने से उनके शास्त्रों की प्राचीनता और प्रामाणिकता स्वयं सिद्ध हो जाती है।

श्वेताम्बर जैनसंघ के मान्य कल्पसूत्रों में पुस्तक लिखने के समय की स्मृति में लिखे हुए, वीर निर्वाण सं० ९८० और ९९३ के उल्लेख मिलते हैं। और इस सूत्र की थेरावली में भगवान् देवर्द्धिगणि तक की गुरु-परम्परा का भी वर्णन है। इन दो बातों के आधार पर दिगम्बर विद्वान् कह बैठते हैं कि कल्पसूत्र देवर्द्धिगणि की रचना है। पर वे यह जानकर आश्चर्य करेंगे कि इसी सूत्र की थेरावली में वर्णित कतिपय गण, शाखा और कुलों के निर्देश राजा कनिष्क के समय में लिखे गए मथुरा के शिलालेखों में भी मिलते हैं। जिज्ञासु पाठक इसके लिए हमारी सम्पादित "कल्प-स्थविरावली" पढ़ें।

ऊपर हमने मथुरा के जिन लेखों और चित्रपटों का उल्लेख किया हैं, वे सब मथुरा के कंकाली टीला के नीचे दबे हुए एक जैन-स्तूप में से सरकारी शोधखाता वालों को उपलब्ध हुए हैं।

श्वेताम्बर परम्परा के आगम ग्रन्थ "आचारांग" की निर्युक्ति में तथा "निशीथ" "बृहत्कल्प" और "व्यवहार" सूत्रों के भाष्यों और चूर्णियों में इस स्तूप का वर्णन मिलता है। इन ग्रन्थों के रचनाकाल में यह स्तूप जैनों का अत्यन्त प्रसिद्ध तीर्थ माना जाता था। चूर्णिकारों के समय में यह "देवनिर्मित स्तूप" के नाम से प्रसिद्ध हो चुका था, "व्यवहारचूर्णि" में इसकी उत्पत्ति-कथा भी लिखी मिलती है। इस स्तूप में से उक्त लेखों से भी सैकड़ों वर्षों के पुराने अन्य अनेक लेख तीर्थङ्करों की मूर्तियां, पूजा-पट्टक, प्राचीन पद्धति की अग्रावतार वस्त्र वाली जैन-श्रमण की मूर्ति आदि अनेक स्मारक मिले हैं जो सभी श्वेताम्बर जैन परम्परा के हैं और लखनऊ तथा मथुरा के अजायबघरों में संरक्षित हैं। इन अतिप्राचीन स्मारकों में दिगम्बर जैन सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाला कोई स्मारक अथवा उनके चतुर्दश पूर्वधर, दश पूर्वधर, एकादशांगधर, अंगधर या उनके बाद के किसी प्राचीन आचार्य का नाम या उनके गण, गच्छ, या संघ का कहीं नामोल्लेख

तक नहीं है। गुप्तकालीन कुछ नग्न जिनप्रतिमाएँ भी वहां से हाथ लगी हैं, उसका कारण यह है कि मिहिरगुल हूण राजा के उपद्रवों के समय उत्तर तथा पश्चिम भारत के श्वेताम्बर सम्प्रदाय राजस्थान, मेवाड़ और मालवा की तरफ आ गये थे, उस समय दिगम्बरों ने कहीं-कहीं अपने सम्प्रदाय की नग्न मूर्तियां मथुरा के स्तूप में बैठा दी थीं, जो गुप्तकालीन, विक्रम की सप्तम तथा अष्टम शती में बनी हुई हैं, इससे प्राचीन नहीं। श्वेताम्बर जैन परम्परा कितनी प्राचीन है और उसके वर्तमान आगम कैसे प्रामाणिक हैं इसके निर्णय के लिए हमारा उपर्युक्त थोड़ा सा विवेचन ही पर्याप्त होगा।

निह्नवों का निरूपण

भगवान् महावीर के समय में जैन-संघ अविभक्त था। पर आज जैन-धर्म का अनुयायी वर्ग दो विभागों में बंटा हुआ है : १. श्वेताम्बर सम्प्रदाय में और २. दिगम्बर सम्प्रदाय में। महावीर के केवलज्ञान प्राप्त कर अपना तीर्थ स्थापित करने के पूर्व जैन धर्म का अनुयायी वर्ग साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का अनुयायी था।

विक्रम संवत् के पूर्व ५०० (ई० ५५७) में जब भगवान् महावीर ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया और वैशाख शुक्ला ११ को पावामध्यमा के महासेन उद्यान में चतुर्विध संघ की स्थापना की, तब से जैन-संघ पर भगवान् महावीर का धर्मशासन आरम्भ हुआ था। पार्श्वनाथ के कतिपय श्रमणगण जो तत्काल महावीर के शासन के नीचे नहीं आये थे, वे धीरे-धीरे संशय दूर करके महावीर के उपदेशानुसार चलने लगे थे और भगवान् महावीर का धर्मशासन व्यवस्थित रूप से चलता था।

भगवान् महावीर के जीवनकाल में दो साधु ऐसे निकले जिन्होंने भगवान् के वचन में संदेह किया और अपना नया मत प्रचलित किया। इन दो में पहले का नाम "जमालि और दूसरे का नाम "तिष्यगुप्त" था। इन दो के अतिरिक्त ५ व्यक्तियों ने महावीर के निर्वाण के बाद भिन्न-भिन्न विषयों में महावीर के कथन से अपना मतभेद व्यक्त किया था। वे सात ही मतवादी "निह्नव" कहे गये हैं, इनका कालक्रम से विशेष विवरण नीचे दिया जाता है :

(१) बहुसमयवादी जमालि

भगवान् महावीर के धर्मशासन के १४ वर्ष के अन्त में सर्वप्रथम जमालि नामक एक शिष्य ने भगवान् के एक आदेश का उल्लंघन किया।

जमालि क्षत्रियकुण्डपुर का रहने वाला क्षत्रियपुत्र था। वह महावीर का जामाता लगता था, पांच सौ क्षत्रियपुत्रों के साथ महावीर के पास निर्ग्रन्थ श्रमणधर्म को स्वीकार किया था और एकादशांगश्रुत पढ़ा था।

एक बार जमालि ने अपने सहप्रव्रजित पांच सौ साधुओं के साथ पृथक् विहार करने की महावीर से आज्ञा मांगी, पर महावीर ने उसे कोई उत्तर नहीं दिया। दूसरी, तीसरी बार पूछने पर भी भगवान् की तरफ से कोई उत्तर नहीं मिला, तब जमालि ५०० श्रमणों को साथ ले महावीर से पृथक् हो विचरने लगा।

एक बार वह श्रावस्ती नगरी के "तिन्दुकोद्यान के कोष्टक चैत्य" में ठहरा हुआ था। वहां तप और रूक्ष आहारादि के कारण इसका स्वास्थ्य बिगड़ा और ज्वर आने लगा। शाम का प्रतिक्रमणादि नित्यकर्म करने के बाद उसने सोने की इच्छा व्यक्त की। वैयावृत्यकर साधु उसके लिए संस्तारक बिछाने लगा, आतुरतावश जमालि ने पूछा : 'संस्तारक हो गया?' वैयावृत्यकर ने कहा : 'हो गया' जमालि उठा, पर खड़े होने के बाद मालूम हुआ कि संस्तारक बिछ रहा है। जमालि ने कहा : सस्तारक हो रहा था तब कैसे कह दिया कि हो गया ? गीतार्थ स्थविरों ने उत्तर दिया कि 'यह नयसापेक्ष वचन है, ऋजुसूत्रनय के मत से इस प्रकार के वचन सत्य माने गये हैं।' भगवान् महावीर ने इसी नय की अपेक्षा से "करेमाणे कडे, डज्झमाणे दड्ढे, गम्ममाणे गए, णिज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे" (क्रियमाणं कृतं, दह्यमानं दग्धं, गम्यमानं गतं, निर्जीर्यमाणं निर्जीर्णं) इत्यादि वचनप्रयोग किये हैं और इसी नय के अनुसार "संथरिज्जमाणं संथरियं" अर्थात् "संस्तारक करना शुरु किया था, इसे किया कहा, यह वचन निश्चय नय के मत से सत्य है। निश्चय नय के मत से

जो क्रिया जिस कार्य के लिए प्रवृत्त होती है वह अपने पीछे कुछ कार्य करके ही विराम पाती है, क्योंकि निश्चय नय क्रिया-काल और निष्ठा-काल को अभिन्न मानता है, परन्तु रुग्ण जमालि के दिमाग में यह नयवाद नहीं उतरा और कहने लगा : जब तक कोई भी कार्य अर्थ-साधक नहीं बनता, तब तक उसे "हुआ" नहीं कहना चाहिए। संस्तारक हो रहा था, उसे हुआ कहा पर वह "शय्याक्रियोपयुक्त" नहीं हुआ, फिर "हुआ" कहने से क्या मतलब निकला ? सत्य बात तो यह है कि "पूर्ण हुए को ही 'हुआ' कहना चाहिए जो ऐसा नहीं कहते वे असत्यभाषी हैं।" कार्य एक समय में नहीं बहुतेरे समयों के अन्त में निष्पन्न होता है।

जमालि का उक्त अभिनिवेश देख कर अधिकांश श्रमण उसे छोड़ कर महावीर के पास चले गये। फिर भी जमालि आप जीवनपर्यन्त अपने दुराग्रह के कारण अकेला ही "बहुरत" वाद का प्रतिपादन करता हुआ निह्नव के नाम से प्रसिद्ध हुआ और महावीर के वचन का विरोध करता रहा।

प्रियदर्शना साध्वी, जो गृहस्थाश्रम में महावीर की पुत्री और जमालि की भार्या थी, एक हजार स्त्रीपरिवार के साथ दीक्षित होकर महावीर के श्रमणीसंघ में दाखिल हुई थी। वह भी जमालि के राग से उसके मत को खरा मानती थी और अपनी हजार श्रमणियों के परिवार से परिवृत हुई प्रियदर्शना श्रावस्ती में ढंक नामक महावीर के कुंभकार श्रमणोपासक की भाण्डशाला में ठहरी हुई थी। वह जमालि के बहुसामयिक सिद्धान्त का उपदेश कर रही थी। कुंभकार ढंक ने अपने आपाक-स्थान (निवाहे) से एक आग की चिनगारी साध्वी की संघाटी पर फेंकी, संघाटी के सुलगते ही प्रियदर्शना ने कहा : श्रावक ! यह क्या किया ? मेरी संघाटी (चद्दर) जला दी ! ढंक ने कहा : यह क्या कहती हो, संघाटी जलाई ? अभी तो संघाटी जलने लगी है, जली कहां ? यहां साध्वी समझ गई, बोली : अच्छा उपदेश दिया ढंक ! अच्छा उपदेश दिया। वह अपनी हजार साध्वियों के साथ जाकर महावीर के श्रमणी-संघ में मिल गई, फिर भी जमालि ने अपने नूतन सिद्धान्त का त्याग नहीं किया।

(२) जीवप्रदेशवादी तिष्यगुप्त

भगवान् महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न हुए १६ वर्ष हुए तब ऋषभ-पुर अर्थात् राजगृह में जीवप्रदेशवादी दर्शन उत्पन्न हुआ । इसका विशेष विवरण इस प्रकार है :

एक समय चतुर्दश पूर्वधर वसु नामक आचार्य राजगृह नगर के गुणशिलक-चैत्य में ठहरे हुए थे। वसु के तिष्यगुप्त नामक शिष्य था, जो आत्मप्रवाद पूर्वगत यह आलापक शिष्यों को पढ़ा रहा था, जैसे :

"एगे भंते ! जीवपएसे जीवेत्ति वत्तव्वं सिया ? नो इणमट्ठे समट्ठे, एवं दो जीवपएसा-तिण्णि-संखेज्जा-असंखेज्जा वा, जाव एगेणावि पदेसेण ऊणे णो जीवोत्ति वत्तव्वं सिया, जम्हा कसिणे-पडिपुण्णे-लोगागासपदेस-तुल्लपएसे जीवेत्ति वत्तव्वं ।"

अर्थात् 'हे भगवन् ! एक आत्मप्रदेश को जीव कह सकते हैं ?, इस प्रश्न का उत्तर मिला, यह बात नहीं हो सकती । इसी प्रकार दो जीव-प्रदेश, तीन जीवप्रदेश, संख्येय जीवप्रदेश, असंख्येय जीवप्रदेश भी जीव नाम को प्राप्त नहीं कर सकते । यावत् आत्म-प्रदेशों के पिण्ड में से एक भी प्रदेश कम हो, तब तक उसको जीव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सम्पूर्ण और प्रतिपूर्ण लोकाकाश-प्रदेशतुल्य प्रदेश वाला जीव ही "जीव" इस नाम से व्यवहृत होता है ।'

जीव सम्बन्धी उक्त व्याख्या पर चिन्तन करते हुए, तिष्यगुप्त के मन में यह विचार आया—जब कि एक आदि प्रदेशहीन 'जीव', 'जीव' नहीं है। यावत् एक प्रदेशहीन आत्मप्रदेशपिण्ड भी 'जीव' नाम को नहीं पाता, किन्तु अन्तिम प्रदेशयुक्त ही जीव नाम प्राप्त करते हैं, तो वह एक अन्तिम प्रदेश ही जीव है, यह क्यों न मान लिया जाय ? क्योंकि वही प्रदेश जीवभाव से भावित है। इस प्रकार का प्रतिपादन करते हुए तिष्यगुप्त को गुरु ने कहा : यह बात ऐसी नहीं है जैसी तुम समझ रहे हो। ऐसा मानने पर जीव का ही अभाव मानना पड़ेगा, क्योंकि तुम्हारे अभिमत "अन्त्य जीव-

प्रदेश को भी अजीव ही मानना पड़ेगा। क्योंकि अन्य प्रदेशों से इसका कोई भेद नहीं है अथवा प्रथमादि प्रत्येक प्रदेश को जीव मानना पड़ेगा, इत्यादि अनेक युक्तियों से आचार्य ने तिष्यगुप्त को समझाया, फिर भी उसने अपने दुराग्रह को नहीं छोड़ा। तब गुरु ने उसे अपने समुदाय से पृथक् कर दिया, फिर भी वह अनेक प्रकार की असत्कल्पनाओं से अपने अभिनिवेश को पुष्ट करता और लोगों को व्युद्ग्राहित करता हुआ कालान्तर में 'आमलकल्पा' नगरी गया। वहां अम्बशाल वन में ठहरा। आमलकल्पा में "मित्रश्री" नामक एक श्रमणोपासक रहता था। वह जानता था कि "तिष्यगुप्त" प्रदेशवादी है, उसने तिष्यगुप्त को निमन्त्रण दिया कि आप स्वयं मेरे घर पधारियेगा। तिष्यगुप्त कुछ साधुओं के साथ गया। मित्रश्री ने उसे आसन पर बिठाया और बैठने पर अनेक प्रकार के खाद्य पकवान वहां लाये। प्रत्येक पदार्थ में से थोड़ा-थोड़ा टुकड़ा पात्र में रखा, भात में से चावल का एक दाना, दाल शाक में से एक-एक बूंद। इसी प्रकार वस्त्र का अन्तिम धागा उसको देकर पैरों में सिर नवांया और अपने मनुष्यों को कहा : आओ, वन्दन करो, साधु महाराज को दान दिया है। आज मैं पुण्यवान् तथा भाग्यशाली हुआ जो आप स्वयं मेरे घर आए। तब साधु बोले : हे महानुभाव ! क्या तुम आज हमारा ठट्ठा कर रहे हो ? श्रावक ने कहा : मैंने आपके सिद्धान्तानुसार आपको दान दिया है, यदि आप कहें तो वर्धमान स्वामी के सिद्धान्त से दान दूं ? यहां पर "तिष्यगुप्त" समझा और बोला : आर्य, तुमने बहुत अच्छी प्रेरणा की, बाद में श्रावक ने विधिपूर्वक अन्नवस्त्रादि का दान दिया और अन्त में मिथ्यादुष्कृत दिया।

उक्त रीति से 'तिष्यगुप्त' और उनके शिष्य ठिकाने आये और अपनी भूल का प्रायश्चित्त कर विचरने लगे।

ऊपर लिखे बहुरत जमालि और प्रदेशवादी तिष्यगुप्त इन दोनों ने भगवान् महावीर की जीवित अवस्था में ही उनके सिद्धान्त से अमुक विषयों में अपना नया मत प्रचलित किया था। इनमें से तिष्यगुप्त और उनके शिष्य कालान्तर में अपना मत छोड़कर महावीर के सिद्धान्त से अनुकूल हो

गये थे, पर जमालि अन्त तक अपने मत को पकड़े रहा था और महावीर के श्रमणों की दृष्टि में वह बिलकुल गिर गया था।

महावीर के केवलिजीवन के ३० वर्षों में गोशालक के साथ जो खटपट हुई थी, उसका परिणाम महावीर को भोगना पड़ा था। फिर भी उस प्रकरण की समाप्ति छः महीनों के अन्त में हो गई थी, पर जमालि के विरोध की समाप्ति जमालि की जीवित अवस्था में नहीं हुई थी।

उक्त तीन प्रसंगों के अतिरिक्त महावीर की जिनावस्था में कोई भी अनिष्ट प्रसंग नहीं बना था।

(३) अव्यक्तवादी आषाढाचार्य शिष्य

भगवान् महावीर को निर्वाण प्राप्त हुए दो सौ चौदह वर्ष बीतने पर आषाढाचार्य के शिष्यों ने श्वेतविका नगरी में महावीर के शासन में अव्यक्त-वादी दर्शन की उत्पत्ति की। इस घटना का विवरण इस प्रकार है :

श्वेतविका नगरी के पोलासोद्यान में आर्य आषाढ नामक आचार्य आए हुए थे। वहां पर उनके अनेक शिष्यों ने आगाढ योग में प्रवेश किया था। आषाढाचार्य ही उन योगवाहियों के वाचनाचार्य थे, एक रात्रि में हृदयशूल से आषाढाचार्य मरकर सौधर्म देवलोक में "नलिनीगुल्म" नामक विमान में देव हुए। उत्पन्न होते ही अवधिज्ञान से उपयोग लगाया तो अपने पूर्वभविक शरीर को देखा, आगाढ़ योगवाही साधुओं को तब तक पता नहीं है कि आचार्य काल कर गए हैं। तब आचार्य के जीव देव ने "नलिनि-गुल्म" से आकर अपने उस शरीर में प्रवेश कर योगवाही साधुओं को उठाया और वैरात्रिक काल लिवाया। इस प्रकार देव ने अपने दिव्य प्रभाव से निर्विघ्नतापूर्वक योगवाही साधुओं का कार्य पूरा करवाया। बाद में उसने कहा : "खमिएणा भगवन्त ! आज तक मैंने असंयत होते हुए भी आपसे वन्दन करवाया। मैं अमुक दिन की रात्रि में कालधर्म प्राप्त हुआ था और तुम्हारे ऊपर दया लाकर आया था। इस प्रकार वह अपनी सर्व हकीकत व्यक्त करके साधुओं से क्षमा मांग कर चला गया। साधु भी

आचार्य के शरीर का विसर्जन कर सोचने लगे : "इतने समय तक हमने असंयत को वन्दन किया। वे अव्यक्तभाव की प्ररूपणा करते हुए बोले : कौन जानता है कि यह साधु है या देव ? इसलिए किसी को वन्दन नहीं करना चाहिए, क्योंकि निश्चय बिना असंयत को नमन करना अथवा अमुक असंयत को सयत कहना मृषावाद है। इस पर स्थविरों ने उनको समझाया : यदि संयत के विषय में देव होने की शंका होती है तो देव के विषय में साधु की शंका क्यों नहीं होती ? अथवा तो देव के विषय में अदेव की शंका क्यों नहीं होती ? देव ने अपना रूप बता कर कहा कि मैं देव हूँ, तो साधु साधु के रूप में रहा हुआ कहे कि मैं साधु हूँ, तो इसमें शंका क्यों की जाती है ? क्या देव का वचन ही सच है ? और साधुरूप-धारी का नहीं ? जो जानते हुए भी परस्पर वन्दना नहीं करते हो, इत्यादि अनेक प्रकार से स्थविरों ने योगवाही साधुओं को समझाया परन्तु उन्होंने अपना 'अव्यक्तवाद' नहीं छोड़ा। तब अपने गच्छ से उन्हें पृथक् कर दिया। विचरते हुए वे राजगृह नगर गए। वहां मौर्य्यवंशीय बलभद्र नामक राजा श्रमणोपासक था। उसने जाना कि अव्यक्तवादी साधु यहां आए हुए हैं, तब उसने अपने नौकरों को आज्ञा दी कि जाओ गुणशिलक चैत्य से साधुओं को बुला लाओ। राजसेवक साधुओं को राजा के पास ले आये। राजा ने अपने पुरुषों को आज्ञा दी : जल्दी इन्हें सैन्य से मरवा डालो। राजा की आज्ञा होते ही वहां हाथी आदि सैन्यदल आया देख कर अव्यक्त-वादी बोले : हम जानते हैं कि तुम श्रावक हो, फिर हम साधुओं को कैसे मरवाते हो ? राजा ने कहा : तुम चोर हो, चारिक हो अथवा अभिमर हो, कौन जानता है ? अव्यक्तवादी बोले : हम साधु हैं। राजा ने कहा : तुम कैसे साधु हो, जो अव्यक्तवाद को पकड़े हुए परस्पर वन्दन तक नहीं करते। तुम श्रमण हो या चारिक, यह कौन कह सकता है ? मैं भी श्रावक हूँ या नहीं, यह निश्चय से कौन कह सकता है ? यहां अव्यक्तवादी समझे। लज्जित हुए और अव्यक्तवाद को छोड़ कर निश्शंकित हुए। तब राजा ने कठोर और कोमल वचनों से उपालम्भ देते हुए कहा : तुमको समझाने के लिए यह सब प्रवृत्ति की है, माफ करना, यह कह कर उन्हें मुक्त किया।

(४) सामुच्छेदिक - अश्वमित्र

भगवान् महावीर को सिद्धि प्राप्त हुए २२० वर्ष के बाद मिथिलापुरी में "सामुच्छेदिक दर्शन" उत्पन्न हुआ।

उपर्युक्त दर्शन के सम्बन्ध में "आवश्यक भाष्यकार" ने निम्नलिखित विशेष विवरण दिया है :

मिथिला नगरी के लक्ष्मीघर चैत्य में महागिरि आचार्य के शिष्य कौडिन्य नामक ठहरे हुए थे। कौडिन्य का शिष्य अश्वमित्र था, वह आत्मप्रवाद पूर्व का नैपुणिक वस्तु पढ़ रहा था। वहां छिन्नछेद नय की वक्तव्यता का आलापक आया, जैसे :

'पडुप्पन्नसमयनेरइया वोच्छिज्जिस्संति, एवं जाव वेमाणियत्ति, एवं बिइयादिसमएसु वत्तव्वं, एत्थ तस्स वितिगिच्छा जाया।"

अर्थात् 'वर्तमान समय के नारकीय जीव समयान्तर में व्युच्छिन्न हो जावेंगे एवं असुरादि यावत् वैमानिक समझना। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीयादि समयों में उत्पन्न होने वालों का व्युच्छेद कहना। यहां अश्वमित्र को शंका उत्पन्न हुई, जैसे : "सब वर्तमान समय में उत्पन्न होने वालों का व्युच्छेद हो जायगा, तब सुकृत-दुष्कृत कर्मों के अणुओं का वेदन कैसे होगा, क्योंकि उत्पाद के अनन्तर तो सब का विनाश ही हो जायगा।'

इस प्रकार की प्ररूपणा करते हुए "अश्वमित्र" को आचार्य कौडिन्य ने कहा : यह सूत्र एक नयमताश्रित है। इसको सिद्धान्त समझ कर शेष नयों से निरपेक्ष होकर मिथ्यात्व का समर्थक न बन। हृदय से विचार कर, कालपर्याय के नाश में किसी का सर्वथा विनाश नहीं होता, वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है। वह अनेक स्वपर पर्यायों से युक्त होती है। सूत्र में ऐसा लिखा है कि इस बात पर भी निर्भर न बन, क्योंकि सूत्र में तो उन्हीं द्रव्यों को शाश्वत भी कहा है। जो भी वस्तु द्रव्य रूप से शाश्वत है, वही पर्याय रूप से अशाश्वत भी है। उसमें भी समयादि का विशेषण

होने से सर्वनाश नहीं समझना चाहिए, अन्यथा सर्वनाश में समयादि के विशेषण का उपन्यास निरर्थक होता, इत्यादि अनेक युक्तियों से समझाने पर भी अपना हठाग्रह नहीं छोड़ा, तब उसे समुदाय में से निकाल दिया। वह समुच्छेदवाद का प्रचार करता हुआ, काम्पिल्यपुर गया। काम्पिल्यपुर में "खण्डरक्ष" नामक श्रावक रहते थे। वे शुल्कपाल भी थे। उन्होंने वहां आए हुए सामुच्छेदिकों को पकड़वाया और मरवाना शुरु किया। भयभीत होकर वे बोले : हमने तो सुना था कि तुम श्रावक हो, फिर भी इस प्रकार साधुओं को मरवाते हो ? 'खण्डरक्षक' ने कहा : जो साधु थे वे उसी समय व्युच्छिन्न हो गए। तुम्हारा ही तो यह सिद्धान्त है, इसलिए तुम दूसरे कोई चोर हो। उन्होंने कहा : मत मरवाओ, हम वे ही साधु हैं जो पहले थे। इस प्रकार उन्होंने सामुच्छेदिकता का त्याग कर सिद्धान्त मार्ग को स्वीकार किया।

(५) द्विक्रियावादी आर्य गंग

भगवान् महावीर को सिद्धि प्राप्त होने के बाद ३२८ वर्ष व्यतीत होने पर उल्लुकातीर नगर में "द्विक्रियावादियों का दर्शन" उत्पन्न हुआ।

इसका विशेष विवरण भाष्यकार निम्न प्रकार से देते हैं :

उल्लुका नाम की नदी थी। उसके आसपास का प्रदेश भी उल्लुका जनपद के नाम से पहिचाना जाता था। नदी के दोनों तटों पर दो नगर बसे हुए थे, एक का नाम "खेट" दूसरे का नाम "उल्लुका तीर" नगर था। वहां पर महागिरि के शिष्य "धनगुप्त" नामक आचार्य रहे हुए थे, धनगुप्त के शिष्य आचार्य गंग थे। वह नदी के पूर्वी तट पर थे, तब उनके गुरु आचार्य धनगुप्त पश्चिम तट स्थित नगर में। शरत्काल में आचार्य "गंग" अपने गुरु को वन्दन करने के लिए चले। वे सिर में गंजे थे। उल्लुकानदी को उतरते हुए उनका गंजा सिर धूप से जलता था, तब नीचे पगों में शीतल पानी से शैत्य का अनुभव होता था। गंग सोचने लगे : सूत्रों में कहा है : एक समय में एक ही क्रिया का ज्ञान होता है, शीत-

स्पर्श अथवा उष्ण-स्पर्श का। परन्तु मैं तो दो क्रियाओं का अनुभव कर रहा हूं, इसलिये एक समय में एक नहीं, दो क्रियाओं का अनुवेदन होता है। आचार्य गंग की बात सुनकर आचार्य धनगुप्त ने कहा : "आर्य, ऐसी प्रज्ञापना न कर, एक समय में दो क्रियाओं का वेदन नहीं होता। क्योंकि समय और मन बहुत सूक्ष्म होते हैं, वे भिन्न-भिन्न होते हुए भी स्थूलबुद्धि मनुष्य को एकसमयात्मक प्रतीत होते हैं, उत्पलपत्रशतवेधकी तरह"। इत्यादि प्रकार से गंग को समझाने पर भी जब उसने अपना हठवाद न छोड़ा तब उसे श्रमणसंघ से पृथक् कर दिया। वह चलता हुआ राजगृह पहुंचा। वहां पर "महातपोतीर प्रभव" नामक एक बड़ा पानी का झरना है, उसके निकट "मणिनाग" नामक नागजाति के देव का चैत्य है। आचार्य गंग "मणिनाग चैत्य" के निकट ठहरे और एक समय में दो क्रियाओं के अनुभव की बात कहने लगे, तब मणिनाग ने उस परिषद् के मध्य में कहा : "अरे दुष्ट शिष्य! अप्रज्ञापनीय का प्रज्ञापन कैसे करता है? इसी स्थान में ठहरे हुए भगवान् वर्धमान स्वामी ने कहा है : एक समय में एक ही क्रिया का वेदन होता है, क्या तू उनसे भी बढ़कर हो गया? छोड़ दे इस वाद को। तेरे इस दोष से मुझे शिक्षा करनी न पड़े इसलिए कहता हूं। मणिनाग की धमकी और उपपत्ति से समझ कर गंग बोला : हम चाहते हैं कि गुरु के पास जाकर अपनी इस विरुद्ध प्ररूपणा की क्षमा मांग लें।

(६) त्रैराशिक - रोहगुप्त

महावीर को सिद्धि प्राप्त हुए ५४४ वर्ष व्यतीत होने पर "अन्तरंजिका नगरी" में त्रैराशिक दर्शन उत्पन्न हुआ, इस दर्शन की उत्पत्ति का विशेष वर्णन इस प्रकार है :

अन्तरंजिका नगरी के बाहर "भूतगुहा" नामक चैत्य था, जहां पर श्रीगुप्त नामक आचार्य ठहरे हुए थे। उस नगर के तत्कालीन राजा का नाम था "बलश्री"। "स्थविर श्रीगुप्त" का "रोहगुप्त" नामक शिष्य था। वह अन्य गांव में ठहरा हुआ था। एक समय अपने अध्यापक श्रीगुप्त को

वन्दन करने "अन्तरंजिका" को आ रहा था, उस समय एक परिव्राजक अपने पेट पर लोह का पट्टा बांधकर जामुन की टहनी हाथ में लिये चल रहा था। पूछने पर वह कहता था, ज्ञान से पेट फट न जाय इसलिए पेट पर लोहे का पट्टा बांधा है। जम्बू की टहनी के सम्बन्ध में कहा : जंबू-द्वीप में मेरा कोई प्रतिवादी नहीं है। उसने नगर में ढिंढोरा पिटवाया कि परप्रवाद सभी शून्य हैं, लोगों ने उसकी इस स्थिति को देख "पोट्टसाल" नाम रख दिया। गुरु के पास जाते रोहगुप्त ने ढिण्ढोरे को रोका और कहा : मैं वाद करूंगा, बाद में वह अपने आचार्य के पास गया और कहा : मैंने परिव्राजक का ढिण्ढोरा रुकवाया है। आचार्य ने कहा : बुरा किया, क्योंकि वह विद्यावली है, वाद में पराजित हो जायगा तो भी विद्याओं से सामना करेगा। आचार्य ने रोहगुप्त को परिव्राजक की विद्याओं का पराजय करने वाली प्रतिविद्याओं को देकर अपना रजोहरण दिया और कहा : विद्याओं के अतिरिक्त कोई उपद्रव खड़ा हो जाय, तो इसको घुमाना, अजेय हो जायगा। विद्याओं को लेकर रोहगुप्त राजसभा में गया और बोला, यह क्या जानता है? भले ही यह अपना पूर्वपक्ष खड़ा करे। परिव्राजक ने सोचा, ये लोग चतुर होते हैं। अतः इन्हीं का सिद्धान्त ग्रहण कर वाद करूं। उसने कहा : संसार में "जीव" और "अजीव" ये दो राशियां होती हैं। रोहगुप्त ने विचार किया, इसने हमारा ही सिद्धान्त स्वीकार किया है तो इसकी बुद्धि को चक्कर में डालने के लिए मैं तीन राशियों की स्थापना करूं, यह सोचकर वह बोला : राशि दो नहीं पर तीन हैं—जीव, अजीव, नोजीव। इनमें शरीरधारी मनुष्य, पशु आदि संसारी जीवों का समावेश जीव राशि में होता है। घर, वस्त्रादि प्राणहीन सभी पदार्थ "अजीव राशि" में आते हैं और तत्काल मूल शरीर से जुदा पड़ी हुई छिपकली की पूंछ आदि "नोजीव" में जानना चाहिये। जिस प्रकार दण्ड का आदि, मध्य, अन्त भाग होता है उसी प्रकार सर्व पदार्थ तीन राशियों में बंटे हुए हैं—जीवों में, अजीवों में और नोजीवों में। इस प्रकार रोहगुप्त द्वारा तर्क-वाद में निरुत्तर हो जाने से परिव्राजक ने रुष्ट होकर अपनी विद्याएं रोहगुप्त पर छोड़ीं, रोहगुप्त ने भी उन पर प्रतिपक्ष-विद्याएं छोड़ीं। जब परिव्राजक का कोई वश नहीं चला तब उसने अपनी संरक्षित गर्दभी विद्या

छोड़ी। रोहगुप्त ने उसको अपने रजोहरण से परास्त किया। सभा में रोहगुप्त की जीत और परिव्राजक पोट्टशाल की हार उद्घोषित हुई। परिव्राजक को पराजित करके रोहगुप्त अपने आचार्य के पास गया और अपनी युक्ति-प्रयुक्तियों का वर्णन किया। आचार्य ने कहा : सभा से उठते हुए तुझे स्पष्टीकरण करना चाहिये था कि हमारे सिद्धान्त में तीन राशियां नहीं हैं, मैंने जो यहां तीन राशियों की प्ररूपणा की है, वह वादी की बुद्धि को पराभूत करने के लिए। आचार्य ने कहा : अब भी राजसभा में जाकर खरी स्थिति का स्पष्टीकरण कर दे। पर रोहगुप्त जाने के लिए तैयार नहीं हुआ। आचार्य के बार-बार कहने पर वह बोला : अगर तीन राशियां कहीं तो इसमें कौनसा दोष लग गया, क्योंकि तीन राशियां तो हैं ही। आचार्य श्रीगुप्त ने कहा, आर्य ! तू जो बात कह रहा है वह असद्भावविषयक है, इससे तीर्थङ्करों की आशातना होती है। फिर भी उसने आचार्य का वचन स्वीकार नहीं किया और उनके साथ वाद करने लगा, तब आचार्य राजकुल में गए और कहा : मेरे उस शिष्य ने आपकी सभा में जो तीन राशियों की प्ररूपणा की है वह अपसिद्धान्त है। हमारे सिद्धान्त में दो ही राशि मानी गई हैं, परन्तु इस समय हमारा वह शिष्य हमसे भी विरुद्ध हो गया है। अतः आप हमारे बीच होने वाले वाद को सुनें। राजा ने स्वीकार किया और उन दोनों गुरु-शिष्यों का वाद राजसभा में आरम्भ हुआ। एक-एक दिन करते छः मास निकल गए। राजा ने कहा : मेरे राज्यकार्य बिगड़ते हैं, आचार्य ने कहा : इतने दिन मैंने अपनी इच्छा से विलम्ब किया, अब आप देखिए ! कल ही इसको निगृहीत कर दूंगा। दूसरे दिन आचार्य ने राजा से कहा : कुत्रिकापण में संसार भर के सब द्रव्य रहते हैं, आप वहां से जीव, अजीव और नोजीव, इन तीनों द्रव्यों को मंगवाइये। राजपुरुष कुत्रिकापण को भेजे गए और उन्होंने उक्त तीनों पदार्थों को वहां मांगा। कुत्रिकापण की अधिष्ठायिका देवता ने "जीव" मांगने पर "सजीव पदार्थ" दिया, "अजीव" के मांगने पर "निर्जीव पदार्थ" दिया, पर नोजीव के मांगने पर कुछ नहीं दिया। इस प्रकार से "राजसभा में रोहगुप्त का सिद्धान्त अपसिद्धान्त माना गया।"

आचार्य श्रीगुप्त ने अपना खेलमात्रक रोहगुप्त के सिर पर फोड़ा और उसे निकाल दिया। राजा ने नगर में उद्घोषणा करवाई कि "वर्द्धमान जिन का शासन जयवन्त है" और पराजित रोहगुप्त को राजा ने अपने राज्य की हद छोड़कर चले जाने की आज्ञा दी।

रोहगुप्त ने "मूल छः पदार्थों को पकड़ा, जैसे : द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय"। द्रव्य उसने नौ माने, "पृथ्वी, पानी, अग्नि, पवन, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन।" गुण उसने १७ माने हैं, जैसे : "रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न।" कर्म पांच प्रकार का माना है : उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन। सामान्य दो प्रकार का, "महासामान्य-सत्तासामान्य और सामान्य-विशेष।" विशेष अनेक प्रकार के माने हैं, 'इह' इस प्रकार के प्रत्यय का हेतु समवाय है।

रोहगुप्त ने वैशेषिक दर्शन का प्रणयन किया, दूसरों ने आगे से आगे प्रसिद्ध किया। इसको औलुक्य दर्शन भी कहते हैं, क्योंकि रोहगुप्त गोत्र से औलुक्य थे।

(७) अबद्धिक - गोष्ठामाहिल

महावीर को सिद्धि प्राप्त हुए ५८४ वर्ष बीते तब दशपुर नगर में "अबद्धिक दर्शन" उत्पन्न हुआ, इसका विवरण नीचे लिखे अनुसार है :

दशपुर नगर में इक्षुघर में आर्यरक्षित के तीन पुष्यमित्र नामक साधु और गोष्ठामाहिल आदि ठहरे हुए थे। विन्ध्य नामक साधु आठवें "कर्मप्रवादपूर्व" में लिखे अनुसार कर्म का स्वरूपवर्णन करता था, जैसे : "कुछ कर्म जीवप्रदेशों से बद्ध मात्र होता है, कालान्तर में वह जीवप्रदेशों से जुदा पड़ जाता है। कुछ कर्म बद्ध और स्पष्ट होता है, वह कुछ विशेष कालान्तर के बाद जुदा पड़ता है। कुछ कर्म बद्ध-स्पष्ट और निकाचित होता है जो जीव के साथ एकत्वप्राप्त होकर कालान्तर में अपना फल बताता है। विन्ध्य की यह व्याख्या सुनकर गोष्ठामाहिल बोला : कर्मबन्ध की

व्याख्या इस प्रकार से करोगे तब तो कर्म से जीव वियुक्त होगा ही नहीं, अन्योन्य अविभक्त होने से जीवप्रदेशों की तरह। इस सूत्र की व्याख्या इस प्रकार करो, जैसे : कंचुकी-पुरुष का कंचुक स्पृष्ट होकर रहता है, बद्ध होकर नहीं। इसी प्रकार कर्म भी जीव से बद्ध न होकर स्पृष्ट होकर उसके साथ रहता है। इस प्रकार गोष्ठामाहिल की व्याख्या सुनकर विन्ध्य ने कहा : गुरु ने तो हम लोगों को इसी प्रकार का व्याख्यान सिखाया है। गोष्ठामाहिल ने कहा : वह इस विषय को नहीं जानता, व्याख्यान क्या करेगा। इस पर विन्ध्य शंकित होकर पूछने को गया, इसलिए कि शायद मेरे समझने में गलती हुई हो। उसने जाकर दुर्बलिका पुष्यमित्र को पूछा, तब उन्होंने कहा : जैसा मैंने कहा था वैसा ही तुमने समझा है. इस पर गोष्ठामाहिल का वृत्तान्त कहा, तब गुरु ने कहा : गोष्ठामाहिल का कथन मिथ्या है। यहां पर उसकी प्रतिज्ञा ही प्रत्यक्ष विरोधिनी है, क्योंकि आयुष्यकर्म-वियोगात्मक मरण प्रत्यक्षसिद्ध है, उसका हेतु भी अनैकान्तिक है, क्योंकि अन्योन्य अविभक्त पदार्थ भी उपाय से वियुक्त होते हैं, जैसे : दूध से पानी, दृष्टान्त भी साधनधर्मानुगत नहीं है। स्वप्रदेश का युक्तत्व असिद्ध होने से अपने स्वरूप से अनादि काल से कर्म जीव से भिन्न है। अपने अनुयोगधर के पास कर्मबंध सम्बन्धी विवरण सुनने के बाद विन्ध्य ने गोष्ठामाहिल को कहा : आचार्य इस प्रकार कहते हैं, इस पर वह मौन हो गया। मन में वह सोचता था, अभी इसको पूरा होने दो, बाद में मैं इसकी गलतियां निकालूंगा।

एक दिन नवम पूर्व में साधुओं के प्रत्याख्यान का वर्णन चलता था, जैसे : "प्राणातिपात का त्याग करता हूं, यावज्जीवनपर्यन्त" गोष्ठामाहिल ने कहा : इस प्रकार प्रत्याख्यान की सीमा बांधना अच्छा नहीं है, किन्तु प्रत्याख्यान के कालपरिमाण की सीमा न बांध कर प्रत्याख्यान कालपरिमाणहीन करना ही श्रेयस्कर है। जिनका परिमाण किया जाता है, वे प्रत्याख्यान दुष्ट हैं, क्योंकि उनमें आशंसा दोष होता है। इस प्रकार प्रज्ञापन करते हुए गोष्ठामाहिल को विन्ध्य ने कहा : जो तुमने कहा वह यथार्थ नहीं है। इतने में नवम पूर्व का जो अवशेष भाग था वह समाप्त

हो गया, तब वह अभिनिवेश पूर्वक पुष्यमित्र के पास जाकर कहने लगा : आचार्य ने अन्यथा पढ़ाया है और तुम इसकी अन्यथा प्ररूपणा करते हो। इस पर आचार्य पुष्यमित्र ने गोष्ठामाहिल को अनेक प्रकार से समझाया और उसकी मान्यता का खण्डन किया, फिर भी आचार्य का कथन उसने मान्य नहीं किया, इस पर अन्यगच्छीय बहुश्रुत स्थविरों को पूछा गया, तो उन्होंने भी पुष्यमित्र की बात का समर्थन किया। गोष्ठामाहिल ने कहा : तुम क्या जानते हो, तीर्थङ्करों ने वैसा ही कहा है, जैसा मैं कहता हूं। स्थविरों ने कहा : तुम पूरा जानते नहीं और तीर्थङ्करों का नाम लेकर उनकी आशातना करते हो। जब गोष्ठामाहिल अपने दुराग्रह से पीछे नहीं हटा, तब संघसमवाय किया गया। सर्व संघ ने देवता को लक्ष्य कर कायोत्सर्ग किया। जो भद्रिक देवता थी वह आई और बोली : आदेश दीजिये क्या कार्य है? तब उसे कहा गया : तीर्थङ्कर के पास जाकर उन्हें पूछो कि गोष्ठामाहिल का कहना सत्य है अथवा दुर्बलिका पुष्यमित्र प्रमुख संघ का। देवता ने कहा : मुझे बल देने के लिए कायोत्सर्ग करें, जिससे मेरे गमन का प्रतिघात न हो। संघ ने कायोत्सर्ग किया। देवता तीर्थङ्कर भगवन्त को पूछ कर आई और कहा : संघ सम्यक्वादी है और गोष्ठामाहिल मिथ्यावादी, यह सप्तम निह्नव है। इस पर गोष्ठामाहिल ने कहा : यह बेचारी अल्पर्द्धि देवता है; इसकी क्या शक्ति जो वहां जाकर आ सके। यह सब होने पर भी गोष्ठामाहिल ने संघ के कथन पर विश्वास नहीं किया, तब संघ ने उसे संघ से बहिष्कृत उद्घोषित कर दिया। गोष्ठामाहिल अपनी विरुद्ध प्ररूपणा की आलोचना प्रतिक्रमण किये बिना ही कालधर्म के वश हुआ।

उपर्युक्त जमालि से गोष्ठामाहिल तक के सात मतप्रवर्तकों को पूर्वाचार्यों ने "निह्नव" कहा है और इनकी नामावलि "स्थानांग" और "औपपातिक" उपांग में लिखी मिलती है, संभव है कि आगमों की युग-प्रधान स्कन्दिलाचार्य द्वारा की गई वाचना के समय में निह्नवों के नाम आगमों में लिखे गये होंगे।

प्राचीन स्थविरकल्पी जैन श्रमणों का आचार

वीर निर्वाण से ६०९ वर्ष के बाद रथवीर नामक नगर में आचार्य कृष्ण के शिष्य शिवभूति ने सर्वथा नग्न रहने के सिद्धान्त को पुनरुज्जीवित किया। उसके पूर्वकाल में जैन श्रमणों में सर्वथा नग्न रहने का व्यवहार बन्द सा हो गया था, जो कि "आचारांग" सूत्र में श्रमणों को तीन, दो, एक वस्त्रों से निर्वाह करने का आदेश था और सर्वथा वस्त्रत्याग की शक्ति होती वह एक वस्त्र भी नहीं रखता था, परन्तु ये वस्त्र सर्दी में ओढ़ने के काम में लिये जाते थे, परन्तु इस प्रकार का कठिन आचार महावीर निर्वाण को प्रथम शती में ही व्यवच्छिन्न हो चुका था। अन्तिम केवली जम्बू के निर्वाण तक "वस्त्रधारी निर्ग्रन्थ स्थविर कल्पी" और "सर्वथा वस्त्रत्यागी निर्ग्रन्थ जिनकल्पी" कहलाते थे। दोनों प्रकार के श्रमण महावीर के निर्ग्रन्थ श्रमण-संघ में विद्यमान थे, परन्तु जम्बू के निर्वाणानन्तर संहनन, देश, काल आदि की हानि होती देखकर सर्वथा नग्न रहने का सिद्धान्त स्थविरों ने बन्द कर दिया था। दिगम्बर परम्परा को मौलिक मानने वाले विद्वानों की मान्यता है कि "महावीर के तमाम श्रमण निर्ग्रन्थ महावीर के समय में और उसके बाद भी श्रुतधर श्री भद्रबाहु स्वामी के समय तक नग्न ही रहते थे, परन्तु मौर्यकाल में होने वाले १२ वार्षिक दुर्भिक्ष के समय में जो जैन श्रमण दक्षिण में न जाकर मध्यभारत के प्रदेशों में रहे, उन्होंने परिस्थितिवश वस्त्र धारण किये और तब से "श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई।"

दिगम्बर विद्वानों का उपर्युक्त कथन केवल निराधार है, क्योंकि महावीर के समय में भी अधिकांश निर्ग्रन्थ साधु "स्थविर-कल्प" का ही

पालन करते थे। यद्यपि वर्तमान काल में श्वेताम्बर जैन साधु जितना वस्त्र, पात्र आदि का परिग्रह रखते हैं, उतना उस समय नहीं रखते थे। तत्कालीन स्थविर-कल्पी एक-एक पात्र, एक-एक नग्नता ढांकने का वस्त्र-खण्ड और शरदी की मौसम में दो सूती और एक ऊर्णामय वस्त्र रखते थे। रजोहरण और मुखवस्त्र तो उनका मुख्य उपकरण था ही, परन्तु इनके अतिरिक्त अपने पास अधिक उपकरण नहीं रखते थे। लज्जावरण का वस्त्रखण्ड नाभि से चार अंगुल नीचे से घुटनों से ४ अंगुल ऊपर तक लटकता रहता था। बौद्धपाली त्रिपिटकों में इस वस्त्र को "शाटक" नाम दिया है और इस वस्त्र को धारण करने वाले जैन निर्ग्रन्थों को "एक-शाटक" के नाम से सम्बोधित किया है। स्थविरकल्पियों की परम्परा इस वस्त्र को "अग्रावतार" के नाम से व्यवहार करती थी। विक्रम की दूसरी शती के मध्यभाग तक 'अग्रावतार' का स्थविरकल्पियों में व्यवहार होता रहा, ऐसा मथुरा के देवनिर्मित स्तूप में से निकली हुई "जैन आचार्य कृष्ण" की प्रस्तर मूर्ति से ज्ञात होता है।

जैन निर्ग्रन्थों का बौद्ध पिटकों में "एकशाटक" के नाम से अनेक स्थानों में उल्लेख मिलता है। दिगम्बरों की मान्यतानुसार महावीर के सर्व साधु "नग्न" ही रहते होते तो बौद्ध ग्रन्थकार उनको "एकशाटक" न कहकर 'दिगम्बर" अथवा "नग्न" ही कहते, परन्तु यह बात नहीं थी। इससे सिद्ध है कि महावीर के समय में निर्ग्रन्थ श्रमणगण वस्त्रधारी रहते थे, नग्न नहीं। यह बात ठीक है कि उस समय का वस्त्रधारित्व नाम मात्र का होता था। इस समय के बाद स्थविरकल्पियों के उपकरणों की संख्या फिर से निश्चित की गई। विक्रम की दूसरी शती के प्रथम चरण में युगप्रधान आचार्य श्री आर्यरक्षितजी ने जैन आगमों में चार अनुयोगों का पृथक्करण किया। इतना ही नहीं देशकाल का विचार करके आचार्य ने श्रमणों के उपकरणों की संख्या तक निश्चित की। स्थविरकल्पियों के लिए कुल चौदह उपकरण निश्चित किए : पात्र १, पात्रबन्धन २, पात्र-स्थापनक ३, पात्रप्रमार्जनिका ४, पात्रपटलक ५, पात्ररजस्त्राण ६, गोच्छक ७ ये सात प्रकार के उपकरण "पात्रनिर्योग" के नाम से निश्चित

किये गये और १ रजोहरण, २ मुखवस्त्रिका, ३-४-५ कल्पत्रिक (२ सूती वस्त्र, १ ऊर्णामय), ६ चोलपट्टक, ७ मात्रक (छोटा पात्र विशेष) ये सात प्रकारों के उपकरण व्यवहार में लेने के लिए रक्खे गए। इनके अतिरिक्त "दण्ड" और "उत्तरपट्टकादि" कतिपय "औपग्रहिक" उपकरणों के रखने की आज्ञा दी।

उपर्युक्त उपधि का परिमाण विक्रम की द्वितीय शती तक निश्चित हो चुका था। "दण्डाऊंछन" आदि "औपग्रहिक" उपकरण उसके बाद में भी श्रमणों की उपधि में प्रविष्ट हुए हैं। इस नयी व्यवस्था से प्राचीन व्यवस्था में बहुत कुछ परिवर्तन भी हुआ जो निम्नलिखित गाथा से ज्ञात होगा :

"कप्पाणं पावरणं, अग्गोयरच्चाओ झोलियाभिक्खा।
ओवग्गहियकडाहय – तुंबयमुंहदाणदोराई ॥"

अर्थ : १ "कल्प" अर्थात् वस्त्रत्रय जो पहले शीत ऋतु में ओढा जाता और शेषकाल में पड़ा रहता था उसका मालिक श्रमण कहीं बाहर जाता तब अन्य किसी साधु को संभलाकर जाता अथवा तो अपने कन्धे पर रखकर जाता, परन्तु ओढ़ता नहीं था। जब से नये उपकरणों की व्यवस्था प्रचार में आयी तब से वस्त्रों का ओढना भी शुरु हुआ। २ 'अग्रावतार वस्त्र' जो सदाकाल लज्जा-निवारणार्थ कमर पर लटका करता था, उसका चोलपट्टक के स्वीकार करने के बाद त्याग कर दिया गया। ३ पहले साधु भिक्षा-पात्र हाथ में रखकर उस पर पटलक ढांकते थे और पटलक का दूसरा आंचल दाहिने कन्धे के पिछली तरफ लटकता रहता था। जब से भिक्षा-पात्र झोली में रखकर भिक्षा लाने का प्रचार हुआ, तब से पटलक वाम हस्त में भराई हुई झोली के ऊपर ढांकने का चालू हुआ और पडले का एक छोर कन्धे पर रखना बन्द हुआ। ४ दण्डाऊँछस (दण्डासन) आदि औपग्रहिक उपकरणों का उपयोग किया जाने लगा। ५ पहले साधु दिन में एक बार ही भोजन करते थे, परन्तु जब श्रमणसंख्या बढ़ी और उसमें बाल, वृद्ध, ग्लान आदि के लिए दूसरी बार खाद्य, पेय,

औषधादि वस्तु को आवश्यकता प्रतीत हुई तब मध्याह्न का लाया हुआ खाद्य पेय पदार्थ रखने के लिए शिक्यक (सिक्का) रखने लगे। ६ तुंबे के मुंह पर लगाने का डोरा रखने आदि की गीतार्थ पूर्वाचार्यों ने आचरणा की।

शिवभूति गुरु को छोड़ कर जाने के बाद कुछ समय उत्तर-भारत में विचर कर दक्षिण की तरफ विचरे, क्योंकि दक्षिण में पहले से ही "आजीविक" सम्प्रदाय के भिक्षु विचर रहे थे। वहां के लोग नग्नता का आदर करते थे। शिवभूति के दक्षिण में जाने के बाद कौन-कौन शिष्य हुए, इसका कहीं भी श्वेताम्बर या दिगम्बर जैन साहित्य में उल्लेख नहीं मिलता। श्वेताम्बर साहित्य में सर्वप्रथम आवश्यक मूल-भाष्य में आर्य शिवभूति तथा इसके उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन दिया है, जो कि शिवभूति के नग्नता धारण करने के बाद श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भाष्य आदि अनेक शिष्ट ग्रन्थ बने हैं, परन्तु किसी ने भी इस विषय में कुछ नहीं लिखा, क्योंकि एक तो शिवभूति ने किसी मूल सिद्धान्त के विरुद्ध कोई प्ररूपणा नहीं की थी, दूसरा इनके दक्षिणापथ में दूर चले जाने के कारण स्थविरकल्पियों को शिवभूति तथा उनके अनुयायियों के साथ संघर्ष होने का प्रसंग ही नहीं था। शिवभूति ने दक्षिणापथ में कहां-कहां विहार किया, कितने शिष्य किये इत्यादि बातों का प्राचीन जैन साहित्य से पता नहीं चलता। शिवभूति के परम्परा शिष्य कौण्डकुन्द अपने परम्परा-गुरु शिवभूति से कितने समय के बाद हुए, इसके सम्बन्ध में ऊहापोह किये बिना दिगम्बर सम्प्रदाय की पट्टावलियां देना अशक्य है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता

अब हम देखेंगे कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता को सिद्ध करने वाले कुछ प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं या नहीं ?

बौद्धों के प्राचीन पाली ग्रन्थों में आजीविक मत के नेता गोशालक के कुछ सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है, जिसमें मनुष्यों की कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र, शुक्ल और परमशुक्ल ये छ अभिजातियां बताई हैं। इनमें से दूसरी नीलाभिजाति में बौद्ध भिक्षुओं और तीसरी लोहिताभिजाति में निर्ग्रंथों का समावेश किया है। उस स्थल में निर्ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त बौद्ध सूत्र के शब्द इस प्रकार के हैं :

"लोहिताभिजाति नाम निग्गन्था एकसाटकातिवदति" अ०) अर्थात् "एक चिथड़े वाले निर्ग्रन्थों को गोशालक "लोहिताभिजाति" कहता है।" (अ० नि० भा० ३ पृ० ३८३)

इस प्रकार गोशालक ने निर्ग्रन्थों के लिए जहां "एक चिथड़े वाले" यह विशेषण प्रयुक्त किया है और इसी प्रकार दूसरे स्थलों में भी अति-प्राचीन बौद्ध लेखकों ने जैन निर्ग्रन्थों के लिए "एकशाटक" विशेषण लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि बुद्ध के समय में भी महावीर के साधु एक वस्त्र अवश्य रखते थे, तभी अन्य दार्शनिकों ने उनको उक्त विशेषण दिया है।

"एकशाटक" विशेषण उदासीन जैन श्रावकों के लिए प्रयुक्त होने की सम्भावना करना भी बेकार है, क्योंकि बौद्ध त्रिपिटकों में "निग्गन्थ" शब्द केवल जैन साधुओं के लिए प्रयुक्त हुआ है, श्रावकों के लिए नहीं।

जहां कहीं जैन श्रावकों का प्रसंग आया है वहां सर्वत्र "निगण्ठस्स नाथ-पुत्तस्स सावका" अथवा "निगण्ठ-सावका" इस प्रकार श्रावक शब्द का ही उल्लेख हुआ है, केवल निग्गन्थ शब्द का नहीं। इस दशा में "निगण्ठ" शब्द का श्रावक अर्थ करना कोरी हठधर्मी है।

बौद्ध सूत्र "मज्झिम-निकाय" में निर्ग्रन्थ संघ के साधु "सच्चक" के मुख से बुद्ध के समक्ष गोशाल मंखलिपुत्त तथा उसके मित्र नन्दवच्छ और किस्ससंकिच्च के अनुयायियों में पाले जाने वाले आचारों का वर्णन कराया है। सच्चक कहता है :

"ये सर्व वस्त्रों का त्याग करते हैं (अचेलका) सर्व शिष्टाचारों से दूर रहते हैं (मुत्ताचारा), आहार अपने हाथों में ही चाटते हैं (हस्तापलेखणा)" इत्यादि।

सोचने की बात है कि यदि निर्ग्रन्थ जैन श्रमण सच्चक स्वयं अचेलक और हाथ में भोजन करने वाला होता, तो वह आजीविक भिक्षुओं का (हाथ चाटने वाले) आदि कह कर उपहास कभी नहीं करता। इससे भी जाना जाता है कि महावीर के साधु वस्त्र पात्र अवश्य रखते थे।

कषायप्राभृतकार गुणधर आचार्य श्वेताम्बर थे

श्रुतावतार कथाकार इन्द्रनन्दी का कथन बिल्कुल ठीक है कि उसके पास "गुणधर" और "धरसेन" की वंश-परम्परा जानने का कोई साधन नहीं था, क्योंकि उक्त दोनों आचार्य श्वेताम्बर परम्परा के अनुयायी श्रुतधर थे। गुणधर निवृ`ति परम्परा के आचार्य थे, जो विक्रम की सप्तम शती के आरम्भ में होने वाले "कर्मप्राभृत" के जानने वाले विद्वान् थे और "कर्म-प्राभृत" के आधार से ही आपने गाथाओं में "कषायपाहुड" बनाया था। इन्हीं की परम्परा में होने वाले "गर्गर्षि" आदि आचार्यों ने विक्रम की नवमी और दशमी शती के मध्यभाग में कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला "पंचसंग्रह" नामक मौलिक ग्रन्थ बनाया था, जिसके आधार से ग्यारहवीं शती तथा इसके परवर्ती समय में अमितगति, नेमिचन्द्र, पद्मनन्दी आदि विद्वानों ने संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं में "पंच-संग्रहों" की रचनाएँ की हैं।

इसी प्रकार आचार्य धरसेन भी श्वेताम्बर परम्परा के स्थविर थे। इनका विहार बहुधा सौराष्ट्र भूमि में होता था। आप "योनि-प्राभृत" के पूर्ण ज्ञाता थे और "योनि-प्राभृत" नामक श्रुतज्ञान का ग्रन्थ आप ही ने बनाया था, जो आज भी पूना के एक पुस्तकालय में खण्डित अवस्था में उपलब्ध होता है। अधिक संभव है कि आचार्य वृद्धवादी, सिद्धसेन दिवाकर आदि प्रखर विद्वान् इन्हीं धरसेन की परम्पराखनि के मूल्यवान् रत्न थे, क्योंकि आचार्य "सिद्धसेन दिवाकर" के पास भी "योनिप्राभृत" का विषय पूर्णरूपेण विद्यमान था, ऐसा "निशीथ" चूर्णि के आधार से जाना जाता

है। आचार्य धरसेन का सत्तासमय विक्रम की तीसरी शताब्दी का अन्त-भाग और चौथी का प्रारम्भ काल था।

श्रुतावतार के लेखानुसार "वीरनिर्वाण से ६८३ के बाद श्रीदत्त, शिवदत्त, अर्हद्दत्त, अर्हद्बलि और माघनन्दो मुनि का क्रमिक समय व्यतीत होने के बाद कर्मप्राभृत के जानकार धरसेन आचार्य का अस्तित्व लिखा है। इस क्रम से धरसेन का सत्ता-समय निर्वाण की आठवीं शती तक पहुँचता है। धरसैन से भूतबलि पुष्पदन्त कर्म-प्राभृत पढ़े थे और उन्होंने उसके आधार से "षट्खण्डागम" का निर्माण किया है, इस क्रम से भूतबलि, पुष्पदन्त का समय जिन-निर्वाण की नवम शती तक अर्थात् विक्रम की पंचमी शती के अन्त तक गुणधर आचार्य का समय पहुँचता है, और पट्टीवाल गच्छीय प्राकृत-पट्टावली के आधार से भी गुणधर आचार्य का समय विक्रम की छठी शती में ही पड़ता है।

"कषाय-प्राभृत" ऊपर के चूर्णिसूत्र भी वास्तव में किसी श्वेताम्बर आचार्य निर्मित प्राकृत चूर्णि है, जो बाद में शौरसेनी भाषा के संस्कार से दिगम्बरीय चूर्णि-सूत्र बना दिए गए हैं। "यतिवृषभ" और "उच्चारणा-चार्य" ये दो नाम भट्टारक वीरसेन के कल्पित नाम हैं। "जदिवसह" इत्यादि गाथाएँ भट्टारक श्री वीरसेन ने चूर्णि के प्रारम्भ में लिखकर "यतिवृषभ" को कर्ता के रूप में खड़ा किया है। वास्तव में चूर्णिकर्ताओं की चूर्णियों के प्रारम्भ में इस प्रकार का मङ्गलाचरण करने की पद्धति ही नहीं है।

इसी प्रकार सैद्धान्तिक श्रीमाघनन्दी और बालचन्द्र ने "तिलोय-पण्णत्ति" नामक एक संग्रह ग्रन्थ का सन्दर्भ बनाकर उसे "यतिवृषभ" के नाम चढ़ा दिया है जो वास्तव में १३वीं शती की कृति है और दिगम्बर ग्रन्थों का ही नहीं, विशेषकर श्वेताम्बर ग्रन्थों में से सैकड़ों विषयों का संग्रह करके दिगम्बर जैन साहित्य में एक कृति की वृद्धि की है। इसमें जैन श्वेताम्बर मान्य "आवश्यक निर्युक्ति" "बृहत्संग्रहणी" और "प्रवचन-सारोद्धार" आदि ग्रन्थों को संगृहीत करके इसका कलेवर बढ़ाया गया है। इसमें लिखे गये २४ तीर्थङ्करों के चिह्न (लांछन) "प्रवचनसारोद्धार" के

ऊपर से लिये गए हैं। २४ तीर्थङ्करों के यक्ष-यक्षिणियों की नामावलि पादलिप्तसूरि की "निर्वाण कलिका" से ली गई है। तीर्थङ्करों की दीक्षा भूमि, निर्वाण भूमि, जन्म-नक्षत्र आदि सैकड़ों बातों का श्वेताम्बरों की "आवश्यक-निर्युक्ति" से संग्रह किया गया है। यह पद्धति दिगम्बरों में एक सांकेतिक परम्परा सी हो गई है, कि कोई भी अच्छा जैन दिगम्बर विद्वान् कुछ अपनी रचनाएँ अपने पूर्वाचार्यों के नाम से अंकित करके अपने भंडारों में रख दे। "कषाय-पाहुड" की चूर्णि का कर्त्ता कौन था, यह कहना तो कठिन है, परन्तु इस चूर्णि में "स्त्रीवेद" वाला जीव सयोगी केवली पर्यन्त के गुणस्थानों का स्पर्श करने की जो बात कही है, वह श्वेताम्बर मान्य है, इससे इतना तो निश्चित है कि इस चूर्णि का निर्माता श्वेताम्बराचार्य अथवा तो यापनीय सम्प्रदाय को मानने वाला कोई विद्वान् साधु होना चाहिए। यही कारण है कि भट्टारक वीरसेन ने चूर्णि के कई मन्तव्यों पर अपनी असम्मति प्रकट की है।

"श्वेताम्बर" तथा "यापनीय" संघ के अनुयायी सदा से स्त्रीनिर्वाण को मानते आये हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायियों ने विक्रम की दशवीं शती से स्त्रीनिर्वाण का विरोध प्रारम्भ किया था, क्योंकि इसके पूर्वकालीन किसी भी ग्रन्थ में दिगम्बर जैन विद्वान् ने स्त्री-निर्वाण का खण्डन नहीं किया। "तत्वार्थ-सूत्र" की "सर्वार्थसिद्धि" टीका में आचार्य देवनन्दी ने "केवली को कवलाहार मानने वालों को सांशयिक मिथ्यात्वी कहा है", परन्तु स्त्री-निर्वाण के विरोध में कुछ भी नहीं लिखा। इसी प्रकार विक्रम की अष्टम शती के आचार्य अकलंकदेव ने अपने "सिद्धिविनिश्चय" "न्याय-विनिश्चय" आदि ग्रन्थों में छोटी-छोटी बातों की चर्चा की है, परन्तु स्त्री-निर्वाण के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा। दशवीं शती के यापनीय आचार्य की कृति "केवलिभुक्ति-स्त्रीमुक्ति" नामक ग्रन्थ में केवली के कवलाहार और स्त्री के निर्वाण का समर्थन किया है और इस समय के बाद के बने हुए दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रत्येक न्याय के ग्रन्थ में स्त्री-निर्वाण का खण्डन किया गया है। इससे प्रमाणित होता है कि स्त्री-निर्वाण न मानने वालों में अग्रगामी दशवीं-ग्यारहवीं शती के दिगम्बर आचार्य थे।

यापनीय शिवभूति के वंशज थे

हम पहले ही कह आये हैं कि आर्य शिवभूति जिन्होंने कि विक्रम सं० १३९ में नग्नता के व्यवहार को मथुरा के समीपवर्ती "रथवीरपुर" नामक स्थान में फिर प्रचलित किया था और कालान्तर में वे दक्षिणापथ में चले गये थे। दक्षिणापथ-प्रदेश में जाने पर उनकी कदर हुई और कुछ शिष्य भी हुए होंगे, परन्तु व्यवस्थित उनकी परम्परा बताना कठिन है। शिवभूति अथवा तो उनके शिष्यों की उस प्रदेश में "यापनीय" नाम से प्रख्याति हुई थी। कोई-कोई विद्वान् "यापनीय" शब्द का अर्थ निर्वाह करना बताते हैं, जो यथार्थ नहीं है। यापनीय नाम पड़ने का खास कारण उनके गुरुवन्दन में आने वाला "जावणिज्जाए" शब्द है। निर्ग्रन्थ श्रमण अपने बड़ेरों को बन्दन करते समय निम्नलिखित पाठ प्रथम बोलते हैं।

"इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए, अणुजाणह मे मिउग्गहं निसीहि।"

अर्थात् "मैं चाहता हूं, हे पूज्य ! वन्दन करने को, शरीर की शक्ति के अनुसार। इस समय मैं दूसरे कार्यों की तरफ का ध्यान रोकता हूं। मुझे आज्ञा दीजिए, परिमित स्थान में आने की।"

उपर्युक्त वन्दनक सूत्र में आने वाले "यापनीय" शब्द के बारम्बार उच्चारण करने के कारण लोगों में उनकी "यापनीय" नाम से प्रख्याति हो गई। लोगों को पूरे सूत्र पाठ की तो आवश्यकता थी नहीं। उसमें जो विशिष्ट शब्द बारम्बार सुना उसी को पकड़ कर श्रमणों का वही नाम रख दिया, ऐसा होना अशक्य भी नहीं है। मारवाड़ के यतियों का इसी

प्रकार "मत्थेण" यह नामकरण हुआ है। जब वे एक दूसरे से मिलते हैं अथवा जुदे पड़ते हैं तब "मत्थएण वंदामि" यह शब्द संक्षिप्त वन्दन के रूप में बोला जाता है। इसको बार-बार सुनकर बोलने वालों का नाम ही लोगों ने "मत्थेण" रख दिया। यही बात "यापनीय" नामकरण में समझ लेना चाहिए।

शिवभूति के अनुयायियों ने यापनीयों के नाम से प्रसिद्ध होने के बाद भी सैकड़ों वर्षों तक श्वेताम्बर मान्य "आगम" सूत्रों को माना। श्वेताम्बरों में और यापनीयों में मुख्य भेद नग्नता और पाणिपात्रत्व में था। दूसरी मामूली बातों का भी साम्प्रदायिक भेद रहा होगा, परन्तु सिद्धान्त भेद नाम मात्र का था। जिस प्रकार श्वेताम्बर संघ में वार्षिक पर्व पर "पर्युषणाकल्प" पढ़ा जाता है, वैसे यापनीयों में भी पढ़ा जाता था। श्वेताम्बर केवली का कवलाहार और स्त्री का निर्वाण मानते थे, उसी प्रकार यापनीय भी मानते थे। आजकल श्वेताम्बर-दिगम्बरों के बीच जितनी मतभेदों की खाई गहरी हुई है, इसका एक शतांश भी उस समय नहीं थी। मानवस्वभावानुसार संयम मार्ग में धीरे-धीरे शिथिलता अवश्य प्रविष्ट होने लगी थी। श्वेताम्बरों के इस प्रदेश में चैत्यवास की तरह दक्षिण में श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय श्रमणों में भी उसी प्रकार की शिथिलता घुस गई थी। उद्यत विहार के स्थान मठपति बनकर एक स्थान में अधिक रहना, राजा आदि को उपदेश देकर मठ मन्दिरों के लिए भूमिदान आदि ग्रहण करना और आय-व्यय का हिसाब ठीक रखना, रखवाना इस प्रकार की प्रवृत्तियां दक्षिण में भी होने लगी थीं। यह बात उस प्रदेश से प्राप्त होने वाले शिलालेखों तथा शासनपत्रों से जानी जा सकती है। उधर के लेखों में निर्ग्रन्थ, श्वेताम्बर, यापनीयों के सम्बन्ध में कुछ विवेचन की आवश्यकता नहीं, परन्तु निर्ग्रन्थ कूर्चकों के सम्बन्ध में दो शब्द लिखने आवश्यक हैं। जहां केवल निर्ग्रन्थ शब्द का ही उपयोग है, वहां "श्वेताम्बर" और "यापनीय मान्य" सिद्धान्तों को न मानने वाले दिगम्बरों को समझना चाहिए, तब "कूर्चक" सम्प्रदाय के उन निर्ग्रन्थ श्रमणों को समझना चाहिए जो वर्ष भर में एक ही बार सांवत्सरिक

तिथि को अपने केशों का लुंचन करते थे। श्वेताम्बरों के "पर्युषणा-कल्पसूत्र" में षाण्मासिक और सांवत्सरिक केश लुंचन करने का विधान है। इसके अनुसार जो श्रमण वर्ष में एक ही बार लुंचन करते थे, उनकी दाढ़ी-मूँछों के बाल लम्बे बढ़ जाने के कारण से लोग उन्हें "कूर्चक" इस नाम से पुकारते थे।

शिवभूति से दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव

आवश्यक मूल भाष्यकारादि श्वेताम्बर जैन ग्रन्थकार दिगम्बरों की उत्पत्ति का वर्णन नीचे लिखे अनुसार करते हैं :

'भगवान् महावीर को निर्वाण प्राप्त किये छः सौ नौ वर्ष व्यतीत हुए तब रथवीरपुर में बोटिकों का दर्शन उत्पन्न हुआ।'

'रथवीरपुर नगर के बाहर दीपक नामक उद्यान था। वहां पर आर्यकृष्ण नामक आचार्य ठहरे हुए थे। आर्यकृष्ण के एक शिष्य का नाम था "सहस्त्रमल्ल शिवभूति"। शिवभूति गृहस्थावस्था में वहां के राजा का कृपापात्र सेवक था। दीक्षा लेने के बाद जब वह गुरु के साथ विहार करता हुआ रथवीरपुर आया, तब वहां के राजा ने उसको कम्बलरत्न का दान दिया। आचार्य आर्यकृष्ण को जब इस बात का पता लगा, तो उन्होंने उपालम्भ के साथ कहा : "साधुओं को ऐसा कीमती वस्त्र लेना वर्जित है, तुमने क्यों लिया ?" यह कह कर आचार्य ने उस कम्बल को फाड़ कर उसकी निषद्यायें (बैठने के आसन) बनाकर साधुओं को दे दी। शिवभूति को गुस्सा तो आया, पर कुछ बोला नहीं।

एक दिन सूत्रानुयोग में जिनकल्प का वर्णन चला, जैसे : "जिनकल्पिक दो प्रकार के होते हैं, करपात्री और पात्रधारी। वे दोनों दो प्रकार के होते हैं : वस्त्रधारी और वस्त्र न रखने वाले। वस्त्र न रखने वाले जिनकल्पिकों की उपधि आठ प्रकार की होती है : दो प्रकार की, तीन

प्रकार की, चार प्रकार की, नव प्रकार की, दस प्रकार की, ग्यारह प्रकार की और बारह प्रकार की, जिनकल्पिक उपधि के ये आठ विकल्प होते हैं। कोई रजोहरण मुखवस्त्रिका रूप दो प्रकार की ही उपधि रखते हैं, तब कोई इन दो उपकरणों के उपरान्त एक चद्दर भी ओढने के लिए रख कर त्रिविध उपधिधारी होते हैं, कोई उपर्युक्त एक वस्त्र के स्थान में दो रखते हैं, तब चतुर्विध उपधि होती है और तीन वस्त्र रखने वालों की पंचविध उपधि होती है। ये चार उपधि के प्रकार करपात्री जिनकल्पी के होते हैं। जो पात्रधारी होते हैं, उनके नवविध, दशविध, एकादशविध और द्वादशविध उपधि होती है, जैसे : पात्र, पात्रबन्धन, पात्रस्थापनक, पात्रप्रमार्जनिका, पटलक, रजस्त्राण और गोच्छक, ये सप्तविध पात्रनिर्योग और रजोहरण तथा मुखवस्त्रिका मिलकर पात्रभोजी की नवविध उपधि होती है। इसमें एक वस्त्र बढ़ाने से दशविध, दो वस्त्र बढ़ाने से एकादशविध और तीन वस्त्र रखने वालों की उपधि १२ प्रकार की होती है।"

यहाँ शिवभूति ने पूछा : "इस समय उपधि अधिक क्यों रखी जाती है ? जिनकल्प क्यों नहीं किया जाता ?" गुरु ने कहा : जिनकल्प करना आज शक्य नहीं है, वह विच्छिन्न हो गया है। शिवभूति ने कहा : विच्छेद कैसे हो सकता है ? मैं करता हूँ। परलोकहितार्थी को जिनकल्प ही करना चाहिए। इतना उपधि का परिग्रह क्यों रखना चाहिये ? परिग्रह के सद्भाव में कषाय, मूर्छा, भय आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। शास्त्र में अपरिग्रहत्व ही हितकारी बताया है। जिनेश्वर भगवन्त भी अचेलक ही रहते थे। अतः अचेलक रहना ही अच्छा है। गुरु ने कहा : देख, शरीर के सद्भाव में भी किसी को मूर्छा आदि दोष होते हैं, तो क्या शरीर का भी त्याग कर देना ? सूत्र में अपरिग्रहत्व कहा है, उसका अर्थ इतना ही है कि धर्मोपकरणों में भी मूर्छा नहीं करनी चाहिये, जिन-भगवान् भी एकान्त अचेलक नहीं थे। दीक्षा के समय सभी तीर्थङ्कर एक वस्त्र के साथ निकलते हैं, इत्यादि स्थविरों ने उसको बहुत समझाया, फिर भी वह वस्त्रों का त्याग कर चला गया। उसकी "उत्तरा" नामक बहन साध्वी उद्यान में ठहरे हुए शिवभूति को वन्दनार्थ गई। उसकी यह स्थिति देखकर उत्तरा ने

उन्हे अपने लिए पूछा। शिवभूति ने कहा : संघाटी तेरे पास रहने दे। शिवभूति ने कौडिन्य-कोट्टवीर नामक दो शिष्य किये और वहां से आगे शिष्य-परम्परा चली, भाष्यकार कहते हैं :

"बोडियसिवभूईओ, बोडियलिंगस्स होई उप्पत्तो।

कोडिण्ण-कोट्टवीरा, परंपराफासमुप्पण्णा ॥१४८॥" (मू. भा.)

अर्थात्—'बोटिक-शिवभूति से बोटिक-लिंग की उत्पत्ति हुई और उनकी परम्परा को स्पर्श करने वाले कौण्डकुन्द, वीर नामक शिष्य हुए।'

टीकाकारों ने "कोडिन्य" और "कोट्टवीर' इस प्रकार पदों का विश्लेष किया है। हमारे विचारानुसार "कौडिन्यकोट्ट" यह कौण्डकुण्ड का अपभ्रंश है और "वीर" ये भी इनके परम्परा-शिष्य हैं।

निह्नव वक्तव्यता का निगमन करते हुए भाष्यकार कहते हैं : वर्तमान अवसर्पिणी काल में महावीर के धर्मशासन में होने वाले सात निह्नवों का वर्णन किया है : महावीर को छोड़कर किसी तीर्थङ्कर के शासन में निह्नव नहीं हुए। उक्त निर्ग्रन्थ रूपधारी निह्नवों के दर्शन संसार का मूल और जन्म-जरा-मरण गर्भावास के दुःखों का कारण है। प्रवचन-निह्नवों के लिए कराये हुए आहार आदि के ग्रहण में निर्ग्रन्थों के लिए भजना है, अर्थात् वे उक्त आहार आदि ले सकते हैं और नहीं भी ले सकते।

दिगम्बर सम्प्रदायप्रवर्तक शिवभूति का नाम निह्नवों की नामावलि में नहीं मिलता। आवश्यक-भाष्यकार और उसके टीकाकार कहते हैं : "बोटिक सर्वविसंवादी होने के कारण अन्य निह्नवों के साथ इनका नाम नहीं लिखा।" कुछ भी हो, पर इस सम्प्रदाय के उत्पन्न होने के समय में इसको कहीं भी "निह्नवसंप्रदाय नहीं लिखा, न शिवभूति को आचार्य कृष्ण द्वारा अपने गण या संघ से बहिष्कृत करने का उल्लेख मिलता है", बल्कि "एवंपि पण्णविओ कम्मोदएण चीवराणि छड्डेत्ता गओ" अर्थात् स्थविर आचार्यों ने उसको बहुत समझाया तो भी कर्मोदयवश होकर शिवभूति अपने वस्त्रों का त्याग कर चला गया; इससे भी ज्ञात होता है कि

शिवभूति को उसके गुरु तथा संघ ने अन्य निह्नवों की तरह संघ से बहिष्कृत नहीं किया था, बल्कि वह स्वयं नग्न होकर चला गया था। यही कारण है कि सूत्रोक्त निह्नवों की नामावलि में इनका नाम सम्मिलित नहीं किया। भाष्यकार तथा टीकाकारों ने इन्हें निह्नव ही नहीं "मिथ्यादृष्टि" तक लिख डाला है। इसका कारण यह है कि तब तक दोनों परम्पराओं के बीच पर्याप्त मात्रा में कटुता बढ़ चुकी थी। दिगम्बर आचार्य "देवनन्दी" ने केवली को कवलाहारी मानने वालों को "सांशयिक मिथ्यात्वी" ठहराया, तब जिनभद्र आदि श्वेताम्बर आचार्यों ने "देवनन्दी" के अनुयायियों को भी मिथ्यादृष्टि करार दिया था। यह आपसी तनातनी छठवीं शती से प्रारम्भ होकर तेरहवीं शती तक अन्तिम कोटि को पहुँच चुकी थी।

कुन्दकुन्द के गुरु

आचार्य श्री कुन्दकुन्द के दीक्षा-गुरु अथवा श्रुतपाठक-गुरु कौन थे, इस विषय में भी विद्वान् एकमत नहीं हैं। श्रवणबेलगोला के ४०वें लेख के दो पद्यों में कुन्दकुन्द के पूर्ववर्ती कुछ आचार्यों के नाम दिये हैं, जो इस प्रकार हैं :

"मूल संघ में नन्दी संघ था और नन्दी संघ में बलात्कार गण। उस गण में पूर्वपदों का अंश जानने वाले श्री माघनन्दी हुए। माघनन्दी के पद पर श्री जिनचन्द्रसूरि हुए और जिनचन्द्र के पद पर पंचनामधारी श्री पद्मनन्दी मुनि हुए।" इस लेखांश से इतना ज्ञात होता है कि कुन्दकुन्द के प्रगुरु माघनन्दी और गुरु जिनचन्द्रसूरि थे। इसके विपरीत पट्टावली में माघनन्दी के अंतेवासी का नाम गुणचन्द्र लिखा है और उसके शिष्य अथवा उत्तराधिकारी के रूप में कुन्दकुन्द का वर्णन किया है।

कुन्दकुन्द कृत "पंचास्तिकाय प्राभृत" के व्याख्यान में श्री जयसेनाचार्य ने पद्मनन्दी जिनका नामान्तर है ऐसे कुन्दकुन्द को कुमारनन्दी सैद्धान्तिक देव का शिष्य बताया है।

श्रुतावतार कथा में अर्हद्बलि के बाद माघनन्दी का और उनके बाद धरसेन आदि आचार्यों का वर्णन किया है, माघनन्दी का नहीं, न माघनन्दी के बाद गुणचन्द्र और कुमारनन्दी के नामोल्लेख हैं। श्रवणबेलगोला के लेखों में कुन्दकुन्द के गुरु का उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु राजा चन्द्रगुप्त के वर्णन के बाद सीधा कुन्दकुन्द का वर्णन किया है। परम्परा का वर्णन भी कुन्दकुन्द से ही प्रारम्भ किया है, अर्थात् नन्दी संघ के प्रधान

आरातीय मुनि श्री कुन्दकुन्द ही माने गए हैं। यह किसी ने सोचा ही नहीं कि कुन्दकुन्द के गुरु कौन थे। अपने ग्रन्थों में कुन्दकुन्द ने भी अपने गुरु का नामोल्लेख नहीं किया। इस परिस्थिति में कुन्दकुन्द के गुरु, प्रगुरु आदि का निर्णय करना असम्भव है और पिछली पट्टावली और शिलालेखों में भले ही कुन्दकुन्द के गुरु का नाम कुछ भी लिखा हो, परन्तु वह निर्विवाद माननीय नहीं हो सकता।

नन्दी संघ की पट्टावली में जो आचार्य-परम्परा लिखी है, वह भी उपर्युक्त कुन्दकुन्द के गुरु आदि के नामों के साथ सहमत नहीं होती। नन्दी संघ की पट्टावली का क्रम यह है :

उमास्वाति, लोहाचार्य, यशःकीर्ति, यशोनन्दी, देवनन्दी, गुणनन्दी इत्यादि।

पट्टावली-लेखक के मत से लोहाचार्य के बाद होने वाले अर्हद्बलि, माघनन्दी, भूतबलि, पुष्पदन्त ये आचार्य भी अंग-ज्ञान के जानने वाले थे, परन्तु पट्टावली-लेखक का उक्त कथन प्रामाणिक मालूम नहीं होता। इस परिस्थिति में आचार्य कुन्दकुन्द के गुरु कौन थे, यह प्रश्न अनिर्णीत ही रहता है।

आचार्य कुन्दकुन्द का सत्ता-समय

आचार्य कुन्दकुन्द के सत्ता-समय के सम्बन्ध में दिगम्बर जैन विद्वान् भी एकमत नहीं हैं। कोई उनको विक्रम की प्रथम शती में हुआ मानते हैं, कोई दूसरी शती में, तब कोई विद्वान् दूसरी शती से भी परवर्ती समय के कुन्दकुन्दाचार्य होने चाहिए ऐसे विचार वाले हैं। परन्तु हमने दिगम्बर जैन साहित्य का परिशीलन कर इस विषय में जो निर्णय किया है, वह उक्त सभी विचारकों से जुदा पड़ता है। जितने भी कुन्दकुन्द के नाम से प्रसिद्धि पाए हुए "प्राभृत" आदि ग्रन्थ पढ़े हैं, उन सभी से ही प्रमाणित हुआ है कि कुन्दकुन्दाचार्य विक्रम की षष्ठी शती के पूर्व के व्यक्ति नहीं हैं। हमारी इस मान्यता के साधक प्रमाण निम्नोद्धृत हैं :

(१) कुन्दकुन्दाचार्य-कृत "पंचास्तिकाय" की टीका में "जयसेनाचार्य लिखते हैं कि यह ग्रन्थ कुन्दकुन्दाचार्य ने शिवकुमार महाराज के प्रतिबोध के लिए रचा था। डा० पाठक के विचार से वह "शिवकुमार" ही कदम्बवंशी "शिवमृगेश" थे जो सम्भवतः विक्रम की छठी शताब्दी के व्यक्ति थे। अतएव इनके समकालीन कुन्दकुन्द भी छठी सदी के व्यक्ति हो सकते हैं।

(२) "समय-प्राभृत" की गाथा ३५० तथा ३५१ में कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं : "लोगों के विचार में देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्य प्राणियों को विष्णु बनाता है, तथा श्रमणों (जैन साधुओं) के मत से षट्निकाय के जीवों का कर्त्ता आत्मा है।

"इस प्रकार लोक और श्रमणों के सिद्धान्त में कोई विशेष भेद नहीं है। लोगों के मत में कर्ता विष्णु है और श्रमणों के मत में "आत्मा"।

कहने की जरूरत नहीं है कि "विष्णु" को कर्त्ता पुरुष मानने वाले "वैष्णव" सम्प्रदाय की उत्पत्ति विष्णु स्वामी से ई० स० की तीसरी शताब्दी में हुई थी। उनके सिद्धान्त ने खासा समय बीतने के बाद ही लोक-सिद्धान्त का रूप धारण किया होगा, यह निश्चित है। इससे कहना पड़ेगा कि कुन्दकुन्द विक्रम की चौथी सदी के पहले के नहीं हो सकते।

(३) "रयणसार" की १८वीं गाथा में सात क्षेत्र में दान करने का उपदेश है, श्वेताम्बर जैन साहित्य में सात क्षेत्रों में दान देने का उपदेश प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थ 'उपदेशपद' में है, जो ग्रन्थ विक्रम की अष्टमी शती की प्राचीन कृति है। दिगम्बर ग्रन्थों में भी इसके पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थ में सात क्षेत्रों में दान देने का उपदेश हमने नहीं पढ़ा। उपरान्त उसी प्रकरण की गाथा २८वीं में कुन्दकुन्द कहते हैं: "पंचम काल में इस भारतवर्ष में यंत्र, मंत्र, तंत्र, परिचर्या (सेवा या खुशामद), पक्षपात और मीठे वचनों के ही कारण से दान दिया जाता है; मोक्ष के हेतु नहीं।"

इससे यह साबित होता है कि कुन्दकुन्द उस समय के व्यक्ति थे, जब कि इस देश में तांत्रिक मत का खूब प्रचार हो गया था और मोक्ष की भावना की अपेक्षा से सांसारिक स्वार्थ और पक्षापक्षी का बाजार गर्म हो रहा था। पुरातत्ववेत्ताओं को कहने की शायद ही जरूरत होगी कि भारतवर्ष की उक्त स्थिति विक्रम की पांचवीं सदी के बाद में हुई थी।

(४) "रयणसार" की गाथा ३२वीं में जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा, जिनपूजा और तीर्थवन्दन विषयक द्रव्य भक्षण करने वालों को नरक-दुःख का भोगी बता कर कुन्दकुन्द कहते हैं: "पूजा दानादि का द्रव्य हरने वाला, पुत्र-कलत्रहीन, दरिद्र, पंगु, गूंगा, बहरा और अन्धा होता है और चाण्डालादि कुल में जन्म लेता है। इसी प्रकार अगली ३३-३६ वीं गाथाओं में पूजा और दानादि द्रव्य भक्षण करने वालों को विविध दुर्गतियों के दुःख-भोगी होना बतलाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द के समय में देवद्रव्य और दान दिये हुए द्रव्यों की दुर्व्यवस्था होना एक सामान्य बात हो गई थी। मन्दिरों की व्यवस्था में साधुओं का पूरा दखल हो चुका था और वे अपना

आचार-मार्ग छोड़ कर गृहस्थोचित चैत्य-कार्यों में लग चुके थे। जैन इतिहास से यह बात सिद्ध है कि विक्रम की छठी-सातवीं सदी से साधु चैत्यों में रह कर उनकी व्यवस्था करने लग गए थे और छठी से दसवीं सदी तक उनका पूर्ण साम्राज्य रहा था। वे अपने-अपने गच्छ सम्बन्धी चैत्यों की व्यवस्था में सर्वाधिकारी के ढंग से काम करते थे। उस समय के सुविहित आचार्य इस प्रवृत्ति का विरोध भी करते थे, परन्तु उन पर उसका कोई असर नहीं होता था। इस समय को श्वेताम्बर ग्रंथकारों ने "चैत्यवास प्रवृत्ति-समय" के नाम से उद्घोषित किया है। दिगम्बर सम्प्रदाय में विक्रम की ग्यारहवीं शती से "भट्टारकीय समय" की प्रसिद्धि हुई है। आचार्य कुन्दकुन्द का अस्तित्व उक्त समय के बाद का है, इसी से तत्कालीन प्रवृत्तियों का खण्डन किया है, इससे यह सिद्ध होता है कि वे छठी सदी के पूर्व के व्यक्ति नहीं थे।

(५) "रयणसार" की १०५ तथा १०८ से १११ वीं तक की गाथाओं में कुन्दकुन्द ने साधुओं की अनेक शिथिल प्रवृत्तियों का खण्डन किया है, जिनमें "राजसेवा, ज्योतिष-विद्या, मन्त्रों से आजीविका, धनधान्य का परिग्रह, मकान, प्रतिमा, उपकरण आदि का मोह, गच्छ का आग्रह, वस्त्र और पुस्तक की ममता" आदि बातों का खण्डन लक्ष्य देने योग्य है। कहने की शायद ही जरूरत होगी कि उक्त खराबियां साधु समाज में छठी और सातवीं सदी में पूर्ण रूप से प्रविष्ट हो चुकी थी। पांचवीं सदी में इनमें से बहुत कम प्रवृत्तियां साधु-समाज में प्रविष्ट होने पायी थीं और विक्रम की तीसरी चौथी शताब्दी तक तो ऐसी कोई भी बात जैन निर्ग्रन्थों में नहीं पायी जाती थी। इससे यह निस्संदेह सिद्ध होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द विक्रम की छठी शताब्दी के बाद के ग्रन्थकार हैं। यदि ऐसा न होता और दिगम्बर जैन पट्टावलियों के लेखानुसार वे विक्रम की प्रथम अथवा दूसरी शती के ग्रन्थकार होते तो छठी शती की प्रवृत्तियों का उनके ग्रन्थों में खण्डन नहीं होता।

(६) कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर "गच्छ" शब्द का प्रयोग किया है, जो विक्रम की पांचवीं सदी के बाद का पारिभाषिक

शब्द है। श्वेताम्बरों के प्राचीन भाष्यों तक में "गच्छ" शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। हां, छठी-सातवीं शताब्दी के बाद के भाष्यों, चूर्णियों और प्रकीर्णकों में "गच्छ" शब्द का व्यवहार अवश्य हुआ है। यही बात दिगम्बर सम्प्रदाय में भी है। जहां तक हमें ज्ञात है उनके तीसरी-चौथी शताब्दी के साहित्य में तो क्या आठवीं सदी तक के साहित्य में भी "गच्छ" शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ।

(७) विक्रम की नवीं सदी के पहले के किसी भी शिलालेख, ताम्रपत्र या ग्रन्थ में कुन्दकुन्दाचार्य का नामोल्लेख न होना भी सिद्ध करता है कि वे उतने प्राचीन व्यक्ति न थे, जितना कि आधुनिक दिगम्बर विद्वान् समझते हैं। यद्यपि मर्करा के एक ताम्रपत्र में; जो शक संवत् ३८८ का लिखा हुआ माना जाता है, कुन्दकुन्द का नामोल्लेख है, तथापि हमारी उक्त मान्यता में इससे कुछ भी विरोध नहीं आ सकता, क्योंकि उस ताम्रपत्र में उल्लिखित तमाम आचार्यों के नामों के पहले "भटार" (भट्टारक) शब्द लिखा गया है, जो विक्रम की सातवीं सदी के बाद शुरु होता है। इस दशा में ताम्र-पत्र वाला संवत् कोई अर्वाचीन संवत् होना चाहिये अथवा तो यह ताम्रपत्र ही जाली होना चाहिए।

श्रमण भगवान् महावीर के "जिनकल्प और स्थविरकल्प" नामक एक परिशिष्ट में मर्करा का ताम्रपत्र जाली होने की हमने संभावना की थी। उस पर "कषायप्राभृत" के प्रथम भाग के सम्पादक महोदय ने हमारी उस सम्भावना पर नाराजगी प्रकट करते हुए लिखा था कि ताम्रपत्र को जाली कहना कल्याणविजयजी का साहस है।" उस समय तक ताम्रपत्र प्रकाशित नहीं हुआ था, परन्तु अन्यान्य प्रमाणों से कुन्दकुन्दाचार्य की अर्वाचीनता निश्चित होती थी और मुझे उन प्रमाणों पर पूरा विश्वास था। जब "जैन शिलालेख-संग्रह" का द्वितीय भाग मेरे पास आया, तब उसमें मुद्रित मर्करा का ताम्रपत्रीय लेख पढ़ने को मिला। मैंने उसको ध्यान से पढ़ा और विश्वास हो गया कि वास्तव में यह ताम्रपत्र जाली ही है, क्योंकि उसमें माघ सुदि पंचमी को पूर्वाभाद्रपद उत्तराभाद्रपद अथवा

रेवती इन तीनों में से कोई भी एक नक्षत्र हो सकता है, परन्तु स्वाति तो किसी हालत में नहीं आ सकता ।

माघ सुदी पंचमी के दिन सोमवार होने की बात ताम्रपत्र में लिखी थी, परन्तु शक संवत् ३८८ के समय में वार शब्द का भारतवर्ष में प्रयोग ही नहीं होता था । भारतीय साहित्य में विक्रम की नवमी शती के बाद में "वार" शब्द का प्रयोग होने लगा है । इन बातों के आधार पर हमने ताम्रपत्र को जाली होने की सम्भावना की थी; वह सत्य प्रमाणित हुई ।

कुछ समय के बाद "जैन शिलालेख संग्रह" का तृतीय भाग मिला और डा० श्री गुलाबचन्द्र चौधरी एम. ए. पी- एच. डी., आचार्य की प्रस्तावना पढ़ी तो मर्करा-ताम्रपत्र के सम्बन्ध में उनका निम्नलिखित अभिप्राय पाया । उसमें चौधरी महोदय लिखते हैं :

"कुछ विद्वान् मर्करा के ताम्रपत्रों ६५ को प्राचीन (सन् ४६६ ई०) मान कर देशीयगण कोण्डकुन्दान्वय का अस्तित्व एवं उल्लेख बहुत प्राचीन मानते हैं, पर परीक्षण करने पर उक्त लेख बनावटी सिद्ध होता है तथा देशीयगण की जो परम्परा वहां दी गई है, वह लेख नं० १५० के बाद की मालूम होती है ।"

श्रीयुत् चौधरी ने अपने कथन के समर्थन में स्वर्गीय बी. एल. राइस महोदय द्वारा सं० १८७२ में "इण्डियन एण्टिक्वेरी" (भाग १ पृ० ३६३ –३६५) में मूल तथा अनुवाद के साथ प्रकाशित करवाये गए इन ताम्रपत्रों के सम्बन्ध में व्यक्त किये गए अभिप्राय को टिप्पण में उद्धृत किया है जिसका सारांश मात्र यहां देते हैं :

बर्जेस महाशय का कथन है कि "लेख का संवत् विल्सन सा० के (मेकेन्जी कलेक्शन) के आधार पर शक संवत् है, पर ज्योतिष शास्त्र के आधार पर उक्त संवत् के दिन "सोमवार और नक्षत्र स्वाति" लिखा है, वह ठीक नहीं । "वार बुध और नक्षत्र उत्तराभाद्रपद" होना चाहिए था ।

इन्हीं ताम्रपत्रों के सम्बन्ध में चौधरी महोदय का निम्नलिखित तर्क भी ध्यान देने योग्य है :

"यदि किन्हीं कारणों से मर्करा के ताम्रपत्रों को प्राचीन भी मान लिया जाय तो उस लेख के सन् ४६६ के बाद और लेख नं० १५० के सन् ६३१ के पहले चार-पांच सौ वर्षों तक बीच के समय में कोण्डकुन्दान्वय और देशीयगण का एक साथ लेखगत कोई प्रयोग न मिलना आश्चर्य की बात है और इतने पहले उस लेख में उक्त दोनों का एकाकी प्रयोग मर्करा के ताम्रपत्रों की स्थिति को अजीब सी बना देता है।"

मर्करा के ताम्रपत्रों में 'कोण्डकुन्दान्वय" शब्द प्रयोग से कुन्दकुन्दाचार्य के सत्ता-समय को विक्रम की दूसरी शती तक खींच ले जाने वाले विद्वानों को आचार्य चौधरी महोदय के कथन पर विचार करना चाहिए।

इस सम्बन्ध में "जैन शिलालेख संग्रह" के तृतीय भाग के प्राक्कथन में प्रो० हीरालालजी जैन डायरेक्टर प्राकृत जैन विद्यापीठ मुजफ्फरपुर (बिहार) की निम्नलिखित सूचनायें भी इतिहासशंशोधकों को अवश्य विचारणीय है :

(१) "मर्करा के जिस ताम्रपत्र लेख के आधार पर कोण्डकुन्दान्वय का अस्तित्व पांचवीं शती में माना जाता है, वह लेख परीक्षण करने पर बनावटी सिद्ध होता है तथा देशीयगण की जो परम्परा उस लेख में दी गई है, वही लेख नं० १५० (सन् ६३१) के बाद की मालूम होती है।

(२) कोण्डकुन्दान्वय का स्वतन्त्र प्रयोग आठवीं-नौवीं शती के लेख में देखा गया है तथा मूल संघ कोण्डकुन्दान्वय का एक साथ सर्वप्रथम प्रयोग लें० नं० १८० (लगभग १०४४ ई०) में हुआ पाया जाता है।

(३) डॉ० चौधरी की प्रस्तावना में प्रकट होने वाले तथ्य हमारी अनेक सांस्कृतिक और ऐतिहासिक मान्यताओं को चुनौती देने वाले हैं। अतएव इनके ऊपर गम्भीर विचार करने तथा उनसे फलित होने वाली

बातों को अपने इतिहास में यथोचित रूप से समाविष्ट करने की आवश्यकता है।"

आचार्य कुन्दकुन्द के सम्बन्ध में उपर्युक्त विद्वानों का निर्णय लिखने के बाद इसी समय एक अन्य जैन विद्वान् का कुन्दकुन्दाचार्य का सत्ता-समय विक्रम की षष्ठी शती में होने का निर्णय दृष्टिगोचर हुआ, जो नीचे उद्धृत किया जाता है :

कुन्दकुन्दाचार्य विरचित सटीक "समयप्राभृत" का प्रथम संस्करण जो ईसवी सन् १९१४ में प्रकाशित हुआ था, उसकी प्रस्तावना में उसके सम्पादक न्यायशास्त्री पं० श्री गजाधरलालजी जैन लिखते हैं :

"श्रीशिवकुमार-महाराज-प्रतिबोधनार्थं विलिलेख भगवान् कुंदकुंदः स्वीयं ग्रंथमिति, समाविर्भावितं च पंचास्तिकायस्य क्रमशः कार्णाटिक-संस्कृत-टीकाकारैः श्रीबालचन्द्र-जयसेनाचार्यैः ततो युक्त्यानयापि भगवत्कुंद-कुंदसमयः तस्य शिवमृगेशवर्मसमानकालीनत्वात् ४५० तमशकसंवत्सर एव सिद्ध्यति, स्वीकारे चास्मिन् क्षतिरपि नास्ति कापीति ॥" (पृ० ८)

अर्थात् 'श्री शिवकुमार महाराज को प्रतिबोध देने के लिए भगवान् कुंदकुंद ने अपने इस ग्रन्थ को रचा था, ऐसा "पंचास्तिकाय सार" के क्रमशः कार्णाटिक-संस्कृत टीकाकार श्री बालचन्द्र, जयसेनाचार्य ने प्रकट किया है, इस युक्ति से भी भगवान् कुंदकुंद का समय शिवमृगेशवर्म के सम-कालीन होने से ४५० वां शक संवत्सर सिद्ध होता है और इसके स्वीकार में कुछ बाधक भी नहीं है।'

पं० गजाधरलालजी के उपर्युक्त विचार के अनुसार भी कुंदकुंदाचार्य का सत्ता-समय शक संवत् ४५० में सिद्ध होता है, जो हमारे मत से ठीक मिल जाता है।

श्रवणबेलगोल तथा उसके आसपास के जैन शिलालेखों में शक की आठवीं शती के पहले के किसी भी लेख में कुंदकुंद का नामनिर्देश न मिलना

भी यही प्रमाणित करता है कि प्रसिद्ध दिगम्बर जैनाचार्य श्री कुन्दकुन्द विक्रम की षष्ठी शती के उत्तरार्ध के विद्वान् थे।

कुंदकुंद ने "समयसार-प्राभृत" आदि में जो दार्शनिक चर्चा की है, उससे भी वे हमारे अनुमानित समय से पूर्ववर्तिकालभावी नहीं हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने समय-प्राभृत की ३८३ आदि गाथाओं में श्वेत-मृत्तिका के दृष्टान्त से अद्वैतवाद का जो खण्डन किया है, वह अद्वैतवाद वास्तव में बौद्धों का विज्ञानवाद समझना चाहिए। प्रसिद्ध बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति ने अपने "प्रमाणवार्तिक" ग्रन्थ में बौद्ध-विज्ञानवाद का जो प्रतिपादन किया है उसी का "जहसेटियादु" इत्यादि गाथाओं में कुन्दकुन्द ने निरसन किया है, धर्मकीर्ति का कथन था कि ज्ञान और ज्ञान का विषय भिन्न नहीं है। जो नील पीत आदि पदार्थों से नीलाभास, पीताभास वाला पदार्थ दृष्टिगोचर होता है, वह विज्ञान-मात्र है। इसके उत्तर में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं : जिस प्रकार श्वेतमृत्तिका से मकान पोता जाता है और सारा मकान श्वेतमृत्तिका के रूप में देखा जाता है, फिर भी मकान मृत्तिकामय नहीं बन जाता। मकान मकान ही रहता है और उस पर पोती हुई श्वेतमृत्तिका उससे भिन्न मृत्तिका ही रहती है। इन गाथाओं की व्याख्या में टीकाकारों ने अपनी व्याख्याओं में "ब्रह्माद्वैतवाद" का खण्डन बताया है, जो यथार्थ नहीं है, क्योंकि शंकराचार्य का "ब्रह्माद्वैतवाद" कुन्दकुन्दाचार्य के परवर्ती समय का है न कि पूर्ववर्ती समय का। अतः "जहसेटियादि" गाथाओं की व्याख्या विज्ञानवाद-खण्डनपरक समझना चाहिए। समयसार के इस निरूपण से भी विक्रम की षष्ठी शती के पूर्वार्धवर्ती बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति के विज्ञानवाद का खण्डन करने से कुन्दकुन्दाचार्य का सत्ता-समय निर्विवाद रूप से विक्रम की षष्ठी शती का उत्तरार्ध प्रमाणित होता है।

भट्टारक जिनसेनसूरि का शक-संवत् कलचूरी संवत् है

भट्टारक वीरसेनसूरि ने हरिवंश-पुराणकार आचार्य जिनसेनसूरि का, जो कि पुंनाट वृक्षगण के आचार्य थे, अपने ग्रन्थ में स्मरण किया है। जिनसेन ने शक ७०५ में हरिवंश-पुराण समाप्त किया है। उसमें वर्धमान नगर के राजा धरणीवराह का उल्लेख किया है। धरणीवराह चापवंशी राजा था और उसका सत्तासमय विक्रम सं० ९७१ (शक ८३६) था। हरिवंश का शक ७०५ विक्रम संवत् ८४० होता है जो धरणीवराह के समय के साथ संगत नहीं होता। इस परिस्थिति में जिनसेन के शक को शालिवाहन शक के अर्थ में न लेकर केवल संवत् के अर्थ में लेना चाहिए और इस संवत् को विक्रम, वलभी या गुप्त संवत् न मान कर "कलचूरी" संवत् मानना चाहिए। पुन्नाटगणीय जिनसेन उसी प्रदेश से आये हुए थे, जहाँ "कलचूरी संवत्" चलता था। इसलिए जिनसेन की कलचूरी संवत् की पसंदगी स्वाभाविक थी। कलचूरी संवत् ईसा से २४९ और विक्रम से ३०६ वर्षों के बाद प्रचलित हुआ था। इस प्रकार जिनसेन के हरिवंश-पुराण की समाप्ति के ७०५ संवत् में कलचूरी के ३०६ वर्ष मिलाने पर ७०५ + ३०६ = १०११ विक्रम वर्ष बनेंगे, इससे धरणीवराह के और जिनसेन के समय की संगति भी हो जायगी।

इसी प्रकार धवला की समाप्ति का समय शक संवत् ७०३ माना जाता है। इसमें कलचूरी के ३०६ वर्ष मिला कर ७०३ + ३०६ = १००९ बना लिये जायें तो वीरसेन का जिनसेन से परवर्तित्व सिद्ध हो सकता है।

धनंजय, प्रभाचन्द्र और जिनसेन के नामोल्लेख भी संगत हो जाते हैं, मात्र वीरसेन स्वामी को विक्रम की ग्यारहवीं शती के ग्रन्थकार मानने पड़ेंगे।

दिगम्बर ग्रन्थकारों में से अनेक लेखकों ने अपने ग्रन्थों में समय-निर्देश में संवत् के अर्थ में 'शक विक्रम-नृप' आदि शब्द प्रयुक्त किये हैं, उदाहरणस्वरूप भट्टारक श्री देवसेनसूरि ने "दर्शनसार" में श्वेताम्बर मत आदि की उत्पत्ति की सूचना "विक्रम नृप" शब्द से की है। पहले दिगम्बर विद्वान् इस समय-निर्देश को "विक्रम संवत्" मानते थे, पर वर्तमान में डॉ० ज्योतिप्रसाद आदि ने इसे शक संवत् मान कर भट्टारक देवसेन का समय विक्रम संवत् १०२५ का निश्चित किया है, इसी प्रकार सर्वत्र विशाल दृष्टि रख कर विद्वानों को वास्तविकता समझ कर मतभेदों का समन्वय करना चाहिए।

आधुनिक दिगम्बर समाज के संघटक आचार्य कुन्दकुन्द और भट्टारक वीरसेन

हम ऊपर देख आये हैं कि दिगम्बर शिवभूति ने जो सम्प्रदाय चलाया था, यद्यपि कर्नाटक देशों में इसका पर्याप्त मान और प्रचार था, तथापि विक्रम की छठी शताब्दी के लगभग इसके साधु, राजा वगैरह की तरफ से भूमिदान वगैरह लेने लगे थे। कुन्दकुन्द जैसे त्यागियों को यह शिथिलता अच्छी नहीं लगी। उन्होंने केवल स्थूल-परिग्रह का ही नहीं बल्कि अब तक इस सम्प्रदाय में जो "आपवादिक उपधि" के नाम से वस्त्र, पात्र की छूट थी उसका भी विरोध किया और तब तक प्रमाण माने जाते श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों को भी उद्धारकों ने अप्रामाणित ठहराया और उन्हीं आगमों के आधार पर अपनी तात्कालिक मान्यता के अनुसार नये धार्मिक ग्रन्थों का निर्माण शुरु किया। कुन्दकुन्द वगैरह जो प्राकृत के विद्वान् थे, उन्होंने प्राकृत में और देवनन्दी आदि संस्कृत के विद्वानों ने संस्कृत में ग्रन्थ निर्माण कर अपनी परम्परा को परापेक्षता से मुक्त करने का उद्योग किया।

यद्यपि शुरु-शुरु में उन्हें पूरी सफलता प्राप्त नहीं हुई। यापनीय संघ का अधिक भाग इनके क्रियोद्धार में शामिल नहीं हुआ और शामिल होने वालों में से भी बहुत सा भाग इनकी सैद्धान्तिक क्रान्ति के कारण विरुद्ध हो गया था, तथापि इनका उद्योग निष्फल नहीं हुआ। इनके ग्रन्थ और विचार धीरे-धीरे विद्वानों के हृदय में घर करते जाते थे। विक्रम की आठवीं, नवीं और दशवीं सदी के अकलंकदेव, विद्यानन्दी आदि दिग्गज दिगम्बर विद्वानों के द्वारा तार्किक पद्धति से परिमार्जित होने के उपरान्त

वे और भी आकर्षक हो गये। फलस्वरूप प्राचीन सिद्धान्तों के आधार से बने नये ग्रन्थों और सिद्धान्तों का सार्वत्रिक प्रसार हो गया।

इस प्रकार आधुनिक दिगम्बर सम्प्रदाय और इसके श्वेताम्बर विरोधी सिद्धान्तों की नींव विक्रम की छठी शताब्दी के अन्त में कुन्दकुन्द ने और ग्यारहवीं शती में भट्टारक वीरसेन ने डाली।

हमारे उक्त विचारों का विशेष समर्थन नीचे की बातों से होगा :

(१) परम्परागत श्वेताम्बर जैन आगम जो विक्रम की चौथी शती में मथुरा और वलभी में और छठो सदी के प्रथम चरण में माथुर और वालभ्य संघ की सम्मिलित सभा में वलभी में व्यवस्थित किये और लिखे गए थे, उनमें से स्थानांग में औपपातिक उपांग सूत्र में और आवश्यक-निर्युक्ति में सात निह्नवों के नामों और उनके नगरों के भी उल्लेख किये गये हैं। ये ७ निह्नव मात्र साधारण विरुद्ध मान्यता के कारण श्रमणसंघ से बाहर किये गये थे, उनमें अन्तिम निह्नव गोष्ठामाहिल था; जो वीर संवत् ५८४, विक्रम संवत् ११४ में संघ से बहिष्कृत हुआ था। यदि विक्रम की चतुर्थ शताब्दी तक भी दिगम्बर परम्परा में केवलिकवलाहार का और स्त्री तथा सवस्त्र की मुक्ति का निषेध प्रचलित हो गया होता तो उनको निह्नवों की श्रेणि में परिगणित न करने का कोई कारण नहीं था, परन्तु ऐसा नहीं हुआ, इससे जान पड़ता है कि विक्रम की पांचवीं शताब्दी तक श्वेताम्बर विरोधी सिद्धान्त प्रतिपादक वर्तमान दिगम्बर परम्परा का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था।

(२) विक्रम की सातवीं सदी के पहले के किसी भी लेख-पत्र में वर्तमान दिगम्बर-परम्परा-सम्मत श्रुतकेवलि, अंगपाठी, आचार्यों, गणों, गच्छों और संघों का नामोल्लेख नहीं मिलता।

(३) दिगम्बर परम्परा के पास एक भी प्राचीन पट्टावली नहीं है। इस समय जो पट्टावलियां उसके पास विद्यमान बताई जाती हैं, वे सभी बारहवीं सदी के पीछे की हैं और उनमें दिया हुआ प्राचीन गुरुक्रम बिल्कुल

अविश्वसनीय है, बल्कि यह कहना चाहिए कि महावीर-निर्वाण से एक हजार वर्ष तक का इन पट्टावलियों में जो आचार्यक्रम दिया हुआ है, वह केवल कल्पित है। पांच चतुर्दशपूर्वधर, दशपूर्वधर, एकादशांगधर, एकांग-पाठी, अंगैकदेशपाठी आदि आचार्यों का जो नाम, समय और क्रम लिखा है उसका मूल्य दन्तकथा से अधिक नहीं है। इनके विषय में पट्टावलियां एक मत भी नहीं हैं। श्रुतकेवली, दशपूर्वधर, एकादशांगधर, अंगपाठी और उनके बाद के बहुत समय तक के आचार्यों का नाम-क्रम और समय-क्रम बिलकुल अव्यवस्थित है। कहीं कुछ नाम लिखे हैं और कहीं कुछ, समय भी कहीं कुछ लिखा है और कहीं कुछ। कहीं भी व्यवस्थित समय या नामावली तक नहीं मिलती।

इन बातों पर विचार करने से यह निश्चय हो जाता है कि दिगम्बर पट्टावली-लेखकों ने विक्रम की पांचवीं-छठी सदी से पहले के प्राचीन आचार्यों की जो पट्टावलियां दी हैं, वे केवल दन्तकथायें हैं और अपनी परम्परा की जड़ को महावीर तक ले जाने की चिंता से अर्वाचीन आचार्यों ने इधर-उधर के नामों को आगे-पीछे करके अपनी परम्परा के साथ जोड़ दिया है। प्रसिद्ध जैन दिगम्बर विद्वान् पं० नाथूरामजी प्रेमी भगवती आराधना की प्रस्तावना में लिखते हैं : "दिगम्बर सम्प्रदाय में अंगधारियों के बाद की जितनी परम्पराएँ उपलब्ध हैं वे सब अपूर्ण हैं और उस समय संग्रह की गई हैं जब मूल संघ आदि भेद हो चुके थे और विच्छिन्न परम्पराओं को जानने का कोई साधन न रह गया था।" परन्तु वस्तुस्थिति तो यह कहती है कि दिगम्बर सम्प्रदाय में महावीर के बाद एक हजार वर्ष पर्यन्त की जो परम्परा उपलब्ध मानी जाती है वह भी उस समय संग्रह की गई थी जब मूल संघ आदि भेद हो चुके थे, क्योंकि पट्टावली संग्रहकर्त्ताओं के पास जब अपने निकटवर्ती आचार्यों की परम्परा जानने के भी साधन नहीं थे, तो उनके भी पूर्ववर्ती अंगपाठी और पूर्वधरों की परम्परा का जानना तो इससे भी कठिन था यह निश्चित है।

(४) श्रुतकेवली भद्रबाहु के दक्षिण में जाने के सम्बन्ध में जो कथा दिगम्बर ग्रन्थों में उपलब्ध होती है, वह विक्रम की ग्यारहवीं सदी के पीछे

की है। दक्षिण में जाने वाले भद्रबाहु विक्रम की कई शताब्दियों के बाद के आचार्य थे। यह बात श्रवणबेलगोला की पार्श्वनाथवसति के शक संवत् ५२२ के आसपास के लिखे हुए एक शिलालेख से और दिगम्बर सम्प्रदाय के "दर्शनसार", "भावसंग्रह" आदि ग्रन्थों से सिद्ध हो चुकी है, अतएव श्रुतकेवली भद्रबाहु के नाते दिगम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता विषयक विद्वानों के अभिप्राय निर्मूल हो जाते हैं और निश्चित होता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु के वृत्तान्त से दिगम्बर सम्प्रदाय का कुछ भी सम्बन्ध नहीं था। दिगम्बर विद्वानों ने जो-जो बातें उनके नाम पर चढ़ाई हैं, वास्तव में उन सब का सम्बन्ध द्वितीय ज्योतिषी भद्रबाहु के साथ है और ज्योतिषी भद्रबाहु का सत्तासमय विक्रम की छठी शती था। वे सप्तमी शती के प्रारम्भ में परलोकवासी हुए थे।

(५) बौद्धों के प्राचीन शास्त्रों में नग्न जैन साधुओं का कहीं उल्लेख नहीं है और विशाखावत्थु, धम्मपद, अट्ठकथा, दिव्यवावदान आदि में जहां नग्न निर्ग्रन्थों के उल्लेख मिलते हैं, वे ग्रन्थ उस समय के हैं जब कि यापनीय संघ और आधुनिक दिगम्बर सम्प्रदाय तक प्रकट हो चुके थे। "डायोलोग्स् ऑफ बुद्ध" नामक पुस्तक के ऊपर से बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित कुछ आचार (भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध) नामक पुस्तक में (पृष्ठ ६१-६५) दिए गए हैं जिनमें नग्न रहने और हाथ में खाने का भी उल्लेख है। पुस्तक के लेखक बाबू कामताप्रसादजी की दृष्टि में ये आचार प्राचीन जैन साधुओं के हैं, परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। "मज्झिमनिकाय" में साफ-साफ लिखा गया है कि ये आचार आजीविक संघ के नायक गोशालक तथा उनके मित्र नन्दवच्छ और किस्स-संकिच्च के हैं जिनका बुद्ध के समक्ष निग्गंथ श्रमण "सच्चक" ने वर्णन किया था।

(६) दिगम्बरों के पास प्राचीन साहित्य नहीं है। इनका प्राचीन से प्राचीन साहित्य षट्खण्डागमसूत्र, कषायप्राभृत, भगवती आराधना और कतिपयप्राभृत, जो कुन्दकुन्दाचार्यकृत माने जाते हैं, परन्तु उक्त कृतियों में विक्रम की षष्ठ शती से पहिले की शायद ही कोई कृति हो।

उपर्युक्त एक-एक बात ऐसी है जो वर्तमान दिगम्बर सम्प्रदाय को अर्वाचीनता की तरफ लाती हुई विक्रम की छठी सदी तक पहुँचा देती है।

इनके अतिरिक्त स्त्री तथा शूद्रों को मुक्ति के लिए अयोग्य मानना, जैनों के सिवाय दूसरों के घर जैन साधुओं को आहार लेने का निषेध, आह्वनीयादि अग्नियों की पूजा, सन्ध्यातर्पण, आचमन और परिग्रह मात्र का त्याग करने का आग्रह करते हुए भी कमण्डलु प्रमुख शौचोपधि का स्वीकार करना आदि ऐसी बातें हैं जो दिगम्बर सम्प्रदाय के पौराणिक कालीन होने का साक्ष्य देती हैं।

श्वेताम्बर जैन आगमों में जब कि पुस्तकों को उपधि में नहीं गिना और उनके रखने में प्रायश्चित्त-विधान किया गया है, तब नाम मात्र भी परिग्रह न रखने के हिमायती दिगम्बर ग्रन्थकार साधु को पुस्तकोपधि रखने की आज्ञा देते हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि साधुओं में पुस्तक रखने का प्रचार होने के बाद यह सम्प्रदाय व्यवस्थित हुआ है।

दिगम्बर सम्प्रदाय की पट्टावलियाँ

दिगम्बर जैन सम्प्रदाय की पट्टावलियों का आधार कुछ प्राचीन शिलालेख और कतिपय इनके ग्रन्थ, जिनके नाम "तिलोयपण्णत्ति", "वेदना-खण्ड की धवला टीका", "जयधवला टीका", "आदिपुराण" और "श्रुतावतार कथा" हैं, इन सभी में दी हुई आचार्यपरम्पराएँ केवली, चतुर्दशपूर्वधर, दशपूर्वधर, एकादशांगधर, आचारांगधर और उसका एक अंश जानने वाले आचार्यों तक की हैं।

ले० नं० १ (अनुमित ७ शती)	ले० नं० १०५ श० सं० १३२०	हरिवंश पुराण शक सं० ७०५	
१ गौतम	१ इन्द्रभूति	१ गौतम	केवली ३
२ लोहाचार्य	२ सुधर्मा	२ सुधर्मा	
३ जम्बू	३ जम्बू	३ जम्बू	
१ विष्णुदेव	१ विष्णु	१ विष्णु	श्रुतकेवली ५
२ अपराजित	२ अपराजित	२ नन्दिमित्र	
३ गोवर्धन	३ नन्दिमित्र	३ अपराजित	
४ भद्रबाहु	४ गोवर्धन	४ गोवर्धन	
	५ भद्रबाहु	५ भद्रबाहु	

१ विशाख	१ क्षत्रिय	१ विशाख	
२ प्रोष्ठिल	२ प्रोष्ठिल	२ प्रोष्ठिल	
३ कृत्तिकार्य(क्षत्रिकार्य)	३ गंगदेव	३ क्षत्रिय	
४ जय	४ जय	४ जय	
५ नाम (नाग)	५ सुधर्म	५ नाग	
६ सिद्धार्थ	६ विजय	६ सिद्धार्थ	११ दशपूर्वी
७ धृतिषेण	७ विशाख	७ धृतिषेण	
८ बुद्धिलादि	८ बुद्धिल	८ विजय	
	९ धृतिषेण	९ बुद्धिल	
	१० नागसेन	१० गंगदेव	
	११ सिद्धार्थ	११ धर्मसेन	

उक्त लेखों में इन आचार्यों का समय नहीं बतलाया तथापि इन्द्रनन्दी कृत "श्रुतावतार" से जाना जाता है कि महावीर स्वामी के बाद ३ केवली ६२ वर्षों में, ५ श्रुतकेवली १०० वर्षों में, ११ दशपूर्वी १८३ वर्षों में, पांच एकादशांगधर २२० वर्षों में और चार आचारांगधर ११८ वर्षों में हुए हैं, इस प्रकार महावीर स्वामी के निर्वाण के बाद लोहाचार्य तक ६८३ वर्ष व्यतीत हुए थे।

ले. नं. १०५, श. १३२०	हरिवंश पु०	
१ नक्षत्र	१ नक्षत्र	
२ पाण्डु	२ यशःपाल	
३ जयपाल	३ पाण्डु	एकादशांगधर ५
४ कंसाचार्य	४ ध्रुवसेन	
५ द्रुमसेन (धृतिसेन)	५ कंसाचार्य	

१ लोह	१ सुभद्र	आचारांगधर ४
२ सुभद्र	२ यशोभद्र	
३ जयभद्र	३ यशोबाहु	
४ यशोबाहु	४ लोहाचार्य	

बहुत से लेखों में उपर्युक्त आचार्यों की परम्परा के बाद कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा लिखी गई है। किसी भी लेख में उपर्युक्त श्रुतज्ञानियों और कुन्दकुन्दाचार्य के बीच की पूरी गुरु-परम्परा नहीं पायी जाती, केवल उपर्युक्त लेख नं० १०५ में ही इनके बीच के आचार्यों के कुछ नाम पाए जाते हैं, वे इस प्रकार हैं :

१ कुम्भ
२ विनीत (अविनीत ?)
३ हलधर
४ वसुदेव
५ अचल
६ मेरुधीर
७ सर्वज्ञ
८ सर्वगुप्त
९ महीधर
१० धनपाल
११ महावीर
१२ वीर
१३ कोण्डकुन्द

नन्दी संघ की पट्टावली में कुन्दकुन्दाचार्य की गुरु-परम्परा इस प्रकार पायी जाती है :

भद्रबाहु
गुप्तिगुप्त

माघनन्दी

जिनचन्द्र

कुन्दकुन्द

इन्द्रनन्दी-कृत श्रुतावतार के अनुसार कुन्दकुन्द उन आचार्यों में हुए हैं जिन्होंने अंगज्ञान के लोप होने के पश्चात् आगम को पुस्तकारूढ़ किया था।

कुन्दकुन्द प्राचीन और नवीन परम्परा के बीच की एक कड़ी हैं, इनसे पहले जो भद्रबाहु आदि श्रुतज्ञानी हो गए हैं, उनके नाम मात्र के सिवाय उनके कोई ग्रन्थ आदि अब तक प्राप्त नहीं हुए हैं। कुन्दकुन्दाचार्य से कुछ प्रथम जिन पुष्पदन्त भूतबलि आदि आचार्यों ने आगम को पुस्तकारूढ़ किया था, उनके भी ग्रन्थों का अब तक कुछ पता नहीं चलता। परन्तु कुन्दकुन्दाचार्य के अनेक ग्रन्थ हमें प्राप्त हैं। आगे के प्रायः सभी आचार्यों ने इनका स्मरण किया है और अपने को कुन्दकुन्दान्वयी कह कर प्रसिद्ध किया है।

अनुमित शक सं० १०२२ के शिलालेख नं० ५५ में कुन्दकुन्द को मूल संघ का आदि आचार्य लिखा है।

लेख नं० १०५ की कुन्दकुन्दाचार्य की गुरु-परम्परा ऊपर दी जा चुकी है। आगे हम इसी लेख की कुन्दकुन्द के शिष्यों की परम्परा देते हैं, वह इस प्रकार है :

कुन्दकुन्द के शिष्यों की परम्परा

कुन्दकुन्द
उमास्वाति (गृद्ध्रपिच्छ)
बलाकपिच्छ
समन्तभद्र
शिवकोटि
देवनन्दी
भट्टाकलंक
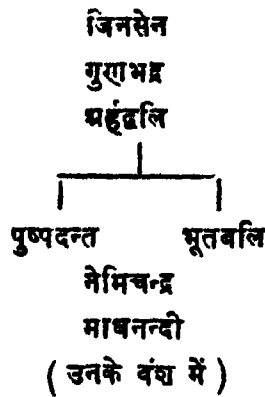
सिद्धर बसति के शक सं० १३२० के लेख नं० १०५ में भट्टाकलंक जिनसेन और गुणभद्रसूरि पर्यन्त पट्टावलि देने के बाद लेखक संघ-विभाजन की हकीकत लिखते हैं :

"यः पुष्पदन्तेन च भूतबल्या-ख्येनापि शिष्यद्वितयेन रेजे ।
फलप्रदानाय जगज्जनानां, प्राप्तोंऽकुराभ्यामिव कल्पभूजः ॥२५॥
अर्हद्बलिस्संघ चतुर्विधं स, श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसंघं ।
कालस्वभावादिह जायमान-द्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे ॥२६॥
सिताम्बरादौ विपरीतरूपेऽखिले विसंघे वितनोतु भेदं ।
तत्सेन-नन्दि-त्रिदिवेश-सिंह-संघेषु यस्तं मनुते कुदृक्सः ॥२७॥

अर्थात्—'लक्षण, व्यंजन, स्वर, आन्तरिक्ष, शारीरिक, छिन्नांग, भौम, शाकुन, अंगविद्या, आदि निमित्तों से त्रिकालवर्ती सुख, दुःख, जय, पराजय आदि समस्त बातों को जानने वाले आचार्य अर्हद्बलि शिष्यद्वय से नवांकुर कल्पवृक्ष तुल्य पृथ्वी पर शोभित थे। ऐसे आचार्य अर्हद्बलि ने कालस्वभाव से होने वाले रागद्वेष को कम करने के लिए श्री कोण्डकुन्दान्वय मूल संघ को सेन, नन्दी, देव और सिंह इन चार विभागों में विभक्त किया, इन चारों में जो भेद मानता है वह कुदृष्टि है।

उपर्युक्त लेख में अर्हद्बलि द्वारा मूल संघ को चार विभागों में बांटने की बात कही गई है। यह बात कहां तक सत्य हो सकती है, इसका

निर्णय मैं विद्वान् पाठकों पर छोड़ता हूं। क्योंकि एक तरफ तो दिगम्बर ग्रन्थकार भूतबलि और पुष्पदन्त को आचार्य "धरसेन" के पास पढ़ने की बात कहते हैं और दूसरी तरफ पट्टावली और प्रशस्तिलेखक उनके गुरु अर्हद्बलि द्वारा चार संघों का विभाजन करवाते हैं। इन बातों में काल का समन्वय किसी ने नहीं किया। क्या आचार्य "धरसेन" और "अर्हद्बलि" समकालीन थे? यदि यह बात नहीं है तो "अर्हद्बलि" के समय में जिनका विभाजन किया गया है उन "सेन", "नन्दी", "देव" और "सिंह" नामक चार संघों का उत्पत्ति-समय क्या है?, यह कोई बता सकता है? यदि सचमुच ही अर्हद्बलि के समय में चार संघ विभक्त हुए हैं, तो अर्हद्बलि का समय विक्रमीय अष्टम शती के पहले का नहीं हो सकता और इस स्थिति में "भूतबलि" और "पुष्पदन्त" ने "धरसेन" से कर्मसिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त किया, इस कथन का मूल्य दन्तकथा से अधिक नहीं हो सकता।

एक विचारणीय प्रश्न यह भी है कि जिन धरसेन, अर्हद्बलि, पुष्पदन्त, भूतबलि, गुणधर, आर्य मंक्षु, नागहस्ती आदि आचार्यों का कर्म-सिद्धान्त "कषायप्रभृत" "षट्खण्डागम" आदि के साथ सम्बन्ध जोड़ा जाता है, इनका प्राचीन शिलालेखों में कहीं भी नाम-निर्देश तक नहीं मिलता, इसका कारण क्या हो सकता है? क्योंकि इतने बड़े भारी लेख-संग्रहों में अर्हद्बलि, भूतबलि और पुष्पदन्त का नाम निर्देश केवल एक शिलालेख में उपलब्ध होता है और जिस लेख में नाम मिलते हैं वह लेख भी शक सं० १३२० में लिखा हुआ है, अर्थात् विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आता है। इस परिस्थिति को देखते हुए पूर्वोक्त आचार्यों के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त लिखने की बातें प्रचलित हुई हैं उनका आधार मात्र भट्टारक इन्द्रनन्दी की "श्रुतावतार-कथा" है। इसके पहले के किसी भी श्वेताम्बर अथवा दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थ में उक्त बातों का उल्लेख नहीं मिलता और इन्द्रनन्दी ने "श्रुतावतार" के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उसका मूल्य दन्तकथाओं से अधिक नहीं आंकना चाहिए।

जिस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में "मथुरा" और "वलभी" में आगमों के लिखने सम्बन्धी प्रसंग बने थे, उसी प्रकार शायद उन्हीं प्रसंगों

को ध्यान में लेकर इन्द्रनन्दी ने पुण्ड्रवर्धन नगर में दिगम्बर साधुओं द्वारा पुस्तक लिखने सम्बन्धी प्रचलित दन्तकथा को "श्रुतावतार" कथा के नाम से प्रसिद्ध किया है। इतना होने पर भी इस कथा को हम बिल्कुल निराधार नहीं मान सकते। इसमें आंशिक सत्यता अवश्य होनी चाहिए। चीनी परिव्राजक हुवेनत्सांग भारत भ्रमण करता हुआ, जब "पुण्ड्रवर्धन" में गया था, तो उसने वहां पर "नग्न साधु" सबसे अधिक देखे थे। इससे अनुमान होता है कि उस समय अथवा तो उसके कुछ पहले वहां दिगम्बर जैन संघ का सम्मेलन हुआ होगा, कतिपय दिगम्बर जैन विद्वान् उक्त सम्मेलन को कुन्दकुन्दाचार्य के पहले हुआ बताते हैं। कुछ भी हो दिगम्बरीय पट्टावलियों में कुन्दकुन्द से लोहाचार्य पर्यन्त के सात आचार्यों का पट्टकाल निम्नलिखित क्रम से लिखा मिलता है :

(१) कुन्दकुन्दाचार्य	५१५–५१९
(२) अहिबल्याचार्य	५२०–५६५
(३) माघनन्द्याचार्य	५६६–५९३
(४) धरसेनाचार्य	५९४–६१४
(५) पुष्पदन्ताचार्य	६१५–६३३
(६) भूतबल्याचार्य	६३४–६६३
(७) लोहाचार्य	६६४–६८७

पट्टावलीकार उक्त वर्षों को वीरनिर्वाण सम्बन्धी समझते हैं। परन्तु वास्तव में ये वर्ष विक्रमीय होने चाहिएं, क्योंकि दिगम्बर परम्परा में विक्रम की १२वीं शती तक बहुधा शक और विक्रम संवत् लिखने का ही प्रचार था। प्राचीन दिगम्बराचार्यों ने कहीं भी प्राची घटनाओं का उल्लेख "वीर संवत्" के साथ किया हो यह हमारे देखने में नहीं आया, तो फिर यह कैसे मान लिया जाय कि उक्त आचार्यों का समय लिखने में उन्होंने "वीर संवत्" का उपयोग किया होगा ? जान पड़ता है कि सामान्य रूप में लिखे हुए विक्रम वर्षों को पिछले पट्टावलीलेखकों ने निर्वाणाब्द मान कर धोखा खाया है और इस भ्रमपूर्ण मान्यता को यथार्थ मान कर पिछले इतिहासविचारक भी वास्तविक इतिहास को बिगाड़ बैठे हैं।

"श्रुतावतार" के लेखानुसार आरातीय मुनियों के बाद "अर्हद्बलि" आचार्य हुए थे। आरातीय मुनि वीर निर्वाण से ६८३ (विक्रम संवत् २१३) तक विद्यमान थे, इसके बाद क्रमशः अर्हद्बलि, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि नामक आचार्य हुए। पुष्पदन्त और भूतबलि ने षट्-खण्डागम सूत्र की रचना की। उधर गुणधर मुनि ने नागहस्ती और आर्य मंक्षु को "कषाप्राभृत" का संक्षेप पढ़ाया। उनसे "यतिवृषभ" और "यतिवृषभ" से "उच्चारणाचार्य" ने "कषायप्राभृत" सीखा और गुरु-परम्परा से दोनों प्रकार का सिद्धान्त पद्मनन्दि (कुन्दकुन्द) तक पहुंचा।

श्रुतावतार कथा के अनुसार आरातीय मुनि वीर निर्वाण सं० ६८३ तक विद्यमान थे। इनके बाद अर्हद्बलि, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य हुए हों तो इन पांच आचार्यों में कम से कम १२५ वर्ष और बढ़ जाते हैं और वीर निर्वाण सं० ८०८ तक समय पहुँचता है। दोनों प्रकार के सिद्धान्त कुन्दकुन्दाचार्य तक पहुँचाने वाली गुरु-परम्परा में भी पांच-छः आचार्य तो रहे ही होंगे और इस प्रकार निर्वाण के बाद की समय-शृङ्खला लगभग दशवीं शती तक पहुँचती है और इस प्रकार भी आचार्य कुन्दकुन्द का समय विक्रम की छठी शती के उत्तरार्ध तक पहुंच जाता है। इसके बाद लगभग १०० वर्षों के उपरान्त दिगम्बर जैन परम्परा के ग्रन्थ पुस्तकों पर लिखे गये हों तो यह घटना विक्रम की सातवीं शती के मध्यभाग में पहुँचेगी। यहां तक हमने जो ऊहापोह किया है, वह दिगम्बरीय पट्टावलियों और दन्तकथाओं के आधार पर, यह ऊहापोह अन्तिम सिद्धान्त ही है यह दावा तो नहीं कर सकते, क्योंकि दिगम्बर पट्टावलियां तथा दन्तकथायें इतनी अव्यवस्थित और छिन्नमूलक हैं कि उनके आधार पर कोई भी सिद्धान्त निश्चित हो ही नहीं सकता। जितने भी दिगम्बरीय सम्प्रदाय के शिलालेख तथा ग्रन्थप्रशस्तियां प्रकाशित हुई हैं, वे सभी विक्रम की नवमी शती और उसके बाद की हैं। इन शिलालेखों, ग्रन्थ-प्रशस्तियों के आधार से दिगम्बरों की अविच्छिन्न परम्परा-सूचक पट्टावलियों का तैयार होना असम्भव है। निर्वाण से ६८३ वर्षों के अन्दर होने वाले केवलियों, श्रुतकेवलियों, दशपूर्वधरों, एकादशांगधरों और एकांगधरों की

दी गई याद्यियां कहां तक ठीक हैं, यह कहना विचारणीय है। क्योंकि एक तो इनके सम्प्रदाय में मौलिक साहित्य नहीं, दूसरा ऐसी कोई पट्टावली नहीं कि जिसका विश्वास किया जाय।

उपर्युक्त केवलियों, श्रुतकेवलियों आदि के व्यक्तिगत सत्ता-समय के पृथक्-पृथक् वर्ष न देकर तीन, पांच, ग्यारह आदि के वर्षों का समुचित पिण्ड बताना यह सूचित करता है कि ये सभी नाम इस परम्परा ने सैकड़ों वर्षों के बाद लिखे हैं। "मूलगच्छ" की जो "प्राकृत पट्टावली" बताई जाती है, वह भी वास्तव में भट्टारक-कालीन कृत्रिम पट्टावली है, मौलिक नहीं। यही कारण है कि कुन्दकुन्द के पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती श्रमणों की परम्परा क्रमिक शृङ्खला की कड़ियों की तरह नहीं मिलती। हम पहले ही दो शिलालेखों और हरिवंशपुराण के आधार से कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का विवरण दे आये हैं जो व्यवस्थित नहीं है। उक्त लेखों और पुराण के अतिरिक्त "तिलोयपण्णत्ति", षट्खण्डागम के वेदना खण्ड की "धवला टीका" 'कषायपाहुड' की "जयधवला टीका" जिनसेन के "आदि-पुराण" और इन्द्रनन्दी के "श्रुतावतार" में भी दिगम्बर जैन सम्प्रदाय की पट्टावलियां दी गई हैं, परन्तु वे सभी अन्तिम आचारांगधारी "लोहाचार्य" तक जाकर समाप्त हो जाती हैं। "तिलोय-पण्णत्ति" विक्रम की १३ वीं शती का एक संगृहीत संदर्भ है, यह बात पहले हो कह आये हैं। "श्रुताव-तार कथा" भी विक्रम की १३वीं शती से पहले की प्रतीत नहीं होती, क्योंकि इसमें "पुस्तक के लिए साधु को थोड़ा द्रव्य संग्रह करने की छूट दी है"। साधुओं की यह स्थिति १३ वीं शती के पहले नहीं थी। अब रही धवलादि तीन ग्रन्थों की बात, इसमें धवला की समाप्ति भट्टारक वीरसेन ने शक सं० ७०२ में की थी यह माना जा रहा है। "जयधवला" भी उनके शिष्य जिनसेन ने पूर्ण की है और आदिपुराण जिनसेन का ही है। इस परिस्थिति में उक्त छः ग्रन्थों की प्रशस्तियों में सब से प्राचीन "धवला" की प्रशस्ति है, शेष ग्रन्थकारों ने प्रायः इसी प्रशस्ति का अनु-सरण किया है। इस दशा में केवली जम्बू के उपरान्त के भद्रबाहु को छोड़ कर शेष श्रुतकेवलियों, एकादशपूर्वधरों, पांच एकादशांगधरों और

चार एकांगधरों के नाम भट्टारक श्री वीरसेन स्वामी ने ईजाद किये हों तो आश्चर्य नहीं है, क्योंकि ऐसे कामों में आप सिद्धहस्त थे। चूर्णिकार को आप ही ने "यतिवृषभ" के नाम से प्रसिद्ध किया है। दिगम्बर परम्परा में व्यवस्थित और अविच्छिन्न परम्परा-सूचक पट्टावली नहीं है। अतः अब दो चार अपूर्ण पट्टावलियां देकर इस अधिकार को पूरा कर देंगे।

नन्दिसंघ, द्रमिलगण, अरुङ्गलान्वय की पट्टावलियाँ

महावीर स्वामी
गौतम गणधर
समन्तभद्र स्वामी
एकसन्धि सुमति भट्टारक
अकलंकदेव वादीभसिंह
वक्रग्रीवाचार्य
श्रीनन्द्याचार्य
सिंहनन्द्याचार्य
श्रीपाल भट्टारक
कनकसेन वादिराज देव
श्री विजयशान्तिदेव
पुष्पसेन सिद्धान्तदेव
वादिराज
शान्तिषेण देव
कुमारसेन सिद्धान्तिक
मल्लिषेण मलधारी
श्रीपाल त्रैविद्यदेव (शक सं० १०४७ में विष्णुवर्द्धन नरेश ने शल्य ग्राम का दान दिया।)

देशीयगच्छ के आचार्यों की परम्परा

त्रैकाल्य योगीश
देवेन्द्रमुनि (सिद्धान्तभट्टार)

चन्द्रायणद भट्टार
गुणचन्द्र
अभयणन्दि
शीलभद्र भटार
जयणन्दि
गुणनन्दि
चन्द्रणन्दि

शक संवत् १०५० के लेख नं० ५४ में निर्दिष्ट आचार्यपरम्परा

वर्द्धमानजिन
गौतम गणधर
भद्रबाहु
चन्द्रगुप्त
कुन्दकुन्द
समन्तभद्र – वाद में धूर्जटि की जिह्वा को भी स्थगित करने वाले
सिंहनन्दि
वक्रग्रीव – छः मास तक "अथ" शब्द का अर्थ करने वाले
वज्रनन्दि (नव स्तोत्र के कर्त्ता)
पात्रकेसरिगुरु (त्रिलक्षण सिद्धान्त के खण्डनकर्त्ता)
सुमतिदेव (सुमति-सप्तक के कर्त्ता)
कुमारसेन मुनि
चिन्तामणि (चिन्तामणि कर्त्ता)
श्री वर्द्धदेव (चूडामणि काव्य के कर्त्ता दण्डी द्वारा स्तुत्य)
महेश्वर (ब्रह्मराक्षसों द्वारा पूजित)
अकलंक (बौद्धों के विजेता साहसतुंग नरेश के सन्मुख हिमशीतल नरेश की सभा में)
पुष्पसेन (अकलंक के सधर्मा)
विमलचन्द्र मुनि – इन्होंने शैव पाशुपतादि वादियों के लिए "शत्रुभयंकर" नाम से भवन द्वारपर नोटिस लगा दिया था।

इन्द्रनन्दि

परवादिमल्ल (कृष्णराज के समक्ष)

आर्य्यदेव

चन्द्रकीर्ति (श्रुतविन्दु के कर्त्ता)

कर्मप्रकृति – भट्टारक

श्रीपालदेव
मतिसागर } वादिराज-कृत पार्श्वनाथ चरित (शक ९४७ से विदित होता है कि वादिराज के गुरु मतिसागर थे और मतिसागर के गुरु श्रीपाल।

हेमसेन विद्याधनञ्जय महामुनि

दयापाल मुनि } (रूपसिद्धि के कर्त्ता मतिसागर के शिष्य) वादिराज (दयापाल के सब्रह्मचारी चालुक्य चक्रेश्वर जयसिंह के कटक में कीर्ति प्राप्त की।)

श्रीविजय (वादिराज द्वारा स्तुत्य हेमसेन गुरु के समान)

कमलभद्रमुनि

दयापाल पण्डित महासूरि

शान्तिदेव } (विनयादित्य होयसल नरेश द्वारा पूज्य) चतुर्म्मुखदेव (पाण्ड्य नरेश द्वारा स्वामी की उपाधि और आहवमल्ल नरेश द्वारा चतुर्मुखदेव की उपाधि प्राप्त थी)

गुणसेन (मुल्लूर के)

अजितसेन - वादीभसिंह

शान्तिनाथ कविताकान्त — पद्मनाभ वादिकोलाहल

कुमारसेन

मल्लिषेण मलधारि (अजितसेन पण्डित देव के शिष्य, स्वर्गवास शक सं० १०५०)

मूल संघ के देशीय गण की पट्टावली :

कुन्दकुन्दाचार्य (पद्मनन्दि)
उमास्वाति (गृध्रपिच्छ)
बलाकपिच्छ
गुणनन्दि
देवेन्द्र सैद्धान्तिक
चतुर्मुखदेव (वृषभनन्दी)
माघनन्दि
मेघचन्द्र

मूल संघ के नन्दिगण की पट्टावली :

कुन्दकुन्दाचार्य
उमास्वाति (गृध्रपिच्छ)
बलाकपिच्छ
गुणनन्दि
देवेन्द्र सैद्धान्तिक
कलधौतनन्दि मुनि
महेन्द्रकीर्ति
वीरनन्दि
गोल्लाचार्य
त्रैकाल्य योगी
अभयनन्दि
सकलचन्द्र
मेघचन्द्र
वीरनन्दि
अनन्तकीर्ति
मल० रामचन्द्र
शुभचन्द्र
पद्मनन्दि

उपसंहार :

दिगम्बर परम्परा की पट्टावलियों से हमको सन्तोष नहीं हुआ। एक भी सम्पूर्ण पट्टावली मिल गई होती तो हम इस प्रकरण को सफल हुआ मानते, अस्तु।

दिगम्बर सम्प्रदाय के सम्बन्ध में लिखते हुए, हमको अनेक स्थानों पर खण्डनात्मक शैली का आश्रय लेना पड़ा है, इसका कारण दिगम्बर विद्वानों के श्वेताम्बर-परम्परा-विरुद्ध किये गये आक्षेपों के प्रत्याघात मात्र हैं। दिगम्बर समाज में आज सैकड़ों पण्डित हैं और वे साहित्य सेवा में लगे हुए हैं, परन्तु इस पण्डितसमाज में शायद ही दो-चार विद्वान् ऐसे होंगे, जो सत्य बात को सत्य और असत्य को असत्य मानते हों। कुछ पण्डित तो ऐसे हैं, जो श्वेताम्बर जैन परम्परा के मन्तव्यों का खण्डन करके आत्म-सन्तोष मानते हैं। पण्डित नाथूरामजी प्रेमी, जुगलकिशोरजी मुख्तार, डॉ० हीरालालजी जैन और ए० एन० उपाध्याय आदि कतिपय स्थितप्रज्ञ विद्वान् भी हैं जो सत्य वस्तु को स्वीकार कर लेते हैं, शेष पण्डितमण्डली के विद्वानों में ऐसी उदारता दृष्टिगोचर नहीं होती। इनमें से कतिपय तो ऐसे भी ज्ञात हुए हैं, जो अपनी अशक्ति को न जानते हुए, धुरन्धर श्वेताम्बर जैनाचार्यों पर आक्षेप करते भी विचार नहीं करते। कुछ समय पहले की बात है, एक पण्डितजी का "ज्ञानार्णव" ग्रन्थ पर लिखा हुआ वक्तव्य पढ़ा और बड़ा आश्चर्य हुआ। आपने लिखा था कि आचार्य हेमचन्द्र ने अपने "योगशास्त्र" में "ज्ञानार्णव" के कई श्लोक ज्यों के त्यों उद्धृत किये हैं", उस समय हमारे पास मुद्रित "ज्ञानार्णव" नहीं था। ग्रन्थसंग्रह में से हस्तलिखित "ज्ञानार्णव" को मंगवाकर पढ़ा तो हमारे आश्चर्य का पार नहीं रहा। पण्डितजी ने जो कुछ लिखा था वह असत्य ही नहीं बिल्कुल विपरीत था।

"ज्ञानार्णव" के कर्त्ता भट्टारक शुभचन्द्राचार्य ने "हेमचन्द्रसूरि के योगशास्त्र" के कई श्लोक अपने ग्रन्थ में ज्यों के त्यों ले लिए देखे गए।

आचार्य हेमचन्द्र का समय विक्रम की बारहवीं और तेरहवीं शती का मध्यभाग था, तब भट्टारक शुभचन्द्र सोलहवीं-सत्रहवीं शती के मध्यवर्ती ग्रन्थकार थे। कृति का मिलान करने से ही ज्ञात होता था कि यह श्लोक भट्टारकजी के हैं और अमुक श्लोक पूर्वाचार्य कृत। भट्टारकजी की कृति बिल्कुल साधारण कोटि की है, तब हेमचन्द्र आदि विद्वानों की कृति ओजस्वी होने से छिपी नहीं रहती। पण्डितजी की उक्त विचारणा से मुझे बड़ी ग्लानि हुई, क्योंकि ऐसे लेखकों से ही सम्प्रदायों के बीच कटुता बढ़ती और बनी रहती है।

मैं आशा करता हूँ कि मेरे इस लेख के अन्तर्गत किसी कथन से किसी को दुःख नहीं लाना चाहिए, क्योंकि मेरा अभिप्राय अपने सम्प्रदाय की सत्यता प्रतिपादन करने का है, न कि दिगम्बर सम्प्रदाय के खण्डन का।

द्वितीय परिच्छेद

[तपागच्छीय पट्टावलियाँ]

श्री तपागच्छ-पट्टावली-सूत्र

कर्ता : उपाध्याय धर्मसागर गणी

"सिरिमंतो सुहहेऊ, गुरु-परिवाडीइ आगओ संतो।
पज्जोसवणाकप्पो, वाइज्जइ तेण तं वुच्छं ॥१॥"

'पट्टावली सूत्रकार उपाध्याय श्री धर्मसागरजी महाराज पट्टावली सूत्र लिखने के पहले अपनी इस प्रवृत्ति का कारण बताते हुए कहते हैं, श्रीमान् "पर्युषणाकल्प" जो सुख का हेतु है और गुरु परम्परा से हम तक आया है, इसलिए मैं गुरु-परिपाटी का निरूपण करूंगा।१।'

"गुरुपरिवाडीमूलं, तित्थयरो वद्धमाणनामेणं ।
तप्पट्टोदय-पढमो, सुहम्मनामेण १ गणसामी ॥२॥
बीओ जंबू २ तइओ, पभवो ३ सिज्जंभवो चउत्थो अ ।
पंचमओ जसभद्दो ४, छट्टो संभूय-भद्दगुरू ६ ॥३॥"

'गुरुपरिपाटी का मूल तीर्थङ्कर महावीर हैं, जिनके पट्ट पर सुधर्म-नामा प्रथम गणधर हुए। सुधर्मा के पट्ट पर जंबूस्वामी, जंबूस्वामी के पट्ट पर तीसरे पट्टधर प्रभव, प्रभव के पट्टधर शय्यम्भव, शय्यम्भव के उत्तराधिकारी पांचवें यशोभद्र और यशोभद्र के पट्टधारी छठवें संभूतविजय और भद्रबाहु हुए। २। ३।'

गणधर सुधर्मा ने पचास वर्ष की अवस्था में महावीर के पास प्रव्रज्या ली थी। ३० वर्ष तक श्रीमहावीर की सेवा में रहे, वीरनिर्वाण के बाद १२ वर्ष तक छद्मस्थपर्याय में विचरे और अन्त में आठ वर्ष तक

केवलीपर्याय भोगा। इस प्रकार १०० वर्ष का आयुष्य भोगकर जिन-निर्वाण से २० वर्ष के अन्त में सुधर्मा गणधर सिद्धि को प्राप्त हुए।

सुधर्मा के पट्टधर श्री जम्बूस्वामी, जो राजगृह नगर के श्रेष्ठिपुत्र थे, गणधर सुधर्मा के पास १६ वर्ष की वय में दीक्षा लेकर २० वर्ष तक अपने गुरु सुधर्मा की सेवा में रहे और सुधर्मा के बाद ४४ वर्ष तक युगप्रधान रहकर ८० वर्ष की अवस्था में वीरनिर्वाण से ६४ वर्ष व्यतीत होने पर निर्वाण-प्राप्त हुए थे।

जम्बू के पट्टधर आचार्य श्री प्रभव ३० वर्ष की अवस्था में दीक्षा लेकर ४४ वर्ष तक व्रतपर्याय में रहे और जम्बू का निर्वाण होने के बाद ११ वर्ष युगप्रधान रह कर ८५ वर्ष की उम्र में वीरनिर्वाण से ७५ वर्ष के बाद स्वर्गवासी हुए।

आचार्य प्रभव के उत्तराधिकारी श्री शय्यम्भवसूरि २८ वर्ष की उम्र में दीक्षा लेकर ११ वर्ष सामान्य व्रत-पर्याय में और २३ वर्ष तक युगप्रधान पर्याय में रहकर वीरनिर्वाण के ९८ वर्ष के अन्त में स्वर्गवासी हुए थे।

आचार्य श्री शय्यम्भव स्वामी के पट्टधर श्री यशोभद्रसूरि हुए – २२ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली थी और १४ वर्ष तक सामान्य व्रती की अवस्था में रहकर ५० वर्ष तक युगप्रधान रहे और ८६ वर्ष की अवस्था में जिननिर्वाण के बाद १४८ वर्ष व्यतीत होने पर स्वर्गवासी हुए।

आचार्य यशोभद्रसूरिजी के पट्टधर दो समर्थ आचार्य हुए। पहले श्री सम्भूतविजयजी और दूसरे श्री भद्रबाहु स्वामी। संभूतविजयजी २२ वर्ष की अवस्था में दीक्षित हुए थे और ८ वर्ष तक सामान्यव्रती-पर्याय भोगकर युगप्रधान बने और ६० वर्ष तक युगप्रधान रहकर ९० वर्ष की अवस्था में जिननिर्वाण से २०८ वर्ष के अन्त में स्वर्गवासी[1] हुए।

---

(१) आचार्य संभूतविजयजी के युगप्रधान पर्याय के वर्ष सर्व पट्टावलियों में ८ लिखे मिलते हैं, परन्तु हमने यहां ६० लिखे हैं, क्योंकि पुस्तक लेखक के प्रमाद से "सट्ठि" के स्थान पर "अट्ठ" बन जाने से ६० को आठ (८) मान लिया गया, यह भूल

आचार्य भद्रबाहु ने ४५ वर्ष की अवस्था में दीक्षा लेकर, १७ वर्ष तक सामान्य व्रतीपर्याय में रहे और १४ वर्ष तक युगप्रधान पद भोगा। ७६ वर्ष की अवस्था में जिननिर्वाण से २२२ वर्ष में आपश्री ने स्वर्ग प्राप्त किया।

"सिरिथूलभद्दसत्तम७, अट्ठमगा महगिरी सुहत्थी ८ अ।
सुट्ठिय सुप्पडिबुद्धा, कोडिय-काकंदगा नवमा ९ ॥८॥"

'आचार्य संभूतविजय और भद्रबाहु के पट्ट पर सातवें पट्टधर स्थूल-भद्रजी हुए और स्थूलभद्रजी के पट्ट पर आर्यमहागिरि तथा आर्य सुहस्ती नामक दो आचार्य हुए और आर्य सुहस्ती के पट्ट पर कोटिक काकन्दक नाम से प्रसिद्ध सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध नामक दो आचार्य हुए :'

आचार्य स्थूलभद्र ३० वर्ष तक गृहस्थाश्रम में रहकर आर्य संभूत-विजयजी के हाथ से प्रव्रजित हुए थे और २४ वर्ष तक व्रत-पर्याय में रहकर भद्रबाहु के बाद युगप्रधान बने और ४५ वर्ष तक युगप्रधान पद भोगा, और जिननिर्वाण से २६७ वर्ष के अन्त में ९९ वर्ष की आयु में स्वर्गवासी हुए।

श्री स्थूलभद्रजी के पट्टधर आर्य महागिरि और सुहस्ती दो गुरु-भाई थे। इनमें आर्यमहागिरिजी ६० वर्ष की उम्र में प्रव्रज्या लेकर ४० वर्ष तक सामान्य श्रमण रहे और ३० वर्ष तक युगप्रधान पद भोगकर १०० वर्ष की अवस्था में जिननिर्वाण से २९७ के अन्त में स्वर्गवासी हुए।

स्थूलभद्र के द्वितीय पट्टधर आर्य सुहस्तीजी ३० वर्ष की वय में दीक्षित होकर २४ वर्ष तक सामान्य व्रती रहे। अनन्तर ४६ वर्ष तक युगप्रधान पद भोगा, और १०० वर्ष का आयुष्य पूरा करके आर्य सुहस्ती जिननिर्वाण से ३४३ वर्ष में स्वर्गवासी हुए।

आधुनिक नहीं बल्कि १०००-८०० वर्षों की पुरानी है और इसी भूल के परिणाम-स्वरूप हमारी पट्टावलियों में अनेक विषयों में विसंवाद उपस्थित होते थे, परन्तु इस परिमार्जन के बाद सभी विसंगतियां मिट जाती हैं, इतना ही नहीं, परन्तु "तित्थोगाली पइन्नय" में लिखी हुई, "राजत्वकाल गणना" के साथ भी परिमार्जित स्थविर काल-गणना ठीक बैठ जाती है।

आर्य सुहस्ती के पट्टधर श्री सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध जो कोटिक और काकन्दक कहलाते थे, करोड़ों बार सूरिमन्त्र का जाप करने से अथवा कोट्यंश सूरिमन्त्रधारक होने से उनका गण कोटिक कहलाता था। कोटिक नाम के सम्बन्ध में आचार्य श्री मुनिसुन्दरसूरिजी महाराज कहते हैं : आर्य वज्रस्वामी तक सूरिमन्त्र करोड़ों वार तक जपा जाता था, इसीलिये सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध के गण का नाम "कोटिक" प्रसिद्ध हुआ था। तब आचार्य श्री गुणरत्नसूरि अपने गुरुपर्व-क्रम के वर्णन में लिखते हैं – "उस समय सूरि-मन्त्र का ध्यान करने वाला श्रमण "चार ज्ञानवान्" बनकर सर्वज्ञदृष्ट द्रव्यों में से एक कोट्यंश लगभग द्रव्य देखता था, इस कारण से लोक में सुस्थित सुप्रतिबुद्ध और उनका "गण" "कोटिक" नाम से प्रसिद्ध हुए।

आचार्य जिनप्रभसूरि ने अपनी "सन्देहविषौषधि" नामक "कल्प-टीका" में कोट्यंश शब्द का प्रयोग किया था और उन्हीं के अनुकरण में पिछले लेखकों ने "कोटोश" "कोट्यंश" आदि शब्द सूरिमन्त्र के साथ जोड़ कर, अपनी-अपनी समझ के अनुसार "कोटिक" शब्द की व्याख्या की है। इस सम्बन्ध में हमारी राय में "कोटिक" शब्द "कोटिवर्षीय" शब्द का संक्षिप्त रूप है। आचार्य सुस्थित कोटिवर्ष नगर के रहने वाले थे, इसीलिये "कोटिक" कहलाते थे और उनसे प्रचलित होने वाला गण भी "कोटिक" नाम से प्रसिद्ध हुआ था। सूरिमन्त्र आदि जाप की कल्पनाएं कल्पना मात्र हैं।

सिरिइंदविन्न सूरी, दसमो १० इक्कारसो अ दिन्नगुरू ११।
बारसमो सीहगिरी १२, तेरसमो वयरसामी गुरू १३ ॥१५॥

'आचार्य सुस्थित सुप्रतिबुद्ध के पट्ट पर दसवें इन्द्रदिन्नसूरि, इन्द्रदिन्न-सूरि के पट्ट पर ग्यारहवें आर्य दिन्नगुरु, आर्य दिन्न के पट्ट पर बारहवें सिंह-गिरि और सिंहगिरि के पट्टधारी तेरहवें आचार्य श्री वज्रस्वामी हुए।

आर्य सुस्थित[1] सुप्रतिबुद्ध, इन्द्रदिन्न, दिन्न और सिंहगिरि के समय के सम्बन्ध में पट्टावलियों में कोई भी उल्लेख नहीं मिलता। आर्य वज्रस्वामी

(१)–अंचल गच्छ की बृहद् पट्टावली में आचार्य सुस्थित सुप्रतिबुद्ध का स्वर्ग-

के समय विषयक प्राचीन गाथाओं के आधार से पट्टावली-लेखकों ने ऊहापोह अवश्य किया है, परन्तु आवश्यक-निर्युक्ति के साथ आर्य वज्र का समय भी ठीक नहीं मिलता। आवश्यक-निर्युक्ति में गोष्ठामाहिलनिह्नव का समय वीरनिर्वाण से ५८४ में बताया है। आर्य रक्षितसूरि दशपुर नगर में चातुर्मास्य ठहरे हुए थे, तब गोष्टामाहिल वर्षाचातुर्मास्य में मथुरा में थे, आर्य रक्षितजी उसी चातुर्मास्य में स्वर्गवासी हुए थे, तब गोष्ठामाहिल ने चातुर्मास्य के बाद मथुरा से दशपुर आकर ५८४ में "अबद्धिक मत" को प्ररूपणा की थी। वीरनिर्वाण का संवत्सर कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा को बैठता है; इसमे पाया गया कि आर्य रक्षितजी का स्वर्गवास ५८३ में हुआ था और आर्य रक्षित, आर्य वज्रस्वामी के अनन्तर १३ वर्ष तक युगप्रधान रहे थे। इस परिस्थिति में निश्चित हो जाता है कि आर्य वज्रस्वामी का स्वर्गवास ५८४ में नहीं किन्तु ५७० में हुआ था और उसके १३ वर्ष के बाद दशपुर में आर्यरक्षित ने जिननिर्वाण से ५८३ में स्वर्गवास प्राप्त किया था। हमारी गणना के अनुसार आर्य वज्रका जन्म वीर-निर्वाण से ४८२ में हुआ। इनकी दीक्षा ४९० में हुई, ५३४ में युगप्रधान पद प्राप्त हुआ। और स्वर्गवास ५७० में हुआ।

इस प्रसंग पर उपाध्यायजी श्री धर्मसागरजी महाराज एक शंका उपस्थित करते हैं और उसका समाधान न होने से प्रश्न बहुश्रुतों के ऊपर छोड़ते हैं। सागरजी की वह शंका निम्नोद्धृत है :

"तत्र श्रीवीरात् त्रयस्त्रिंशदधिकपंचशत ५३३ वर्षे श्री आर्यरक्षितसूरिणा श्री भद्रगुप्ताचार्यो निर्यामितः स्वर्गभागिति पट्टावल्यां दृश्यते। परं

समय वीर निर्वाण से ३२७ में लिखा है। इनमें हमारे परिशोधित आर्य संभूत के ६० वर्ष के अनुसार ५२ वर्ष मिलाने से सुस्थित सुप्रतिबुद्ध का समय ३७९ आता है जो संगत ठहरता है। हमारी एक हस्तलिखित पट्टावली में जो कि १८ वीं शती के अन्तिम भाग में लिखी हुई भाषा पट्टावली है, उसमें स्थविर सुस्थित सुप्रतिबुद्ध का समय वीर निर्वाण से ३७२ वर्ष का लिखा है। इसी पट्टावली में आर्य इन्द्रदिन्न का स्वर्ग समय ३७८, आर्य दिन्न सूरि का समय ४५८ और सिंहगिरि का ५२३ वर्ष लिखा है, इन वर्षों में आर्य संभूतसूरि के परिगणित ५२ वर्षों को मिलाने से क्रमशः ४३०,५१०, और ५७५ निर्वाण के वर्ष आते हैं।

कुष्ममासंघस्तवयंत्रकानुसारेण चतुश्चत्वारिंशदधिक पंचशत ५४४ वर्षातिक्रमे श्रीआर्यरक्षितसूरीणां दीक्षा विज्ञायते तथा चोक्तसंवत्सरे निर्यामणं न संभवतीत्येतद्बहुश्रुतगम्यम् ॥"

सागरजी का प्रश्न वास्तविक है, परन्तु इसका समाधान अशुद्धिपूर्ण यन्त्रकों के आधार से नहीं हो सकता। हमारी गणना के अनुसार आर्य-रक्षितजी का स्वर्गवास जिननिर्वाण से ५८३ में आता है। आर्यरक्षितजी के सर्वायुष्य का अंक ७५ वर्ष और कुछ महीनों का था। उन्होंने २२ वर्ष की उम्र में "तोसलिपुत्राचार्य" के पास दीक्षा ली थी। ५८३ वर्ष में से ७५ वर्ष बाद करने पर आर्य रक्षितजी का जन्म समय ५०८ का आता है, उसमें २२ वर्ष गृहस्थाश्रम के जोड़ने पर ५३० में दीक्षा का समय आता है। दीक्षा लेकर दो-ढ़ाई वर्ष तक अपने गुरु के पास पढ़कर विशेष अध्ययन के लिये वज्रस्वामी के पास जा रहे थे, जबकि उज्जैनो में स्थविर भद्रगुप्त को निर्यामणा करने का अवसर मिला था और भद्रगुप्त के स्वर्गवास के बाद वज्रस्वामी के पास पहुँचे थे। इस प्रकार से उपाध्यायजी की शंका का समाधान ठीक ढंग से हो जाता है।

इसी प्रकार आर्यरक्षितसूरि के स्वर्गवास समय के बारे में भी उपा-ध्यायजी महाराज ने अपने पट्टावली-सूत्र की टीका में एक शंका उपस्थित की है जो निम्न शब्दों में है :

"श्रीमदार्यरक्षितसूरिः सप्तनवत्यधिकपंचशत ५९७ वर्षान्ते स्वर्ग-भागिति पट्टावल्यादौ दृश्यते, परमावश्यकवृत्त्यादौ श्रीमदार्यरक्षितसूरीणां स्वर्गगमनानन्तरं चतुरशीत्यधिकपंचशत ५८४ वर्षान्ते सप्तमनिह्नवोत्पत्ति-रुक्तास्ति तेनैतद् बहुश्रुतगम्यमिति।"

उपाध्याय की यह शंका भी वास्तविक है और इसका समाधान भी यही है कि आर्यवज्र तथा आर्यरक्षितसूरि के स्वर्गवास के समय में जो १४-१४ वर्ष अधिक आए हैं, उनको हटा दिया जाय, क्योंकि इस प्रकार की अशुद्धियां प्रकीर्णक अशुद्ध गाथाओं के ऊपर से पट्टावलियों में घुस गई हैं, जिनका परिमार्जन करना आवश्यक है।

"सिरिवज्जसेणसूरी १४, चउदसमो चंदसूरि पंचदसो १५ ।
सामन्तभद्दसूरी, सोलसमो १६ रण्णवासरइ १६ ॥६॥"

'आचार्य वज्रस्वामी के प्रथम पट्टधर श्री वज्रसेनसूरि, जो पट्टक्रम से चौदहवें होते थे । वज्रसेनसूरि के पट्टधर श्री चन्द्रसूरि पन्द्रहवें पट्टधर आचार्य हुए और चन्द्रसूरि के पट्टधारी सोलहवें आचार्य श्रीसमन्तभद्रसूरि हुए जो वसति के बाहर रहने के कारण वनवासी कहलाते थे ॥६॥

आचार्य वज्रस्वामी के मुख्य शिष्य श्री वज्रसेनसूरि दुर्भिक्ष के समय में वज्रस्वामी के वचन से सोपारक नगर की तरफ गए थे । सोपारक में वज्रसेन ने जिनदत्त श्रेष्ठी के पुत्र नागेन्द्र, चन्द्र, निवृंति, विद्याधर को उनके कुटुम्ब के साथ दीक्षा दी थी और उन चारों के नामों से चार कुलों की उत्पत्ति हुई थी । आचार्य वज्रसेन दीर्घजीवी थे । आर्य वज्रसेन का जन्म जिननिर्वाण से ४७७ में, दीक्षा ४८६ वर्ष में, सामान्य श्रमणपर्याय ११६ वर्ष, अर्थात् ६०२ तक, युगप्रधानपर्याय में वर्ष ३ रहकर ६०५ के उपरान्त स्वर्गवासी हुए ।

आचार्य वज्रसेन के पट्टधर श्री चन्द्रसूरि हुए, इन्हीं चन्द्रसूरि से "चन्द्रकुल"१ की उत्पत्ति हुई, जो आज तक यह कुल इसी नाम से श्रमणों के दीक्षादि प्रसंगों में व्यवहृत होता है । आचार्य चन्द्रसूरि के आयुष्य अथवा सत्ता समय के सम्बन्ध में पट्टावलियों में कुछ भी उल्लेख नहीं है, फिर भी वज्रसेन के शिष्य होने के कारण से इनका सत्ता-समय वज्रसेन के जीवन का ही उत्तरार्द्ध अर्थात् विक्रम की दूसरी शती का मध्यभाग मान लेना वास्तविक होगा ।

पट्टावली सूत्र की प्रस्तुत गाथा में श्री चन्द्रसूरि के पट्टधर का नाम "सामन्तभद्र" लिखा है । यह छन्दोनुरोध से समझना चाहिये, वास्तव में

१ अञ्चलगच्छ की बृहत्पट्टावली में श्री चन्द्रसूरिजी का स्वर्गवास विक्रम संवत् १७० वर्ष के बाद होना लिखा है ।

इन तपस्वी आचार्य का नाम "समन्तभद्र" था। इनके सत्ता-समय के सम्बन्ध में पट्टावलियों में वर्णन नहीं मिलता।

वास्तव में वज्रसेनसूरि के बाद के श्री चन्द्रसूरि से लेकर विमलचन्द्रसूरि तक के २० आचार्यों का सत्ता समय अन्धकारावृत है। बिचला यह समय चैत्यवासियों के साम्राज्य का समय था। उग्रवैहारिक संविज्ञ श्रमणों की संख्या परिमित थी, तब शिथिलाचारी तथा चैत्यवासियों के अड्डे सर्वत्र लगे हुए थे, इस परिस्थिति में वैहारिक श्रमणों के हाथ में कालगणना-पद्धति नहीं रही। इसी कारण से वज्रसेन के बाद और उद्योतनसूरि के पहले के पट्टधरों का समय व्यवस्थित नहीं है, दर्मियान कतिपय आचार्यों का समय गुर्वावलीकारों ने दिया भी है तो वह संगत नहीं होता, जैसे-तपागच्छ-गुर्वावलीकार आचार्य श्री मुनिसुन्दरसूरजी ने आचार्य श्री वज्रसेन सूरि का स्वर्गवास समय जिन निर्वाण से ६२० में लिखा है, जो विक्रम वर्षों की गणनानुसार १५० में पड़ता है। तब वज्रसेन से चतुर्थ पुरुष श्री वृद्धदेवसूरिजी द्वारा विक्रम संवत् १२५ में कोरण्ट नगर में प्रतिष्ठा होना बताया है, इसी प्रकार १८ वें पट्टधर प्रद्योतनसूरि के बाद श्री मानदेवसूरि को पट्टधर बताया है। मानदेव के बाद श्री मानतुंगसूरि जो बाण और मयूर के समकालीन थे, उनको २० वां पट्टधर माना है, मयूर का आश्रम दाता कन्नौज का राजा श्रीहर्ष था, जिसका समय विक्रम की सातवीं शती का उत्तरार्द्ध था, यह समय श्रीमान तुंगसूरि के पट्टगुरु मानदेवसूरि के और मानतुंगसूरि के पट्टधर वीरसूरि के साथ संगत नहीं होता, क्योंकि मानतुंगसूरि के बाद के पट्टधर श्री वीरसूरि का समय गुर्वावलीकार श्री मुनिसुन्दरजी ने निम्नोद्धृत श्लोक में प्रकट किया है :

"जज्ञे चैत्ये प्रतिष्ठा कृष्णमेनागिपुरे नृपात् ।
त्रिभिर्वर्षशतैः ३०० किञ्चिदधिके वीर सूरिराट् ॥३७॥"

आचार्य मानतुंग कवि बाण मयूर का समकालीन मानना और मानतुंग के उत्तराधिकारी वीरसूरि का समय विक्रम वर्ष ३०० से कुछ अधिक वर्ष मानना युक्ति संगत नहीं है, वीरसूरि के बाद के आचार्य जयदेव,

देवानन्द विक्रम और नरसिंह इन चार आचार्यों के समय की चर्चा गुर्वावली तथा पट्टावली में नहीं मिलती।

गुर्वावलीकार द्वारा लिखित आचार्यों के सत्तासमय की विसंगति का समन्वय :

ऊपर हमने गुर्वावली सूचित पट्टधरों के समय में जो विसंगतियां दिखाई हैं उनका समन्वय निम्न प्रकार से किया जा सकता है :

यद्यपि मुनिसुन्दरसूरिजी ने श्री वज्रसेनसूरि का समय वीरनिर्वाण ६२० में माना है, परन्तु हमारी गणना से वज्रसेन का समय जिननिर्वाण से ६०५ तक पहुँचता है, उसके बाद चन्द्रसूरि, समन्तभद्रसूरि और वृद्धदेवसूरि का समय विक्रम से १२५ तक सूचित किया है, परन्तु हमारा अनुमान है कि गुर्वावलीकार को जो १२५ का अंक मिला है; वह विक्रम संवत् का न होकर शक संवत् का होना चाहिए।

गुर्वावलीकार के लेखानुसार विक्रम संवत् १५० में वज्रसेन का स्वर्गवास हुआ है, तब उनके बाद के तीन आचार्यों के समय के १२५ वर्ष वज्रसेन के समय सहित नहीं लिखते, पर लिखा है इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वज्र के बाद के वज्रसेन चन्द्र समन्तभद्र और वृद्धदेवसूरि की प्रतिष्ठा तक के १२५ वर्ष की संख्या सूचित की है, प्रतिष्ठा के बाद भी वे पूर्ण वृद्धावस्था तक जीवित रहे थे, इस दशा में १० वर्ष अधिक जीवित रहे ऐसा मान लेने पर वृद्धदेवसूरि का स्वर्ग–समय विक्रम संवत् ३७५ तक पहुँच सकता है और इनके बाद प्रद्योतनसूरि, मानदेवसूरि, मानतुंगसूरि और वीरसूरि इन चार आचार्यों का सत्ता-समय ३०० वर्ष के लगभग मान लिया जाय तो एकत्रित समयांक ६७५ तक पहुँचेगा और इस प्रकार से मानतुंगसूरि बाण, मयूर और राजा श्रीहर्ष के समय में विद्यमान हो सकते हैं। वीरसूरि के अनन्तर जयदेवसूरि, देवानन्दसूरि, विक्रमसूरि, नरसिंहसूरि और समुद्रसूरि इन ५ आचार्यों के सम्मिलित १०० वर्ष मान लेने पर खोमाण राजा के कुलज समुद्रसूरि का समय वि० सं० ७७५ में आ सकता है, और हरिभद्र के मित्र द्वितीय मानदेवसूरि का समय भी

७८० के लगभग रह सकता है। इसके बाद विबुधप्रभ जयानन्द, रविप्रभ, यशोदेवसूरि, प्रद्युम्नसूरि, उपधान-प्रकरणकार मानदेवसूरि इन ६ आचार्यों के सत्तासमय के सम्मिलित १७५ वर्ष मान लेने पर पट्टधरों का सत्तासमय ९५५ तक पहुँचेगा। इस प्रकार उपधानप्रकरणकार मानदेवसूरि का भी अन्तिम समय ९५५ में पहुंचता है, जो संगत है। इनके बाद आचार्य विमलचन्द्र, उनके पट्टधर आचार्य श्री उद्योतनसूरि और इनके पट्टधर सर्वदेवसूरि का समय विक्रम की ११वीं शती के प्रथम चरण तक पहुँचता है, क्योंकि ९५६ से विमलचन्द्रसूरि का समय प्रारम्भ हो जाता है और ९९४वें में उनके शिष्य उद्योतनसूरि, सर्वदेवसूरि को पट्ट पर स्थापित करते हैं, तब विक्रम सं० १०१० में सर्वदेवसूरि रामसैन्यपुर में चन्द्रप्रभ जिन की प्रतिष्ठा करते हैं।

ऊपर लिखे अनुसार मुनिसुन्दरसूरि की गुर्वावली में दिये हुए समय में संशोधन करने से सत्तासमय का समन्वय होकर पारस्परिक विरोध मिट सकता है।

> "सत्तरस वुड्ढदेवो १७, सूरी पज्जोअणो अठारसमो १८।
> एगूणवीसइमो, सूरी सिरिमाणदेवगुरू १९ ॥ ७ ॥
> सिरिमाणतुंगसूरि २०, वीसइमो एगवीस सिरिवीरो २१।
> बावीसो जयदेवो २२, देवाणंदो य तेवीसो २३ ॥ ८ ॥
> चउवीसो सिरिविक्कम २४, नरसिंहो पंचवीस २५ छव्वीसो।
> सूरीसमुद्द २६ सत्तावीसो सिरिमाणदेव गुरू २७ ॥ ९ ॥"

'आचार्य समन्तभद्र के पट्टधर १७वें श्री वृद्धदेवसूरि, वृद्धदेवसूरि के पट्ट पर १८वें प्रद्योतनसूरि, प्रद्योतन के पट्ट पर श्री मानदेवसूरि, मानदेवसूरि के पट्ट पर श्री मानतुंगसूरि, मानतुंगसूरि के पट्ट पर श्री वीरसूरि, वीरसूरि के पट्ट पर श्री जयदेवसूरि, जयदेवसूरि के पट्ट पर श्री देवानन्दसूरि, देवानन्दसूरि के पट्ट पर श्री विक्रमसूरि, विक्रमसूरि के पट्ट पर श्री नरसिंहसूरि; नरसिंहसूरि के पट्ट पर श्री समुद्रसूरि, समुद्रसूरि के पट्ट पर श्री मानदेवसूरि २७वें पट्टधर हुए।

समुद्रसूरि को गुर्वावलीकार खोमाण राजा का कुलज बताते हैं। मेवाड़ राणाओं में खोमाण नामक तीन राणे हुए हैं, "बापा रावल" नामक मेवाड़ के राणाओं में प्रथम था, जो खोमाण भी कहलाता था। यदि हम समुद्रसूरि को खोमाण कुलज मान लें, तो भी समुद्रसूरिजी का समय विक्रम की सप्तम शती के बाद में आता है। इनके उत्तराधिकारी द्वितीय मानदेव-सूरि को प्रसिद्ध श्रुतधर श्री हरिभद्रसूरिजी का मित्र बताते हैं और हरिभद्र-सूरिजी का समय विक्रम की अष्टम शती का उत्तरार्द्ध निश्चित हो चुका है, इस दशा में द्वितीय मानदेवसूरि से चतुर्थ पीढ़ी पर आने वाले श्री रविप्रभा-चार्य का सत्ता-समय विक्रम की सप्तम शतो बताना संगत नहीं होता।

> "अट्ठावीसो विबुहो २८, एगुणतीसो गुरू जयाणंदो २६।
> तीसो रविप्पहो ३०, इगतीसो जसदेवसूरिवरो ३१ ॥१०॥
> बत्तीसो पज्जुण्णो ३२, तेतीसो माणदेव जुगपवरो ३३।
> चउतीस विमलचंदो ३४, पणतीसुज्जोअणो सूरी ३५ ॥११॥"

'मानदेवसूरि के पट्टधर श्री विबुधप्रभसूरि, विबुधप्रभसूरि के पट्टधर श्री जयानन्दसूरि, जयानन्दसूरि के पट्ट पर श्री रविप्रभसूरि, रविप्रभसूरि के पट्ट पर श्री यशोदेवसूरि, यशोदेवसूरि के पट्ट पर श्री प्रद्युम्नसूरि, प्रद्युम्न-सूरि के पट्ट पर श्री मानदेवसूरि, मानदेवसूरि के पट्ट पर श्री विमलचन्द्र-सूरि और विमलचन्द्रसूरि के पट्ट पर श्री उद्योतनसूरि ३५वें हुए ।१०।११।।'

विमलचन्द्रसूरि के सत्ता-समय की गुर्वावली आदि में चर्चा नहीं है; परन्तु प्रभावकचरित्रान्तर्गत वीरसूरि के प्रबन्ध में विमलचन्द्रसूरि के हस्त-दीक्षित वीरसूरि का स्वर्गवास विक्रम संवत् ९९१ में होना लिखा है, इससे प्रतीत होता है कि वीरसूरि के दीक्षा-गुरु श्री विमलचन्द्र का समय विक्रम की दशवीं शती का मध्यभाग हो सकता है।

आचार्य श्री उद्योतनसूरि का समय विक्रम की दशवीं शती का उत्तर-भाग गुर्वावलीकार ने बताया है, लिखा है कि विक्रम संवत् ९९४ में आचार्य उद्योतनसूरि ने आबू के निकट एक वट के नीचे बैठे हुए सर्वदेव प्रमुख अपने

आठ शिष्यों को सर्वश्रेष्ठ लग्न में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया था। कितनेक आचार्य केवल सर्वदेवसूरि को ही वट के नीचे सूरि पद देने की बात कहते हैं। प्रारम्भ में सर्वदेवसूरि के श्रमणगण को लोगों ने "वट गच्छ' इस नाम से प्रसिद्ध किया और धीरे-धीरे गुणी श्रमणों की वृद्धि होने से "वटगच्छ" का ही नामान्तर "बृहद्गच्छ" प्रसिद्ध हुआ।

"सिरिसव्वदेवसूरी, छत्तीसो ३६ देवसूरि सगतीसो ३७।
अडतीसइमो सूरी, पुणोवि सिरिसव्वदेव गुरू ३८ ॥१२॥
एगुणचालीसइमो, जसभद्दो नेमिचंद गुरुबंधू ३९।
चालीसो मुणिचंदो ४०, एगुआलीसो अजिअदेवो ४१ ॥१३॥"

'श्री उद्योतनसूरि के पट्ट पर श्री सर्वदेवसूरि, सर्वदेवसूरि के पट्ट पर श्री देवसूरि, देवसूरि के पट्ट पर फिर श्री सर्वदेवसूरि, द्वितीय सर्वदेवसूरि के पट्ट पर श्री यशोभद्रसूरि तथा नेमिचन्द्र ये दो आचार्य हुए और इस आचार्य युगल के पट्ट पर श्री मुनिचन्द्रसूरि और मुनिचन्द्रसूरि के पट्ट हर ४१वें श्री अजितदेवसूरि हुए। १२। १३॥'

आचार्य श्री सर्वदेवसूरि से महावीर की मूल परम्परा का नाम 'वट गच्छ' हुआ, तब से इस गच्छ में विद्वान् आचार्यों और श्रमणों की संख्या प्रतिदिन बढ़ती ही गई। परिणामस्वरूप चन्द्रकुल वट की तरह अनेक शाखाओं में विस्तृत हुआ और इसके मुकाबिले में इसके सहजात 'नागिल' 'निर्वृत्ति' और 'विद्याधर' ये तीन कुल इसके विस्तार के नीचे ढंक से गए।

बड़े शिष्य सर्वदेवसूरि लब्धिधारी थे। इन्होंने विक्रम संवत् १०१० में रामसैन्य नगर में चन्द्रप्रभजिन की प्रतिष्ठा की थी, इतना ही नहीं बल्कि चन्द्रावती नरेश के नेत्र-तुल्य उच्च ऋद्धिमान् "कुंकण मन्त्री" को प्रतिबोध देकर अपना श्रमण शिष्य बनाना था।

सर्वदेवसूरि के पट्ट पर जो देवसूरि हुए उनको अंचलगच्छ पट्टावली-कार ने "पद्मदेवसूरि" लिखा है। देवसूरि के पट्टधारी द्वितीय सर्वदेवसूरि ने यशोभद्र आदि आठ साधुओं को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया था;

जिनमें यशोभद्र और नेमिचन्द्रसूरि ये दोनों गुरु-भाई थे और द्वितीय सर्व-देवसूरि के पट्ट पर प्रतिष्ठित थे।

श्री यशोभद्रसूरि और नेमिचन्द्रसूरि के पट्ट पर चालीसवें आचार्य श्री मुनिचन्द्रसूरि थे, जो विद्वान् होने के उपरान्त बड़े त्यागी थे। मुनिचन्द्र-सूरि का स्वर्गवास ११७८ के वर्ष में हुआ था।

मुनिचन्द्रसूरि के अनेक विद्वान् शिष्य थे। श्री अजितदेवसूरि के अतिरिक्त वादी श्री देवसूरि जैसे प्रखर विद्वान् आप ही के शिष्य थे। वादी देवसूरि के नाम से २४ शाखाएं प्रसिद्ध हुई थीं, जो 'वादि देवसूरि-पक्ष' के नाम से प्रख्यात थीं। वादिदेवसूरि का जन्म ११३४ में, दीक्षा ११५२ में, आचार्य-पद ११७४ में और स्वर्गवास १२२६ के वर्ष में हुआ था।

मुनिचन्द्रसूरि के पट्ट पर ४१वें श्री अजितदेवसूरि हुए, जिनके समय में १२०४ में "खरतर", १२१३ में "आंचलिक", १२३६ में "सार्द्धपौर्णमियक" और १२५० में "आगमिक" मतों की उत्पत्ति हुई।

> "बायालु विजयसिंहो ४२, तेआला हुंति एगगुरुभाया।
> सोमप्पह-मणिरयणा ४३, चउआलीसो अ जगचंदो ४४ ॥१४॥
> देविंदो पणयालो ४५, छायालीसो अ धम्मघोसगुरू ४६।
> सोमप्पह सगचत्तो, ४७, अड़चत्तो सोमतिलग गुरू ४८ ॥१५॥"

'अजितदेवसूरि के पट्ट पर विजयसिंहसूरि, विजयसिंहसूरि के पट्ट पर सोमप्रभसूरि तथा मणिरत्नप्रभसूरि नामक दोनों गुरु-भाई ४३वें पट्टधर हुए और उनके पट्टधर श्री जगच्चन्द्रसूरि हुए, जगच्चन्द्र के पट्ट पर श्री देवेन्द्रसूरि, देवेन्द्रसूरि के पट्ट पर श्री धर्मघोषसूरि, धर्मघोषसूरि के पट्ट पर श्री सोमप्रभसूरि और सोमप्रभसूरि के पट्ट पर ४८वें सोमतिलकसूरि हुए। १४। १५॥

जगच्चन्द्रसूरि के समय में साधुओं में शिथिलाचार की वृद्धि हो रही थी, यह देखकर जगच्चन्द्रसूरि को दुःख हुआ और चैत्रगच्छीय उपाध्याय

देवभद्र गणि की सहायता से क्रियोद्धार करके उग्रविहार करने लगे। जगच्चन्द्रसूरि बड़े तपस्वी थे। जीवनपर्यन्त आचाम्ल तप का अभिग्रह धारण करके विहार कर रहे थे, आपको आचाम्ल करते १२ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। आपकी इस उग्र तपस्या और विद्वत्ता की बातें सुनकर आपको आघाटपुर (मेवाड़) के राणाजी ने 'महातपा" के नाम से सम्बोधित किया। "महातपा" में से 'महा' शब्द निकल कर आपका "तपा" यह बिरुद रह गया। यह घटना वि० सं० १२८५ में घटी थी, तब तक महावीर की शिष्य-परम्परा में ६ नाम रूढ़ हो गए थे। आर्य सुहस्ती तक महावीर की शिष्य-सन्तति "निर्ग्रन्थ" नाम से प्रसिद्ध थी, सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध के समय में वह "कोटिक गण" के नाम से पहिचानी जाने लगी। वज्रसेन के शिष्य श्री चन्द्रसूरि के समय में श्रमण गण का मुख्य भाग "चन्द्रकुल" के नाम से प्रख्यात हुआ। श्री समन्तभद्र के समय में वह "वनवासी गण" के नाम से सम्बोधित होने लगा, श्री सर्वदेवसूरि के समय में उसका नाम "वटगच्छ" पड़ा, श्री जगच्चन्द्रसूरि के समय से वही श्रमण-समुदाय "तपागण" अथवा "तपागच्छ" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जगच्चन्द्रसूरि के पट्ट पर ४५वें आचार्य श्री देवेन्द्रसूरि हुए। देवेन्द्रसूरि विद्वान् होने के उपरान्त बड़े त्यागी साधु थे, इनका विहार बहुधा गुजरात और मालवा की तरफ होता था। आपने उज्जैन के जिनभद्र[1] सेठ के पुत्र वीरधवल को विवाहोत्सव दर्मियान प्रतिबोध देकर विक्रम संवत् १३०२ में दीक्षा दी थी और उसका नाम "विद्यानन्द" रक्खा था। कुछ समय के बाद उसके भाई को भी श्रमणधर्म में दीक्षित किया था और उसका नाम "धर्मकीर्ति" रक्खा था। लम्बे काल तक मालवे में विचर कर देवेन्द्रसूरिजी गुजरात में स्तम्भतीर्थ पधारे। देवेन्द्रसूरिजी ने जब खम्भात से मालवा की तरफ विहार किया था, उस समय उनके छोटे गुरु-भाई श्री विजयचन्द्रसूरि खंभात में थे और १२ वर्ष से अधिक समय तक मालवा में विचर कर वापस गुजरात आकर खम्भात पहुंचे तो विजयचन्द्रसूरि उस समय तक खम्भात में ही रहे हुए थे, इतना ही नहीं उन्होंने धीरे-धीरे साधुओं के आचार में अनेक

१. धवल के पिता श्रेष्ठी का नाम मुनिसुन्दर-गुर्वावली में जगच्चन्द्र लिखा है।

शिथिलताएं कर दी थीं, जैसे प्रत्येक गीतार्थ को अपनी निश्रा में वस्त्र की गठरी रखने की आज्ञा, नित्य विकृति ग्रहण की आज्ञा, हर एक साधु को वस्त्र धोने की आज्ञा, फल-शाक ग्रहण करने की आज्ञा, साधु-साध्वी को नीवी के प्रत्याख्यान में निर्विकृतिक ग्रहण करने की छूट, नित्य दुविहाहार का प्रत्याख्यान ग्रहण करना, गृहस्थों को आकृष्ट करने के लिए प्रतिक्रमण कराने की आज्ञा, संविभाग के दिन श्रावक के घर गीतार्थ को जाना चाहिये, साध्वी का लाया हुआ आहार लेना ऐसी प्ररूपणा, लेप की सन्निधि न मानना, तत्काल उतारा हुआ गर्म जल लेने को आज्ञा, इत्यादि अनेक बातें जो क्रियामार्ग में शिथिल साधुओं के लिए अनुकूल हों ऐसी प्ररूपणाएं करके उन्हें अपने अनुकूल किया। श्री जगच्चन्द्रसूरिजी ने देव-द्रव्यादि दूषित जिस पोषधशाला में उतरना निषिद्ध किया था, उसी वृद्ध पोषधशाला में १२ वर्ष तक विजयचन्द्रसूरि ठहरे रहे। जिन प्रव्रज्यादि कृत्यों के करने में गुरु की आज्ञा ली जाती थी, उन कार्यों को भी गुरु-आज्ञा के बिना करने लगे थे। इन सब बातों का देवेन्द्रसूरिजी को पता लग चुका था, इसलिये वे विजयचन्द्रसूरि वाली पोषधशाला में न जाकर एक दूसरी शाला में ठहरे, जो विजयचन्द्रसूरि वाली शाला से अपेक्षाकृत छोटी थी। इस प्रकार देवेन्द्रसूरि तथा विजयचन्द्रसूरि भिन्न-भिन्न शाला में उतरे, तब से उन दोनों गुरु-भाइयों का साधु-परिवार लघु पोषधशालिक और वृद्ध पोषधशालिक के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

एक समय पालनपुर के श्रावक-संघ ने श्री देवेन्द्रसूरि को आग्रह पूर्वक विज्ञप्ति कर पालनपुर पधारने और पदस्थापनादि-शासनोन्नति के कार्यों द्वारा पालनपुर के संघ को कृतार्थ करने की प्रार्थना की, आचार्य श्री ने पालनपुर के संघ की बीनती स्वीकृत की और पालनपुर जाकर संवत् १३२३ के वर्ष में "श्रीविद्यानन्द" को आचार्य पद दिया[१] और उनके छोटे

---

१. गुर्वावली तथा पट्टावली सूत्र की टीका में विद्यानन्द का आचार्य पद मतान्तर से १३०४ में होना सूचित किया है, एक तो विद्यानन्द का दीक्षापर्याय उस समय केवल २ वर्ष का था, इतने अल्प पर्याय में आचार्य पद देने की पद्धति तब तक तपागच्छ में प्रचलित नहीं हुई थी, दूसरा कारण यह भी है कि, 'खरतर बृहद् गुर्वावली' में संवत् १३-

भाई "धर्मकीर्ति" को उपाध्याय पद प्रदान किया, शासन की बड़ी उन्नति हुई, आचार्य श्री विद्यानन्दसूरि ने "विद्यानन्द" नामक एक व्याकरण बनाया जो स्वल्पसूत्र बह्वर्थ युक्त होने से विद्वानों में पसन्दगी पाया।

आचार्य श्री देवेन्द्रसूरिजी ने गुजरात से फिर मालवे की तरफ विहार किया और विक्रम संवत् १३२७ के वर्ष में आप वहीं स्वर्गवासी हुए। दैवयोग से श्रीविद्यानन्दसूरि भी केवल १३ दिन के बाद बीजापुर में स्वर्गवासी हो गए; इसलिये छः महीने के बाद "विद्यानन्द" के समान गोत्रीय किसी आचार्य ने "श्री धर्मकीर्ति" उपाध्याय को आचार्य पद दिया और "श्री धर्म-घोषसूरि" यह नाम रक्खा।

आचार्य देवेन्द्रसूरिजी ने "श्राद्धदिनकृत्यवृत्ति" "नव्य पांच कर्म ग्रन्थ" सवृत्ति, "सिद्धपंचाशिका" सवृत्ति, "धर्मरत्न-प्रकरण" बृहद्वृत्ति, "सुदर्शना-चरित्र" "चैत्यवन्दनादि तीन भाष्य" "वन्दारु वृत्ति" आदि अनेक संस्कृत प्राकृत ग्रन्थों की रचना की है।

श्री देवेन्द्रसूरिजी के पट्ट पर ४६ वें धर्मघोषसूरिजी हुए। धर्मघोषसूरि भी बड़े विद्वान् और प्रभावक आचार्य थे। धर्मघोषसूरि ने भी "संघाचार भाष्य" "कायस्थितिस्तव" "भवस्थितिस्तव" ',चतुर्विंशतिजिनस्तव संग्रह" "स्तुतिचतुर्विंशति" यमकमय इत्यादि अनेक छोटे बड़े ग्रन्थों की रचना की थी। संवत् १३५७ के वर्ष में धर्मघोषसूरिजी स्वर्गवासी हुए।

धर्मघोषसूरि के पट्टधर श्रीसोमप्रभसूरि भी विद्वान् आचार्य हो गए हैं, आपने "नमिऊणं भणइ" इत्यादि आराधना प्रकरण की रचना की थी, वि.

---

१९ के वर्ष में खरतर उपाध्याय अभयतिलक के साथ विद्यानन्द की उज्जैन में श्रमण-योग्य जल के सम्बन्ध में चर्चा होना लिखा है, और उस स्थल में "तपोमतीयं पंडित विद्यानन्द" इस प्रकार का शब्दप्रयोग किया गया है, यदि उस समय विद्यानन्द आचार्य होते तो गुर्वावलीकार विद्यानन्द के लिये "पं०" शब्द का प्रयोग न कर आचार्य अथवा सूरि आदि शब्द का प्रयोग करते, इससे प्रमाणित होता है कि १३२३ में ही श्रीविद्यानन्द आचार्य बने थे और १३२७ में उनका देहान्त हो गया था।

सं. १३१० में आपका जन्म, १३२१ में दीक्षा, १३३२ में आचार्य पद प्राप्त हुआ।

आचार्य सोमप्रभसूरि ने अप्काय की विराधना के भय से जलप्रचुर कुंकुणदेश में और शुद्ध जल की दुर्लभता से मारवाड़ में अपने साधुओं का विहार निषिद्ध किया था।

वि० संवत् १३३४ के वर्षा चातुर्मास्य में शास्त्र की मर्यादानुसार द्वितीय कार्तिक की पूर्णिमा को चातुर्मास्य पूरा होता था, परन्तु इसके पहले ही भाविनगर-भंग को जानकर सोमप्रभसूरिजी प्रथम कार्तिक की चतुर्दशी को चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करके दूसरे दिन वहां से विहार कर गए थे, अन्य गच्छीय आचार्य जो वहां चातुर्मास्य में ठहरे हुए थे, उन्होंने प्रथम कार्तिक की चतुर्दशी को चातुर्मास्य पूरा नहीं किया था, परिणामतः उनके वहां रहते-रहते नगरभंग हुआ और विहार न करने वाले आचार्यों को मुसीबत में उतरना पड़ा था।

सोमप्रभसूरि के गुरु धर्मघोषसूरि १३५७ में स्वर्गवासी हुए थे, उसी वर्ष सोमप्रभसूरि ने अपने मुख्य शिष्य विमलप्रभ को आचार्य-पद दिया था। सोमप्रभसूरि के विमलप्रभ के अतिरिक्त तीन शिष्य और आचार्य थे, जिनके नाम – श्री परमानन्दसूरि, श्री पद्मतिलकसूरि और श्री सोमतिलकसूरि थे। सोमप्रभसूरि के प्रथम शिष्य अल्पजीवी थे, इसलिये उन्होंने अपना जीवन अल्प समझ कर १३७३ में श्री परमानन्द और सोमतिलक को सूरि-पद दिये और आपने तीन महीनों के बाद उसी वर्ष स्वर्गवास प्राप्त किया। श्री परमानन्दसूरि भी आचार्य-पद प्राप्त करने के बाद ४ वर्ष तक जीवित रहे थे, इस लिये सोमप्रभ के पट्ट को श्री सोमतिलकसूरिजी ने सम्हाला, सोमतिलकसूरिजी सं० १३५५ में जन्मे, १३६९ में दीक्षित हुए, १३७३ में सूरि बने और १४२४ में स्वर्गवासी हुए। "बृहद् नव्य क्षेत्र समास", "सत्तरिसयठाणं" आदि अनेक ग्रन्थ और स्तुति स्तोत्रादि की रचना की थी, तथा श्री पद्मतिलक, श्रीचन्द्रशेखरसूरि, श्री जयानन्दसूरि और श्री देवसुन्दरसूरि को आचार्य पद दिए थे।

"एगुणवण्णो सिरिदेव सुन्दरो ४९ सोमसुन्दरो पण्णो ५० ।
मुनिसुन्दरेगवण्णो ५१, बावण्णो रयणसेहरओ ५२ ॥१६॥"

'सोमतिलक सूरि के पट्ट पर ४९ वें श्री देवसुन्दरसूरि हुए और देवसुन्दरसूरि के पट्ट पर श्री सोमसुन्दरसूरि, सोमसुन्दर के पट्ट पर श्री मुनिसुन्दरसूरि और मुनिसुन्दरसूरि के पट्ट पर श्री रत्नशेखरसूरि ५२ वें पट्टधर हुए ॥१६॥

आचार्य देवसुन्दरसूरि का जन्म १३९६ में, दीक्षा १४०४ में, आचार्यपद १४२० में अणहिल पाटन में हुआ।

आचार्य देवसुन्दरसूरिजी के ५ शिष्य थे जिनके नाम श्री ज्ञानसागरसूरि, श्री कुलमण्डनसूरि, श्री गुणरत्नसूरि, श्री सोमसुन्दरसूरि और श्री साधुरत्नसूरि थे। ज्ञानसागरसूरि का जन्म १४०५ में, दीक्षा १४१७ में, आचार्यपद १४४१ में और स्वर्गवास १४६० में हुआ था।

ज्ञानसागरसूरि ने आवश्यक और ओघनिर्युक्ति पर अवचूर्णियां लिखी थी और अनेक तीर्थङ्करों के स्तव स्तोत्रादि बनाये थे।

श्री कुलमण्डनसूरि का जन्म १४०९ में, दीक्षा १४१७ में, सूरिपद १४४२ में और १४५५ में स्वर्गवास हुआ था।

श्री कुलमण्डनसूरि ने "सिद्धान्तालापकोद्धार" और अनेक "चित्रकाव्य स्तवों" की रचना की थी।

आचार्य श्री गुणरत्नसूरि ने "क्रियारत्नसमुच्चय" "षड्दर्शनसमुच्चय-बृहद्वृत्ति" आदि ग्रन्थ रचे थे और साधु रत्नसूरि ने "यतिजीतकल्पवृत्ति" आदि का निर्माण किया था।

आचार्य श्री सोमसुन्दरसूरिजी का जन्म १४३० में, दीक्षा १४३७ में, वाचकपद १४५० में और सूरिपद १४५७ में हुआ था। सोमसुन्दरसूरि बड़े भाग्यशाली और क्रियापरायण थे। इनकी निश्रा में १८०० क्रियापात्र साधु विचरते थे। श्री सोमसुन्दरसूरिजी ने "योगशास्त्र" "उपदेशमाला"

"षडावश्यक" "नवतत्त्वादि" ग्रंन्थों पर बालावबोध-भाष्य लिखे थे, कई ग्रन्थों पर अवचूर्णियां लिखी थीं और "कल्याणकस्तोत्रादि" अनेक "जिन-स्तोत्र" बनाए थे।

श्री सोमसुन्दरसूरिजी के चार शिष्य आचार्यपद पर स्थित थे, श्री मुनिसुन्दरसूरि १, श्री जयसुन्दरसूरि २, श्री भुवनसुन्दरसूरि ३ और जिन-सुन्दरसूरि ४।

आचार्य मुनिसुन्दरसूरिजी ने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया था।

आचार्य श्री भुवनसुन्दरसूरि ने "महाविद्याविडम्बन" का टिप्पन लिखा था।

श्री जिनसुन्दरसूरि ने "दीपावली कल्प" बनाया था।

अपने इन विद्वान शिष्यों के परिवार से परिवृत श्री सोमसुन्दरसूरिजी ने राणकपुर के श्रीधरणचतुर्मुख विहार में संवत् १४९५ में ऋषभादि अनेक जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा की थी और १४९९ में आप स्वर्गवासी हुए थे।

आचार्य श्री मुनिसुन्दरसूरि का १४३६ में जन्म, १४४३ में दीक्षा, १४६६ में वाचक पद और १४७८ में सूरि पद हुआ था।

आचार्य मुनिसुन्दरसूरि प्रखर जैन विद्वानों में से एक थे, आपने सैकड़ों चित्र-स्तोत्रों की रचना की थी जिनकी संख्या ही नहीं है, आपने "त्रिदश-तरंगिणी" नामक १०८ एक सौ आठ हस्तपरिमित विज्ञप्तिलेखन अपने गुरु पर भेजा था, "उपदेशरत्नाकर" "चारुवैद्यवैशारद्यनिधि" "विजयचन्द्रकेवलि-चरित्र" आदि अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों को रचना की थी, आपका स्वर्गवास १५०३ के कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा के दिन हुआ था।

श्री मुनिसुन्दरसूरि के पट्टधर श्री रत्नशेखरसूरि का जन्म १४५७ में और मतान्तर से १४५२ में हुआ, १४६३ में व्रतग्रहण, १४८३ में पण्डित पद, १४९३ में वाचक पद, १५०२ में सूरिपद और १५१७ में आपका स्वर्गवास हुआ था।

रत्नशेखरसूरि के "श्राद्धप्रतिक्रमण सूत्रवृत्ति" "श्राद्धविधिसूत्रवृत्ति" "आचारप्रदीप" नामक तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

आचार्य रत्नशेखरसूरि के समय में १५०८ में जिनप्रतिमा का विरोधी "लुंकामत" प्रवृत्त हुआ और लुंकामत में १५३३ में "भाणा" नामक प्रथम "साधुवेशधारी" हुआ।

"तेवण्णो पुण लच्छीसायरसूरीसरो मुणेयव्वो ५३ ।
चउवण्णु सुमइसाहू, ५४ पणवण्णो हेमविमल गुरू ५५ ॥ १७ ॥

'रत्नशेखरसूरि के पट्ट पर ५३ वें लक्ष्मीसागरसूरि, लक्ष्मीसागरसूरि के पट्ट पर ५४ वें सुमतिसाधुसूरि और सुमतिसाधु के पट्ट पर ५५ वें हेमविमलसूरि हुए। १७॥'

श्री लक्ष्मीसागरसूरि का १४६४ में जन्म, १४७७ में दीक्षा, १४९६ में पंन्यासपद, १५०१ में वाचकपद, १५०८ में सूरिपद और १५१७ में गच्छनायक पद हुआ था।

श्री लक्ष्मीसागरसूरि के पट्टधर श्री सुमतिसाधुसूरिजी ने "दशवैकालिक" पर "लघुटीका" बनाई थी, जो छप कर प्रसिद्ध हो गई है।

श्री सुमतिसाधु के पट्टधर श्री हेमविमलसूरि के समय में साधु-समुदाय में पर्याप्त शिथिलता फैल गई थी, फिर भी हेमविमलसूरि की निश्रा में रहने वाले साधु ब्रह्मचर्य तथा निष्परिग्रहपन में सर्वप्रसिद्ध थे। क्षमाश्रमण आदि विधि से श्रावक के घर से लाया हुआ आहार हेमविमलसूरि नहीं लेते थे और अपने समुदाय में कोई द्रव्यधारी यति ज्ञात होता तो उसे गच्छ से निकाल देते थे, आपकी इस निस्पृहवृत्ति को देखकर लुंकागच्छ के ऋषि हाना, ऋषि श्रीपति, ऋ० गणपति प्रमुख अनेक आत्मार्थी वेषधारी लुंकामत का त्याग कर श्री हेमविमलसूरि की शरण में आए थे और समयानुसार चारित्र पालकर आत्महित करते थे।

आचार्य हेमविमल के समय में "आजकल शास्त्रोक्त साधु दृष्टिगोचर नहीं होते" इस प्रकार की प्ररूपणा करने वाले कटुक नामक त्रिस्तुतिक

गृहस्थ से १५६२ में "कट्टक" (कडुआ) मत की उत्पत्ति हुई। १५७० में लुंकामत से निकल कर विजय ऋषि ने "बीजा मत" प्रचलित किया और संवत् १५७२ में नागपुरीय तपागच्छ से निकल कर उपाध्याय पार्श्वचन्द्र ने अपने नाम से मत निकाला जो आजकल "पायचंदगच्छ" के नाम से प्रसिद्ध है।

"सुविहिय मुणिचूडामणि,—कुमयतमोमहणमिहिरसममहिमो।
आणंदविमलसूरी–सरो अ छावण्णपट्टधरो ॥ १८ ॥"

श्री हेमविमलसूरि के पट्टधर सुविहित-मुनिचूडामणि और कुमत-रूपी अंधकार को मथन करने में सूर्य समान महिमा वाले श्री आनन्दविमल-सूरि हुए।

आचार्य आनन्दविमलसूरि का १५४७ में इडरगढ़ में जन्म, १५५२ में दीक्षा और १५७० में सूरिपद हुआ था।

आनन्दविमलसूरि के समय में साधुओं में शिथिलता अधिक बढ़ गई थी, उधर प्रतिमा-विरोधी तथा साधु-विरोधी लुंपक तथा कट्टक मत के अनुयायियों का प्रचार प्रतिदिन बढ़ रहा था। इस परिस्थिति को देखकर आनन्दविमलसूरिजी ने अपने पट्टगुरु आचार्य की आज्ञा से शिथिलाचार का परित्याग रूप क्रियोद्धार किया। आपके इस क्रियोद्धार में कतिपय संविग्न साधुओं ने साथ दिया, यह क्रिया-उद्धार आपने १५८२ के वर्ष में किया। आपकी इस त्यागवृत्ति से प्रभावित होकर अनेक गृहस्थों ने "लुंकामत" तथा "कडुआमत" का त्याग किया और कई कुटुम्ब धनादि का मोह छोड़ कर दीक्षित भी हुए।

तपागच्छ के आचार्य श्री सोमप्रभसूरिजी ने जेसलमेरु आदि मरुभूमि में जल-दौर्लभ्य के कारण साधुओं का विहार निषिद्ध किया था, उसको श्री आनन्दविमलसूरिजी ने चालू किया, क्योंकि ऐसा न करने से उस प्रदेश में कुमत का प्रचार होने का भय था। प्रतिषिद्ध क्षेत्र में भी प्रथम विद्या-सागर गणि का विहार करवाया, क्योंकि कम उम्र से ही वे छट्ठ-छट्ठ का पारणा आचाम्ल से करने वाले तपस्वी थे। उन्होंने जेसलमेरु आदि स्थली

में खरतरों, मेवात देश में बीजामतियों और सौराष्ट्र में मोरबी आदि स्थानों में लुंका आदि मतों के अनुयायी गृहस्थों को प्रतिबोध देकर उनमें सम्यक्त्व के बीज बोये, वीरमगांव में उपाध्याय पार्श्वचन्द्र को वाद में निरुत्तर करके बहुत से लोगों को जैन-धर्म में स्थिर किया। इसी प्रकार मालव देश में भी विहार कर उज्जैनी आदि नगरों में यथार्थ उपदेश से गृहस्थों को धर्म में स्थिर किया था।

क्रियोद्धार करने के बाद श्री आनन्दविमलसूरिजी ने १४ वर्ष तक कम से कम षष्ठ तप करने का अभिग्रह रक्खा, आप ने उपवास तथा छट्ठ से २० स्थानक तप का आराधन किया, इसके अतिरिक्त अनेक विकृष्ट तप करके अन्त में १५९६ में चैत्रसुदि में आलोचनापूर्वक अनशन करके नव उपवास के अन्त में अहमदाबाद नगर में स्वर्गवासी हुए।

"सिरि विजयदाणसूरि-पट्टे, सगवण्णए अ ५७ अडवण्णे।
सिरि हीरविजयसूरी, ५८ संपइ तवगणदिणिंदसमा ॥१६॥"

श्री आनन्दविमलसूरि के पट्ट पर श्री विजयदानसूरिजी और विजयदानसूरि के पट्टधर श्री हीरविजयसूरि तपागच्छ में सूर्य समान विचर रहे हैं ॥१६॥

श्री आनन्दविमलसूरि के पट्टधर श्री विजयदानसूरिजी ने खंभात, अहमदाबाद, पाटन, महेशाना, गन्धार बन्दर आदि अनेक स्थानों में सैकड़ों जिन-बिम्बों की प्रतिष्ठाएं की थीं, श्री विजयदानसूरिजी के उपदेश से ही बादशाह मुहम्मद के मान्य मंत्री गुलराज ने जो "मालिक श्री नगदल" कहलाता था, छः महीने तक शत्रुञ्जय पर का टेक्स माफ करवाया और सर्वत्र पत्रिका भेजकर नगर, ग्राम आदि के संघसमुदाय के साथ श्री शत्रुंजय की यात्रा की थी।

श्री विजयदानसूरि का वि. सं. १५५३ में जामला स्थान में जन्म, १५६२ में दीक्षा, १५८७ में सूरिपद और १६२२ में वडावली में आराधनापूर्वक स्वर्गवास हुआ था।

विजयदानसूरि के पटधर श्री हीरसूरिजी का पालनपुर में १५८३ में जन्म, १५९६ में पाटन में दीक्षा, १६०७ में नाड़लाई में पण्डित पद, १६०८ में नाडलाई में वाचक पद और १६१० में सिरोही में आचार्य पद हुआ था।

आचार्य श्री हीरसूरि ने सिरोही, नाड़लाई, अहमदाबाद, पाटन आदि नगरों में हजारों जिनबिम्बों की प्रतिष्ठायें की।

अहमदाबाद नगर में लुंकामत के आचार्य श्री मेघजी ने अपने २५ मुनियों के साथ श्री हीरसूरिजी के पास दीक्षा ली।

आचार्य श्री हीरसूरिजी के उपदेश से बादशाह श्री अकबर ने गुजरात, मालवा, बिहार, अयोध्या, प्रयाग, फतेहपुर, दिल्ली, लाहौर, मुलतान, काबुल, अजमेर और बंगाल नामक १२ सूबों में षाण्मासिक अमारिप्रवर्तन किया, "जजीया" टेक्स नामक कर बंद कर दिया।

"सिर विजयसेण सूरि-प्पमुहेहिं णेगसाहुवग्गेहिं ।
परिकलिआ पुहविअले, विहरन्ता दिंतु मे भद्दं ॥२०॥"

श्री विजयहीरसूरि के पट्ट पर श्री विजयसेनसूरि हुए, श्री विजयसेनसूरि प्रमुख अनेक श्रमणवर्ग के साथ परिवृत पृथ्वीतल पर विचरते हुए, श्री विजयहीरसूरि मेरे लिये कल्याणकारक हों।

इस प्रकार महोपाध्याय धर्मसागर गणि विरचिता तपागच्छपट्टावली सूत्र-वृत्तिसहिता समाप्ता।

यह पट्टावली श्री विजयहीरसूरीश्वरजी के आदेश से उपाध्याय श्री विमलहर्षगणी, उपाध्याय श्री कल्याणविजयगणी, उपा० श्री सोमविजयगणी, पं. लब्धिसागरगणी, प्रमुख गीतार्थों ने इकट्ठा होकर सं. १६४८ के चैत्र बदि ६ शुक्रवार को अहमदाबाद नगर में श्री मुनिसुन्दर कृतगुर्वावली, जीर्ण पट्टावली दुष्षमा संघ स्तोत्रयंत्रक आदि के आधार से सुधारी है, फिर भी इसमें जो कुछ शोधन योग्य हो उसको मध्यस्थ गीतार्थों को सुधार लेना चाहिये।

पट्टावली संशोधन होने के पहले इसकी अनेक प्रतियां लिखी जा चुकी हैं, इसलिये उनको संशोधित पट्टावली के अनुसार शुद्ध करके फिर पढ़ना चाहिये, ऐसी श्री विजयहीरसूरीश्वरजी महाराज की आज्ञा है।

—

श्री तपा-गणपति-गुण-पद्धति

— कर्त्ता : उपाध्याय गुणविजय गणी

"सिरि विजयसेणसूरि-पट्टे गुणसट्ठिमे 'अ'सट्ठिअमे ।
सिरि विजयदेवसूरो, तवइ, तवगणे तरणितुल्लो ॥२१॥
सिरि विजयसीहसूरिपमुहेहिं णेगसाहुवग्गेहिं ।
परिकलिया पुहविअले, विहरंता दिंतु मे भद्दं ॥२२॥"

श्री विजयहीरसूरि के पट्ट पर ५९ वें श्री विजयसेनसूरि और विजयसेनसूरि के पट्ट पर ६० वें श्री विजयदेवसूरि तपागच्छ में सूर्य समान तप रहे हैं ।२१।,

विजयसिंहसूरि प्रमुख अनेक साधुवर्गों से परिवृत श्री विजयदेवसूरि पृथ्वीतल पर विचरते हुए कल्याणकारी हों ।।२२।।

श्री हीरसूरिजी के पट्ट पर श्री विजयसेनसूरिजी हुए, आपका जन्म सं० १६०४ में नाडुलाई में हुआ था और सं० १६१३ में माता-पिता के साथ श्री विजयदानसूरि के हाथ से दीक्षा हुई थी, श्री विजयहीरसूरिजी ने इनको पढ़ाया और संवत् १६२८ में फाल्गुन शुक्ला सप्तमी के दिन अहमदाबाद में इनको सूरि पद दिया गया था ।

एक समय श्री हीरविजयसूरिजी श्री विजयसेनसूरि के साथ राधनपुर में वर्षा चातुर्मास्य ठहरे हुए थे, उस समय लाहौर में रहे हुए श्री अकबर बादशाह ने विजयसेनसूरि के गुणों का वर्णन सुना और उनको अपने पास बुलाने के लिये फरमान भेजा । तब अपने गुरु की आज्ञा सिर पर चढ़ाकर

पाटन आदि अनेक नगरों गांवों को पवित्र करते हुए आप आबु पहुँचे। आबु की यात्रा कर सिरोही गए, सिरोही के राजा श्री सुरतान ने आपका बड़ा सम्मान किया, वहां से क्रमशः श्री राणकपुर, वरकाणा पार्श्वनाथ की यात्रा करते हुए अपनी जन्मभूमि नाडलाई होते हुए, मेड़ता, डोड़वाणा, बैराट, महिम नगरादि में होते हुए लुधियाना पहुंचे। वहां पर रहे हुए शेख अबुल फजल के भतीजे फैजी नामक ने सूरि को वंदन किया, श्रावकों की तरफ से आचार्य का होता हुआ सत्कार देखकर फैजी बहुत खुश हुआ और जल्दी से लाहौर पहुँच कर बादशाह का सर्व वृत्तान्त निवेदन किया, जिसे सुनकर बादशाह भी मिलने के लिये विशेष उत्कण्ठित हुआ। क्रमशः विजयसेनसूरिजी ने बादशाह की तरफ से दिए गए वादित्रादि ठाट के साथ लाहौर में प्रवेश किया और उसी दिन श्री शेखजी, रामदास प्रमुख पुरुषों द्वारा "काश्मीरी महल" नामक महल में बादशाह से मिले। बादशाह भी आचार्यश्री को देखकर परम सन्तुष्ट हुआ और श्री हीरविजयसूरिजी के वृत्तान्त के साथ मार्ग का कुशलवृत्त पूछा। आचार्य ने भी श्री हीरसूरिजी की तरफ से धर्माशीर्वाद देने का कहा, बादशाह खुश हुआ और विजयसेनसूरिजी से आठ अवधान सुनने की इच्छा व्यक्त की। गुरु की आज्ञा से गुरु के शिष्य श्री (नन्दि) नन्दविजय पंडित ने बादशाह के सामने आठ अवधान किये, जिन्हें देखकर बादशाह बहुत ही चमत्कृत हुआ।

एक जैन आचार्य के सामने बादशाह का इतना झुकाव और सत्कार देखकर किसी भट्ट ने बादशाह के सामने जैन साधुओं की निन्दा की। उसने कहा— जैन लोग ईश्वर को नहीं मानते, सूर्य को नहीं मानते इसलिए ऐसे साधुओं के दर्शन भी राजा को नहीं करने चाहिये। इत्यादि सुनकर बादशाह को मानसिक कोप तो हुआ परन्तु ऊपर से कुछ भी विकृति नहीं दिखाई, अन्य दिवस आचार्य के वहां जाने पर बादशाह ने भट्ट द्वारा कही हुई बातें आचार्य के सामने प्रकट की। आचार्य ने देखा कि किसी खल ने बादशाह को बहकाया है, यह सोचकर उन्होंने उन्हीं के शास्त्र से जगदीश्वर के स्वरूप का वर्णन किया। इसी प्रकार सूर्य तथा गंगोदक के सम्बन्ध में भी आचार्य ने ऐसा वर्णन किया कि जिसे सुनकर बादशाह खुश हुआ और पहले से भी

अधिक सन्मान किया और दुर्जनों की तरफ तिरस्कार दिखाया। बादशाह के आग्रह से आचार्य विजयसेनसूरिजी ने लाहोर में दो चातुर्मास्य किये और प्रसंग पाकर बादशाह को उपदेश देते रहे।

एक समय पुण्योपदेश के प्रसंग पर प्रमुदित होकर बादशाह ने आचार्य को कुछ मांगने को कहा। यह सुनकर आचार्य ने कहा—हे बादशाह ! जगत् के प्राणियों का दुख भांगने वाले राजाओं को गाय, बैल, भैंसा, भैंस की हत्या, नाओलाद का द्रव्य लेना और निरपराधी पशु-पक्षियों को कैद करना योग्य नहीं है— इन बातों का त्याग करना ही हमारे लिये संतोष का कारण है और शाही सम्पत्ति का भी कारण है। इस बात से तुष्टमान होकर शाह अकबर ने उपर्युक्त छः बातों के निषेध का फर्मान लिखकर अपने राज्य के सर्व सूबों में भेजा और विजयसेनसूरिजी को भी उसकी नकल दी। इस वर्ष का वर्षा चातुर्मास्य श्री विजयहीरसूरिजी ने सौराष्ट्र मंडल में किया था, आचार्य श्री के शरीर में बाधा बढ़ रही थी, इसलिये अपनी तरफ से लेख देकर विजयसेनसूरजी के पास पत्रवाहक भेजा और अन्तिम मिलाप के लिये अपने पास बुलाया। गुरु की आज्ञा मिलते ही विजयसेनसूरिजी ने लाहौर से विहार किया और अविच्छिन्न प्रयाणों से पाटण तक पहुँचे, तब ऊना में श्री हीरसूरि का स्वर्गवास होने की बात विजयसेनसूरिजी ने सुनी और आगे का विहार रोका।

श्री विजयसेनसूरि द्वारा जो कुछ धार्मिक और जिनशासन की प्रभावना के कार्य हुए, उनकी रूपरेखा नीचे दी जाती है :

सं० १६३२ में चम्पानेरगढ़ में जिनप्रतिष्ठा की और सुरतबन्दर में श्रीमिश्र चिन्तामणि प्रमुख विद्वानों की सभ्यता में श्री विजयसेनसूरिजी ने विवाद में भूषण नामक दिगम्बर भट्टारकजी को जीता।

राजनगर में अपने उत्तराधिकारी शिष्य श्री विद्याविजय को दीक्षा दी और प्रतिष्ठा कराई, गन्धार बन्दर तथा स्तम्भ तीर्थ में प्रतिष्ठा कराई और चातुर्मास्य भी खम्भात में किया, वजिया राजीया द्वारा वहां चिन्तामणि पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा की। बाद में १६५४ में अहमदाबाद में जमीन में से

निकली हुई विजयचिन्तामणि पार्श्वनाथ की मूर्ति शकब्बरपुर में स्थापित की, फिर उसी वर्ष में सा. मोटा की तरफ से महमदपुर में प्रतिष्ठा की और दोसी लहुआ की तरफ से प्रतिष्ठा कराकर गुर्जर तीर्थों की यात्रा करते हुए, शत्रुञ्जय की यात्रार्थ गये। यात्रा के बाद वहां से लौटकर स्तम्भतीर्थ आकर श्री विजयदेवसूरि को सूरि पद दिया और दो वर्ष के बाद सं० १६५८ में पाटन में विजयदेवसूरि को आपने गच्छानुज्ञा की। वहां से शंखेश्वर तीर्थ की यात्रा करते हुए आप राजनगर पधारे और चातुर्मास्य वहीं किया। आपके उपदेश से वहां के अनेक श्रावकों ने बड़े आडम्बर के साथ छ प्रतिष्ठा-महोत्सव करवाये। राजनगर के निवासी संघवी सूरा ने प्रतिगृह महमुदी की प्रभावना की और बाद में श्री आबु श्री राणकपुर आदि तीर्थों की यात्रा कर कुशलपूर्वक वापिस आचार्य के साथ संघ राजनगर आया। एक वर्ष में श्रावकों ने एक लाख महमुदी खर्ची। वहां से राधनपुर जाकर दो प्रतिष्ठाएं करवाईं, स्तम्भतीर्थ में एक, अकब्बरपुर में एक और गन्धार बन्दर में दो प्रतिष्ठायें करवा कर सौराष्ट्र के संघ के अत्याग्रह से सौराष्ट्र में पधारे। शत्रुञ्जय की यात्रा कर उस प्रदेश में तीन चातुर्मास्य और साठ प्रतिष्ठाएँ करवा कर गिरनार की यात्रा को गये और जामनगर में वर्षा चातुर्मास्य किया। सौराष्ट्र से लौट कर श्री शंखेश्वर होते हुए राजनगर पहुँचे। वहां चातुर्मास्य किया और चार प्रतिष्ठाएँ करवाईं, एकन्दर श्री विजयसेनसूरिजी के हाथ से ५० प्रतिष्ठाएँ और हजारों जिनप्रतिमाओं का अजन विधान हुआ। श्री शत्रुञ्जय, तारंगा, नारंगपुर, शंखेश्वर, पंचाशर, राणकपुर, आरासण, बीजापुर आदि स्थानों में आपने उपदेश द्वारा जीर्णोद्धार करवाये।

श्री विजयसेनसूरिजी ने आठ साधुओं को वाचक-पद और १५० साधुओं को पंडित-पद दिये। कुल २ हजार साधु-समुदाय के ऊपर २० वर्ष तक नेतृत्व करके सं० १६७१ के ज्येष्ठ कृष्णा ११ को अकब्बरपुर में स्वर्गवासी[१] हुए।

---

१. उ० मेघविजयजी ने पट्टावली के अपने अनुसन्धान में विजयसेनसूरिजी का स्वर्गवास खम्भात में ज्येष्ठ शुक्ला ११ को होना लिखा है। और "नमो दुर्वाररागादि०" इस योगशास्त्र के श्लोक के ७०० अर्थ बताने वाला विवरण और सूक्तावलि आदि ग्रन्थों की रचना की है।

श्री विजयसेनसूरि के पट्ट पर ६०वें पट्टधर तपागरण के सूर्य समान श्री विजयदेवसूरि तप रहे हैं। विजयदेवसूरि का जन्म सं० १६३४ में ईडरगढ़ में हुआ था था। सं० १६४३ में अपनी माता के साथ दीक्षा ली थी, स० १६५५ में पण्डित-पद और स० १६५६ में सूरि-पद तथा १६५८ में पाटन में गच्छानुज्ञा नन्दी हुई।

अहमदाबाद, पाटन और स्तम्भतीर्थ में क्रमशः दो, चार और तीन प्रतिष्ठाएँ करवा कर आपने अपनी जन्मभूमि ईडरगढ़ में चातुर्मास्य किया। वहां पर बड़ी प्रभावना हुई। चातुर्मास्य के बाद वडनगर में वीरजिन की प्रतिष्ठा करवा कर राजनगर गए और वर्षा चातुर्मास्य वहीं किया। इस समय दर्मियान ईडरगढ़ में मुसलमानों द्वारा ऋषभदेव प्रतिमा खण्डित हो गई थी, इसलिये वहां के श्रावकों ने उसी प्रमाण का नया जिनबिम्ब बनवा कर नड़ियाद की बड़ी प्रतिष्ठा में आचार्य विजयदेवसूरि द्वारा प्रतिष्ठित करवा के ईडर के किले पर के चैत्य में स्थापित करवाया।

एक समय बादशाह जहांगीर ने आचार्य विजयदेवसूरि के सम्बन्ध में कुछ विरुद्ध बातें सुनीं, इससे बादशाह ने खम्भात से बहुमानपूर्वकसूरिजी को अपने पास बुलाया, उनसे अनेक बातचीतें की जिन्हें सुनकर बादशाह को बड़ा सन्तोष हुआ और देवसूरि की विरोधी पार्टी की बातों से बादशाह के मन पर जो कुछ विपरीत असर हुआ था, वह मिट गया और बादशाह ने कहा – श्री हीरसूरिजी तथा विजयसेनसूरिजी के पट्ट पर सर्वाधिकार पाने के योग्य ये ही आचार्य हैं, दूसरा कोई नहीं, इत्यादि प्रशंसा करते हुए बादशाह ने उनको "जहांगिरी महातपा" यह विरुद दे कर शाही ठाट के साथ सूरिजी को अपने स्थान पहुँचवाया।

कालान्तर में विजयदेवसूरिजी गुजरात होते हुए, सौराष्ट्रदेशान्तर्गत दीवबन्दर गए। वहां के फिरंगी शासक ने आपको धार्मिक व्याख्यान देने की इजाजत दी, आप भी वहां २ वर्षाचातुर्मास्य कर जामनगर होते हुए शत्रुञ्जय की यात्रा करके खम्भात पधारे और वर्षा चातुर्मास्य वहीं किया। चातुर्मास्य के बाद खम्भात से विहार कर सावली स्थान में पहुंचे और

सूरिमन्त्र का तीन महीने तक ध्यान किया और वहीं चातुर्मास्य तथा २ प्रतिष्ठाएं करके ईडर गए। वहां तीन प्रतिष्ठाएं करवा कर संघ के साथ आरासण आदि तीर्थों की यात्रायें करते हुए पोसीना गए, वहां के पुराने पांच मन्दिरों का उपदेश द्वारा जीर्णोद्धार करवाया। आरासण के मूल नायक को प्रतिष्ठा योग्य समय में पुनः स्थापित किया।

कालान्तर में आप फिर ईडर पधारे और कल्याणमल्ल राजा के आग्रह से १६८१ में वैशाख सुदि ६ को विजयसिंहसूरि को आचार्य-पद देकर अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और चातुर्मास्य वहां ही ठहरे।

चातुर्मास्य के बाद आप विजयसिंहसूरिजी आदि परिवार के साथ आबु तीर्थ की यात्रा करके विहारक्रम से सिरोही पहुंचे और वर्षा चातुर्मास्य वहां ही किया। आसपास के अनेक स्थानों के भाविक श्रावक वन्दनार्थ आए और अपने-अपने नगर की तरफ विहार करने की प्रार्थनायें की, उनमें सादड़ी के श्रावक भी थे। उन्होंने लुम्पक मत के अनुयायियों के प्रचार की बात कह कर, फरियाद करते हुए कहा – हमारे नगर में लुंकामत का प्रचार जोरों से बढ़ रहा है और हमारा समुदाय निर्बल हो रहा है। इस पर से आचार्यश्री ने अपने पास के गीतार्थों को सादडी भेजा और उन्होंने वहां जाकर लुंका के वेशधारियों को ललकारा और निरुत्तर किया। वहां से गीतार्थ उदयपुर पहुँचे और मेवाड़ के राणा कर्णसिंह के पास जाकर राणाजी को अपनी विद्वत्ता से सन्तुष्ट करके उनकी राजसभा में लुम्पक वेशधारियों को शास्त्रार्थ के लिये बुलवाया और राजसभा समक्ष लुम्पकों को पराजित करके राणाजी की सही वाला आज्ञा-पत्र लिखवाया कि तपागच्छ वाले सच्चे हैं और लुंके झूठे हैं, राणाजी का यह पत्र सादड़ी के चौक में पढ़ा गया और लुंकों का प्राबल्य हटाया।

इसके बाद जोधपुर के राजा श्री गजसिंहजी के मन्त्री जयमल्लजी ने श्री विजयदेवसूरिजी को जालोर बुलाया और बड़े आडम्बर के साथ एक-एक वर्ष के अन्तर में तीन प्रतिष्ठाएं तथा तीन चातुर्मास्य करवा कर सुवर्णगिरि के ऊपर तीन चैत्यों की प्रतिष्ठाएं करवाईं।

सं० १६८४ में मन्त्री जयमल्लजी ने जालोर में श्री विजयसिंहसूरिजी की गच्छानुज्ञा नन्दी करवाई। बाद में मेड़ता नगर में तीन प्रतिष्ठाएँ करवा कर बीजोवा में चातुर्मास्य किया। गच्छ के गीतार्थों के उपदेश से खुश होकर राणा श्री जयसिंहजी ने पोष-दशमी के मेले पर आने वाले यात्रियों से लिया जाने वाला मुंडका के रूप में यात्रिक कर माफ किया। अपनी आज्ञा ताम्र-पत्र में खुदवा कर गुरु को भेंट किया तथा पत्थर पर खुदवा कर मन्दिर के बाहर पत्थर खड़ा किया। बाद में राणपुर आदि की यात्रा कर झाला श्री कल्याणजी के आग्रह से आपने मेवाड़ में विहार किया और खमणोर में दो, देलवाड़ा में एक, नाही गांव में एक और आघाट नगर में एक, ऐसी ५ प्रतिष्ठा करा कर उदयपुर में चातुर्मास्य किया। चातुर्मास्य पूर्ण होने के बाद गुजरात की तरफ विहार करते समय आप दल-बादल महल में ठहरे जहां राणा श्री जगतसिंहजी आचार्य को वन्दन करने आए और देर तक उपदेश सुना। परिणामस्वरूप राणाजी ने श्री विजयदेवसूरि के सामने चार बातों की प्रतिज्ञा की, वह इस प्रकार हैं — आज से पिछोला तथा उदयसागर तालाब में मछली नहीं पकड़ी जायगी १, राज्याभिषेक के दिन, गुरुवार को, जीवहिंसा बन्द रहेगी २, अपने जन्म-मास भाद्रवा में जीवहिंसा नहीं होगी ३, मचिदगढ़ में, कुम्भलविहार जिन चैत्य का जीर्णोद्धार कराया जायगा ४। राणाजी की उक्त ४ प्रतिज्ञाएँ सुनकर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। आचार्य के लोकोत्तर प्रभाव पर विश्वास आया।

मालवमण्डल में उज्जैनी आदि में, दक्षिण देश में बीजापुर, बुरहानपुर आदि में, कच्छ में भुजनगर आदि में, मारवाड़ में जालोर, मेड़ता, घंघाणी आदि गांवों में जीर्णोद्धारपूर्वक सैकड़ों जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराते अनेक साधुओं को पण्डित-पद तथा पाठक-पदों पर स्थापित करते और जीव हिंसादि के निषेध नियम कराते हुए विचरे।

"तपगणगणपतिपद्धति - रेखा गुणविजयवाचकैर्लिलिखे।
मन्दारबन्दिरीय-श्रावक सा० मालजी तुष्ट्यै ॥ १ ॥"

तपागच्छ पट्टावली सूत्रवृत्ति अनुसन्धित पूर्ति दूसरी

— उपाध्याय मेघविजयजी विरचिता

दाक्षिणात्य संघ का अत्याग्रह जानकर श्री विजयदेवसूरिजी गुजरात से विहार कर सूरतबन्दर पहुँचे, वहां सं० १६८७ में उत्पन्न हुए सागरमत के अनुयायी श्रावकों ने यह मत सत्य है, ऐसा गुरुमुख से कहलाने के लिये बहुत धन व्यय करके श्री मीर मोज नामक शासक को अपने अनुकूल कर अपनी तरफ के गीतार्थों को बुलवा कर श्री विजयदेवसूरिजी से वाद शुरु करवाया। सूरिजी ने भी सागरमत की प्ररूपणा सूत्रविरुद्ध होने से यथार्थ नहीं है, ऐसा प्रामाणिक पुरुषों की सभा में राजा के समक्ष गीतार्थों द्वारा सागरपाक्षिक गीतार्थों को परास्त करवाया, सभाजनों ने विजयदेवसूरि के जीतने का निर्णय दिया। राजा ने आचार्य का सन्मान किया, वहां से सूरिजी दक्षिण में विचरे। बीजापुर में आपने कुल ४ चातुर्मास्य किये। वहां के बादशाह श्री इद्लशाह ने गुरु से धर्म का स्वरूप सुना और प्रतिज्ञा की कि जब तक गुरु-महाराज यहां ठहरेंगे, तब तक यहां गोवध नहीं होने पाएगा। समुद्र-तटवर्ती "करहेड़ पार्श्वनाथ" "कलिकुण्ड पार्श्वनाथ" आदि तीर्थों की यात्रायें करते हुए, विजयदेवसूरि ने उन देशों के लोगों को धर्म में जोड़ा, आखिर औरंगाबाद में चातुर्मास्य करके आपने खानदेश की तरफ विहार किया और बुरहानपुर में २ चातुर्मास्य किये, वहां से संघ के साथ श्री अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ, श्री माणिक्य स्वामी की यात्रा करते हुए, तिलिंग देश में गोलकुण्डा के निकट भाग्यनगर में बादशाह श्री कुतुबशाह से मिले और उनकी सभा में तैलिंग ब्राह्मणों को वाद में जीत कर जैनधर्म की

व्यवस्थापना के लिये श्री बादशाह को खुश किया और उससे जरूरी आज्ञाएं प्राप्त कीं। बाद वहां अनेक जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठायें करवाईं। राजा-प्रतिबोध आदि से दक्षिणापथ में उनका विहार सर्वत्र सुगम हो गया। इतना ही नहीं; उस देश में सात प्रतिष्ठाएं और सात ही वर्षा-चातुर्मास्य करके उस प्रदेश में जैनधर्म का खासा प्रचार किया।

दक्षिणापथ में विजयदेवसूरिजी ने ८० विद्वानों को पण्डित पद दिए और एक को उपाध्याय पद, फिर आप संघ के आग्रह से गुजरात में पधारे।

इधर श्री विजयसिंहसूरिजी ने भी गुरु-आज्ञा से मारवाड़, मेवाड़, मेवात आदि प्रदेशों में विचर राणा श्री जगत्सिंहजी को उपदेश देकर देश में जीवदया का प्रचार करवाया। जैन तीर्थों में उपदेश द्वारा १७ भेदी पूजा का प्रचार करवाया, मारवाड़ में मेड़ता नगर में एक प्रतिष्ठा कराई, किशनगढ़ में राठौड़वंशी श्री रूपसिंह महाराज के महामात्य श्री रायचंद के आग्रह से चातुर्मास्य किया और चातुर्मास्य के बाद मन्त्री द्वारा अनेक जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा करवाई। वहां पर आल्हणपुर से आए हुए, श्री महेशदास के मन्त्री श्री सुगुणा ने सुवर्णमुद्राओं से पूजन कर गुरु को वन्दन किया, बाद में मालपुर, बुन्दी, चतलेर पार्श्व प्रमुख तीर्थों की यात्रा करते हुए आप जैतारण पधारे और वहां चातुर्मास्य करने के बाद आप स्वर्णगिरि की यात्रा कर अहमदाबाद पहुंचे और गुरु को वन्दन किया। गुरु के साथ आपने सं० १७०५ में ईडरगढ़ में प्रतिष्ठा करवाई और वहां पर देवसूरिजी की तरह विजयसिंहसूरिजी ने भी ६४ विद्वानों को पण्डित-पद पर स्थापित किया। वहां से क्रमशः पाटन, राजनगर आदि में चातुर्मास्य करते हुए[१] खम्भात पहुंचे और वर्षा चातुर्मास्य वहीं किया।

श्री विजयसिंहसूरि का सं० १६४४ में जन्म, १६५४ में व्रत, १६७२ में वाचक-पद और सं० १६८१ में सूरि-पद हुआ था। श्री विजयसिंहसूरिजी बड़े क्षमाशील और विवेकी थे। आप २८ वर्ष तक सूरि-पद पर रह कर

१. सं० १७०९ में लुंकामत के पूज्य बजरंगजी के शिष्य लवजी से मुख पर मुंहपत्ति बांधने वाले ढुंढकों की उत्पत्ति हुई। इसमें दो भेद हैं – षट्कोटिक और अष्टकोटिक।

सं० १७०८ में अहमदाबाद के निकटवर्ती नवीनपुर में आषाढ़ सुदि २ को स्वर्गवासी हुए।

आचार्य श्री विजयदेवसूरि अनेक देशों में विचरे और जिनप्रवचन की उन्नति की। समय आने पर अपना आयुष्य चार वर्ष का शेष जान कर स० १७१० में वैशाख सुदि १० को श्री विजयप्रभसूरि को अपने पाट पर प्रतिष्ठित किया। विजयप्रभसूरि का वृत्तलेश निम्न प्रकार से है :

"सिरिविजयदेवपट्टे, पढ़मं आसो गुरू विजयसीहो।
सग्गगए तम्मि गुरु - पट्टे विजयप्पहो सूरी॥ १॥"

श्री विजयदेवसूरि के पट्ट पर प्रथम श्री विजयसिंहसूरि उत्तराधिकारी हुए थे, परन्तु विजयदेवसूरि की विद्यमानता में ही उनका स्वर्गवास हो जाने से आचार्यश्री ने अपने पट्ट पर श्री विजयप्रभसूरि को प्रतिष्ठित किया।

आचार्य श्री विजयप्रभसूरि का जन्म १६३७ में कच्छ देश के मनोहर-पुर में हुआ था। सं० १६८६ में दीक्षा, १७०१ में पंन्यास-पद, सं० १७१० में आचार्य-पद और संवत् १७१३ में भट्टारक-पद हुआ था।

विजयप्रभसूरि का श्रमणावस्था का नाम "वीरविजय" था। गान्धार बन्दर में आचार्य-पद पर स्थापित करके श्री विजयदेवसूरिजी ने "विजय-प्रभसूरि" नाम रक्खा। वहां से विचरते हुए विजयदेवसूरिजी नवीन आचार्य के साथ सूरत पहुँचे और वर्षा चातुर्मास्य सूरत में किया, सूरत के बाद अहमदाबाद जाकर वर्षा चातुर्मास्य किया और चातुर्मास्य के बाद वहीं पर विजयप्रभसूरि को गणानुज्ञा की, बाद में एक चातुर्मास्य अहमदपुर में करके विजयदेवसूरिजी विजयप्रभसूरि के साथ शत्रुञ्जय की यात्रा के लिये सौराष्ट्र की तरफ पधारे और संघ के साथ यात्रा करके सौराष्ट्रीय संघ के आग्रह से ऊनापुर गए। क्रमशः सं० १७१३ में आषाढ़ शुक्ला ११ को श्री विजयदेवसूरिजी ने स्वर्ग प्राप्त किया।

आचार्य श्री विजयप्रभसूरि ने सौराष्ट्र में १० वर्षा चातुर्मास्य किए, सं० १७१५, १७१७ और सं० १७२० इन तीन वर्षों में गुजरात आदि

देशों में दुष्काल पड़े, पर सौराष्ट्र में उसका प्रसार नहीं हुआ। सं० १७२३ में घोघा बन्दर में अनेक जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करवाई और इसके बाद अहमदाबाद नगर के संघ के आग्रह से आपने गुजरात की तरफ विहार किया।

"सिरिविजयरयणसूरि-पमुहेहिं ऐगसाहुवग्गेहिं ।
परिकलिआ पुहविअले, सूरिवरा बिन्तु मे भद्दं ॥४॥"

श्री विजयरत्नसूरि प्रमुख अनेक साधु-वर्गों से परिवृत पृथ्वीतल पर विचरते श्री विजयदेवसूरि के पट्टधर श्री विजयप्रभसूरि कल्याणप्रद हों; जिनके गुजरात, मारवाड़, मालवा, मेवाड़, मेवात, कच्छ, हालार, सौराष्ट्र, दक्षिणादि देशों में तपःतेज के प्रताप से धर्मकार्य निर्विघ्नता से हो रहे हैं।

"श्रीविजयप्रभसूरे – रुपासकः श्री कृपादिविजयानाम् ।
विबुधां शिष्यो मेघः, संबन्धमिमं लिलेख मुदा ॥३॥"

श्री विजयप्रभसूरि के चरणसेवी और पण्डित श्री कृपाविजयजी के शिष्य मेघविजय ने पट्टावली का यह सम्बन्ध सहर्ष लिखा।

पट्टावलीसारोद्धार

लेखक : रविवर्धन उपाध्याय

आचार्य श्री विजयप्रभसूरि सं० १७२६ में उदयपुर गए, उदयपुर में प्रतिष्ठा कराकर मेवाड़ में दो चातुर्मास्य किये, फिर मारवाड़ में गए और सं० १७३२ में नागौर नगर में श्री विजयरत्नसूरि को अपना पट्टधर कायम किया और मेड़ता नगर में वर्षा चातुर्मास्य ठहरे, बाद में मेवाड़ मेवात, मारवाड़ देश में धर्म का प्रचार करते हुए, सं० १७३९ में गुजरात गये और श्री पाटन नगर में वर्षा चातुर्मास्य किया, आचार्य श्री विजयरत्नसूरिजी के दोनों प्रकार के भाई पं० विजयविमलगणि के वाचनार्थ उपा० रविवर्द्धनगणि ने इस पट्टावलीसारोद्धार का उद्धार किया।

इस पट्टावली के नीचे की अनुपूर्ति :

५९ श्री विजयसेनसूरि, ६० राजसागरसूरि, ६१ वृद्धिसागरसूरि, ६२ लक्ष्मीसागरसूरि, ६३ कल्याणसागरसूरि।

श्री गुरुपट्टावली–अनुपूर्ति :

विजयरत्नसूरि का पालनपुर में जन्म सं० १७२२ में, दीक्षा सं० १७-३२ में, आचार्य-पद १७५० में सूरिपद (गणानुज्ञा) सं० १७७३ के भाद्रपद वदि ३ को, उदयपुर में स्वर्गवास।

विजयरत्नसूरि के पट्ट पर ६४ वें विजयक्षमासूरि, इनका जन्म पाली में, सं० १७३८ में दीक्षा, सं० १७७३ में सूरिपद, और सं० १७८५ में चैत्र सुदि ५ को मांगलोर में स्वर्गवास।

विजयक्षमासूरि के पट्ट पर ६५ वें विजयदयासूरि का दीवनगर में आचार्य-पद, सं० १७८२ में पौ०, और विजयदयासूरि के पट्ट पर ६६ वें विजयधर्मसूरि, विजयधर्मसूरि के पट्ट पर श्री ६७ जिनेन्द्रसूरि और जिनेन्द्र-सूरि के पट्ट पर श्री ६८ वें देवेन्द्रसूरि, देवेन्द्रसूरि के पट्ट पर ६९ श्री धरणे-न्द्रसूरि, धरणेन्द्रसूरि के पट्ट पर ७० विजयराजसूरि, विजयराजसूरि के पट्ट पर ७१वें विजयमुनिचन्द्रसूरि और मुनिचन्द्र के पट्टधर ७२ वें श्री विजयकल्याणसूरि।

श्री बृहत्पौषधशालिक-पट्टावली

"सत्थिसिरिसिद्धिसयणं, णमिऊणं वद्धमाणजिणनाहं ।
गुरुपरिवाडीहेउं, तहेव सिरिइंदभूइगुरुं ॥ १ ॥
गुरुपरिवाडि वुच्छं, तत्थेव जिणिंदवीरदेवस्स ।
पट्टोदयपढमगुरू, सुहम्मनामेण गणसामी ॥ २ ॥"

'कल्याण लक्ष्मी तथा सिद्धि के कुलगृह समान और गुरुपरम्परा के हेतु ऐसे वर्द्धमान जिननाथ को तथा श्री इन्द्रभूति गुरु को नमन करके गुरुपरम्परा को कहूंगा, जिनेन्द्र वीरदेव के पट्ट पर तथा शासनोदय में प्रथम गुरु सुधर्मा नामक गण के स्वामी हुए ।१-२।'

"बीओ गणवइ जंबू, पभवो तइओ गणाहिवो जयइ ।
सिरि सिज्जंभवसामी, जसभद्दो विसउ भद्दाणि ॥३॥
संभूइविजयसूरि, सुभद्दबाहू य - थूलभद्दो अ ।
अज्ज महागिरिसूरी, अज्ज सुहत्थी दुवे पट्टे ॥४॥"

'गणधर सुधर्मा के बाद दूसरे गणाधिपति जम्बू और तीसरे गणाधिपति आर्य प्रभव जयवंत हुए, आर्य प्रभव के बाद श्री शय्यम्भव स्वामी और शय्यम्भव के पट्टधर श्री यशोभद्र कल्याणप्रद हों, यशोभद्र के पट्टधर श्री संभूतिविजयसूरि और भद्रबाहु आचार्य हुए और इन दोनों के पट्ट पर आचार्य स्थूलभद्र हुए, स्थूलभद्र के पट्ट पर आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती दो पट्टधर हुए ।३।४।'

"सुट्ठिय-सुप्पडिबुद्धा, कोडिअ-काकंदिगा गणाभिक्खा ।
सिरिइंददिन्न-दिन्ना, सीहगिरी वयरसामी अ ॥५॥

"सिरि वज्जसेणसूरी, कुलहेऊ चंदसूरितप्पट्टे ।
सामंतभद्दसुगुरू, वणवास रईविरायेण ॥६॥"

'आर्य सुहस्ति के पट्ट पर कोटिक और काकन्दिक सुस्थित सुप्रतिबुद्ध हुए, जिनसे गण का नाम "कोटिक" प्रसिद्ध हुआ, सुस्थित सुप्रतिबुद्ध के पट्ट पर श्री इन्द्रदिन्न, इन्द्रदिन्न के पट्ट पर श्री दिन्न, श्री दिन्न के पट्ट पर श्री सिंहगिरि, सिंहगिरि के पट्ट पर वज्रस्वामी और वज्रस्वामी के पट्ट पर श्री वज्रसेनसूरि हुए। वज्रसेन के पट्ट पर श्री चन्द्रकुल के हेतुभूत श्री चन्द्रसूरि, चन्द्रसूरि के पट्ट पर सामन्तभद्र गुरु हुए, जो वैराग्यवश वनवास-रुचि होने से "वनवासी" कहलाए।५।६॥'

"सिरिवुड्ढदेवसूरी, पज्जोयण – माणदेव मुणिदेवा ।
सिरिमाणतुंगपुज्जो, वीरगुरू जयउ जयदेवो ॥ ७ ॥
देवाणंदो विक्कम – नरसिंह – समुद्द – माणदेववरा ।
विबुहप्पहाभिहाणो, युगप्पहाणो जयाणंदो ॥ ८ ॥"

'श्री समन्तभद्र के पट्टधर श्री वृद्धदेवसूरि, वृद्धदेव के पट्टधर प्रद्योतनसूरि, प्रद्योतनसूरि के पट्टधर मानदेवसूरि, रूप से देव स्वरूप हुए, श्री मानदेव के पट्टधर श्री मानतुंगसूरि पूज्य हुए, मानतुंग के पट्ट पर वीरसूरि, वीरसूरि के पट्टधर जयदेव हुए, जयदेव के पट्ट पर देवानन्दसूरि, देवानन्द के पट्ट पर विक्रमसूरि, विक्रमसूरि के पट्ट पर नरसिंहसूरि, नरसिंहसूरि के पट्ट पर समुद्रसूरि, समुद्रसूरि के पट्ट पर मानदेवसूरि, मानदेवसूरि के पट्ट पर विबुध-प्रभाचार्य और विबुधप्रभ के पट्ट पर युगप्रधान जयानन्दसूरि हुए।७।८॥'

"सिरिरविपहसूरिंदो, जसदेवो देवयाहिं दीवंतो ।
पज्जुन्नसूरि पुण माण-देवसिरि विमलचंदगुरू ॥९॥
उज्जोयणो य सूरी, वडगच्छो सव्वदेवसूरि पहू ।
सिरिदेवसूरि तत्तो, पुणोवि सिरिसव्वदेवमुणी ॥१०॥"

'जयानन्दसूरि के पट्टधर श्री रविप्रभसूरि, रविप्रभ के पट्टधर यशो-देवसूरि हुए, जो सूरिमन्त्र के अधिष्ठातृ देवों से देदीप्यमान थे। यशोदेव के

पट्ट पर प्रद्युम्नसूरि, प्रद्युम्नसूरि के पट्टधर फिर मानदेवसूरि और मानदेव-सूरि के पट्ट पर विमलचन्द्रसूरि हुए। विमलचन्द्र के पट्टधर उद्योतनसूरि और उद्योतनसूरि के पट्ट पर वटगच्छ-प्रवर्तक सर्वदेवसूरि, सर्वदेवसूरि के पट्ट पर श्री देवसूरि और देवसूरि के पट्ट पर फिर सर्वदेवसूरि हुए ९।१०।'

"जेण य अट्ठायरिया, समयं सुत्तत्थदायगा ठविआ।
तत्थ धणेसर सूरी, पभावगो वीरतित्थस्स ॥ ११ ॥
सवणाणं सत्तसया – एगुच्चिअ विक्खिआ सहत्थेण।
चित्तपुरि जिण वीरो पइट्ठिओ चित्तगच्छो य ॥१२॥"

'जिन द्वितीय सर्वदेवसूरि ने सूत्र और अर्थ के देने वाले आठ मुनियों को आचार्य-पद पर स्थापित किया, जिनमें भगवान् महावीर के शासन-प्रभावक धनेश्वरसूरि भी एक थे। इन्हीं धनेश्वरसूरि ने ७०१ दिगम्बर साधु एक साथ अपने शिष्य बनाये थे, चैत्रपुर नगर में वीर जिन की प्रतिष्ठा करने से इनका समुदाय "चैत्रगच्छ" के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।।११।१२।।'

"तत्थ सिरिचित्तगच्छे, तओ गणी भुवणचंद तप्पट्टे।
जावज्जीवं अंबिल – तवकरणाभिग्गहा उग्गा ॥१३॥"
आबालगोव सुपसिद्ध-सुद्ध संपत्त"तवगणाभिक्खा"।
सिरिदेवभद्दगुरुणो, जगचंदो तप्पढम सीसो ॥१४॥"

'उस श्री चैत्रगच्छ में धनेश्वरसूरिजी के पट्ट पर भुवनचन्द्र आचार्य हुए और भुवनचन्द्र के पट्ट पर यावज्जीव आयम्बिल तप करने के अभिग्रह-वान् उग्रविहारी श्री देवभद्र गुरु हुए, जिनसे आबाल गोपाल सुप्रसिद्ध शुद्ध संयमवान् "तपागण" की प्रसिद्धि हुई, उन देवभद्र गुरु के प्रथम शिष्य "जगच्चन्द्रसूरि" हुए ।१३।१४।।'

"देविंद – विजयचंदा, गुरुबंधू खेमकित्ति-कित्तिधरो।
गुरुहेमकलस पुज्जो, रयणायरसूरिणो सधा ॥१५॥
रयणप्पह मणिसेहर – गुरुणो सिरिधम्मदेवनाणससी।
अभयाओ सिंहवरा, जयतिलया रयणसिंहगुरू ॥१६॥"

'जगच्चन्द्रसूरिजी के दो शिष्य हुए, आचार्य देवेन्द्रसूरिजी और विजयचन्द्रसूरिजी। इन दो गुरु-भाइयों में से विजयचन्द्रसूरि के पट्टधर श्री क्षेमकीर्तिसूरि हुए, जिन्होंने 'बृहत्कल्प' पर टीका लिखकर अपनी कीर्ति का विस्तार किया। क्षेमकीर्ति के पट्ट पर हेमकलशसूरि हुए, हेमकलश के पट्टधर श्री रत्नाकरसूरि हुए, जो सच्चे रत्नाकर थे। रत्नाकरसूरि के पट्ट पर श्री रत्नप्रभसूरि, रत्नप्रभ के पाट पर श्री मुनिशेखरसूरि, मुनिशेखर के पट्ट पर धर्मदेवसूरि हुए, धर्मदेवसूरि के पट्ट पर ज्ञानचन्द्रसूरि, ज्ञानचन्द्र के पट्ट पर श्री अभयसिंहसूरि, अभयसिंह के पट्ट पर श्री जयतिलकसूरि हुए, जयतिलकसूरि के पट्ट पर रत्नसिंहसूरि हुए ॥१५।१६॥'

"सिरिउदयवल्लहा पुण, सच्चत्था नाणसायरा गुरुणो।
सिरिउदयसायरा वि य, लद्धिवरा लद्धिसायरया ॥१७॥

सिरिधणरयणगणहिव, अमराओ रयणतेअओ रयणा।
गुरुभायरा गुणन्नू, सूरिवरो देवरयणो य ॥ १८ ॥"

'आचार्य रत्नसिंह के पट्ट पर श्री उदयवल्लभसूरि और उदयवल्लभ के पट्ट पर नामानुरूप गुण वाले श्री ज्ञानसागरसूरि, ज्ञानसागर के पट्टधर उदयसागरसूरि, उदयसागर के पट्टधर लब्धिधारी श्री लब्धसागरसूरि, लब्धिसागर के पट्ट पर श्री धनरत्नसूरि, धनरत्न के पट्ट पर श्री अमररत्नसूरि और श्री तेजरत्नसूरि गुरुभ्राता थे, अमररत्नसूरि ने चार विद्वानों को आचार्य बनाया था, जिनके नाम – तेजरत्नसूरि, देवरत्नसूरि, कल्याणरत्नसूरि और सौभाग्यरत्नसूरि थे ॥१७।१८॥'

"सिरिदेवसुंदराभिहा, विहरंता विजयसुन्दरा गुरुणो।
चिरजीविणो हवंतु, जिणसासणभूसणा परमा ॥१९॥

धणरयणसूरिसीसा, विबुहवरा भाणुमेरुगणिपवरा।
माणिक्करयणवायग, – सीसा लहुभायरा तेसिं ॥२०॥

नयसुंदराभिहाणा, उवज्झाया सुगुरुचरणकमलाइं।
पणमंति भत्तिजुत्ता, गुरुपरिवाडि पयासंता ॥२१॥"

'विचरते हुए श्री देवसुन्दर और विजयसुन्दर गुरु जो जिनशासन के परम भूषण हैं, वे चिरजीवी हों ।

धनरत्नसूरि के शिष्य पंडितवर भानुमेरु गणी और माणिक्यरत्न वाचक के शिष्य और भानुमेरु गणी के छोटे भाई नयसुन्दर नामक उपाध्याय गुरु-परिपाटी को प्रकाशित करते हुए गुरुओं के चरणकमलों में भक्तियुक्त प्रणाम करते हैं ।१९।२०।२१।।'

बृहत्पौषधशालिक आचार्यों की पट्ट-परम्परा

आचार्य मणिरत्नसूरिजी के शिष्य जगच्चन्द्रसूरिजी ने अपने गच्छ के साधुओं में शिथिलाचार का प्रवेश होता देख, किसी त्यागी महात्मा की निश्रा में रह कर विशुद्ध चारित्र पालते हुए, आत्महित करने का निश्चय किया। तपास करने पर उन्हें चैत्रगच्छीय आचार्य भुवनचन्द्र के शिष्य देवभद्रगणि के त्याग और संवेग का पता लगा और उन्होंने देवभद्रगणि से चारित्रोपसम्पदा लेकर विशुद्ध चारित्र और निरीह तप करना शुरु किया। देवभद्रगणि को यावज्जीव आयम्बिल करने का नियम था, वैसे ही जगच्चन्द्रसूरिजी ने भी यावज्जीव आयम्बिल करने का अभिग्रह किया। दोनों महात्मा एक दूसरे के सहायक बनते हुए धर्म का आराधन और प्रचार करते थे। जगच्चन्द्रसूरिजी के तपस्त्याग का देवभद्रगणि पर बड़ा भारी असर पड़ा। वे जगच्चन्द्रसूरिजी के उपसम्पदादाता होने पर भी जगच्चन्द्रसूरि को शिष्य-स्थानीय न मान कर कई बातों में अपना गुरु-स्थानीय मानते थे, साथ-साथ विचरते थे और एक ही सामाचारी को पालते थे, जो बृहद्गच्छ में परम्परा से चली आती थी।

जगच्चन्द्रसूरिजी के दो विद्वान् शिष्य हुए, पहले देवेन्द्रसूरि और दूसरे विजयचन्द्रसूरि। लघु पौषधशालिक पट्टावली तथा तपागच्छ की पट्टावलियों के लेखानुसार विजयचन्द्र गृहस्थाश्रम में मन्त्री वस्तुपाल की देखभाल के नीचे गुजरात राज्य के ५०० गांवों के प्रांत के अर्थाधिकारी थे और आर्थिक व्यवस्था में गोलमाल करने के कारण वे कारागार के अतिथि

बने थे, परन्तु दीक्षा लेने की शर्त से वे देवभद्रगणि के प्रयत्न से कारागार से मुक्त हुए थे और दीक्षा लेकर शास्त्राध्ययन करके देवभद्रगणि के आग्रह से उनको जगच्चन्द्रसूरिजी ने आचार्य-पद तक दे दिया था।

जगच्चन्द्रसूरि के स्वर्गवास के बाद कई वर्षों तक विजयचन्द्र देवेन्द्र-सूरिजी की आज्ञा में रहे थे, परन्तु बाद में वह अपने साथ के श्रमण समुदाय का संचालन स्वयं करने लगे थे। कोई १२ वर्ष के बाद देवेन्द्र-सूरिजी गुजरात में आए और खम्भात पहुंचे, तो उन्हें ज्ञात हुआ कि विजय-चन्द्रसूरि १२ वर्ष से उसी बड़ी पौषधशाला में ठहरे हुए हैं, जिसमें जगच्चन्द्रसूरिजी तथा श्री देवेन्द्रसूरिजी ठहरते नहीं थे। क्योंकि उसमें शिथिलावस्था प्राप्त पासत्थाचार्य ठहरते आये थे और रिपेरिंग काम में देवद्रव्य लगाया गया था। आचार्य देवेन्द्रसूरिजी खम्भात की उस बड़ी पौषधशाला में न जाकर दूसरी पौषधशाला में उतरे, जो अपेक्षाकृत उससे कुछ छोटी थी। देवेन्द्रसूरिजी के पास श्रमण अधिक थे और श्रावक-श्राविकायें भी वहां अधिक जाते थे, फिर भी मकान छोटा होने के कारण उनका समुदाय "लघु-पौषधशालिक" अथवा "लघु-शालिक" नाम से प्रसिद्ध हुआ और विजयचन्द्रसूरि का समुदाय "बृहत्पौषधशालिक" नाम से।

अब बृहत्पौषधशालिक पट्टावलीकार का विजयचन्द्रसूरिजी के सम्बन्ध में क्या मन्तव्य है वह भी जान लेना जरूरी है।

बृहत्पौषधशालिक पट्टावली के टीकाकार लिखते हैं – "पूर्वकाल में माणसा नगर में रहने वाला अनेक प्रकार की ऋद्धि-समृद्धि का उपभोक्ता ओसवाल वंश का श्रृङ्गार और दुःखी लोगों का आधार मन्त्री गजराज था। उसके कुल में सूर्य समान श्री वीरधवल राजा के ५०० गांवों का अधिकारी जिसका अन्तःकरण जिनधर्म की वासना से वासित है, सम्यक्त्व मूल द्वादश व्रत का पालने वाला, सर्वजनों का उपकार करने वाला, निरवद्य विद्याओं का ज्ञाता श्री विजयपाल नामक मन्त्री था।

एक समय देवभद्र गुरु को वीजापुर में रहे हुए जानकर २५ व्यापा-रियों से परिवृत श्री विजयपाल वीजापुर में चतुर्दशी का पौषधोपवास ग्रहण

करने के लिये गुरु के समीप गया। व्यापारियों के साथ पौषध ग्रहण करके विजयपाल ने गुरु के मुख से देशना सुनी, वैराग्य-रस से पूर्ण चित्त वाले विजयपाल ने दूसरे दिन प्रभात को गुरु से दीक्षा देने की प्रार्थना की। गुरु ने यथा सुखं कहा, विजयपाल भी पौषध पाल कर अपने घर गया और मन्त्री वस्तुपाल को अपने अधिकार का हिसाब देकर बड़ी धूमधाम के साथ २५ व्यापारियों के साथ और अपने पुत्र तथा स्त्री के साथ श्री देवभद्र के हाथ से चारित्र ग्रहण किया। गुरु के पास रहते हुए अनेक शास्त्रों का अभ्यास करके गीतार्थ बना। महामात्य वस्तुपाल को विजयपाल के इस जीवन सुधार से बड़ा हर्ष हुआ और देवभद्र तथा जगच्चन्द्र गुरु को विजय-चन्द्र मुनि को आचार्य-पद देने की प्रार्थना की। गुरुजी ने भी दोनों शिष्यों को पद योग्य जानकर श्री देवेन्द्रसूरि तथा विजयचन्द्राचार्य को आचार्य पद दिया। इसके उत्सव में मन्त्री वस्तुपाल ने बहुत द्रव्य खर्च किया, ऐसा वृद्धों का कहना है। इस सम्बन्ध में जो न्यून अधिक बातें कहते हैं, उनकी बात वे ही जानें। हम तो दोनों के गुणरागी हैं। वृद्धों की परम्परा से जो वृत्तान्त हम तक आया, उसी को लिखा, "खरा तत्त्व तो केवली भगवान् जानते हैं।"

"बृहत्पौषधशालिक पट्टावली" के लेख से इतना अवश्य ध्वनित होता है कि विजयपाल की दीक्षा का कारण देवभद्र के एक व्याख्यान का उपदेश मात्र नहीं, किन्तु कोई गर्भित कारण और भी है, परन्तु उसका स्पष्टीकरण करना निरर्थक है। यदि विजयपाल ने पच्चीस व्यापारियों के साथ दीक्षा ली है, तो वह अच्छे दर्जे का पुरुष होगा, इसमें शंका को स्थान नहीं है। विजयचन्द्र का रचा हुआ कोई ग्रन्थ प्रकरण हमारे देखने में नहीं आया, इसलिये इनकी विद्वत्ता के सम्बन्ध में कुछ भी कहना अनुचित होगा। परन्तु इन्होंने अपने तीन शिष्यों को आचार्य बनाया था, इससे मालूम होता हैं कि खम्भात में दीर्घकाल तक रह कर अपने शिष्य अवश्य तय्यार किये थे। श्री देवेन्द्रसूरिजी से आज्ञा न मंगवा कर गच्छ सम्बन्धी कार्य स्वयं करने के सम्बन्ध में पट्टावलीकार का कहना है कि श्री देवेन्द्रसूरिजी को मालवा से बुलाया, परन्तु कारणविशेष से वर्षों तक वे नहीं आ सके। फलस्वरूप

खम्भात में रहे हुए, साधु-साध्वी तथा श्रावक-श्राविका के आग्रह से वे स्वयं गच्छपति बने थे। पट्टावलीकार का यह कथन विजयचन्द्रसूरि का बचाव करना मात्र है। गच्छाधिपति द्वारा अथवा उनके अभाव में किसी अन्य अधिकारी आचार्य द्वारा गच्छानुज्ञा करने के बाद ही कोई भी आचार्य गच्छपति की हैसियत से गच्छ का कार्य कर सकता है। कुछ भी हो परन्तु इतना तो निश्चित है कि देवेन्द्रसूरिजी के साथ के सम्बन्ध तोड़ने का परिणाम तपागच्छ के लिए हानिकर हुआ है।

श्री देवेन्द्रसूरिजी की पट्टपरम्परा के पट्टधर आचार्यों का पट्टक्रम लघु पौषधशालिक पट्टावली में दिया जा चुका है, अब हम बृहत्पौषधशालिक पट्टावली के अनुसार द्वितीय सर्वदेवसूरि के आगे के आचार्यों का पट्टक्रम देते हैं :

३९ पट्टे श्री धनेश्वरसूरि – चैत्रपुर में महावीर की प्रतिष्ठा कर्त्ता और चैत्रगच्छ के प्रवर्तक।

४० पट्टे श्री भुवनचन्द्रसूरि –

४१ पट्टे श्री देवभद्र गणि – "तपागण" को लोक में प्रसिद्ध करने वाले। सं० १२८५ में "तपा" बिरुद मिला।

४२ पट्टे श्री जगच्चन्द्रसूरि – "हीरला जगच्चन्द्रसूरि" ऐसे बिरुद वाले।

४३ पट्टे श्री विजयचन्द्रसूरि –

४४ पट्टे श्री क्षेमकीर्तिसूरि – सं० १३३२ में "बृहत्कल्प" की टीका की। इनके दो गुरुभाई थे, वज्रसेनसूरि और श्री पद्मचन्द्रसूरि। क्षेमकीर्ति के शिष्य पं० श्री नयप्रभ गणि, "गुरुतत्त्व-प्रदीप" अपर नाम "उत्सूत्रकन्दकुद्दाल" ग्रन्थ के कर्त्ता।

४५ हेमकलशसूरि – हेमकलशसूरि ने यशोभद्रसूरि को आचार्य-पद दिया।

४६ श्री रत्नाकरसूरि –	जिनके नाम से "वृद्ध तपागरण" "रत्नाकर गच्छ" नाम से प्रसिद्ध हुआ।
४७ श्री रत्नप्रभसूरि –	
४८ श्री मुनिशेखरसूरि –	
४९ श्री धर्मदेवसूरि –	आरासण तीर्थ में प्रतिष्ठा कराई। सिंहदत्त को आचार्यपद दिया।
५० श्री ज्ञानचन्द्रसूरि –	
५१ पट्टे अभयसिंहसूरि –	अभयसिंहसूरि ने हेमचन्द्र नामक मुनि को आचार्य-पद दिया।
५२ पट्टे श्री जयतिलकसूरि –	अनेक आचार्य, उपाध्याय, पंन्यास, साधु, महत्तरा आदि मिलकर २२०० साधु-साध्वी के परिवार वाले थे। जयतिलकसूरि ने ३ आचार्य स्थापित किये, श्री धर्मशेखरसूरि, श्री माणिक्यसूरि और रत्नसागरसूरि। चौथे आचार्य श्री संघतिलकसूरि बड़े प्रभावक हुए।
५३ पट्टे श्री रत्नसिंहसूरि –	श्री रत्नसिंहसूरि ने विमलनाथ प्रासाद को तथा अनेक तीर्थङ्कर बिम्बों की प्रतिष्ठा सं० १५०९ में माघ सुदि ५ को की, तथा अपने हाथ से श्री हेमसुन्दरसूरि, श्री उदयवल्लभसूरि तथा ज्ञानसागरसूरि को आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित किया। श्री रत्नसिंहसूरिजी ने "आदौ नेमिजिनं नौमि" इत्यादि स्तोत्र बनाया, जिसके पाठ करने से और इसके अनुसार यन्त्र बना कर बादशाह के सिर पर रखने से बादशाह के कुल में उपद्रव की शान्ति हुई।

"श्री रत्नसिंह" के "श्री शिवसुन्दर गणि" विद्वान् शिष्य हुए, "वाक्यप्रकाश" ग्रन्थ के कर्ता उपाध्याय उदयधर्म गणि, श्री चारित्रसुन्दरसूरि जिन्होंने महीपाल, कुमारपाल, संस्कृत चरितों का निर्माण किया। श्री रत्नसिंहसूरि के तीन शिष्य आचार्य हुए, श्री हेमसुन्दरसूरि, पट्टधर आचार्य श्री उदयवल्लभसूरि।

५४ उदयवल्लभसूरि –

५५ पट्टे श्री ज्ञानसागरसूरि – आपने "विमलचरित्र" आदि अनेक चरित ग्रन्थों की रचना की थी। ज्ञानसागरसूरि का संग्राम सौवर्णिक परम भक्त था।

५६ पट्टे श्री उदयसागरसूरि – उदयसागरसूरि ने ५ आचार्य बनाये थे, जिनके नाम श्री "लब्धिसागरसूरि", "श्री शीलसागरसूरि", "श्री चारित्रसागरसूरि, श्री धनसागरसूरि और श्री धनरत्नसूरि, इनमें से उदयसागर के पट्टधर श्री लब्धिसागरसूरि हुए।

५७ पट्टे श्री लब्धिसागरसूरि – लब्धिसागरसूरि ने "प्राकृत चतुर्विंशति-जिनस्तव रत्नकोश", "पृथ्वीचन्द्र चरित्र", "यशोधरचरित्रा"दि ग्रन्थों का निर्माण किया।

५८ पट्टे श्री धनरत्नसूरि – लघुशालीय गच्छाधिराज श्री पूज्य श्री हेमविमलसूरीश्वर - पादारविन्द - मधुकर षड्दर्शन प्रसिद्ध शतार्थी बिरुदधर, बादशाह प्रदत्त सहस्रार्थी बिरुदभृत, सकल पण्डितोत्तमपण्डित श्री हर्षकुल गणि श्री

धनरत्नसूरिजी को देख कर हर्षोत्कर्ष से प्रफुल्लित हुए और नये १५ पद्यों से गुरु की स्तुति की। धनरत्नसूरिजी ने श्री सौभाग्यसूरि को आचार्य बनाया। उनके शिष्य श्री पं० उदयसौभाग्य गणि ने "हेमप्राकृत व्याकरण" पर ढुण्ढिका टीका बनाई थी।

५९ पट्टे श्री अमररत्नसूरि – श्री अमररत्नसूरि ने चार आचार्यों को आचार्य-पद दिये, जिनके नाम श्री तेजरत्नसूरि, श्री देवरत्नसूरि, श्री कल्याणरत्नसूरि और सौभाग्यरत्नसूरि। इनसे तीन शाखाएं निकलीं। श्री तेजरत्न अमररत्नसूरि के गुरुभ्राता थे।

६० पट्टे श्री कल्याणरत्नसूरि –

गुर्वावली में आचार्य श्री मुनिसुन्दरसूरिजी ने श्री जगच्चन्द्रसूरि के क्रियोद्धार के सम्बन्ध में तथा विजयचन्द्रसूरि की परम्परा के कतिपय आचार्यों की नामावली दी है, उसका संक्षिप्त सार नीचे दिया जाता है :

चैत्रपुर नगर में महावीर की प्रतिष्ठा करने वाले चन्द्रगच्छीय श्री धनेश्वरसूरि हुए, जिनसे "चैत्र गण" प्रसिद्ध हुआ। कालान्तर में उस चैत्रगण में गुणवान् ऐसे भुवनचन्द्र नाम के गुरु हुए, शुद्ध संयम पालने की बुद्धि वाले, देवभद्र वाचक हुए। श्री जगच्चन्द्रसूरि ने श्री देवभद्र नामक वाचक को शुद्ध सामाचारी में प्रवृत्त देख कर उनको उपसम्पदा विधि से स्वीकार कर उनके कार्य-सहायक बने और इन दोनों उत्तम पुरुषों ने शिथिलता के कीचड़ में फंसते हुए धर्मरथ को ऊंचे उठाया। श्री जगच्चन्द्रसूरि ने ग्राम, कुल, नगर, देश, शय्या, उपधि और शरीर तक का ममत्व छोड़ कर अप्रमत्त भाव से पृथ्वी-ऊपर विहार किया। यावज्जीव आयम्बिल तप करने का अभिग्रह धारण कर वे पृथ्वी पर विचरते थे। आपके इस क्रियोद्धार को १२ वर्ष पूरे हुए तब आपके बृहद्गण का नाम वि० सं० १२८५ में "तपागण" यह प्रसिद्ध हुआ।

आजकल "श्री चन्द्रगच्छ" "बृहद्गण" और "तपागण" इन नामों से गच्छ व्यवहृत होता है, जब कि पूर्वकाल में कोटिक गच्छ में "चान्द्रकुल" और "वाज्री शाखा" ऐसी प्रसिद्धि थी। आजकल श्री देवेन्द्रसूरि, विजयचन्द्रसूरि और देवभद्र वाचक "तपागण" के भूषण रूप हैं। आचार्य जगच्चन्द्रसूरि चारित्र-धर्म को ऊंचा उठाने में सहायक मित्र समान श्री देवभद्र गणि का बहुमान करते हैं और गुरु की तरह इनकी गणना करते हैं, तब संविग्न देवभद्र गणि भी अपने परिवार के साथ श्री जगच्चन्द्रसूरि को हर्षपूर्वक अपना गुरु मानते हैं।

श्री जगच्चन्द्रसूरिजी के पट्टधर श्री देवेन्द्रसूरि के विद्यानन्दादि अनेक विद्वान् शिष्य हुए, तब लघुशाखा में श्री विजयचन्द्रसूरि के पट्ट पर तीन आचार्य हुए, श्री वज्रसेनसूरि १, श्री पद्मचन्द्रसूरि २ और श्री क्षेमकीर्तिसूरि। आचार्य क्षेमकीर्तिसूरि ने सं० १३३२ में "बृहत्कल्प" की टीका बनाई।

क्षेमकीर्ति के बाद हेमकलशसूरि, हेमसूरि के पट्ट-भूषण यशोभद्रसूरि हुए,। यशोभद्रसूरि के पट्टधर रत्नाकरसूरि और रत्नाकरसूरि के शिष्य रत्नप्रभसूरि हुए। रत्नप्रभ के शिष्य मुनिशेखर, मुनिशेखरसूरि के शिष्य धर्मदेवसूरि, धर्मदेव के श्री ज्ञानचन्द्रसूरि, ज्ञानचन्द्र के श्री अभयसिंहसूरि, श्री अभयसिंहसूरि के हेमचन्द्रसूरि, हेमचन्द्रसूरि के जयतिलकसूरि, जयतिलक के जिनतिलकसूरि और जिनतिलकसूरि के माणिक्यसूरि नामक आचार्य हुए। ये सब गुणवन्त आचार्य थे, फिर भी दुष्षमकाल के प्रभाव से अपनी शाखा का पार्थक्य मानने वाले थे। गुणवन्त आचार्य श्रीसंघ के कल्याणकर्त्ता हों।

आचार्य मुनिसुन्दरसूरिजी तक वृद्ध शाखा से लघु शाखा को भिन्न हुए करीब आठ-नौ पीढ़ी हो चुकी थीं, फिर भी वृद्ध शाखा की आचार्य-परम्परा पर उनका कितना सद्भाव था। वह ऊपर के निरूपण से ज्ञात होता है।

लघु पौषधशालिक पट्टावली

लघु पौषधशालिक पट्टावली के लेखानुसार आचार्य सुमतिसाधुसूरि ने हेमविमलसूरि के अतिरिक्त श्री इन्द्रनन्दिसूरि और श्री कमलकलशसूरि को भी आचार्य-पद दिए थे, परन्तु उनको गच्छ नहीं सोंपा।

हेमविमलसूरि का जन्म सं० १५२० के कार्तिक सुदि पूर्णिमा को, स० १५२८ वर्षे श्री लक्ष्मीसागरसूरिजी के हाथ से दीक्षा; सं० १५४८ में पंचलाशा गांव में श्री सुमतिसाधुसूरिजी ने आचार्य-पद दिया। उस समय श्री इन्द्रनन्दिसूरि ने तथा कमलकलशसूरि ने अपने दो गच्छ जुदे किये। इन्द्रनन्दी का समुदाय "कुतुबपुरा" और कमलकलशसूरि का समुदाय "कमलकलशा" नाम से प्रसिद्ध हुआ। कुतुबपुरा गच्छ में से "हर्षविनय-सूरि" ने "निगममत" निकाला, जिसका दूसरा नाम "भूकटीया" मत भी था, परन्तु बाद में हर्षविनयसूरि ने "निगम-पक्ष" छोड़ दिया था।

सं० १५७० वर्ष में डाभेला गांव में स्तम्भ-तीर्थ निवासी सोनी जीवा, जागा ने आकर धूमधाम के साथ आनन्दविमलसूरिजी को आचार्य पद तथा दानशेखर एवं माणिक्यशेखर गणि को वाचक-पद दिया, एक साध्वी को महत्तरा-पद दिया।

सं० १५७२ में ईडर से खम्भात जाने के लिए रवाना हुए। कपडवंज में बड़ो धूमधाम से प्रवेश उत्सव हुआ। किसी चुगलखोर ने बादशाह मुदाफर के पास वृत्तान्त पहुँचाया, बादशाह ने कपडवंज में बन्दे भेजे, गुरु पहले ही वहां से चुडेल पहुँच गये थे। रात को चुडेल से चल कर सोजितरा पहुँचे, सुबह चुडेल बन्दे पहुंचे, ग्रामपति को पूछा — गुरु कहां है ?

उसने कहा – हमें मालूम नहीं। बाद में आचार्य खम्भात पहुँचे, संघ ने प्रवेशोत्सव किया। चुगलीखोरों ने खोज करने वालों के पास पता भेजा और उन्हें बन्दीखाने में रक्खा। संघ से १२ हजार लेकर उन्हें छोड़ा। इस घटना से आचार्य को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने आयम्बिल तप करके सूरिमन्त्राधिष्ठायक को याद किया, अधिष्ठायक का वचन हुआ, "आक्षेप करो, द्रव्य वापस मिल जायगा। बाद में शतार्थी पं० हर्षकुल गणि, पं० संघहर्षगणि, पं० कुशलसंयम गणि और शीघ्रकवि शुभशील गणि प्रभृति चार गीतार्थों को चम्पकदुर्ग भेजा और वहां बादशाह के पास जाकर अपनी काव्य-कला से बादशाह को खुश कर संघ से लिया हुआ द्रव्य वापस करवाया। सं० १५७८ में पूज्य हेमविमलसूरि ने पाटन में चातुर्मास्य किया। उस वर्ष में पूज्य के आदेश से श्री आनन्दविमलसूरिजी कुमरगिरि में चातुर्मास्य कर रहे थे, वहां पूज्य की आज्ञा के बिना एक साध्वी को दीक्षा दी, जो अवस्था में छोटी थी। हेमविमलसूरिजी ने कहा – मेरी आज्ञा के बिना दीक्षा कैसे दी? इसको छोड़ दो। इतना कहने पर भी आनन्दविमलसूरि ने छोड़ा नहीं और सिद्धपुर, सिरोही आदि स्थानों में चार चातुर्मास्य करके गुजरात में आकर श्री हेमविमलसूरि को बिना पूछे ही सं० १५८२ के वैशाख सुदि ३ को अलग उपाश्रय में ठहरे। वहां पर तैलचूसक योग से कपड़े मैले करके रहे। इसी प्रकार ऋषि-मतियों की प्रवृत्ति हुई।

सं० १५८३ में आचार्य का विसलपुर में चौमासा था, आसोज महीने में पूज्य के शरीर में वेदना उत्पन्न हुई, तब चौमासे में वटपल्ली से श्री आनन्दविमलसूरि को बुलाया और गुरु ने कहा – गण का भार ग्रहण कर, उन्होंने कहा – गण का भार ग्रहण करने की मेरी शक्ति नहीं है, तब गीतार्थ संघ के साथ श्री हेमविमलसूरिजी ने आनन्दविमलसूरि के समक्ष अपने पट्ट पर श्री सौभाग्यहर्षसूरि को प्रतिष्ठित किया।

सं० १५८३ के आश्विन शुक्ल १३ के दिन हेमविमलसूरि स्वर्गवासी हुए।

सं० १५८३ में ऋषिमत की उत्पत्ति हुई। द्विवन्दनिक गच्छ से आए राजविजयसूरि ने ऋषिमत से "लघुउपाश्रयक" मत निकाला।

सौभाग्यहर्षसूरि का जन्म १५५५ में, सं० १५६३ में हर्षदान गणि को वड़नगर में वहराए और हेमविमलसूरिजी ने दीक्षा दी, सं० १५८३ के आश्विन सुदि १० को श्री हेमविमलसूरिजी ने अपने पट्ट पर स्थापित किया।

सं० १५८६ के ज्येष्ठ सुदि ६ को सोभाग्यसूरि का गच्छनायक-पद महोत्सव किया। सं० १५६५ में पौष सुदि ५ गुरुपुष्य योग में पं० सोम-विमल गणि को वाचक-पद दिया। उसी वर्ष में ईडरगढ़ में श्री सौभाग्य-हर्षसूरि ने ५०० जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की, सं० १५६६ में आप अहमदाबाद पधारे और चातुर्मास्य वहीं किया। श्रीसंघ ने १५६७ के आश्विन सुदि ५ के दिन वाचक सोमविमल तथा सकलहर्षमुनि को आचार्य पद दिए तथा दो को वाचक-पद दिए। उपाध्याय-पद विजयकुशल तथा विनयकुशल को। सं० १५६७ के कार्तिक सुदि १२ के दिन सौभाग्यहर्षसूरि स्वर्गवासी हुए।

सौभाग्यहर्षसूरि ओसवाल-वंशीय थे, उनके हाथ से ३०० दीक्षाएँ हुई थीं।

६० तत्पट्टे सोमविमलसूरि –

खम्भात के समीप कंसारीपुर में पोरवाल कुल में सोमविमल का जन्म हुआ था सं० १५७० में, सं० १५७४ के वैशाख शु० ३ को अहमदा-बाद में हेमविमलसूरि द्वारा दीक्षा, सं० १५६० के कार्तिक व० ५ के दिन गणि-पद, सं० १५६४ में सिरोही नगर में सौभाग्यहर्षसूरि के हाथ से फाल्गुण व० ५ दिने सोमविमल को पं० पद, गुरु के साथ वीजापुर गए। सं० १५६५ में वाचक-पद, १५६७ में सौभाग्यहर्षसूरि द्वारा अहमदाबाद में सूरिपद।

सं० १५६६ में पाटन में चातुर्मास्य, चौमासे के बाद १६०० में कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा के दिन पाटण के संघ के साथ शत्रुञ्जय, गिरनार की यात्रार्थ गए। कानमदेश के वणचरा गांव में आपने पं० आनन्दप्रमोद गणि को वाचक-पद दिया, तब उपाध्याय आनन्दप्रमोद गणि ने गच्छ को

परिधापनिका दो। क्रम से आऊपद्र नगर पहुँचे, वहां पं० विद्यारत्न गणि को तथा विद्याजय गणि को पं० पद दिया। क्रमशः १६०२ में अहमदाबाद चातुर्मास्य किया। सं० १६०५ में खम्भात में चातुर्मास्य किया और संघ समवाय मिलनपूर्वक सं० १६०५ के माघ शु० ५ के दिन गच्छाधीश पद की स्थापना हुई, सं० १६०८ में राजपुर में चातुर्मास्य ठहरे, सं० १६१० पाटन में फिर चातुर्मास्य किया और वैशाख शु० ३ के दिन जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा की, सं० १६१७ में अक्षय-दुर्ग में चातुर्मास्य ठहरे। सं० १६१९ में खम्भात में चौमासा किया, चातुर्मास्य के बाद नन्दुरबार गए और संघ के आग्रह से चातुर्मास्य वहीं किया, सं० १६२३ में अहमदाबाद में अभिग्रह किया। सं० १५९६ वर्षे कार्तिक सुदि १५ का जन्म, १६०१ के कार्तिक सुदि १५ को दीक्षा और स० १६११ में कार्तिक वदि ५ को पण्डित-पद, १६२५ पाटन में आचार्य-पद और "आनन्दसोमसूरि" यह नाम रक्खा, सोमविमलसूरिजी ने गण को परिधापनिका दी।

सं० १६३० में अहमदाबाद में मा० शु० ५ के दिन आनन्दसोमाचार्य को गणानुज्ञा हुई। उस समय में हससोम गणि तथा देवसोम गणि को वाचक-पद दिए, सोमविमलजी की उपस्थिति में सं० १६३६ के भाद्र० वदि ६ को श्री आनन्दसोमसूरि स्वर्गवास प्राप्त हुए। बाद में हेमसोम को सूरि-पद दिया गया, सं० १६३७ में मार्ग० में सोमविमलसूरि स्वर्गवासी हुए। २०० साधुओं की दीक्षा इनके हाथ से हुई थी।

६१ श्री हेमसोमसूरि –

सं० १६२३ वर्षे ढंढार प्रदेश में इनका जन्म, पोरवाल जाति के थे। १६३० में बड़गांव में सोमविमलसूरि द्वारा दीक्षा, गृहस्थ नाम हर्षकुमार था और दीक्षा नाम हेमसोममुनि रक्खा, १६३५ में पण्डित-पद १६३६ में वैशाख सुदि २ को मुनि हेमसोम को आचार्य-पद, अपने गच्छवासियों को एवं अन्यगच्छीय साधुओं को परिधापनिका दी और हेमसोमसूरि गच्छाधिप घोषित किये गये।

६२ विमलसोमसूरि
६३ विशालसोमसूरि
६४ उदयविमलसूरि
६५ गजसोमसूरि
६६ मुनीन्द्रसोमसूरि
६७ राजसोमसूरि
६८ आनन्दसोमसूरि
६९ देवेन्द्रविमलसूरि
७० तत्त्वविमलसोमसूरि
७१ पुण्यविमलसोमसूरि

तपागच्छ-कमलकलश शाखा की पट्टावली

श्री रत्नशेखरसूरि	
,, लक्ष्मीसागरसूरि	
,, सोमदेवसूरि –	लक्ष्मीसागरसूरि द्वारा आचार्य-पदप्रतिष्ठित।
,, सुधानन्दनसूरि	
,, सुमतिसुन्दरसूरि	
,, राजप्रियसूरि	
,, कमलकलशसूरि –	सं० १५५५ से कमलकलश गच्छ चला।
,, जयकल्याणसूरि –	१५३६ के फाल्गुन सुदि १० को अचलगढ़ पर प्राग्वाट साह सहसा के मन्दिर के मूलनायक की प्रतिष्ठा की।
,, कल्याणसूरि	
,, चरणसुन्दरसूरि –	ये भी अचलगढ़ की सं० १५६६ की प्रतिष्ठा में हाजिर थे।

राजविजयसूरि-गच्छ की पट्टावली

५८ वें पाट पर श्री आनन्दविमलसूरि हुए, एक समय आबु पर यात्रार्थ गये, सूरिजी तुर्मुख चैत्य में दर्शन कर विमल वसही के दर्शनार्थ गए, गभारा के बाहर खड़े दर्शन कर रहे थे, उस समय अर्बुदादेवी श्राविका के रूप में आचार्य के दृष्टिगोचर हुई, आचार्यश्री ने उसे पहिचान लिया और कहा—देवी ! तुम शासन भक्त होते हुए लुंगा के अनुयायी जिनमन्दिर और जिनप्रतिमाओं का विरोध करते हुए, लोगों को जैन मार्ग से श्रद्धाहीन बना रहे हैं, तुम्हारे जैसों को तो ऐसे मतों को मूल से उखाड़ डालना चाहिये, यह सुनकर देवी बोली—पूज्य ! मैं आपको सहस्रौषधि का चूर्ण देती हूं। वह जिसके सिर पर आप डालेंगे, वह आपका श्रावक बन जायगा और आपकी आज्ञानुसार चलेगा, इसके, बाद अर्बुदादेवी आचार्यश्री को योग्य भलामण देकर अदृश्य हो गई, बाद में आचार्य वहां से विहार करते हुए विरल (विसल) नगर पहुंचे, वहां श्री विजयदानसूरि चातुर्मास्य रहे हुए थे, वहां आकर आनन्दविमलसूरिजी ने देवी प्रसन्नादिक सब बातें विजयदान-सूरिजी को सुनायी, जिससे वे भी इस काम के लिये तैय्यार हुए, वहां से आनन्दविमलसूरि और विजयदानसूरि अहमदाबाद के पास गांव बारेजा में राजसूरिजी के पास आए और कहा—हम दोनों लुंका मत का प्रसार रोकने के कार्यार्थ तत्पर हैं, तुम भी इस काम के लिये तैयार हो जाओ, यह कहकर श्री आनन्दविमलसूरिजी ने कहा मेरे पट्टधर विजयदानसूरि हैं ही और विजय-दानसूरि के उत्तराधिकारी श्री राजविजयसूरि को नियत करके अपन तीनों आचार्य तपगच्छ के मार्ग की मर्यादा निश्चित करके अपने उद्देश्य के लिये प्रवृत्त हो जाएं, आनन्दविमलसूरिजी ने श्री राजविजयसूरि को कहा—तुम विद्वान् हो इसलिये हम तुम्हारे पास आए हैं, लुंकामति जिनशासन का लोप

कर रहे हैं, मेरा आयुष्य तो अब परिमित है, परन्तु तुम दोनों योग्य हो, विद्वान् हो और परिग्रह सम्बन्धी मोह छोड़कर वही वट की वटियां जल में घोल दी हैं, सवामन सोने की मूर्ति अन्धकूप में डाल दी, सवा पाव सेर मोतियों का चूरा करवा के फेंक दिया है, दूसरा भी सभी प्रकार का परिग्रह छोड़ दिया है।

श्री राजविजयसूरि ने सं० १५८२ में क्रियोद्धार करने वाले लघुशालिक आचार्य श्री आनन्दविमलसूरि के पास योगोद्वहन करके श्री राजविजयसूरि नाम रक्खा, बाद में तीनों आचार्यों ने अपने-अपने परिवार के साथ भिन्न-भिन्न तीनों देशों में विहार किया। श्री आनन्दविमलसूरिजी ने सर्वत्र फिरकर श्रावकों को स्थिर किया है, कई गांवों में प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की, नये जिन-बिम्ब भरवाए, जैनशासन की महिमा बढ़ायी, सं० १५९६ तक बहुत से लुंका के अनुयायी गृहस्थ तथा वेशधारक उपदेशक मूर्ति मानने वाले हुए, विचरते हुए आप सोरठ के सिपा गांव में आए, और वहां से आप अपना अन्तकाल निकट जान कर राजनगर आए और सं० १५९६ में गच्छ की मर्यादा निश्चित करके श्री आनन्दविमलसूरिजी स्वर्गवासी हुए।

५९ विजयदानसूरि।

विजयदानसूरिजी का वर्षा चातुर्मास्य अहमदाबाद में था, आचार्य श्री राजविजयसूरि का चातुर्मास्य राधनपुर में था, चातुर्मास्य के उतरने पर श्री राजविजयसूरि श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ की यात्रार्थ आए, यात्रा कर जब वे वापस जाने लगे, तब राजविजयसूरि के शिष्य पं० श्री देवविजय के संसारी सगे जो धामा में रहते थे उन्हें लेने आये। देवविजय ने उनको कहा—गुरु आदि को छोड़कर मैं अकेला नहीं आ सकता, इस से श्रावक राजविजयसूरि के साथ उनको अपने गांव ले गए और मास कल्प कराया। धामा में श्रावकों के ७०० घर थे, वो सभी पूनमीया थे। जो आचार्य श्री के उपदेश से पूर्णिमा पक्ष को छोड़कर सभी चतुर्दशी को पाक्षिक करने लगे। वहां से सूर्यपुर और जीजूंवाड़ा आए, श्रावकों ने उत्साह सहित नगरप्रवेश कराया और एक गृहस्थ की डेहली में उतारे, गांव में आपरीया—पूनमीया के दो उपाश्रय थे,

उनमें एक में पुराने स्थायी आचार्य रहते थे। प्रभात में श्री राजविजयसूरि ने व्याख्यान शुरू किया, तब उस आचार्य ने अपना शिष्य उनके पास भेजकर व्याख्यान देने की मनाही करवाई। कहलाया कि यहां सभी पूनमीया श्रावक हैं, चऊदसीया कोई नहीं, इस पर राजविजयसूरि ने कहा—हमने पूनमीयों को मिटाने के लिये व्याख्यान शुरु किया है। इस पर उस आचार्य ने कहा—हमारे गांव में तुम व्याख्यान नहीं दे सकते, इस प्रकार उन दोनों में खींचतान और विवाद हुआ, एक श्रावक ने वहां आकर श्री राजविजयसूरि को एकान्त में कहा—स्वामी! आप इसको किसी प्रकार से गांव में से निकल वा दें, तो बहुत अच्छा हो, श्रावक की इस सूचना को पाकर राजविजयसूरि राजकुल में गए, वहां भाला राजपूत का राज्य था। गुरु को देख कर उसने आदर के साथ प्रणाम किया और पूछा—स्वामी! दरबार में कैसे पधारे? गुरु ने कहा—हम आठम और चउदस को मानते हैं और यहां का रहने वाला आचार्य सातम और पूनम मानता है। यह सुनकर ग्रामाधीश ने कहा, इस बात का निश्चय कैसे किया जाय कि किसका मानना सत्य है? तब राजविजयसूरि ने कहा—सूरज के कोठे में मूलदेव की प्रतिमा है, वह ठहरावे, वह सही। इस पर राजा प्रजा सर्व मूल आचार्य के साथ इकट्ठे हुए, स्थायी आचार्य को समरावाव की माता और वाविमा वीर प्रत्यक्ष था। तब राजसूरि को चक्रेश्वरी प्रत्यक्ष थी। दोनों आचार्यों ने अपने-अपने इष्ट देवों का ध्यान किया और आने पर कारण बताया। देव ने कहा—आठम चउदस हमारी है—इसलिये इस सम्बन्ध में हम कुछ नहीं कहेंगे, पुराने आचार्य ने मन में कहा—अब मेरा न चलेगा, दूसरे दिन राजा आदि सब सूर्य के कोठे पर गए, वहां चक्रेश्वरी ने मूल देव की प्रतिमा में प्रवेश कर कहा, राजविजयसूरि जो कहते है वही तिथि सत्य है, पुराने आचार्य की तिथि सत्य नहीं। सभा समक्ष वह आचार्य झूठा पड़ा और रात में अपनी चीज सामान लेकर गुप्तरूप से पाटन चला गया, बाद में राजविजयसूरि को उपाश्रय में लेजाकर ठहराया, सर्व श्रावक वासक्षेप लेकर चउदसीए हुए, ६०० घर ओसवालों के, श्रीमाली तथा पोरवाल आदि आदि सब तपा श्रावक बने।

श्री संघ की वीनती से पं० देवविजय गणि को चातुर्मास्य के लिए वहां रक्खा, गुरु ने विहार किया, वहां से मुंजपुर जाकर चौमासा किया।

उस समय उज्जैन में एक दिगम्बर भट्टारक रहता था। उसने मालव देश में तपा श्रावकों को दिगम्बर मत में खींच लिया था। उज्जैनी का एक धनवन्त तपगच्छ का श्रावक जिसका नाम चमूपाल मन्त्री ताराचंद मोतीचंद था, उसने भट्टारक की बात नहीं मानी, इसलिये उसका न्याति-व्यवहार भट्टारक ने बन्द करवा दिया। श्रावक का भट्टारकजी को कहना था कि मेरे गुरु गुजरात में विचरते हैं, उनको जीतो तो मैं तुम्हारा श्रावक बन जाऊं। भट्टारकजी ने कहा – तुम्हारे गुरु को यहां बुलाओ। श्रावक ने कहा – मेरे वास्ते वे नहीं आयेंगे, मैं सिद्धाचल का संघ निकालूं सो आप संघ के साथ चलें। मेरे गुरु भी आजकल शत्रुञ्जय की यात्रार्थ गये हुए हैं, इसलिये आप कहो तो संघ निकालूं, तब भट्टारक ने स्वीकार किया। शा० ताराचन्द्र चमूपाल मन्त्री श्री शत्रुञ्जय का संघ निकाल कर शत्रुञ्जय आया और पहाड़ पर संघ चढ़ रहा है, वहां विजयदानसूरिजी को नीचे उतरते हुए देखा। शा० ताराचंद मन्त्री ने उनको वंदन किया, तब जीआजी भट्टारक ने पूछा – क्यों ताराचन्द्र, यही तेरे गुरु हैं? ताराचन्द ने कहा – यही मेरे गुरु हैं, तब जीआजी भट्टारक उनके पास जाकर विजयदानसूरि से विवाद करने लगा। युक्तिप्रयुक्ति करते हुए, एक प्रहर बीत गया। पूज्य आचार्य के अट्ठम का तप था और वृद्धावस्था, इस कारण भट्टारक को कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया, इस पर भट्टारक ने कहा—अबे ताराचन्द? तुम्हारे गुरु को हमने जीत लिया, अब तू मेरा श्रावक हो जा, ताराचन्द ने कहा ये तो वृद्ध और तपस्वी महात्मा हैं। इनके पट्टधर आचार्य श्री राजविजयसूरि को जीतो, तो मैं आपका श्रावक हो जाऊं। वह नक्की करके वे ऊपर चढ़े, और विजयदानसूरिजी नीचे उतरे, ताराचन्द यात्रा करके अपने मुकाम आया और स्वस्थ होकर आचार्य महाराज के पास गया और अपनी तथा मालवा की परिस्थिति से उनको वाकिफ किया और कहा—आज तक तो मैं दिगम्बर नहीं हुआ, परन्तु अब मालवे में योग्य गीतार्थ न आएगे, तो सारा मालव देश दिगम्बर सम्प्रदाय का अनुयायी बन जाएगा इत्यादि सब वृत्तान्त कहने के बाद शा० ताराचन्द अपने संघ के साथ वापस उज्जैनी चला गया; इधर दानविजयसूरिजी गुजरात पहुंचे और राजविजयसूरि को मुंजपुर से जल्दी बुलाया और शा० ताराचन्द के मुंह से सुनी हुई सभी बातें, उनको

कहीं, जिनको सुनकर श्री राजविजयसूरिजी भी मालवे में जाने के लिये तैयार हुए। लगभग ७०० यतियों के साथ मालवा की तरफ विहार किया, स्थान-स्थान पर दिगम्बरीय सम्प्रदाय की बातों का खण्डन करते हुए और पीछे साधुओं को छोड़ते हुए, लगभग ३०० साधुओं के साथ उज्जैन पहुँचे। चमूपाल ताराचंद को खबर मिलने पर वह राजा के पास गया और कहा – हमारे गुरु आये हैं, उनको नगर-प्रवेश उत्सव के साथ कराना है, परन्तु यहां के वणिक तो हमको साथ नहीं देंगे। महरबानी करके आप पधार कर हमारे कार्य को पार करवाइयेगा। मन्त्री की बात सुनकर राजा ने अपनी तरफ से आचार्य महाराज का प्रवेश उत्सव करने का प्रबन्ध करवाया। हाथी, घोड़े, रथ सभी प्रकार के सामान से बड़े ठाट के साथ नगर-प्रवेश करवाया। दिगम्बर भट्टारक जीआजी ने जाना कि कोई पराक्रमी पुरुष है, इसी से राजा भी इनकी पेशवाई में सहकार कर रहा है। पब्लिक रास्ते पर भट्टारक जीआजी की पौषधशाला पड़ती है, मिनट दो मिनट के लिये बाजे बन्द रहे, इस पर राजा ने बाजे न बन्द करने की आज्ञा दी और जुलूस आगे बढ़ा। नगर के खास रास्तों में होता हुआ, जुलूस राजा की हाथीशाला में उतरा। भट्टारक जीआजी के मन पर इस धूमधाम का ऐसा प्रभाव पड़ा कि आचार्य के साथ सभा समक्ष विवाद कर इनको जीतना आसान नहीं है, यह सोच कर भट्टारकजी ने एक कूट पद्य बनाकर अपने पण्डित द्वारा राजविजयसूरिजी के पास पहुंचाया और कहलाया कि इस पद्य का अर्थ समझ सको तब तो हमारे साथ विवाद करने के लिये तैयार होना, अन्यथा आये वैसे ही चले जाना। पद्य वाली चिट्ठी सब साधुओं ने पढ़ी परन्तु किसी को पद्य का अर्थ नहीं सूझा। पद्य वाला पत्र अपने पास मंगा कर राजविजयसूरिजी ने भट्टारक के पण्डित को कहा – सात दिन के भीतर इसका उत्तर दे देंगे। पण्डित चला गया, राजविजयसूरि ने उस श्लोक पर ध्यान लगा कर अर्थ-विचार किया, परन्तु कुछ पता नहीं लगा। एक बार तो वह निराश हो गए, परन्तु अन्त में उस पद्य का भेद उन्हें मिल गया, अपने ही एक सैद्धान्तिक ग्रन्थ के पद्यों के प्रथमाक्षरों को लेकर वह पद्य बनाया गया था। आचार्य ने उसका अर्थ निश्चय कर लिया। सातवें दिन पंडित ने आकर उस

श्लोक का प्रत्युत्तर मांगा, राजविजयसूरि ने कहा – चोर के साथ वाद क्या और प्रत्युत्तर क्या ? पण्डित बोला – जो चोर हो उसके नाक, कान, काट कर देश-निकाला करना चाहिये। उस समय बादशाह श्री बहादुरशाह का दीवान श्री राजविजयसूरिजी के पास बैठा था, उसकी हाजरी में राजविजयसूरि ने एक नया श्लोक लिख कर दीवान की मुहर लगवाई और पण्डित को देते हुए राजविजयसूरि ने पण्डित को कहा – लो, यह पत्र तुम्हारे भट्टारकजी को दे देना। चिट्ठी पढ़ कर भट्टारकजी ने जाना कि अपनी चोरी तो प्रकट हो गई है। हाँ, उत्तर पर दीवान की मुहर छाप भी हो गई है। अब यहां रहना सलामत नहीं, यह सोच कर भट्टारकजी अपना चीज-भाव लेकर उसी रात को वहां से चले गये। इस बात का पता लगने पर दूसरे दिन शा० ताराचन्द मन्त्री ने विजयराजसूरिजी को तपागच्छ के उपाश्रय में पधराये। इस बात का बहादुरशाह बादशाह को पता लगने पर उसने विजयराजसूरिजी को अपने पास बुलाया और उनका बड़ा सत्कार किया। बादशाह ने विजयराजसूरि से अनेक बातें पूछीं और सूरिजी ने उनका संतोषजनक उत्तर दिया।

राजविजयसूरिजी ने मालवा में अनेक चातुर्मास्य किये और श्वेताम्बर जैन संघ को अपने धर्म में स्थिर किया।

कहते हैं कि श्री राजविजयसूरिजी के पास एक कामदुधातर्पणी थी। इसमें जो पदार्थ भरते, अखूट हो जाता। राजविजयसूरिजी के पास हानर्षि और वानर्षि नामक दो गुरुभाई पण्डित थे। उन्होंने श्री राजविजय-सूरिजी से तर्पणी मांगी, तब राजविजयसूरिजी ने उसे देने से इन्कार कर दिया। हानर्षि, वानर्षि इस कारण से रुष्ट हो गये और राजविजयसूरि की चुगलियां खाने लगे। उन्होंने गच्छपति को लिखा – राजविजयसूरि यहां आकर बहुत ही शिथिलाचारी हो गए हैं, फिर भी उनके लेख पर विजयदानसूरिजी ने कोई ध्यान नहीं दिया, तब कालान्तर में उन्होंने गच्छपति को लिखा कि राजविजयसूरिजी का यहां अकस्मात् स्वर्गवास हो गया है। इस पत्र को पढ़ कर श्री विजयदानसूरिजी ने राजनगर में श्री हीरविजयसूरि को अपना पट्टधर बना लिया। श्री राजविजयसूरि को इस

बात की कोई खबर तक नहीं मिली। वे मालवा से गुजरात की तरफ विहार करते हुए चांपानेर आए और वर्षा चातुर्मास्य वहां ठहरे। चौमासे के बाद वे अहमदाबाद आ रहे थे, बीच में एक गांव में वे महीना भर ठहरे, तब अहमदाबाद बात पहुंची। किसी ने आकर विजयदानसूरिजी को कहा – श्री राजविजयसूरि ने आपको वन्दना कही है, यह सुन कर विजयदानसूरिजी को बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने सोचा – मैंने एक यति की बात मानकर बड़ी भूल की। राजविजयसूरि के विद्यमान रहते दूसरा पट्टधर कायम कर दिया। राजविजयसूरिजी आए और विजयदानसूरि को वन्दन किया, तब विजयदानसूरिजी ने हीरसूरिजी से कहा – उठो आचार्य! बड़े आचार्य को वन्दना करो। यह सुनकर राजविजयसूरि ने कहा – आपने यह क्या किया? विजयदानसूरि ने कहा – तुम्हारा निर्वाण सुनकर मैंने यह कार्य किया है; अब मेरे पट्टधर तुम राजविजयसूरि और राजविजयसूरि के पाट पर हीरविजयसूरि, इस प्रकार की व्यवस्था रहेगी। परन्तु राजविजयसूरि को यह व्यवस्था पसन्द नहीं आई और वे नाराज होकर विजयदानसूरिजी के पास से ७०० यतियों के साथ चले गये, तब बोहकल संघवी ने उन्हें दूसरे उपाश्रय में उतारा और आग्रह करके वर्षा चातुर्मास्य भी वहीं करवाया।

एक समय बोहकल संघवी की बहू श्री हीरविजयसूरिजी को वन्दन करने गई, तब हीरविजयसूरिजी ने कहा– आइए राजविजयसूरि की श्राविका! यह वचन सुनकर संघविन को गुस्सा आया और वन्दन किये बिना ही घर चली गई और प्रतिज्ञा की कि हीरविजयसूरि को वन्दना नहीं करूंगी, वह अट्ठम का तप कर घर में बैठी रही, संघवी को पता लगने पर उसे पूछा, तब उसने सब बातें कहीं। सेठ ने समझा बुझाकर उसे पारणा करवाया, बोहकल संघवी, बादशाही सेठ, न्यात में अधिकारी था, ७०० घर संघवी के पीछे थे। श्री राजविजयसूरि के पास जाकर बोला—स्वामी आप श्री आनन्दविमलसूरि के शिष्य हैं, इसलिये हीरविजयसूरि के साथ न मिलें, तुम बड़े पट्टधर हो, ये छोटे हैं, अब राजविजयसूरि ने कहा—ये और हम एक ही हैं, ममता करके क्या करना है। तब संघवी ने कहा—संघविन ने नियम कर लिया

है कि वह हीरविजयसूरिजी को नहीं वांदेगा, आपको हमने आग्रह ... रक्खा, इस कारण से हीरविजयसूरिजी संघविन को राजविजयसूरि को श्राविका कहकर बतलाते हैं, आगे साधु, क्षेत्र की सब सामग्री समान है। आप अपना स्वतंत्र गच्छ कायम करिये। यह कहकर बोहरल संघवी ने राजविजयसूरि के गच्छ की स्थापना की, बड़े उत्सव महोत्सव किये, इस प्रकार दो गच्छनायक आचार्य श्री अहमदाबाद में भिन्न-भिन्न उपाश्रयों में चातुर्मास्य रहे, श्री विजयदानसूरि के स्वर्गवास के बाद ६० वें पाट पर श्री राजविजयसूरि हुए, जिन्होंने मालव देश को प्रतिबोध दिया है।

राजविजयसूरि ने अपने उतराधिकारी पद पर श्री मुनिराजसूरि को स्थापित करके राधनपुर चातुर्मास्य के लिये भेजा, मुनिराजसूरि का इसी वर्ष में राधनपुर में स्वर्गवास हो गया, इस घटना से राजविजयसूरि को बड़ा दुःख हुआ, मुनिराजसूरि पर उनका बहुत मोह था, उनके जाने से उनके दिल में ऐसा वैराग्य आगया कि अपना निर्वाण समय निकट जानकर भी किसी को अपने पद पर स्थापित करते नहीं थे, संघवी के आग्रह पूर्वक कहने पर आचार्य ने उत्तर दिया—मुनिराजसूरि जैसा आचार्य चला गया, तो अब नया आचार्य स्थापित करके क्या करना है। संघवी की इच्छा थी कि आचार्यश्री किसी न किसी साधु के सिर पर हाथ रख दें तो अच्छा है, परन्तु आचार्य की ऐसा करने की इच्छा नहीं थी, तब संघवी ने अपने भानजे रत्नसी को जो जातिका श्रीश्रीमाल था और उन्हीं के घर पर रहता था, पूछा—यदि तू साधु हो जाय तो तुझे गच्छनायक का पद दिला दूं। भानजे ने स्वीकार किया, संघवी उसे लेकर राजविजयसूरिजी के पास गया, श्रीजीने रत्नसी श्रावक के सिर पर हाथ रक्खा और राजविजयसूरिजी ने आयुष्य पूर्ण किया।

राजविजयसूरि का राजनगर में सं० १५५४ में जन्म सं० १५७१ में व्रत, सं० १५८४ में सूरिपद और सं० १६२४ में स्वर्गवास।

६१. श्री रत्नविजयसूरिजी और इनकी परम्परा

बोकल संघवी ने रत्नविजयजी के सिर पर राजविजयसूरि का हाथ रखवाने के बाद तुरन्त गीतार्थ के पास से पांच महाव्रत उच्चराए। उसी समय पाठक पद और उसी समय आचार्य-पद, योगोद्वहन कराने के बाद पट्टाभिषेक तथा गच्छानुज्ञा उत्सव किया, परन्तु सूरिमन्त्र देने वाला कोई नहीं था, तब कमल-कलश तथा श्री देवरत्नसूरिजी जो संसार पक्ष में रत्नविजयसूरि के सगे लगते थे, श्री रत्नविजयसूरि ने संघवी को उनके पास भेजा, संघवी कतिपय गीतार्थों के साथ श्री देवरत्नसूरि के पास गया, सूरिमन्त्र आदि की सब हकीकत कही, तब कमलकलशा गच्छनायक ने कहा—तुम हमारी अटक रखो तो मैं सूरिमन्त्र देऊं, तब उनकी शर्त मान्य की और कहा—आयन्दा पट्टधर आचार्य होगा, उसके नाम के साथ "रत्नशाखा" रखेंगे। यह बात नक्की करने के बाद देवरत्नसूरि ने विधिविधान के साथ सूरिमन्त्र का मार्ग दिखाया। और विजयदानसूरि के पाट पर दो पट्टधर हुए।

हीरविजयसूरिजी ने राजविजयसूरि का स्वर्गवास होने के बाद गच्छ में एकता करने का विचार किया और अपये गीतार्थों को श्री रत्नविजयसूरि के पास भेजा और कहा—अपन दोनों की सामाचारी एक है, गुरु एक है और गच्छ के आचार्य दो; यह बात अपन दोनों के लिये अयुक्त है, मेरी इच्छा है कि मैं अपने पट्ट पर दूसरा कोई आचार्य प्रतिष्ठित न करके आपके लिये स्थान खाली रखूंगा। इस समय अपन दोनों एक हो जाये और मेरे बाद आप गच्छपति बने तो हम दोनों के लिये शोभा की बात होगी,

श्री रत्नविजयसूरि श्री श्रीमाल ज्ञाति के भोले भाले पुरुष थे। हीरविजय-सूरिजी की बातों को मान लिया और सब बातें लेखबद्ध कर साख मते भी करवा दिये, बाद में यह बात उनके गीतार्थ साधुओं ने तथा संघवी ने जानी, उनको बहुत उपालम्भ दिया, परन्तु कौल वचन लिखवा दिये थे, उनमें कुछ भी रद्दोबदल होने की गुजाइश नहीं थी, कौल के अनुसार श्री राज-विजयसूरिजी के क्षेत्र में श्री हीरविजयसूरिजी ने अपने साधुओं को रक्खा और अपने क्षेत्रों में श्री रत्नविजयसूरि के यतियों को भेजा, इस प्रकार से यतियों ने सब क्षेत्र अपने हाथ में कर लिये। श्री रत्नविजयजी पालनपुर चातुर्मास्य करने जा रहे थे, शरीर में स्थूल होने से मार्ग चलना उनके लिये कठिन हो गया। इस बात को जान कर "उनावा" के श्रावकों ने आग्रह कर अपने गांव में ही चातुर्मास्य करवाया और इस प्रकार १५ वर्ष वहीं बीत गये। दरमियान सब क्षेत्र-यति-श्रावक अपने हाथ से चले गये, तब श्री हीरविजयसूरिजी ने रत्नसूरि को पत्र लिखा और कहा – हमने आपको आचार्य-पद देने का कहा था वह सही है पर एक क्षेत्र लेकर इतने वर्षों तक बैठे रहना गच्छनायक आचार्य के लिए अनुचित है। यदि क्षेत्रों में फिरने की शक्ति नहीं है, तो उपाध्याय-पद रखना कबूल करो, ताकि आचार्य के सम्बन्ध में दूसरा विचार किया जाय। पत्र पढ़ कर रत्नसूरिजी ने सोचा कि मैंने किसी से नहीं पूछा और न किसी का कहना माना, उसका यह परिणाम है, परन्तु अब क्या हो सकता है। अहमदाबाद से निकल कर पहला चातुर्मास्य बलाद में और दूसरा चातुर्मास्य बीसनगर में करके तीसरा चातुर्मास्य ऊनाऊ गांव में किया और वहां वर्षों तक रहा। अब क्षेत्र और यति कोई हाथ में नहीं रहे, यह सोच कर दूर विचरने वाले अपने साधुओं को आने के लिये कहलाया, परन्तु कोई नहीं आया। तब अहमदाबाद संघवी को पत्र लिखा, परन्तु उनके पास साधु हीरसूरिजी के हैं, वे पत्र संघपति के पास पहुँचने देते नहीं। एक बार पालनपुर से पत्र लेकर एक काशीद राजनगर जाने वाला है, यह उनको मालूम हुआ, तब वे स्वयं स्थण्डिल के बहाने बाहर गए और अहमदाबाद के रास्ते पर खड़े रहे। उनको हरकारा मिला, उसको पूछने पर उसने कहा – मैं अहमदाबाद जा रहा हूं, यह सुन कर रत्नविजयसूरि ने दस रुपया देना निश्चय किया और

कान में रखी हुई सीसे की सली से समाचार लिख कर पत्र हलकारे को दिया। संघवो ने पत्रिका पढ़ी, समाचार जान कर संघवी ने कहा – "कान फड़वाए और बुद्धि गई", ऊनाऊ से उनको अहमदाबाद बुलवाया। वहां उपाश्रय दो थे, एक दोमीवाडा में, दूसरा निशापोल में। वे दोनों हीरविजयसूरिजी के कब्जे में थे। संघवी ने अहमदाबाद में उनको अपनी वखार सौंपी, वहां उतरे। दो शिष्य और रत्नविजयसूरि ये ३ सुख से वहां रहते थे। दूसरे सब यति श्री हीरविजयसूरि की आज्ञा में रहते थे।

श्री रत्नविजयसूरि के पाट पर श्री हीररत्नसूरि हुए। श्री रत्नविजयसूरि का जन्म सं० १५६४, सं० १६१३ में व्रत, १६२४ में सूरि-पद और सं० १६७५ में श्री राजनगर में स्वर्गवास।

इस समय में विजयआनन्दसूरि का गच्छ निकला। शाह सोमकरण मनोया तथा नव उपाध्यायों ने मिल कर जिनमें छः उपाध्याय श्री विजयदेवसूरि के और तीन उपाध्याय विजयराजसूरि के थे। इन सब ने मिल कर आनन्दसूरि गच्छ की परम्परा चलाई।

६२. श्री हीररत्नसूरि :

श्री हीररत्नसूरि का जन्म सं० १६२० में हुआ। सं० १६३३ में व्रत, सं० १६५७ में वाचक-पद, सं० १६६१ के वैशाख सुदि ३ को आचार्य पद, सं० १६७५ में भट्टारक-पद, सं० १७१५ के श्रावण सुदि १४ को राजनगर में आसासुआ की बाड़ी में स्वर्गवास।

६३. श्री जयरत्नसूरि :

श्री जयरत्नसूरि का १६६६ में जन्म, १६८६ में व्रत, सं० १६६६ में राजनगर में आचार्य-पद, १७१५ में भट्टारक-पद, सं० १७३४ के चैत्र सुदि ११ के दिन सूरत में स्वर्गवास।

६४. श्री हेमरत्नसूरि :

हेमरत्नसूरि का सं० १६६६ में जन्म, सं० १७०४ में व्रत, १७३४ में भट्टारक-पद, सं० १७७२ में कार्तिक सुदि १ को भिल्मुवाड़ा में स्वर्गवास।

६५. श्री दानरत्नसूरि :

श्री दानरत्नसूरि का जन्म सं० १७२२ में, सं० १७५१ में दीक्षा, सं० १७७२ में भट्टारक-पद, सं० १८२४ के फाल्गुण सुदि १० को ध्रांगधरा में स्वर्गवास।

६६. श्री कीर्तिरत्नसूरि :

६७. श्री मुक्तिरत्नसूरि :

मुक्तिरत्नसूरि का १८७४ में सूरि-पद और १८७६ के मार्गशीर्ष सुदि ४ को स्वर्गवास हुआ।

६८. श्री पुण्योदयरत्नसूरि :

पुण्योदय का सं० १८७६ में सूरि-पद, सं० १८९० में पौ० सु० ११ को स्वर्गवास।

६९. श्री अमृतरत्नसूरि :

सं० १८९० में बैशाख सु० ७ सूरि-पद बसो में।

७०. चन्द्रोदयसूरि

७१. सुमतिरत्नसूरि

७२. भाग्यरत्नसूरि

विजयदेवसूरि के सामने नया आचार्य क्यों बनाया ?

"सोहम्मकुलरत्न पट्टावली रास" के कर्त्ता कवि श्री दीपविजयजी लिखते हैं :

"सेनसूरि पाटे प्रगट, पाट साठ में होय ।
श्री देवसूरि श्री तिलकसूरि श्रे पडधारो दोय ॥१॥

अर्थात् – श्री विजयसेनसूरि के पट्ट पर श्री देवसूरि और श्री तिलकसूरि ये दो पट्टधर हुए । दो पट्टधर क्यों हुए ? इसकी प्रस्तावना करते हुए कवि लिखते हैं –

"तेरणे समे धरमसागर गरिण, वाचक राय महंत ।
कुमति कुद्दाल इति नाम छे, कीधो ग्रन्थ गुनवंत ॥७॥
बहु पंडित श्री सेनसूरि, ग्रन्थ कीधो अप्रमाण ।
वाचक "गरण बाहिर कीधा, पेठी त्रण प्रमाण ॥८॥"
"संसारी सगपरण अछें, मामा ने भारणेज ।
देवसूरि भारणेज छे, वाचक मामा हेज ॥९॥
लखी लेख व्यतिकर सहु, मेहेल्यों तुरत जवाब ।
देवसूरि वांची करी, चिंती मन में आप ॥१०॥
पत्र जुंग्राब ग्रेहवो लख्यो, फिकर न करस्यो कोय ।
गुरु निर्वारण हुग्रा पछे, गच्छ में लेस्यां तोय ॥११॥"

कवि दीपविजय के कहने का सार यह है कि उपाध्याय धर्मसागर गरिण बड़े विद्वान् थे । उन्होंने 'कुमति-कुद्दाल" नामक एक ग्रन्थ बनाया

था, परन्तु श्री विजयसेनसूरिजी ने अनेक पण्डितों की सलाह से उस ग्रन्थ को अप्रामाणिक ठहराया और उपाध्याय धर्मसागरजी को तीन पीढ़ी तक गच्छ बाहर किया।

कविराज का यह कथन कि धर्मसागरजी ने "कुमतिकुद्दाल" ग्रन्थ बनाया था, यथार्थ नहीं है, क्योंकि "कुमतिकुद्दाल" धर्मसागरजी के पूर्ववर्ती तपागच्छ के विद्वान् की कृति थी और धर्मसागरजी ने उसके आधार से दूसरे ग्रन्थ बना कर अन्यान्य गच्छों का खण्डन अवश्य किया था। परिणामस्वरूप "विजयदानसूरि तथा विजयहीरसूरिजी ने उन्हें गच्छ बाहर किया था" और उन ग्रन्थों का संशोधन कराये बिना प्रचार नहीं किया जायगा, इस शर्त के साथ विपरीत प्ररूपणा के सम्बन्ध में मिथ्यादुष्कृत करवा करके उन्हें वापस गच्छ में लिया था।

विजयसेनसूरि के समय में उपाध्याय धर्मसागर गच्छ से बाहर थे, यह कथन प्रामाणिक ज्ञात नहीं होता, क्योंकि १६५२ में श्री विजयहीरसूरिजी स्वर्गवासी हुए थे और १६५३ में उपाध्याय धर्मसागरजी भी स्वर्ग सिधारे थे।

इस प्रकार एक वर्ष के भीतर धर्मसागरजी ने कौन-सा महान् अपराध किया और विजयसेनसूरि ने उन्हें गच्छ बाहर किया? इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस परिस्थिति में धर्मसागरजी और देवसूरि के बीच मामा-भाञ्जा का सम्बन्ध बता कर धर्मसागरजी द्वारा देवसूरि पर पत्र लिख कर गच्छ में लेने की सूचना करना और उसके उत्तर में गुरु का निर्वाण होने के बाद देवसूरि द्वारा "गच्छ में लेने का आश्वासन" लिखना और वह पत्र भावियोग से विजयसेनसूरिजी के हाथ जाना, ये सब बातें एक कल्पित कहानी से अधिक नहीं हैं।

कविराज लिखते हैं – "विजयदेवसूरि का पत्र पढ़ कर श्री विजयसेनसूरिजी को क्रोध आया कि ऐसे आचार्य को उत्तराधिकारी बनाने के बजाय किसी दूसरे को आचार्य बनाना ही ठीक होगा", यह सोच कर आचार्यश्री ४०० साधुओं के समुदाय और ८ उपाध्यायों के साथ खम्भात नगर पहुँचे।

खम्भात में अकबरपुर में अपने स्वर्गवास के पहले आठ उपाध्यायों और मुनिगण को अपने पास बुला कर कहा – एक बार फिर देवसूरि के पास जाना, वह मेरा वचन प्रमाण करले तो दूसरा पट्टधर स्थापने की आवश्यकता नहीं, अन्यथा किसी योग्य पुरुष को प्रतिष्ठित करना। यह कह कर उन्होंने संघ-समक्ष उपाध्यायों को सूरिमन्त्र सौंपा, बाद में श्री विजयसेनसूरि स्वर्ग सिधार गए।

आगे कविराज लिखते हैं :

राजनगर में देवगुरु कने रे, आया पुछण वाचक आठ।
तिण समे 'धरमसागर' गणि देखीया रे पूज्य समीपे सखरे ठाठ ॥६॥

हगीगत कही सहुसने गुरु तणी रे, कांने न धरी रे गणधार।
रीसावी सहु पाछा आवीया रे, थाप्या तिलकसूरि पट्टधार ॥७॥"

अर्थात् – विजयसेनसूरि के स्वर्गवास होने के बाद विजयसेनसूरि के कथनानुसार सोमविजयजी आदि आठ उपाध्याय अहमदाबाद आचार्य देवसूरि के पास आए, तब उपाध्यायों ने विजयदेवसूरि के पास अच्छे ठाठ से धर्मसागर गणि को बैठा देखा, उपाध्यायों ने विजयसेनसूरि की बात विजयदेवसूरि को कही, पर देवसूरि ने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया। परिणामस्वरूप सर्व उपाध्याय नाराज होकर वापस लौटे और विजयसेनसूरि के पट्ट पर श्री विजयतिलकसूरि को प्रतिष्ठित किया, परन्तु विजयतिलकसूरि तीन वर्ष में स्वर्गवासी हो गए, तब उनके पट्ट पर विजयआनन्दसूरि को स्थापित किया।

एक समय श्री विजयदेवसूरिजी विजयआनन्दसूरिजी को मिलने आये। वहां दोनों आचार्यों की आपस में अनेक बातें होने के बाद यह निश्चित हुआ कि दोनों आचार्य हिलमिल करके चलें और अब से यतियों की जो क्षेत्रादेश के पट्टक लिखे जाएं वे श्री देवसूरि और आनन्दसूरि दोनों की सहियों से लिखे जाएं। लगभग तीन वर्ष तक यह संघटन चलता रहा, परन्तु चौथे वर्ष गच्छपति श्री देवसूरिजी ने केवल अपने ही नाम से क्षेत्रादेश

पट्टक लिखे, तब आनन्दसूरिजी ने भी अपने अनुयायी साधुओं को अपने ही नाम से क्षेत्रादेश पट्टक लिखे।

उपर्युक्त कड़ी ६ और ७ वीं में कविराज ने आठ उपाध्यायों के अहमदाबाद में विजयदेवसूरि के पास जाने पर उपाध्याय धर्मसागरजी को विजयदेवसूरिजी के पास बैठे देखने की बात कही है, जो असंभव है। क्योंकि उस समय तक धर्मसागरजी को स्वर्गवासी हुए बीस वर्ष होने आए थे। इस दशा में कविराज का कथन प्रमादपूर्ण है। धर्मसागर नहीं, किन्तु उनके शिष्य लब्धिसागर नेमिसागर, अथवा मुक्तिसागर इनमें से सब या कोई एक हो सकते हैं। विजयदेवसूरि के विरोध में उपाध्याय सोम-विजयजी, उ० कीर्तिविजयजी आदि ने जो विरोध का बवण्डर खड़ा किया था, उसका कारण भी सागर विरोधी उक्त उपाध्यायों के प्रचार का ही परिणाम था।

आचार्य श्री विजयदेवसूरि का सम्पूर्ण जीवन-चरित्र पढ़ लेने पर भी यह वस्तु प्राप्त नहीं होती कि विजयदेवसूरिजी सागरों के पक्षकार थे। कई स्थानों पर तो विजयदेवसूरिजी को सागरों तथा सागर भक्त गृहस्थों से मुठभेड़ तक हुई है और सागरों को निरुत्तर होना पड़ा है। प्रस्तुत निरूपण से दो बातें स्पष्ट होती हैं, एक तो यह कि तपागच्छीय आचार्य श्री विजय-सेनसूरि के पट्ट पर दो आचार्य होकर देवसूरि गच्छ, आनन्दसूरि गच्छ नामक दो पार्टिया होने का कारण उपाध्याय धर्मसागर गणि नहीं थे। दूसरा विजयदेवसूरि को सागरों का पक्षकार बना कर इन पार्टियों की उत्पत्ति का कारण बताया जाता है, यह भी निराधार है। इस झगड़े का मूल कारण क्या था, यह तो ज्ञानी ही कह सकता हैं, परन्तु इतना तो निश्चित है कि तपागच्छ के उपाध्यायाष्टक ने इस सम्बन्ध में जो रस लिया है, उसमें उपा० सोमविजयजी, उपा० कीर्तिविजयजी के नाम सर्वप्रथम हैं। उपाध्याय कीर्तिविजयजी के शिष्य उपाध्याय विनयविजयजी ने भी कल्प-सूत्र की "सुबोधिका टीका" के निर्माण काल सं० १६९६ तक इस विषय में बड़ी दिलचस्पी ली थी। वे प्रसंग आते ही उपाध्याय धर्मसागरजी की गलतियां बताने में अपना पुरुषार्थ किया करते थे, परन्तु धीरे-धीरे वस्तु-

स्थिति स्पष्ट हुई। विजयदेवसूरिजी के ऊपर लगाया गया सागरों के पक्ष का आरोप निराधार प्रमाणित हुआ तब विद्वान् साधु आनन्दसूरि की परम्परा में से निकल कर देवसूरि की परम्परा में आने लगे थे।

प्रसिद्ध उपाध्याय यशोविजयजी प्रथम से ही मध्यस्थ थे, परन्तु विनयविजयजी अपने गुरुओं के कारण आनन्दसूरि की पार्टी में मिले थे, परन्तु बाद में वे भी विजयदेवसूरि की परम्परा में आए थे, ऐसा इनके पिछले ग्रन्थों की प्रशस्तियों से ज्ञात होता है। विजयदेवसूरि ने अमुक सागरों को पद प्रदान करने के लिये अपना वासक्षेप सेठ शान्तिदास को अवश्य दिया था, परन्तु किसी भी सागर को आपने आचार्य-पद नहीं दिया। इससे भी ज्ञात होता है कि विजयदेवसूरिजी सागरों को बढ़ावा देने वाले नहीं थे, परन्तु दोनों पार्टियां हिलमिल कर रहें ऐसी भावना वाले थे। आज उपर्युक्त दोनों पार्टियों की आचार्य-परम्पराएं कभी की समाप्त हो चुकी हैं।

विजयानन्दसूरि-गच्छ की परम्परा (१)

५९ आचार्य श्री विजयसेनसूरि –

६० आचार्य श्री विजयतिलकसूरि –

जन्म सं० १६५१, दीक्षा सं० १६६२, पं० १६६३, सं० १६७३ में सिरोही में वडगच्छ के भट्टारक विजयसुन्दरसूरि के वासक्षेप से सूरि-पद दिया था और उपाध्याय आदि ने मिलकर आचार्य श्री विजयसेनसूरि के पट्ट पर विजयतिलकसूरि के नाम से प्रतिष्ठित किया। स्वर्ग सं० १७७६ में।

६१ आचार्य श्री विजयआनन्दसूरि –

मारवाड़ के रोहा गांव में सं० १६४२ में जन्म, सं० १६५१ में दीक्षा, सं० १६७६ में सिरोही में विजयतिलकसूरि द्वारा आचार्य-पद, सं० १७११ में स्वर्गवास।

६२ आचार्य श्री विजयराजसूरि –

सं० १६७९ में कडी में जन्म, सं० १६८९ में दीक्षा, नाम कुशलविजय, सं० १७०४ में सिरोही में विजयानन्दसूरि द्वारा आचार्य-पद, सं० १७४२ में खम्भात में स्वर्गवास।

६३ आचार्य श्री विजयमानसूरि –

सं० १७०७ में बुरहानपुर में जन्म, सं० १७१९ में मालपुर में दीक्षा, वि० सं० १७३१ में उपाध्याय-पद, सं० १७३६ में सिरोही में विजयराजसूरि के हाथ से सूरि-पद, सं० १७७० में साणंद में स्वर्गवास।

६४ आचार्य श्री विजयऋद्धिसूरि –

आबु के पास थांग गांव में सं० १७१७ में जन्म, सं० १७४२ में अहमदाबाद में दीक्षा, सं० १७६६ में सिरोही में आचार्य-पद, १७९७ में स्वर्गवास ।

६५ आचार्य श्री विजयसौभाग्यसूरि –

आचार्य श्री विजयप्रतापसूरि –

सं० १७९५ में आचार्य-पद सादड़ी में, १८१४ में सिनोर में स्वर्गवास ।

इन्होंने अपने पट्ट पर विजयभानसूरि को बैठाया ।

६६ आचार्य श्री विजयउदयसूरि –

जन्म वांकली गांव में, आचार्य-पद मुंडारा में, गुजरात में उदयसूरि ने सपरिवार जाकर काकागुरु सौभाग्यसूरि से मिलकर आगे दक्षिण में विहार किया और सं० १८३७ में स्वर्गवासी हुए ।

६७ आचार्य श्री विजयलक्ष्मीसूरि –

सिरोडी और हणादरा के बीच में सिरोडी से दक्षिण में १ कोस और हणादरा गांव से उत्तर में दो कोस पर पालडी गांव में सं० १७९७ में जन्म, सं० १८१४ में नर्मदा तट पर सिनोर में दीक्षा, उसी वर्ष सूरि-पद, सं० १८५८ में सूरत में स्वर्ग-गमन ।

६८ आचार्य श्री विजयदेवेन्द्रसूरि –

सूरत में जन्म, सं० १८५७ में आचार्य-पद बड़ोदा में, अहमदाबाद में सं० १८६१ में स्वर्गवास ।

६९ आचार्य श्री विजयमहेन्द्रसूरि –

भीनमाल में जन्म; सं० १८२७ में आमोद में दीक्षा, सं० १८६१ भट्टारक-पद, सं० १८६५ में स्वर्गवास ।

७० आचार्य श्री विजयसमुद्रसूरि –

गोढवाड़[१] में कवला गाव में जन्म, पोरवाड़ जातीय, पितृनाम हरनाथ, मातृनाम पूरी की कुक्षि से जन्म, आचार्य-पद सं० १८८० में पूना में ।

१. सोहम्म कुल पट्टावली में कवि दीपविजयजी ने 'कवला' गांव गोढाण अर्थात् गोड़वाड़ में होना लिखा है, परन्तु कवला गोड़वाड़ में न होकर शिलावटी में है, भूति से एक कोस उत्तर में ।

विजयानन्दसूरि - शाखा की पट्टावली (१)

६० विजयसेनसूरि –

६१ विजयतिलकसूरि –

विशल नगर में जन्म, जाति पोरवाड़, पिता नामदेवजी, माता जयवंती, हीरविजयसूरि के प्रतिबोध से दीक्षा ली। वड-गच्छ के भट्टारक विजयसुन्दरसूरि के वासक्षेप से सिरोही में सं० विजयसेनसूरि के पट्ट पर प्रतिष्ठित किया, १६७६ में स्वर्गवासी हुए।

६२ विजयानन्दसूरि –

रोहिड़ा नगर में जन्म: पोरवाल जातीय, पितृनाम श्रीवन्त, मातृनाम सिणगारदे, श्री विजयहीरसूरि के उपदेश से ९ लोगों के साथ सं० १६५१ के वर्ष में दीक्षा, उपाध्याय सोमविजयजी से शास्त्र-ज्ञान प्राप्त किया, आचार्य विजयतिलकसूरि ने विजयानन्दसूरि को सिरोही में १६७६ में सूरि-पद दिया, स० १७१७ में, मतान्तर से १७११ में स्वर्गवासी हुए।

६३ विजयराजसूरि –

कडी गांव में सं० १६७९ में जन्म, पिता का नाम खीमा, ज्ञाति श्रीमाली, माता गमनादे, १६८९ में विजयानन्दसूरि के पास दीक्षा, १७०३ में सिरोही में सूरि-पद और सं० १७४२ में स्वर्ग।

६४ विजयमानसूरि –

नगर बुरहानपुर के, जाति से पोरवाल, पिता वागजी, माता वीरमदे, जन्म सं० १७०७ में, दीक्षा सं० १७१७ में दो भाइयों के साथ, सं० १७३६ में सिरोही में आचार्य-पद, १७४२ में भट्टारक-पद, सं० १७७० में स्वर्गवास।

६५ विजयऋद्धिसूरि –

आबू के समीपवर्ती थाणा गांव के, वीसा पोरवाल, पिता नाम जसवंत, माता नाम यशोदा, सं० १७२७ में जन्म, विजयमानसूरि के पास सं० १७४२ में दीक्षा, सं० १७६६ में सिरोही में सूरि-पद, सं० १७६७ में स्वर्ग-गमन, मतान्तर से १८०६ में स्वर्गवास।

६ः विजयसौभाग्यसूरि –

विजयप्रतापसूरि –

विजयसौभाग्यसूरि का जन्म-स्थान पाटन, जाति ओसवाल, १७६५ में सादड़ी में सूरिपद, सं० १८१४ में सिनोर में स्वर्ग-गमन।

६७ विजयउदयसूरि –

जन्म-स्थान गांव वांकली, सूरिपद मुण्डारा में, सं० १८५६ में, पाली में स्वर्गवास।

६८ विजयलक्ष्मीसूरि –

सं० १७६७ में जन्म हणादरा समीपवर्ती पालडी में, पिता का नाम हेमराज, माता आनन्दीबाई, दीक्षा सं० १८१४ में सिनोर में, सं० १८५६ में भट्टारक-पद और इसी वर्ष में स्वर्गवास।

६९ विजयदेवेन्द्रसूरि –

सूरत में जन्म, १८५७ में बड़ोदे में गच्छाधिपति-पद और सं० १८६१ में राजनगर में स्वर्गवास।

७० विजयमहेन्द्रसूरि –

जन्म-स्थान भीनमाल, जाति ओसवाल, सं० १८२७ में आमोद में दीक्षा, सं० १८६३ में विजापुर में स्वर्गवास।

७१ विजयसुरेन्द्रसूरि (समुद्रसूरि)

७२ धनेश्वरसूरि

विजयआनन्दसूरि-शाखा की पट्टावली (३)

६०	तत्पट्टे	श्री	विजयसेनसूरि
६१	,,	,,	विजयतिलकसूरि
६२	,,	,,	विजयानन्दसूरि
६३	,,	,,	विजयराजसूरि
६४	,,	,,	विजयमानसूरि
६५	,,	,,	विजयऋद्धिसूरि
६६	,,	,,	विजयसौभाग्यसूरि
			विजयप्रतापसूरि – जन्म गोत्र धाकली ।
६७	,,	,,	विजयउदयसूरि
६८	,,	,,	विजयलक्ष्मीसूरि – आबू के परिसर में जन्म, गांव पालडी में ।
६९	,,	,,	विजयदेवेन्द्रसूरि (महेन्द्रसूरि)
७०	,,	,,	सुरेन्द्रसूरि (समुद्रसूरि)
७१	,,	,,	धनेश्वरसूरि
७२	,,	,,	विद्यानन्दसूरि
७३	,,	,,	गुणरत्नसूरि ।

विजयानन्दसूरि-शाखा की पट्टावली (४)

६०	तत्पट्टे	श्री	विजयसेनसूरि	
६१	,,	,,	विजयतिलकसूरि	
६२	,,	,,	विजयानन्दसूरि	
६३	,,	,,	विजयराजसूरि	
६४	,,	,,	विजयमानसूरि	
६५	,,	,,	विजयऋद्धिसूरि	
६६	,,	,,	विजयप्रतापसूरि	} दोनों भाई थे।
६७	,,	,,	विजयसौभाग्यसूरि	
६८	,,	,,	विजयउदयसूरि	
६९	,,	,,	विजयलक्ष्मीसूरि	
७०	,,	,,	विजयमहेन्द्रसूरि	
७१	,,	,,	विजयसुरेन्द्रसूरि	

---

१. विजयप्रताप और विजयसौभाग्य दोनों भाई थे, परन्तु पट्टधर एक ही थे। यही कारण है कि अन्य पट्ट-परम्परा लेखकों ने एक नम्बर बढ़ाया है, पर प्रकृत में नहीं बढ़ाया।

तपागच्छ-सागरशाखा-पट्टावली (१)

५८ हीरसूरि
५९ विजयसेनसूरि
६० राजसागरसूरि
६१ वृद्धिसागर
६२ लक्ष्मीसागर
६३ कल्याणसागर
६४ पुण्यसागर
६५ उदयसागरसूरि
६६ आनन्दसागरसूरि
६७ शान्तिसागरसूरि

सागरगच्छीय - पट्टावली (१)

५३ आचार्य लक्ष्मीसागरसूरि

५४ उपाध्याय विद्यासागर गणि

५५ उपाध्याय धर्मसागर गणि – नाडोल में जन्म, सं० १५६५ में १६ वर्ष की उम्र में श्री दानसूरि के हाथ से दीक्षा, सं० १६५३ में स्वर्गवास ।

५६ उपाध्याय – लब्धिसागर के शिष्य नेमिसागर और नेमिसागर के शिष्य मुक्तिसागर, उपाध्याय मुक्तिसागरजी को नगर सेठ शान्तिदास ने सं० १६७९ में आचार्य विजयदेव-सूरि के वासक्षेप से उपाध्याय-पद दिया और १६८६ में उक्त आचार्य के ही वासक्षेप से अहमदाबाद में आचार्य-पद दिया गया, इनकी पट्ट-परम्परा नीचे मुजब चली ।

५९ आचार्य विजयसेनसूरि

६० आचार्य राजसागरसूरि – राजसागर, उपा० लब्धिसागर के शिष्य; उपा० नेमिसागर के छोटे भाई तथा शिष्य थे। इनका जन्म सं० १६३७ में सिपोर में हुआ था, इनका दीक्षा नाम मुक्तिसागर था। सं० १६६५ में पंन्यास-पद, सं० १६७९ में वाचक-पद और सं० १६८६ में आचार्य-पद अहमदाबाद में हुआ, नाम "राजसागरसूरि" प्रतिष्ठित किया था,

	सं० १७२१ में अहमदाबाद में स्वर्गवास, आचार्य राजसागरसूरि से "सागर" शाखा की पट्टावली चली है।
६१ वृद्धिसागरसूरि –	स्वर्गवास सं० १७४७ में अहमदाबाद में।
६२ लक्ष्मीसागरसूरि –	स्वर्ग० सं० १७८८ में सूरत में।
६३ कल्याणसागरसूरि –	स्वर्ग० सं० १८११ में।
६४ पुण्यसागरसूरि –	सं० १८०८ में आचार्य-पद।
६५ उदयसागरसूरि –	
६६ आनन्दसागरसूरि –	
६७ शान्तिसागरसूरि –	इन्होंने सं० १९२९ में "तिथिक्षय वृद्धि" के सम्बन्ध में हेण्डबिल प्रकाशित करवाये थे।

सागरगच्छ के प्रारम्भिक आचार्यों का नाम-क्रम (३)

६०	तत्पट्टे	श्री	हीरविजयसूरि
६१	,,	,,	विजयसेनसूरि
६२	,,	,,	राजसागरसूरि
६३	,,	,,	ऋद्धिसागरसूरि
६४	,,	,,	लक्ष्मीसागरसूरि
६५	,,	,,	कल्याणसागरसूरि
६६	,,	,,	पुण्यसागरसूरि

सोहम्मकुल पट्टावली रास के आधार से विजयदानसूरि का सं० १६२२ में वटपद्र में स्वर्गवास।

५८ राजविजयसूरि को विजयदानसूरि ने अन्त में गच्छ सम्भालने के लिए लिखा, पर उन्होंने प्रत्युत्तर में लिखा कि दूसरा पट्टधर स्थापन करियेगा।

परिशिष्ट (१)

तपागच्छ की लघु-अपूर्ण पट्टावलियाँ

हमारे पास की एक हस्तलिखित लघु तपागच्छीय पट्टावली, जो सुमतिसाधुसूरि के समय की लिखी हुई है, उसमें लिखी हुई कतिपय बातें उल्लेखनीय होने से टिप्पन के रूप में यहाँ दी जाती हैं।

इस लघु पट्टावली में ३१वें पट्टधर श्री यशोदेवसूरि के बाद श्री प्रद्युम्नसूरि और मानदेवसूरि को नहीं लिया, सीधा विमलचन्द्र, उद्योतन और सर्वदेवसूरि का नाम लिखा है और सर्वदेव के बाद अजितदेवसूरि, विजयसिंहसूरि, सोमप्रभसूरि, मुनिचन्द्रसूरि, अजितसिंहसूरि, विजयसेनसूरि और मणिरत्नसूरि का नाम लिख कर जगच्चन्द्रसूरि का नाम लिखा है। मणिरत्नसूरि के पहले के ६ नामों में कुछ गड़बड़ हुआ प्रतीत होता है।

उद्योतनसूरि के नाम के बाद दिये हुए टिप्पन में विक्रम सं० १००८ में पौषधशालाओं में ठहरने का कारण हुआ, ऐसा उल्लेख किया है।

श्री सुमतिसाधुसूरि का नाम लिखने के बाद टिप्पन में लिखा है :

"तेषां शिष्याः श्री हेमविमलसूरयः सम्प्रति विजयन्ते"।

हमारी एक अन्य हस्तलिखित पट्टावली में श्री यशोभद्रसूरि के बाद ४०वां मुनिचन्द्रसूरि का नाम लिखा है, नेमिचन्द्र का नाम नहीं लिखा। आगे अजितदेव नामक ४१वें पट्टधर से ६६वें पट्टधर श्री विजयजिनेन्द्रसूरि तक के नाम लिखे मिले हैं।

सं० १८५९ के भाद्रवा सुदि ३ की लिखी हुई एक लघु पट्टावली में पट्टक्रम निम्न प्रकार का है :

यशोभद्र के बाद संभूतविजयजी का नाम लिख कर उनके पट्टधर स्थूलभद्रजी को लिखा है, भद्रबाहु का नाम नहीं दिया।

उद्योतन और सर्वदेवसूरि के नाम लिख कर देवसूरि का ३८वां नम्बर खाली रक्खा है और दूसरे सर्वदेवसूरि का नाम न लिख कर ३९वें पट्ट पर यशोभद्रसूरि को लिखा है। विजयसिंहसूरि के बाद सोमप्रभ का नाम न लिख कर मणिरत्न को ४०वां पट्टधर लिखा है। ५३वें पट्टधर मुनिसुन्दरसूरि के नाम के बाद सीधा लक्ष्मीसागरसूरि का ५४वां नाम लिखा है, रत्नशेखर का नाम छूट गया है।

विजयसेनसूरि के बाद विजयतिलकसूरि की पट्टावली दी है।

एक चौथी हमारी हस्तलिखित लघु पट्टावली, जिसमें २० आचार्यों का पट्टक्रम नहीं है और बाद में विजयदेवेन्द्रसूरि तक की पट्टावली व्यवस्थित है, आगे का पाट-क्रम का भाग नहीं मिला।

यशोदेवसूरि के बाद प्रद्युम्नसूरि तथा उपधान ग्रन्थकार मानदेवसूरि के नाम लिख कर इस पट्टावली में सीधा विमलचन्द्रसूरि का नाम लिखा गया है।

उद्योतनसूरि के पट्टधर श्री सर्वदेवसूरि का नाम लिख कर सीधा अजितदेव, विजयसिंह, सोमप्रभ, मुनिचन्द्र, अजितसिंह, विजयसेन और मणिरत्नसूरि का नाम लिख कर श्री जगच्चन्द्रसूरि को ४३वां पट्टधर लिखा है, इन नामों में भी खासी गड़बड़ी हुई है।

इस पट्टावली में विजयसेनसूरि के समय में विक्रम सं० १२०१ में चामुण्डिक गच्छ, सं० १२१४ में आंचलिक गच्छ; ११५९ में पूर्णिमा पक्ष और सं० १२५० में आगमिक गच्छ प्रकट होना लिखा है।

हमारी एक लिखित पट्टावली में इन्द्रदिन्न के बाद सिंहगिरि का नाम दिया है। इसी तरह विक्रमसूरि के बाद नरसिंहसूरि का नाम नहीं

दिया। मालूम होता है कि दिन्न का नरसिंह नाम लेखक के प्रमाद से छूट गया है।

इसी प्रकार सर्वदेव के पट्टधर देवसूरि के बाद द्वितीय सर्वदेवसूरि का नाम न लिख कर यशोभद्रसूरि का नाम लिखा है, यह भी लेखक का प्रमाद है।

आ० मणिरत्नप्रभ के बाद फिर सोमप्रभ का नाम लिख कर फिर जगच्चन्द्रसूरि का नाम लिखना तथा देवसुन्दरसूरि के बाद सोमसुन्दरसूरि का नाम न लिख कर मुनिसुन्दरसूरि का नाम लिखना, यह भी लेखक की प्रमाददशा का परिणाम है। यह पट्टावली किसी सागर की लिखी हुई है, क्योंकि विजयसेनसूरि के पट्ट पर श्री राजसागर, वृद्धिसागर, लक्ष्मीसागर, कल्याणसागर और पुण्यसागर को पट्ट-परम्परा में माना है।

तपगच्छ पाट-परम्परा-स्वाध्याय

ले० : हर्षसागरोपाध्यायशिष्य

हर्षसाग० शिष्य लिखते हैं – **रविप्रभसूरि भीसमइ पाटित्र-विमल जिनरंजइ बरसइ ग्यारसइसतिरइ कुमति मदभंजइ ॥**

ऊपर के उल्लेख से स्वाध्यायलेखक रविप्रभसूरि का समय ११७० सूचित करते हैं जो विचारणीय है। स्वाध्याय-लेखक ने विजयदानसूरि के बाद श्री राजविजयसूरि का नाम लिखा है और उनको विजयदानसूरि का भावी पट्टधर लिखा है। लेखक ने अन्त में संवत् भी दिया है, पर वह स्पष्ट रूप से जाना नहीं जाता। अन्तिम अंक ६६ का होने से ज्ञात होता है कि यह स्वाध्याय १६६६ के वर्ष की कृति होनी चाहिए।

श्री तपगच्छीय-पट्टावली सज्झाय :

– कर्ता : मेघमुनि

इस स्वाध्याय का प्रारम्भ नीचे के पद्य से होता है :

गुरु परिपाटी सुरलता, मूल पवगुण गीर।
सतसाखइं प्रसरइ घणुं, जय जगगुरु महावीर ॥१॥

स्वाध्याय में विजयसेनसूरि तक पट्ट-क्रम व्यवस्थित रूप से दिया है। स्वाध्याय के अन्त की निम्नोद्धृत गाथा में लेखक ने अपना परिचय दिया –

जय तप गच्छ मंडण, कुमत खंडण सहजकुशल पंडितवरो।
तस सीस पंडित माणिक कुशलो सकल साधु शोभा करो ॥

श्री पंडित मेहमुनीससीसि रची पाटपरंपरा ।
जे भविभावि भणस्यइ भनइ सुणस्यइ वरस्यइ सिद्धि स्वयंवरी ॥३६॥

इति श्री पट्टावली सज्झाय समाप्तः ।

हमारी एक लघु पट्टावली में विजयदानसूरि को ५६वें पट्ट पर लिख कर ५७वें पट्ट पर श्री देवचन्द्रसूरि का नाम लिखा है, फिर हीरविजयसूरि और विजयसेनसूरि के बाद विजयदेवसूरि का नाम न होने से ज्ञात होता है कि लेखक ने विजयदेवसूरि के बदले में ही देवचन्द्रसूरि का नाम लिख दिया है । विजयसेन के बाद विजयसिंह, विजयप्रभ, विजयरत्न, विजय-क्षमा, विजयदया, विजयधर्म और विजयजितेन्द्रसूरि के नाम क्रमः लिखे गये हैं ।

इसी पट्टावली में उद्योतनसूरि के बाद सर्वदेवसूरि, देवसूरि और यशोभद्रसूरि के नाम लिखे हैं, द्वितीय सर्वदेवसूरि का नाम नहीं लिखा । यह पट्टावली भी किन्हीं यतिजी के हाथ की लिखी हुई है ।

हमारी एक तपागच्छीय पट्टावली है जो कल्पसूत्र के टबार्थ के अन्त में लिखी हुई है । लेखक का नाम श्री खुशालचन्द्रजी, श्री भुवनचन्द्रगणि के शिष्य थे और संवत् १७८४ के चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की द्वितीया को जोधपुर में लिखी गई थी । पट्टावली का पट्टक्रम व्यवस्थित है ।

तपा-पट्टावली – ५ पत्र की अपूर्ण है, श्री जगच्चन्द्रसूरि तक की पाट-परम्परा इसमें दी हुई है ।

इसी पट्टावली के आर्य स्थूलभद्र के दीक्षा आदि का हिसाब निम्न ढंग से दिया गया है –

३० वर्षान्ते दीक्षा, २० वर्ष श्रामण्य पर्याय, ५० वर्षे सूरिपद, ४९ वर्ष तक युग प्रधान पद भोगा ।

देवसूरि के पट्टधर द्वितीय सर्वदेवसूरि को न लिखकर सीधा यशोभद्र-सूरि को बताया है ।

विक्रमात् १२५० में पूर्णमीया से आंचलीया बनकर देवभद्र और शीलभद्रसूरि ने आगमिक मत प्रकट किया।

सं० ११४० वर्षे नवांगी वृत्तिकर्ता श्री अभयदेवसूरि और उनके पट्टधर जिनवल्लभसूरि कूर्चपुर गच्छीय जिनेश्वरसूरि के शिष्य हुए और चित्रकूट ऊपर छः कल्याणकों की प्ररूपणा की।

"पत्तने स्त्रीजिनपूजा उत्थापिता, संघभयेन उष्ट्रिकावाहनेन जावालिपुरे गतः तेन लोकैः औष्ट्रिक नाम दत्तं॥"

हमारी एक संवत् १८५० में लिखी हुई भाषा पट्टावली जो विजय-जिनेन्द्रसूरि के समय की लिखी हुई है, इस पट्टावली में अनेक अज्ञानपूर्ण स्खलनाएं दृष्टिगोचर होती हैं। जैसे सुधर्मा स्वामी की छद्मस्थावस्था ४२ वर्ष और केवली पर्याय १८ वर्ष का मानना।

प्रभव-स्थविर के युगप्रधान पर्याय के १४ वर्ष लिखना।

यशोभद्रसूरिजी का आयुष्य ६० वर्ष का लिखना।

स्थूलभद्रजी का आयुष्य ८० वर्ष का लिखना और उनका स्वर्गवास महावीरनिर्वाण से २५० में मानना।

वज्रसेनसूरि का आयुष्य ६० वर्ष का लिखना।

जयानन्दसूरि के पट्टधर श्री रविप्रभसूरि को जिननिर्वाण से ११६० में मानना।

श्री हेमविमलसूरि के समय में तपागच्छ के तीन फांटे पड़े। कमम-कलशा, कतकपुरा, वड़गच्छा॥

सं० १५६२ में कडुआमत-गच्छ
सं० १५७२ में बीजामत-गच्छ
सं० १५८२ में पार्श्वचन्द्र-गच्छ

श्री दानसूरि के समय में सागरमति-गच्छ निकला और सं० १६६२ में विजयदानसूरि का स्वर्गवास।

सं० १६२९ में मेघजी ऋषि आदि ठाणा २७ ने आचार्य हीरसूरिजी के हाथ से दीक्षा ली।

सं० १६६२ वर्षे आषाढ़ सुदि ११ को उनानगर में विजयदेवसूरि का स्वर्ग० ॥

सं० १६६५ वर्षे विजयआनन्दसूरि-गच्छ निकला।

सं० १८५० वर्ष में कार्तिक सुदि ५ को यह पट्टावली पं० कल्याण-सागर पठनार्थ लिखी गई है।

हमारी एक हस्तलिखित पट्टावली में आचार्य वज्रसेनसूरि का आयुष्य १२० वर्ष का लिखा।

आचार्य सर्वदेवसूरि के पट्टधर देवेन्द्रसूरि लिखा है।

आचार्य विजयदेवसूरि के समय में राजनगर में सेठ शान्तिदास ने प्रत्येक मनुष्य को प्रभावना में एक-एक अंगुठी सोने की दी थी। सागरगच्छ की खुशी में।

हमारी एक पट्टावली जो विजयदयासूरि पर्यन्त की पाट-परम्परा वाली है, उसमें आर्यवज्र का जन्म नि० ४९६ और स्वर्गवास जिननिर्वाण से ५०४ में लिखा है।

आचार्य रविप्रभ के समय में वीरनिर्वाण से ११९० में श्री उमास्वाति वाचक हुए। आचार्य रत्नशेखरसूरि के समय में सं० १५३५ वर्षे लुंकामत प्रकट हुआ। उस समय में भाणा नामक व्यक्ति साधुवेश धारण करने वाला हुआ।

इसी पट्टावली में आचार्य विजयसिंहसूरि की दीक्षा का वर्ष १६५१ और उपाध्याय-पद का १६७३ का वर्ष लिखा है।

विजयप्रभसूरि का स्वर्गवास सं० १७४९ लिखा है, दीव बन्दर मध्ये उना गांव में।

विजयरत्नसूरि का पूर्व नाम जीतविजय था। माता-पिता भाई के साथ इनकी दीक्षा विजयप्रभसूरि के हाथ से हुई थी।

विजयरत्नसूरि के चातुर्मास्यों के गांवों की सूची :

सं० १७४९ में भट्टारक-पद।

१७३३ में मेड़ता में गुरु के साथ   १७४९ पुंजपुर

१७३४	स्वतंत्र मेड़ता में	१७५०	पाटण
१७३५	सोजत	१७५१	सोहीगाम
१७३६	कुकुडेश्वर (मालवा)	१७५२	(द) साडा
१७३७	सींदरशी	१७५३–१७६३	ग्रहमदाबाद में बराबर ११ वर्ष रहे।
१७३८	दघालीए		
१७३९	रतलाम	१७६४	उदयपुर
१७४०	मांडवगढ़	१७६५	में कोठारीया
१७४१	,,	१७६६	सादड़ी
१७४२	रतलाम	१७६७	बांसवाड़ा
१७४३	उदयपुर	१७६८	उदयनुर
१७४४	खमणोर	१७६९	,,
१७४५	कोठारिया	१७७०	जोधपुर
१७४६	ग्रासपुर	१७७१	बीजौवा
१७४७	बांसवाड़े	१७७२	सादड़ी
१७४८	डूंगरपुर	१७७३	उदयपुर

आचार्य विजयक्षमासूरि के चातुर्मास्यों की सूची :

१७७४	कोठारीया	१७७९	पाटण
१७७५	कीशनगढ़	१७८०	पालिताणा
१७७६	,,	१७८१	घोघाबन्दर
१७७७	उदयपुर	१७८२	दीवबन्दर
१७७८	पालनपुर	१७८३	,,

हमारी एक हस्तलिखित पट्टावली में जो १७९० में लिखी हुई है, आर्य स्थूलभद्र का गृहस्थ-पर्याय ३० वर्ष, व्रत-पर्याय २० वर्ष, और ४९ वर्ष युगप्रधान-पर्याय के माने हैं।

"वि० ११३५ वर्षे केचित् ११३९ वर्षे नवांगवृत्तिकारक श्री अभय-देवसूरिः स्वर्गभाक् तथा कूर्चपलीय चैत्यवासि जिनेश्वरसूरिशिष्यो जिन-वल्लभनामा चित्रकूटे षट्कल्याणकप्ररूपणया विधिसंघो विधिधर्म इति

नाम्ना स्वमतं प्रकाशितवान् तेन प्रवचनात् बहिर्भूतः । वि० ११४५ तथा ११५० सा प्ररूपणा संभाव्यते ॥"

इसी पट्टावली में –

"वादिदेवसूरीणां वि० ११४३ जन्म, ११५२ व्रतं, ११७४ सूरिपदं, १२२६ स्वर्गोऽभूत् ॥"

"सं० १२५० वर्षे पौर्णमियकांचलिकमतोत्थिताभ्यां देवभद्र-शील-गुणाख्याभ्यां श्रीशत्रुञ्जयपरिसरे आगमिकमतं प्रादुर्भूतं ।"

"तथा च भीमपल्यां गुरुभिश्चतुर्मासकं कृतं, ज्ञानातिशयेन तद्भंगं ज्ञात्वान्यपक्षीयैकादशाचार्यैर्निवारिता अपि चतुर्मासी प्रतिक्रम्य प्रथमकार्तिक-पक्षांतेऽन्यत्र विहृताः ॥"

एक अन्य हस्तलिखित पट्टावली में विजयक्षमासूरि का जन्म पाली में सं० १७३२ में, दीक्षा १७३९ में, १७५६ में पंन्यास-पद, १७७३ भाद्रपद सुदि ८ को आचार्य-पद, माह सुदि ६ पदोत्सव उदयपुर में ॥

एक हस्तलिखित पट्टावली में आचार्य विजयरत्नसूरि का स्वर्ग-समय वि० सं० १७७३ के भाद्रपद शुक्ला ३ को लिखा है ।

आचार्य विजयक्षमासूरि का जन्म मेवाड़ प्रान्त में, 'धावल नगर' में हुआ ।

आ० विजयदयासूरि का सूरिपद मांगलोर में और १८०९ में स्वर्गवास हुआ ।

आ० धर्मसूरि को आचार्य-पद १८०३ में उदयपुर में और १८४१ में स्वर्गवास ।

विजयजिनेन्द्रसूरि को सूरि-पद १८४१ में ॥

एक पट्टावली में विजयरत्नसूरि का स्वर्ग १७७३ में "भाद्रपद शु० २ मांगलोर में, सं० १७८४ में विजयदानसूरि को सूरि-पद और स्वर्गवास सुरत में ।

विजयदेवेन्द्रसूरि का जन्म चित्रावा नगर में, सिरोही में सूरि-पद और स्वर्गवास राधनपुर में हुआ ।

१. विजय-संविग्न शाखा की गुरु-परम्परा

६१ आचार्य श्री विजयसिंहसूरि – स्वर्ग० १७०६ में ।

६२ पं० सत्यविजयजी गणि –

६३ पं० कपूं रविजयजी गणि – स्वर्गवास सं० १७७५ में ।

६४ पं० क्षमाविजयजी गणि – स्व० सं० १७८७ में ।

६५ पं० जिनविजयजी गणि – स्व० सं० १६१६ में ।

६६ पं० उत्तमविजयजी गणि – स्व० सं० १८२७, (सं० १८१८ में भीखमजी ने १३ पंथ चलाया।)

६७ पं० पद्मविजयजी गणि – स्व० १८६२ ।

६८ पं० रूपविजयजी गणि – स्व० सं० १६१० ।

६६ पं० कीर्तिविजयजी गणि ।

७० पं० कस्तूरविजयजी गणि ।

७१ पं० मणिविजयजी गणि । (दादा) स्व० सं० १६३५ ।

७२ पं० सिद्धिविजयजी गणि (सूरि) स्व० सं० २०१६ ।

८३ मुनि श्री केसरविजयजी – जन्म सं० १६१६ में शेरगढ़ (मारवाड़) में दीक्षा सं. १६३४ चारित्रोपसम्पद् सं० १६६४ में पं० सिद्धविजयजी गणि के पास । स्वर्गवास सं० १६७१ फाल्गुण सुदि २ (तखतगढ़ में)

सागर-संविग्न शाखा की गुरु-परम्परा

(५८) आचार्य श्री हीरविजयसूरि ।
(५९) उपाध्याय सहजसागर ।
(६०) ,, जयसागर ।
(६१) ,, जितसागर ।
(६२) पं० मानसागर ।
(६३) मयगलसागर ।
(६४) पद्मसागर । (स्व० सं० १८२५ में)
(६५) सुज्ञानसागर । (स्व० सं० १८३८)
(६६) स्वरूपसागर । (स्व० सं० १८६६)
(६७) निधानसागर । (स्व० सं० १८८७)
(६८) मयगलसागर ।

(६९) गौतमसागर ।
(७०) झवेरसागर
(७१) आचार्य आनन्दसागरसूरि ।
(७२) ,, माणिक्यसागरसूरि ।

(६९) नेमिसागरजी ।
(७०) रविसागरजी
(७१) सुखसागरजी
(७२) आचार्य बुद्धिसागरसूरि ।
(सं० १९८१ स्वर्ग)
(७३) आ० अजितसागरसूरि ।
(७४) आ० ऋद्धिसागरसूरि ।
(७५) ,, कीर्तिसागरसूरि ।

विमल-संविग्न शाखा की गुरु-परम्परा

(५६) आनन्दविमलसूरि
(५७) ऋद्धिविमलजी
(५८) कीर्तिविमलजी
(५९) वीरविमलजी
(६०) महोदयविमलजी
(६१) प्रमोदविमलजी
(६२) मणिविमलजी
(६३) उद्योतविमलजी
(६४) दानविमलजी
(६५) पं० दयालविमलजी
(६६) ,, सौभाग्यविमलजी
(६७) ,, मुक्तिविमलजी (स्व० १९७४ में)
(६८) आ० रंगविमलसूरि (सं० २००५ में आचार्य-पद)

श्री पार्श्वचन्द्र गच्छ की पट्टावली (१)

श्री पार्श्वचन्द्र गच्छ के अनुयायी अपने गच्छ का अनुसन्धान श्री वादि-देवसूरि के साथ करते हैं। इनका कहना है कि वादिदेवसूरिजी ने चौबीस साधुओं को आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित किया था। उनमें श्री "पद्मप्रभ" नामक आचार्य भी एक थे, जिनसे हमारी "नागपुरीयतपागच्छ" की परम्परा चली है। पार्श्वचन्द्र के अनुयायियों का उक्त कथन कहां तक ठीक है, इस पर हम टीकाटिप्पणी करना नहीं चाहते, परन्तु एक बात तो निश्चित है कि इनके गच्छ के साथ लगा हुआ "तपागच्छ" यह विशेषण सूचित करता है कि यह अनुसन्धान बाद में किया गया है। क्योंकि "तपागच्छ" नाम के प्रवर्तक आचार्यश्री जगच्चन्द्रसूरि थे, और इनको यह पद सं० १२८५ में प्राप्त हुआ था। इससे इतना तो निश्चित है कि पद्मप्रभसूरि से "नागपुरीय तपागच्छ" शब्द का प्रचलन नहीं हुआ था। मालूम होता है, उपाध्याय पार्श्वचन्द्र का अपने गुरु के साथ वैमनस्य होने के बाद "पद्मप्रभ-सूरि" से अपना सम्बन्ध जोड़कर वे स्वयं उनकी परम्परा में प्रविष्ट हो गये है।

वादिदेवसूरि के बाद पार्श्वचन्द्रीय अपनी पट्टपरम्परा निम्नलिखित बताते हैं —

४५ श्री पद्मप्रभसूरि
४६ ,, प्रसन्नचन्द्रसूरि
४७ ,, गुणसमुद्रसूरि
४८ ,, जयशेखरसूरि
४९ ,, वज्रसेनसूरि
५० ,, हेमतिलकसूरि
५१ श्री रत्नशेखरसूरि
५२ ,, हेमचन्द्रसूरि
५३ ,, पूर्णचन्द्रसूरि
५४ ,, हेमहंससूरि
५५ ,, लक्ष्मीनिवाससूरि
५६ ,, पुण्यरत्नसूरि
५७ ,, साधुरत्नसूरि (पार्श्वचन्द्र के गुरु)

श्री पार्श्वचन्द्रगच्छ नाम पड़ने के बाद –

५८ श्री पार्श्वचन्द्रसूरि १ – पार्श्वचन्द्र के प्रथम शिष्य आचार्य विजयदेव ने अपने गुरु उपाध्याय पार्श्वचन्द्र को आचार्य-पद दिया था।

पार्श्वचन्द्रसूरि का जन्म सं० १५३७, हमीरपुर में, दीक्षा १५४६, उपाध्याय-पद सं० १५५४ में, क्रियोद्धार सं० १५६४ में, आचार्य-पद स० १५६५ में, स्वर्गवास सं० १६१२ में।

५९ श्री समरसूरि – सं० १६२६ में स्वर्गवास,

६० ,, राजचन्द्रसूरि ६५ श्री नेमिचन्द्र ७० श्री लब्धिचन्द्रसूरि

६१ ,, विमलचन्द्रसूरि ६६ ,, कनकचंद्रसूरि ६१ ,, हर्षचन्द्रसूरि

६२ ,, जयचन्द्रसूरि ६७ ,, शिवचन्द्रसूरि ७२ ,, मुक्तिचन्द्रसूरि

६३ ,, पद्मचन्द्रसूरि ६८ ,, भानुचन्द्रसूरि

६४ ,, मुनिचन्द्रसू. द्वि. ६९ ,, विवेकचन्द्रसूरि

७३ श्री भ्रातृचन्द्रसूरि २ – का जन्म सं० १९२० में बड़गांव (मारवाड), दीक्षा सं० १९३५ में वीरमगांव, क्रियोद्धार सं० १९३७ में, मांडल में, आचार्य-पद १९६७ शिवगंज (मारवाड) स्वर्गवास १९७२ में अहमदाबाद में।

७४ श्री सागरचन्द्रसूरि का जन्म सं० १९४३, दीक्षा १९५८ में, आचार्य १९९३ में, १९९५ में स्वर्गवास।

७५ ,, मुनिवृद्धिचन्द्र

पार्श्वचन्द्र-गच्छ की लघु-पट्टावली (१)

१	श्री पार्श्वचन्द्रसूरि –	सं० १५७२ वर्षे नागपुरीय तपागच्छ से निकल कर सं० १५७५ में अपना मत प्रकट किया।
२	समरचन्द्रसूरि	
३	राजचन्द्रसूरि	
४	विमलचन्द्रसूरि	
५	जयचन्द्रसूरि –	सं० १६९९ में स्वर्गवास।
६	श्री पद्मचन्द्रसूरि –	सं० १७४४ में स्वर्ग।
७	श्री मुनिचन्द्रसूरि –	१७५० में स्वर्ग।
८	श्री नेमिचन्द्रसूरि –	१७९७ में स्वर्ग।
९	श्री कनकचन्द्रसूरि –	
१०	श्री शिवचन्द्रसूरि –	सं० १८२३ में स्वर्ग।
११	श्री भानुचन्द्रसूरि –	
१२	विवेकचन्द्रसूरि	
१३	श्री लब्धिचन्द्रसूरि –	
१४	श्री हर्षचन्द्रसूरि	सं० १९१३ में स्वर्ग।
१५	श्री हेमचन्द्रसूरि	सं० १९४० में स्वर्ग।
१६	श्री भ्रातृचन्द्रसूरि	सं० १९७२ में स्वर्ग।
१७	श्री सागरचन्द्रसूरि	सं० १९९३ में स्वर्ग।

बृहद्-गच्छ गुर्वावली

१५ चन्द्रसूरि
१६ समन्तभद्र (अरण्यवासी)
१७ वृद्धदेवसूरि (उपसम्पदा समन्तभद्र द्वारा)
१८ प्रद्योतनसूरि
१९ मानदेवसूरि
२० मानतुंगसूरि
२१ वीरसूरि
२२ जयदेवसूरि
२३ देवानन्दसूरि
२४ विक्रमसूरि
२५ नरसिंहसूरि
२६ समुद्रसूरि
२७ मानदेव
२८ विबुधप्रभसूरि
२९ जयानन्दसूरि
३० रविप्रभसूरि (जिन्होंने वि० संवत् ७१० में नाडोल नगर में चैत्यप्रतिष्ठा की)
३१ यशोदेवसूरि
३२ प्रद्युम्नसूरि
३३ मानदेवसूरि (योग और उपधान-विधिकारक)
३४ विमलचन्द्र (वि० ८२२ में)

३५ उद्योतनसूरि (लोकडीया वट के नीचे वि० ९९४ में ३०० शिष्य-परिवार के साथ अनेकों को आचार्य-पद दिया ।)

३६ सर्वदेवसूरि

३७ रूपदेवसूरि

३८ सर्वदेवसूरि

३९ यशोभद्र और नेमिचन्द्रसूरि

४० मुनिचन्द्रसूरि (११७४ में पट्टधर बनाया)

४१ वादी देवसूरि

४२ मानदेवसूरि

४३ हरिभद्रसूरि

४४ पूर्णचन्द्रसूरि

४५ नेमिचन्द्रसूरि

४६ श्री मयचन्द्रसूरि

४७ मुनिशेखरसूरि

४८ तिलकसूरि

४९ भद्रेश्वरसूरि

५० मुनीश्वरसुमणि-भट्टारक

५१ रत्नप्रभसूरि

५२ महेन्द्रसूरि

५३ रत्नाकरसूरि

५४ मेरुप्रभसूरि

५५ राजरत्नसूरि

५६ मुनिदेवसूरि

५७ रत्नशेखरसूरि

५८ पुष्यप्रभसूरि

५९ संयमराजसूरि

६० भावसूरि

६१ उदयराजसूरि

६२ भ० शीलदेवसूरि
६३ सुरेन्द्रसूरि
६४ प्रभाकरसूरि
६५ माणिक्यदेवसूरि
६६ दामोदरसूरि
६७ देवसूरि
६८ नरेन्द्रदेव

श्री ऊकेश गच्छीया पट्टावली

पार्श्वनाथ शिष्य –

१ गणधर श्री शुभदत्त
२ ग० हरिदत्त
३ आर्य समुद्र
४ श्री केशी गणधर
५ स्वयम्प्रभसूरि
६ रत्नप्रभसूरि – वी० नि० ५२ में आचार्य-पद, पार्श्वनाथ की प्रतिमा साथ में लेकर दीक्षित हुए, वी० नि० ८४ में स्वर्गवास।
७
८ यक्षदेवाचार्य – मणिभद्र-यक्षप्रतिबोधकर्त्ता
९ कक्कसूरि
१० देवगुप्तसूरि
११ सिद्धसूरि
१२ रत्नप्रभसूरि
१३ यक्षदेव
१४ कक्कसूरि
१५ देवगुप्तसूरि
१६ सिद्धसूरि
१७ रत्नप्रभसूरि
१८ यक्षदेव वी० नि० से ५८५ में।

१९ कक्कसूरि
२० देवगुप्तसूरि
२१ सिद्धसूरि
२२ रत्नप्रभसूरि
२३ यक्षदेव
२४ कक्कसूरि
२५ देवगुप्तसूरि
२६ सिद्धसूरि
२७ रत्नप्रभसूरि
२८ यक्षदेव
२९ कक्कदेवसूरि
३० देवगुप्त
३१ सिद्धसूरि
३२ रत्नप्रभ
३३ यक्षदेव
३४ ककुददेव
३५ देवगुप्त – ५ उपाध्याय स्थापित किये, उनमें से जयतिलक उपाध्याय ने "शान्तिनाथचरित्र" बनाया ।
३६ सिद्धसूरि
३७ कक्कदेव
३८ देवगुप्त
३९ श्री सिद्धसूरि
४० कक्क
४१ देवगुप्त – सं० ९९५ के वर्ष में हुए । वीणा बजाने में होशियार थे, जाति के क्षत्रिय होने से शिथिल हो गए, तो संघ ने पदभ्रष्ट किया और सिद्धसूरि को बिठाया ।
४२ सिद्धसूरि
४३ कक्कसूरि – पंचप्रमाणग्रन्थकर्त्ता ।

४४ श्री देवगुप्तसूरि – सं० १०७२ वर्ष में।
४५ सिद्धसूरि – नवपदप्रकरण स्वोपज्ञ टीका कर्त्ता।
४६ कक्कसूरि
४७ देवगुप्तसूरि
४८ सिद्धसूरि
४९ कक्कसूरि
५० देवगुप्तसूरि – सं० ११०८ में भीनमाल नगर में पद-उत्सव शाह भैंसाशाह ने किया।
५१ सिद्धसूरि
५२ कक्कसूरि – सं० ११५४ में हुए। जिन्होंने हेमसूरि और कुमारपाल के वचन से अपने पास से दयाहीन साधुओं को निकाल दिया।
५३ देवगुप्तसूरि – जिन्होंने एक लाख का त्याग किया।
५४ सिद्धसूरि
५५ कक्कसूरि – जिन्होंने सं० १२५२ में मरोट कोट प्रकट किया।
५६ देवगुप्तसूरि
५७ सिद्धसूरि
५८ कक्कसूरि
५९ देवगुप्तसूरि
६० सिद्धसूरि
६१ कक्कसूरि
६२ देवगुप्तसूरि
६३ सिद्धसूरि
६४ कक्कसूरि
६५ देवगुप्त – देसलपुत्र सहजा, समरा ने विमलवसतिका उद्धार कराया सं० १३७१ में। समरा के आग्रह से सिद्धसूरि ने शत्रुञ्जय के षष्ठ उद्धार में आदिनाथ की प्रतिष्ठा की।

६६ सिद्धसूरि – सं० १३३० में वर्धी नगर से शाह देसल ने यात्रा की १४ बार, सिद्धसूरि प्रमुख सुविहित आचार्य साधुओं द्वारा तिलक कराया गया।

६७ कक्कसूरि – सं० १३७१ में सहजा ने पदमहोत्सव किया। इन कक्कसूरि ने "गच्छ-प्रबन्ध" बनाया जिसमें देसल के पुत्र समरा सहजा का चरित्र है।

६८ देवगुप्तसूरि – श्री शाङ्गधर संघवी ने सं० १४०६ में दिल्ली में इनका पदमहोत्सव दिया।

६९ श्री सिद्धसूरि–सं० १४७५ में पाटन में शाह झाबा नीवागर ने इनका पदमहोत्सव किया।

७० कक्कसूरि – सं० १४६८ में चित्तौड़ में शा० सारंग सोनागर राजा ने पदमहोत्सव किया।

७१ देवगुप्तसूरि – सं० १५२८ में जोधपुर में मन्त्री जैतागर ने पदमहोत्सव किया, इन्होंने ५ उपाध्याय स्थापित किये, उनके नाम – धनसार उपा०, उपा० देवकल्लोल, उ० पद्मतिलक, उ० हंसराज, उ० मतिसागर।

७२ सिद्धसूरि – मन्त्री लोलागर ने सं० १५६५ में, मेड़ता में पदमहोत्सव किया।

७३ कक्कसूरि – जोधपुर में सं० १५६६ में गच्छाधिप हुए, मन्त्री धर्मसिंह ने पदमहोत्सव किया।

७४ देवगुप्तसूरि – सं० १६३१ में सहसवीरपुत्र मन्त्री देदागर ने पदमहोत्सव किया।

७५ सिद्धसूरि – सं० १६५५ में चैत्र सुदि १३ को विक्रमपुर में पदमहोत्सव हुआ।

७६ कक्कसूरि – सं० १६८६ फाल्गुण सुदि ३ को पदमहोत्सव मन्त्री सावलक ने किया।

७७ देवगुप्तसूरि – सं० १७२७ में ईश्वरदास ने पदमहोत्सव किया।

७८ श्री सिद्धसूरि-सं० १७६७ के मिगसर सुदि १० को मन्त्री सगतसिंह ने पदमहोत्सव किया।

७९ कक्कसूरि – सं० १७८३ में आषाढ़ वदि १३ को मन्त्री दौलतराम ने पदमहोत्सव किया।

८० देवगुप्तसूरि – सं० १८०७ में मुहता दौलतरामजी ने पदमहोत्सव किया।

८१ सिद्धसूरि – सं० १८४७ में माह सुदि १० के दिन मुहता श्री खुशालचन्द्र ने पदमहोत्सव किया।

८२ श्री कक्कसूरि–सं० १८९१ वर्ष चैत्र सुदि ८ को पद हुआ, बीकानेर में।

८३ श्री देवगुप्तसूरि–सं० १९०५ में भाद्रवा सुदि १३ को पद हुआ, फलोदी में समस्त मुहतों ने पदोत्सव करवाया।

८४ श्री सिद्धसूरि-सं० १९३५ के माघ कृष्ण ११ को पट्टाभिषेक हुआ, विक्रमपुर में।

पौर्णमिक-गच्छ की गुर्वावली

– पं० उदयसमुद्र विरचित

१ चन्द्रगच्छ में चन्द्रप्रभसूरि
२ धर्मघोषसूरि
३ श्री देवभद्रसूरि
४ ,, जिनदत्तसूरि
५ शान्तिभद्रसूरि
६ श्री भुवनतिलकसूरि
७ ,, रत्नप्रभसूरि
८ ,, हेमतिलकसूरि
९ ,, हेमरत्नसूरि
१० ,, हेमप्रभसूरि
११ ,, रत्नशेखरसूरि
१२ ,, रत्नसागरसूरि
१३ ,, गुणसागरसूरि
१४ ,, गुणसमुद्रसूरि
१५ ,, सुमतिप्रभसूरि
१६ ,, पुण्यरत्नसूरि
१७ ,, सुमतिरत्नसूरि – सं० १५४३ के वैशाख सुदि ५ गुरुवार को आचार्य-पद।

अंचल-गच्छ की पट्टावली

३५ उद्योतनसूरि — इनसे बड़-गच्छ हुआ।

३६ सर्वदेवसूरि

३७ पद्मदेवसूरि

३८ उदयप्रभसूरि

३९ प्रभानन्दसूरि

४० धर्मचन्द्रसूरि

४१ विनयचन्द्रसूरि

४२ गुणसागरसूरि

४३ विजयप्रभसूरि

४४ नरचन्द्रसूरि

४५ वीरचन्द्रसूरि

४६ जयसिंहसूरि

४७ आर्यरक्षितसूरि — इनका जन्म सं० ११३६ में आबु से नैऋत्य दिग्वर्ती १० माईल पर आये हुए आधुनिक "दत्ताणी" और प्राचीन "दन्ताणी" में हुआ था। सं० ११४६ में दीक्षा, ११५९ में सूरि-पद, सं० ११६९ में भालेज गांव में फिर सूरि-पद और सं० १२२५ में पावागढ़ में स्वर्गवास। इन्होंने २१ उपवास करके काली देवी का आराधन किया था और ११६९ में ७० बोलों की ७० बातों का प्रतिपादन कर अपने समुदाय

का "विधिपक्ष" यह नाम रखा और सं० १२१३ में इसका "अंचलगच्छ" यह दूसरा नाम पड़ा।

४८ जयसिंहसूरि

४९ धर्मघोषसूरि – सं० १२६८ में स्वर्गवास, इन्होंने "शतपदी" ग्रन्थ रचा।

५० महेन्द्रसूरि – इन्होंने प्राकृत में "तीर्थमाला", "शतपदी विवरण" और "गुरुगुणषट्त्रिंशिका" बनाई।

५१ सिंहप्रभसूरि – इनका सं० १२८३ में जन्म, १२९१ में दीक्षा, सं० १३०९ में खम्भात में आचार्य-पद, सं० १३१३ में स्वर्गवास।

५२ अजितसिंहसूरि – जन्म १२८३ में, १३१६ में आचार्य-पद जालोर में, सं० १३३९ में स्वर्गवास।

५३ देवेन्द्रसिंहसूरि – इनका जन्म सं० १२९९ में, दीक्षा सं० १३१६, सं० १३२३ में आचार्य-पद, १३७१ में स्वर्गवास।

५४ धर्मप्रभसूरि – जन्म १३३१ में, सं० १३५१ में जालोर में दीक्षा, १३६९ में आचार्य-पद, १३९३ में आसोटी गांव में स्वर्गवास।

५५ सिंहतिलकसूरि – सं० १३४५ में जन्म, १३६१ में दीक्षा, १३७१ में आचार्य-पद, सं० १३९३ में गच्छानुज्ञा और १४९५ में स्वर्गवास।

५६ महेन्द्रप्रभसूरि – सं० १३६३ में जन्म, १३७५ में दीक्षा, १३९३ में आचार्य-पद और १३९५ में गच्छनायक, १४४४ में स्वर्गवास शत्रुञ्जय पर।

५७ मेरुतुंगसूरि – जन्म वि० सं० १४०३ में, १४१८ में दीक्षा, १४२६ सूरिपद, १४७३ में स्वर्गवास।

५८ जयकीर्तिसूरि – जन्म सं० १४२३ में, १४४४ में दीक्षा, १४६७ में सूरिपद, १४७३ में गच्छनायक १५०० में चांपानेर नगर में स्वर्गवास हुआ। उन्होंने उत्तराध्ययन

		टीका, क्षेत्रसमासटीका, संग्रहणीटीका आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की।
५९	जयकेसरीसूरि –	जन्म सं० १४६१ में, दीक्षा १४७५ में, सूरिपद १४९४ में, १५४२ में राजनगर में स्वर्गवासी हुए।
६०	सिद्धांतसागरसूरि –	जन्म १५०६ में, १५२२ में दीक्षा, सं० १५४१ में आचार्य-पद, सं० १५४२ में गच्छनायक-पद, १५६० में मांडलगढ़ में स्वर्गवास।
६१	भावसागरसूरि –	जन्म १५१० में, सं० १५२४ में दीक्षा, १५६० में गच्छनायक-पद, वि० १५८३ में खंभात में स्वर्गवास।
६२	गुणनिधानसूरि –	वि० १५४८ में जन्म, १५६० में दीक्षा, १५८४ में सूरिपद और गच्छनायक-पद सं० १६०२ में राजनगर में स्वर्गवास।
६३	धर्ममूर्तिसूरि –	वि० सं० १५८५ में जन्म, १५९९ में दीक्षा, १६०२ में राजनगर में सूरिपद और गच्छ-नायक-पद, १६७० में स्वर्गवासी हुए।
६४	कल्याणसागरसूरि–	सं० १६३३ में जन्म, १६४२ में दीक्षा, वि० १६४९ में आचार्य-पद, १७१८ में स्वर्गवास।
६५	अमरसागरसूरि –	सं० १६९४ में जन्म, १६७५ में दीक्षा, १६८४ में आचार्य-पद, सं० १७६२ में स्वर्गवास।
६६	विद्यासागरसूरि –	१७३७ में जन्म, १७५६ में दीक्षा, १७६२ में आचार्य-पद और गच्छनायक-पद, १७९७ में स्वर्गवास।
६७	उदयसागरसूरि –	जन्म १७६३ में, दीक्षा १७७७ में, उपाध्याय-पद सं० १७८३ में सं० १८२८ में उदयसागरसूरिजी की आज्ञा से अंचलगच्छ की पट्टावली का यह अनुसन्धान बनाया।
६८	श्री कीर्तिसागरसूरि-	सं० १७९६ में जन्म, सं० १८१० में दीक्षा,

१८२३ में सूरिपद, १८३६ में गच्छेश, १८४३ में स्वर्गवास।

६९ पुण्यसागरसूरि -- सं० १८१७ में जन्म, १८३३ में दीक्षा, १८४३ में आचार्य-पद सं० १८७० में स्वर्गवास।

७० श्री राजेन्द्रसागरसूरि--सं० १८९२ में स्वर्गवास मांडवी बन्दर।

७१ श्री मुक्तिसागरसूरि--सं० १८५७ में जन्म, १८६७ में दीक्षा, १८९२ में आचार्य-गच्छनायक-पद, सं० १८९३ में सेठ खीमचन्द मोतीचन्द ने शत्रुञ्जय पर टूंक बंधा कर ७०० जिनबिम्ब भरवाये थे, उन सब की अजनशलाका कर प्रतिष्टा करवाई। सं० १९१४ में स्वर्गवास॥ अंचल म्हो'टी. पट्टा. पृ. ३७४.

७२ श्री रत्नसागरसूरि-- १८८९ में जन्म, दीक्षा १९०५ में, १९१४ में आचार्य-पद, १९२८ में स्वर्गवास।

७३ श्री विवेकसागरसूरि--जन्म सं० १९११ में, १९२८ में आचार्य-पद १९०८ में स्वर्गवास।

७४ भ० जिनेन्द्रसागरसूरि।

पल्लिवालगच्छीय पट्टावली

श्री महावीर

१ सुधर्मस्वामी

२ जंबू

३ प्रभव

४ शय्यम्भव

५ यशोभद्र

६ संभूतविजय और भद्रबाहु।

७ स्थूलभद्र

८ आर्यमहागिरि और सुहस्ती, आर्य सुहस्ती वीर से २९१ वर्ष में, और महागिरि २९३ वर्ष स्वर्ग।

९ बहुलसद्दक् (बलिस्सह) वीर से ३२५ में स्वर्ग।

१० स्वाति, वीर से ३६१ में स्वर्ग। तत्त्वार्थकर्ता।

११ श्यामाचार्य प्रज्ञापनाकार, वी० ३७६ में स्वर्ग।

१२ साण्डिल्य — वीर से ३९९ में स्वर्ग।

१३ आर्यगुप्त

१४ वृद्धवादी

१५ सोमदेवसूरि — वीर से ५०७ वर्ष स्वर्ग।

१६ नागदिन्नसूरि — वि० सं० ८७ वर्ष स्वर्ग।

१७ नरदेवसूरि — वि० सं० १२५ में स्वर्ग।

१८ सूरसेनसूरि — वि० सं० १८७ में चित्रकूट में स्वर्ग।

१९ धर्मकीर्ति — वि० २१० में स्वर्गवास

२० सुरप्रियसूरि

२१ धर्मघोषसूरि
२२ निर्वृतिसूरि
२३ उदितसूरि
२४ चन्द्रशेखरसूरि
२५ सुबोधसूरि – वि० सं० ३६७ में स्वर्गवास।
२६ महीधरसूरि – वि० ४२५ में स्वर्गवास।
२७ दानप्रियसूरि
२८ मुनिचन्द्रसूरि
२९ दयानन्दसूरि – वि० ४७० में स्वर्गवास।
३० धनमित्रसूरि – वि० ५१२ में स्वर्गवास।
३१ सोमदेवसूरि – एक समय विचरते हुए मथुरा गये, वहीं पर अन्य ५०० साधुओं का समुदाय सम्मिलित हुआ है। उसमें देवर्द्धि गणि भी सम्मिलित हैं, देवर्धि ने सघ-सभा में कहा – इस समय भी साधु अल्प-विद्यावान् अबहुश्रुत होगए हैं, तो भविष्य में तो क्या होगा, इस वास्ते आप सब की सम्मति हो तो सूत्र पुस्तकों पर लिखवा लें, देवर्द्धि का प्रस्ताव सबने स्वीकार किया। सर्व सूत्र पुस्तकों पर लिख लिये गए, आज से विद्या पुस्तक पर हो यह सोचकर सब सूत्र पुस्तक भण्डार में रक्खे। उसके बाद सोमदेवसूरि विक्रम संवत् ५२५ में स्वर्गवासी हुए, पूर्वश्रुत का तब से विच्छेद हो गया।

३२ गुणन्धरसूरि –
३३ महानन्दसूरि – महानन्दसूरि ने विद्यानन्द दिगम्बराचार्य को वाद में जीता, महानन्द ने दक्षिणा-पथ में भी विहार किया तथा "तर्कमंजरी" की रचना भी की, विक्रम सं० ६०५ में स्वर्गवासी हुए।

३४ सन्मतिसूरि – उस समय अनेक मतभेदों का उद्भव हुआ, सामाचारियां भी भिन्न-भिन्न बनी और अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। आर्य सुहस्ती की परम्परा में साधु शिथिलाचारी और चैत्यवासी हो गए थे और उनका प्राबल्य बहुत बढ़ गया था। सुधर्मा गणधर की खरी परम्परा को पालने वाले बहुत ही कम रह गये थे। उस समय सन्मतिसूरि विचरते हुए भीनमाल नगर गए, वहां पर सोमदेव के पुत्र इन्द्रदेव को प्रतिबोध देकर संयम दिया। वह विद्या का पारंगत हुआ, सन्मतिसूरि विक्रम सं० ६७० के वर्ष देवलोक प्राप्त हुए।

३५ इन्द्रदेवसूरि

३६ भट्टस्वामी

३७ जिनप्रभाचार्य – इन्होंने कोरण्टक गांव में महावीर चैत्य में प्रतिष्ठा की, वहां से देवापुर में भी जिनप्रतिष्ठा की और वि० ७५० में स्वर्गवासी हुए।

३८ मानदेवाचार्य – उग्रविहार से विचरते हुए नाड़ोलनगर आए। मानदेव बहुधा निवृ ति मार्ग की प्ररूपणा किया करते थे। इसलिये लोगों में वे निवृ ति आचार्य के नाम से प्रसिद्ध हो गए थे। वे जहां विचरते वहां रोगादि उपद्रव नहीं होते थे। इसलिये लोग उनको युगप्रधान भी मानते थे। उन्होंने उपदेश देकर अनेक श्रीमाल ब्राह्मणों को जिनधर्म के अनुयायी बनाये थे। एक पल्लिवाल ब्राह्मण सरवरणा गांव का रहने वाला, जो देवपाठी था, आचार्य की महिमा सुनकर प्रव्रजित हुआ। उसने "सन्मतितर्क" शास्त्र का निर्माण किया। निवृ ति आचार्य वि० सं० ७८० के वर्ष में देवलोक प्राप्त हुए।

३९ सरवणाचार्य – जो निवृंति आचार्य के शिष्य थे, निवृंतिकुल के थोड़े से साधुओं के साथ विहार करते थे। एक दिन रात्रि के समय शूलरोग से कालधर्म प्राप्त हुए। उनमें शिष्य अब आचार्य की इच्छा करते हैं, परन्तु पाट के योग्य कौन है ? इसका निर्णय न होने से वे निराश रहते, अन्यथा वहां कोटिक गण के जयानन्दसूरि आये, उन्होंने उनको आश्वासन दिया और कहा–तुम्हारे में सूर योग्य है, साधुओं ने कहा – "आप इन्हें आचार्य-पद पर स्थापन करिये," उन्होंने सूर को आचार्य-पद देकर "सूराचार्य" बनाया, सर्व साधुओं ने उनको माना। गच्छ की वृद्धि हुई, जयानन्दसूरि और सूराचार्य दोनों साथ-साथ में विचरते थे, परस्पर बड़ी प्रीति थी।

४० सूराचार्य – एक समय इस देश में दुष्काल पड़ा, तब दोनों आचार्य मालव देश गए और वहां पर जुदे-जुदे समुदायों के साथ विचरने लगे। सूराचार्य ने महेन्द्रनगर में चातुर्मास्य किया। जयानन्दसूरि ने उज्जैनी में चातुर्मास्य किया। वहां पर जयानन्दसूरि का स्वर्गवास हो गया। सूराचार्य जयानन्दसूरि के स्वर्गवास के समाचार सुनकर शोकाकुल हुए, उनके शिष्य देल्लमहत्तर ने कहा – गृहस्थ की तरह शोक करना साधु के लिये उचित नहीं, सूराचार्य ने भी अपने पट्ट पर देल्लमहत्तर को स्थापन कर आप तपस्या करने लगे, तीन-तीन उपवास के पारणे में आयम्बिल करते हुए, सब पदार्थ अनित्य मानते हुए उज्जैनी में ही अनशन करके देवलोक पधारे।

४१ देल्लमहत्तर – देल्लमहत्तराचार्य मालवा से विचरते हुए भीनमाल आए, उस समय भीनमाल में सुप्रभ नामक एक वेदपारग ब्राह्मण रहता था। उसका दुर्ग नामक पुत्र नास्तिक था, जो परलोकादि कुछ नहीं मानता था। आचार्य देल्लमहत्तर ने उसको प्रतिबोध दिया और दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाया, वह निर्मल चारित्र पालता हुआ विचरने लगा। उस समय शानपुर नामक गांव में एक सुखपति नामक क्षत्रिय रहता था। उसके एक पागल पुत्र था, क्षत्रिय ने आचार्य को कहा – मेरे पुत्र का पागलपन मिटाइये, जो मेरे पुत्र का पागलपन मिटाएगा, उसको शासन दूंगा। आचार्य ने कहा – पागलपन तो मिटाऊँगा, परन्तु उसको दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाऊँगा, मंजूर हो तो कहो, क्षत्रिय ने स्वीकार किया। आचार्य ने विद्या-प्रयोग से उसका ग्रथिलपन मिटाया, वह बिल्कुल अच्छा हो गया। बाद में उसको प्रतिबोध देकर दीक्षित किया, क्रमशः शास्त्राध्ययन करके वह विद्वान् हुआ। आचार्य देल्लमहत्तर ने अपने दोनों शिष्यों को आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित किया, बाद में वे स्वर्गवासी हो गये।

४२ दुर्गस्वामी, गर्गाचार्य– दुर्गस्वामी और गर्गाचार्य विचरते हुए श्रीमाल नगर गए, वहां पर एक धना नामक सेठ जैन श्रावक रहता था। उसके घर पर सिद्ध नामक राजपुत्र था। उसको गर्गाचार्य ने दीक्षा दी, वह अतिशय बुद्धिमान तर्कशील था। एक बार उसने अपने गुरु से पूछा, – इससे अधिक या इसके

आगे तर्क-शास्त्र है या नहीं ? दुर्गाचार्य ने कहा— बौद्ध मत में इससे भी अधिक तर्क-शास्त्र है। सिद्ध वहां जाने को तैयार हुआ, गर्गर्षि ने कहा, बौद्धों के विद्यापीठ में जाने से श्रद्धाभंग हो जायगी। उसने कहा—कुछ भी हो मैं आपके पास वापिस आ जाऊँगा। वह गया और श्रद्धाहीन बनकर लौटा। दुर्गाचार्य ने बोध देकर फिर श्रद्धालु बनाया, फिर वह वहां गया, फिर आया, दुर्गाचार्य उसको प्रतिबोध देकर ठिकाने लाये, तो फिर बौद्ध विद्यापीठ में गया, इस प्रकार बार-बार गमनागमन से तंग आकर गर्गाचार्य ने जयानन्दसूरि के परम्परा-शिष्य श्री हरिभद्राचार्य जो उस समय सबसे श्रेष्ठ श्रुतधर थे, बौद्धमत के ज्ञाता और बुद्धिमान थे, उन्हें विज्ञप्ति की कि सिद्ध ठहरता नहीं है। हरिभद्र ने कहा – कुछ भी उपाय करूंगा। सिद्ध आया, समझाया, पर ठहरता नहीं है, कहता है मैं अध्यापक आचार्य को वचन देकर आया हूं। सो एक बार तो उनके पास जाऊँगा, तब आचार्य हरिभद्र ने "ललित-विस्तरा" वृत्ति की रचना कर गर्गाचार्य को दी और वे स्वयं अनशन कर परलोक प्राप्त हुए। कालान्तर से सिद्ध वापस आया, गर्गाचार्य ने "ललितविस्तरा" उसको पढ़ने के लिये दी। सिद्ध भी उसे पढ़कर आर्हत मत का रहस्य समझा, बोला "अइपंडिओ हरिभद्दगुरू" हरि-भद्र गुरु सर्वश्रेष्ठ विद्वान् हैं, जैन धर्म में वह दृढ़ हो गया और आत्मा को धर्म-भावना से वासित करता हुआ, कठोर तप करता हुआ विचरने लगा।

४३ श्रीषेण, सिद्धाचार्य— आचार्य दुर्गस्वामी वि० सं० ६०२ में परलोक

वासी हुए, उनका शिष्य श्रीषेण आचार्य-पद पर था। गर्गाचार्य भी वि० सं० ६१२ में कालगत हुए। गर्गाचार्य के पट्ट पर सिद्धाचार्य और श्री-षेणाचार्य दोनों आचार्य इस प्रदेश में विचरते थे, कालान्तर में श्रीषेणाचार्य मालव देश गए, वहां पर नोलाई में धर्मदास श्रेष्ठो के पुत्र को दीक्षा दी, नगरसंघकारित जिनचैत्य में प्रतिष्ठा को, सिद्धर्षि आचार्य वि० सं० ६६८ में देवलोक प्राप्त हुए।

४४ धर्ममति – श्री सिद्धर्षि के पट्ट पर धर्ममति आचार्य हुए,

४५ नेमिसूरि – धर्ममति के पट्ट पर श्री नेमिसूरि हुए और उनके पट्ट पर सुव्रतसूरि हुए।

४६ सुव्रतसूरि – आचर्य सुव्रत के समय बहुतेरे गणभेद हुए, आचार्यों के आपस में विवाद खड़े हुए, अपने-अपने श्रावक-श्राविकाएँ भी संगृहीत हुए, सुव्रत-सूरि के शिष्य भी शिथिलविहारी हो गए। उनमें एक दिनेश्वर नामक साधु था, वह बड़ा पण्डित था, सुव्रतसूरि विक्रम सं० ११०१ में देवलोक प्राप्त हुए।

४७ दिनेश्वरसूरि – उनके पट्ट पर दिनेश्वर उग्रविहारो हुए – महात्मा दिनेश्वरसूरि विहार करते पाटण गए और वहां महेश्वर जाति के वणिकों को प्रतिबोध देकर जैन बनाया। दिनेश्वरसूरि के पट्ट पर महेश्वर-सूरि हुए।

४८ महेश्वरसूरि – महेश्वरसूरि एक बार नाडलाई गए, वहां पल्लि-वाल ब्राह्मण रहते थे। उनको प्रतिबोध देकर श्रद्धावान् श्रावक किया, लोगों ने महेश्वरसूरि के श्रमण समुदाय का "पल्लिवाल गच्छ" यह नाम

		किया, महेश्वरसूरि वि० सं० ११५० में परलोक वासी हुए, महेश्वरसूरि के पट्ट पर देवसूरि हुए।
४९	देवसूरि –	देवसूरि ने सुवर्णगढ़ पर पार्श्वनाथ के चैत्य की प्रतिष्ठा की, फिर महावीर के चैत्य पर सुवर्ण-कलश स्थापन करवाया। उस समय में पौर्णमिक गच्छ आदि प्रकट हुए, देवसूरि भी १२२५ में स्वर्गवासी हुए। उनके पट्ट पर न(?)देवसूरि हुए।
५०	न(र?)देवसूरि –	आचार्य नरदेवसूरि ने ज्योतिष शास्त्रों का निर्माण किया, और सोनगिरों को प्रतिबोध देकर जैन बनाया, जालन्धर तालाब के पास जिन-चैत्य की प्रतिष्ठा की, वि० सं० १२७२ के वर्ष में स्वर्गवासी हुए। इनके पट्ट पर कृष्णसूरि हुए। इनके पट्ट पर विष्णुसूरि और इनके पट्ट पर आम्रदेवसूरि
५१	कृष्णसूरि –	
५२	विष्णुसूरि –	
५३	आम्रदेवसूरि –	आम्रदेवसूरि ने कथाकोशादि ग्रन्थों की रचना की, इनके पट्ट पर सोमतिलकसूरि, इनके पट्ट पर भीमदेवसूरि।
५४	सोमतिलकसूरि –	
५५	भीमदेवसूरि –	भीमदेव ने कोरटा गांव में चैत्य की प्रतिष्ठा की, वि० सं० १४०२ में कालगत हुए। इनके पट्ट पर विमलसूरि हुए।
५६	विमलसूरि –	विमलसूरि ने मेवाड़ देश में उदयसागर की पाल पर चैत्य में जिनबिम्ब की स्थापना करवाई।
५७	नरोत्तमसूरि –	उनके पट्ट पर नरोत्तमसूरि वि० सं० १४९१ में स्वर्गवासी हुए।

५८	स्वातिसूरि –	नरोत्तम के पट्ट पर स्वातिसूरि, इनके पट्ट पर हेमसूरि का १५१५ में स्वर्गवास। इनके पट्ट पर हर्षसूरि।
५९	हेमसूरि –	
६०	हर्षसूरि –	हर्षसूरि पोषधशाला में रहने लगे, इनके पट्ट पर
६१	कमलचन्द्र –	भट्टारक कमलचन्द्र, कमलचन्द्र के पट्ट पर गुण-माणिक्य।
६२	गुणमाणिक्य –	गुणमाणिक्य के पट्ट पर सुन्दरचन्द्र, इनका स्वर्ग-
६३	सुन्दरचन्द्र –	वास सं० १६७५ में हुआ इनके पट्ट पर भ०
६४	प्रभुचन्द्र –	प्रभुचन्द्र विद्यमान हैं।

॥ इति द्वितीय परिच्छेद ॥

तृतीय परिच्छेद

[खरतरगच्छ की पट्टावलियाँ]

खरतरगच्छ पट्टावली-संग्रह

(१) इस "पट्टावली-संग्रह" में कुल ४ पट्टावलियां हैं, जिनमें प्रथम एक प्रशस्ति के रूप में है। इसमें कुल संस्कृत पद्य ११० हैं और आचार्य जिनहंससूरि के समय में बनी हुई है, किन्तु कर्ता का नाम नहीं दिया। जिनहंस का समय १५८२ विक्रमीय है तथा उसी वर्ष इसका निर्माण हुआ है। सामान्य मान्यता अर्वाचीन खरतरगच्छ की मान्यता के अनुसार है। जिन-जिन आचार्यों का समय दिया है, वह व्यवस्थित मालूम होता है।

(२) दूसरी पट्टावली गद्य संस्कृत में है। इसका लेखक इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, केवल दन्तकथाओं को अव्यवस्थित रूप से लिखकर पट्टावली मान ली है। गर्दभिल्लोच्छेदक कालकाचार्य को जिन-निर्वाण से ५०० वर्ष में और जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण को ६८० में लिख कर लेखक ने अपने अज्ञान का नमूना बता दिया है। इसी प्रकार अन्यान्य आचार्यों के सम्बन्ध में भी क्रम-उत्क्रम लिख कर पट्टावली को निकम्मा बना दिया है। यह पट्टावली वि० सं० १६७४ में बनाई गई है।

(३) इसमें आर्यवज्र स्वामी का जन्म जिननिर्वाण से ४९६ में, दीक्षा ५०४ में, ५८४ में स्वर्गवास लिखा है।

इसमें निर्वाण से ५२५ में शत्रुञ्जय का उच्छेद लिखा है और ५७० में जावडशाह द्वारा इसका उद्धार होना लिखा है।

प्रज्ञापनाकार कालकाचार्य ३७६ में और गर्दभिल्लोच्छेदक कालकाचार्य ४५३ में होना लिखकर – "पुनस्तदेव श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणो जातः" ऐसा लिखकर शीलाङ्काचार्य को इनका शिष्य लिखा है और शीलाङ्क के

समय में ही हरिभद्रसूरि को बताया है। इस प्रकार समय की दृष्टि से ठीक व्यवस्थित नहीं है।

आर्यवज्र के बाद इस पट्टावलीकार ने पट्टानुक्रम से १७ वज्रसेन, १८ चन्द्रसूरि, १९ समन्तभद्र, २० वृद्धदेवसूरि, २१ प्रद्योतनसूरि, २२ मानदेव, २३ मानतुङ्ग, २४ वीरसूरि, २५ जयदेव, २६ देवानन्द, २७ विक्रम, २८ नरसिंह, २९ समुद्र, ३० मानदेव, ३१ विबुधप्रभ, ३२, जयानन्द, ३३ रविप्रभ, ३४ यशोभद्र, ३५ विमलचन्द्र, ३६ देवसूरि, ३७ नेमिचन्द्र, ३८ उद्योतन और ३९ वर्धमान। इस प्रकार इसमें दी हुई पट्ट-परम्परा पहली तथा दूसरी पट्टावली से जुदा पड़ती है।

पहली, दूसरी और तीसरी पट्टावली आर्यसुहस्ती तक एक-क्रम बताती है, इसके बाद पहली में सिंहगिरि, वज्र, आर्यरक्षित, दुर्बलिका पुष्यमित्र, आर्यनन्दि, रेवतिसूरि, ब्रह्मद्वीपिकसिंह, आर्यसमित, सण्डिल्ल, हिमवान्, नागार्जुनवाचक, गोविन्दवाचक, सम्भूति, दिन्न, लौहित्यसूरि, (पू)ष्यगणी, उमास्वाति-वाचक, जिनभद्र, वृद्धवादी सूरीन्द्र, सिद्धसेन दिवाकर, हरिभद्र, देवसूरि, नेमिचन्द्र, उद्योतन, वर्धमान ये नाम क्रमशः आए हैं।

तथा दूसरी में आर्यसुहस्ती के बाद वज्र, कालिकाचार्य, गर्दभिल्ल० कालिकाचार्य, शान्तिसूरि, हरिभद्र, सण्डिल्लसूरि, आर्यसमुद्र, आर्यमंगु, आर्य-धर्म, आर्यभद्र, आर्यवयर, दुर्बलिका पुष्यमित्र, देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण, गोविन्दवाचक, उमास्वाति, देवेन्द्रवाचक, जिनभद्र गणी, शीलाङ्काचार्य, देवसूरि, नेमिचन्द्रसूरि, उद्योतन, वर्धमान। इस प्रकार प्रथम की तीन पट्टावलियों में आर्य सुहस्ती तक पट्टक्रम में ऐकमत्य है और बाद में तीनों के तीन पन्थ जुदे पड़ते हैं, जो देवसूरि तक आकर तीनों मिल जाते हैं।

(४) चौथी पट्टावली उपाध्याय क्षमाकल्याणकजी ने विक्रम सं० १८३० में बनायी है। इस पट्टावली का प्रारम्भ उद्योतनसूरि से किया है। उद्योतन, वर्धमान, जिनेश्वर, जिनचन्द्र, अभयदेव, जिनवल्लभ, जिनदत्त, जिनचन्द्र, जिनपति, जिनेश्वर, जिनसिंह, जिनप्रबोध, जिनचन्द्र और जिन-

कुशलसूरि तक की नामावलि पट्टक्रम से दी है और पहली, दूसरी, तीसरी पट्टावलियों में भी उद्योतन के बाद इसी पट्टक्रम से आचार्यों की नामावलि मिलती है, परन्तु क्षमाकल्याणकजी की तरह जिनसिंह का नाम जिनेश्वरसूरि के बाद मूलक्रम में नहीं लिखा। इसके बाद के पट्टक्रम करीब मिलते-जुलते हैं, परन्तु देवसूरि के पहले के पट्टक्रम सभी भिन्न-भिन्न प्रकार से लिखे गए हैं। इससे ज्ञात होता है कि इन लेखकों के सामने कोई एक प्रामाणिक पट्टावली विद्यमान नहीं थी।

इस पट्टावली-संग्रह के सम्पादक ने पट्टावलियों में आने वाले पारस्परिक विरोधों की तरफ कुछ भी लक्ष्य नहीं दिया। इस प्रकार के ऐतिहासिक साहित्य के सम्पादन में सम्पादक को बड़ी सतर्कता रखनी चाहिए।

खरतरगच्छ-बृहद्-गुर्वावली

– श्रीजिनपालोपाध्यायादिसंकलना

"खरतरगच्छ पट्टावली-संग्रह" के बाद हम "खरतरगच्छ बृहद्-गुर्वावली" का अवलोकन लिख रहे हैं। यह गुर्वावली पूर्वोक्त प्रत्येक पट्टावली से बहुत बड़ी है। इसमें श्री वर्धमानसूरिजी से लेकर श्री जिन-पद्मसूरि तक के खरतरगच्छीय १३ आचार्यों के वृत्तान्त दिए गए हैं। लेखक की प्रारम्भिक मङ्गल प्रतिज्ञा नीचे लिखे मुजब है —

"वर्धमानं जिनं नत्वा, वर्धमान-जिनेश्वराः ।
मुनीन्द्र - जिनचन्द्राख्याभयदेवमुनीश्वराः ॥ १ ॥
श्रीजिनवल्लभसूरिः, श्रीजिनदत्तसूरयः ।
यतीन्द्रजिनचन्द्राख्यः, श्रीजिनपतिसूरयः ॥ २ ॥
एतेषां चरितं किञ्चिन्मन्दमत्या यदुच्यते ।
वृद्धेभ्यः श्रुत (वेत्तृभ्य) स्तन्मे कथयत शृणु ॥३॥"

लेखक कहते हैं – श्री वर्धमान जिन को नमस्कार कर श्री वर्धमान १, जिनेश्वर २, जिनचन्द्र ३, अभयदेव ४, जिनवल्लभ ५, जिनदत्त ६, जिनचन्द्र ७ और जिनपति ८, इन आचार्यों के चरित्र जो वृद्धों के मुख से सुने हैं, उन्हें मन्दमति के अनुसार कहता हूं, हे शिष्य ! मेरे कथन को तू सुन।

उपर्युक्त मंगलाचरण और प्रतिज्ञावचन किसी सामान्य लेखक के हैं। जिनपालोपाध्याय जैसे विद्वान् के ये वचन नहीं हो सकते। दो आचार्यों के लिए बहुवचनान्त प्रयोग केवल भद्दा ही नहीं, भ्रान्तिजनक भी है, ऐसा

शब्द-प्रयोग आपने दो जगह किया है। ऊपर की प्रतिज्ञा में आठ आचार्यों के चरित्र लिखने की बात कही है, तब गुर्वावली के ५०वें पृष्ठ में –

"इति श्रीजिनचन्द्रसूरि – श्री जिनपतिसूरि – श्री जिनेश्वरसूरि सत्कसज्जनमनश्चमत्कारिप्रभावनावार्तानामपरिमितत्वेऽपि तन्मध्यवर्तिन्यः कतिचित् स्थूलाः स्थूला वार्ताः श्रीचतुर्विधसंघप्रमोदार्थम्।

"दिल्लीवास्तव्यसाधु - साहुलिसुत सा हेमाभ्यर्थनया।
जिनपालोपाध्यायैरित्थं प्रथिताः स्वगुरुवार्ता ॥"

इसके बाद लेखक ने अपनी कृति के सम्बन्ध में विद्वानों के सामने तीन श्लोकों में अपना आशय व्यक्त किया है और अन्त में "उद्देशतोग्रथ (?) १२४ ॥" इस प्रकार अपनी कृति का श्लोक-परिमाण भी लिख दिया है। लिखे हुए श्लोक-परिमाण में एक दूआ (२) रह गया है, वास्तव में श्लोक-परिमाण १२२४ लिखना चाहिए था। मणिधारी जिनचन्द्र, जिनपति और स० १३०५ तक जिनेश्वरसूरि का चरित्र सम्मिलित करने से उक्त तीन चरित्रों का श्लोक-परिमाण १२२४ ही बैठता है। ये ढाई चरित्र जिनपालोपाध्याय की कृति मान ली जाय तो भी आचार्य वर्धमान सूरि से जिनदत्त तक के छः पुरुषों के चरित्रों का लेखक तो जिनपाल से भिन्न ही ठहरेगा, यह निर्विवाद है।

अब यहां प्रश्न यह उठता है कि प्रारम्भ में लेखक ने आठ आचार्यों के चरित्र लिखने की प्रतिज्ञा की थी, अब छः आचार्यों के ही वृत्तान्त लिख कर शेष जिनपाल उपाध्याय के लिए क्यों छोड़ दिये? प्रश्न वास्तविक है और इसका उत्तर निम्न प्रकार से दिया जा सकता है।

प्रारम्भ के छः आचार्यों का वृत्तान्त सुमतिगणि कृत गणधर सार्द्धशतक की बृहद्वृत्ति में उपलब्ध होता है, उसको सामने रखकर प्रारम्भिक छः आचार्यों के वृत्तान्त किसी साधारण विद्वान् ने लिखे थे। उन वृत्तान्तों में भी पिछले समय में अनेक प्रक्षेप करके उन्हें विस्तृत बना लिया। जिस पुस्तक के ऊपर से प्रस्तुत बृहद् गुर्वावली छपी है, वह अनेक

प्रक्षिप्त पाठों से संवर्धित श्रादर्श था। कम प्रक्षेपों वाला श्रादर्श भी थोड़ा सा सम्पादक के हाथ लगा था, परन्तु वह प्रारम्भिक पांच पत्रों में ही समाप्त हो गया था। उसके बाद की सारी गुर्वावली प्रक्षिप्त पाठों से संवर्धित है, प्रक्षेप भी शब्दों, वाक्यों के नहीं किन्तु पांच-पांच सात-सात पंक्तियों से भी अधिक बड़े हैं। यहां पर दो-चार उदाहरण देंगे।

वर्धमान श्रौर जिनेश्वरसूरि के वृत्तान्त में पालो में सोमध्वज नामक जटाधर मिलने सम्बन्धी जो प्रकरण है वह सारा का सारा प्रक्षिप्त है, दूसरी किन्हीं प्रतियों में वह प्रकरण नहीं मिलता।

जिनवल्लभ गणि के वृत्तान्त में उनके धारा नगरी में जाने की बात प्रक्षिप्त है, क्योंकि गुर्वावली के प्रत्यन्तरों में यह वृत्तान्त उपलब्ध नहीं होता। इसके अतिरिक्त एक-दो और तीन-तीन पंक्तियों के प्रक्षेपों की संख्या भी कम नहीं है, पदों तथा वाक्यों के प्रक्षेप तो बीसियों के ऊपर हैं। इन सब प्रक्षपों का अर्थ यही होता है कि प्रारम्भिक छः आचार्यों की गुर्वावली के पूर्वभाग में पिछले लेखकों ने अनेक नयी बातें जोड़ दी हैं। अब देखना यह है कि यह परिवर्तन किस समय में हुआ होगा? इस सम्बन्ध में भी हमने ऊहापोह किया तो यही ज्ञात हुआ कि अन्तिम आदर्श तैयार करने वाला विद्वान् विक्रम की पन्द्रहवीं शती के पूर्व का नहीं हो सकता, क्योंकि इसने कई शब्द तो मनस्वितापूर्वक बिगाड़ कर अपने सांकेतिक शब्द बना दिये हैं, जैसे—"पुरोहित" शब्द का सर्वत्र "उपरोहित" "अनहिल" को सर्वत्र "अनघिल" बना दिया है। यह भी एक सूचक बात है, क्योंकि अणहिल पाटन में खरतरगच्छ के आचार्यों का विहार लगभग १०० वर्ष तक बन्द रहा था। व्यवहारी अभयकुमार की कोशिश से तेरहवीं शताब्दी के लगभग मध्यभाग में खरतर आचार्यों का पाटन में आना-आना फिर शुरु हुआ था। विक्रम संवत् १३६० में पाटन में मुसलमानों का अधिकार हुआ और नया पाटन बसा। उसके बाद खरतर-गच्छ का पाटन में कायम के लिये स्थान नियत हुआ, जिसको वे "कोटड़ी" कहते थे। आज भी वह स्थान पाटन में "खराकोटड़ी" के नाम से विख्यात है।

प्रारम्भिक गुर्वावली का लेखक नये पाटन में गया है और पाटन के अपने श्रावकों की भक्ति को देखकर अणहिल पाटण को "अनधिल पाटन" अर्थात् "निष्पाप पाटन" नाम देने को प्रेरित हुआ है। यदि वह विहार-प्रतिबन्ध के समय दर्मियान पाटण में गया होता तो उसी पाटन को "अघिल पाटन" कहने का ही मन होता।

प्रारम्भिक बृहद्-गुर्वावली दूसरे भी अनेक कारणों से साधारण व्यक्ति की कृति सिद्ध होती है। इसमें प्रयुक्त अनेक अशुद्ध शब्दप्रयोग स्वयं इसको सामान्य कृति सिद्ध कर रहे हैं। अभोहर, स्थावलक, दुर्लभ-राज्ञः, शुङ्क, छुपन्तु, गण्डलक, छोटित, निरोप, आढती, उम्बरिका, पश्चाट्ठकुरा, बिरदावली, आदि अलाक्षणिक शब्दों का प्रयोग करने वाला लेखक अच्छा विद्वान् नहीं माना जा सकता। गुर्वावली के प्राकृत भाग में 'पारुत्थ", 'पारुत्थ", "द्रम्भ" ये तीन सिक्कों के नाम आए हैं, जिनमें प्रथम के दो नाम रजवाड़ी सिक्कों के हैं और उत्तर तथा मध्यभारतीय रजवाड़ों के ये सिक्के थे। इनकी प्राचीनता प्रतिपादक कोई प्रमाण नहीं मिलता, इससे अनुमान किया जा सकता है कि उक्त "सिक्के" विक्रम की १६वीं शती के बाद के होने चाहिए।

गुर्वावली की आदर्श प्रति के प्रस्तुत पुस्तक में जो दो पानों के ब्लोक दिए हैं, उनको देखने से ज्ञात होता है कि इसकी लिपि विक्रम की सोलहवीं शती के पहले की नहीं हो सकती। क्या आश्चर्य है कि गुर्वावली के निर्मापक के हाथ का ही यह आदर्श हो, क्योंकि इस लिपि में पड़ी मात्राओं के अतिरिक्त लिपि की प्राचीनता का कोई प्रमाण नहीं है।

अब रही मणिधारी जिनचन्द्र, जिनपति और जिनेश्वरसूरि के वृत्तान्त-लेखक की बात, सो गुर्वावली के पञ्चानवें पृष्ठ में किसी ने लिखा है कि "इस प्रकार जिनचन्द्र, जिनपति और जिनेश्वरसूरि के जीवनवृत्तान्त दिल्ली वास्तव्य साहुलिसुत साह हेमा की प्रार्थना से श्री जिनपालोपाध्यायजी ने ग्रथित किये" इसके आगे कहा गया है कि "लोकभाषा का अनुसरण करने वाली बातें सुबोध होती हैं। इसलिए कहीं-कहीं एक-वचन के स्थान बहुवचन भी लिखा

है और इसी सुगमता के लिए क्वचित् संध्यभाव भी रखा गया है, ग्रन्थ की शुद्धि करने वाले सज्जनों को मेरी इन बातों को समझ लेना चाहिए।"

लेखक ने जो कुछ ऊपर लिखा है, उससे उनकी यह कृति विरुद्ध जाती है। बहुवचन का अनुसरण करने तथा क्वचित् संधि न करने में तो बालावबोध का ध्यान रखा पर पंक्तियां की पंक्तियां गद्य-काव्य की तरह लिखी उस समय बालावबोध का ध्यान छोड़ दिया, इसका कारण क्या है ? जहां तक हमारा अनुमान है श्री जिनपालोपाध्याय ने अपने गुरुओं का वृत्तान्त संक्षेप में अवश्य लिखा होगा। परन्तु उनके देहान्त के बाद किसी डेढ़ पण्डित ने उसमें परिवर्तन करके बड़ा लम्बा चौड़ा प्रस्तुत वृत्तान्त गढ़ दिया है। इसमें आने वाले प्रद्युम्नाचार्य तथा ऊकेशगच्छीय पद्मप्रभाचार्य के साथ शास्त्रार्थ करने की जो बातें लिखी हैं, वे एक कल्पित नाटक है, जिसके पढ़ने से पाठक का सिर लज्जा से नीचा हो जाता है। जिनपालोपाध्याय जैसे विद्वान् इस प्रकार का लज्जास्पद नाटक लिखें यह असंभव है। चर्चा-शास्त्रार्थ होना असम्भव नहीं और उसका वृत्तान्त लिखना भी अनुचित नहीं, परन्तु लिखने में भी मर्यादा होती है, अपने मान्य पुरुष को आकाश में चढ़ाकर विरोधी व्यक्ति को पाताल में पहुंचा देना, सभ्य लेखक का कर्त्तव्य नहीं होता।

उपाध्याय जिनपाल की लेखपद्धति का मैंने अध्ययन किया है। "चर्चरी" "उपदेश रसायन रास" तथा "कालस्वरूप कुलक" की टीकाओं में जिनपाल ने बड़ी खूबी के साथ जिनदत्तसूरि की बातों का प्रतिपादन किया है। उनके विरोधियों के सम्बन्ध में लिखते हुए उन्होंने एक भी कटु-वाक्य का तो क्या कटु शब्द का भी प्रयोग नहीं किया, ऐसे वाक्संयमी जिनपालोपाध्याय के नाम पर गुर्वावली का यह भाग चढ़ाकर उनके किसी अयोग्य भक्त ने उनकी कुसेवा की है।

व० सा० शब्द का "वश्याय" अथवा "वस्याय" संस्कृत रूप बनाने वाला लेखक विक्रम की पन्द्रहवीं शती के बाद का है, क्योंकि उनके टाइम में "व" तथा "सा" अक्षरों के आगे के अपूर्णता सूचक शून्य हट चुके थे

और केवल "वसा" लिखने का प्रचार हो चुका था। इसी कारण से लेखक ने दोनों अक्षरों का "खरा तात्पर्य" न समझ कर "वद्याय" अथवा "वस्याय" रूप बना लिए जो बिल्कुल अशुद्ध हैं; इससे लेखक सोलहवीं शती तक की अर्वाचीन कोटि में पहुँच जाता है, यह निस्सन्देह बात है।

आचार्य जिनेश्वरसूरि का अन्तिम, जिनप्रबोधसूरि तथा जिनचन्द्रसूरि का सम्पूर्ण जीवन लिखने वाला लेखक नया प्रतीत होता है। इसके लेख में संस्कृत भाषा सम्बन्धी अशुद्धियां तो विशेष दृष्टिगोचर नहीं होतीं, परन्तु लिपिगत और विशेष नामों के अज्ञान की अशुद्धियां जरूर देखी जाती हैं। इस भाग के लेखक को सोलहवीं शती की लिपि को पढ़ने का ठीक बोध नहीं था, इसी से "अंगुलैकत्रिंशत्प्रमाण" इस शुद्ध संख्या को बिगाड़ कर "अंगुलिकत्रिशत्प्रमाण" ऐसा "अशुद्ध रूप" बना दिया है। लेखक ने जिस मूल पुस्तक के आधार से गुर्वावली का यह भाग लिखा है, उस आधारभूत पुस्तक की लिपि पड़ी मात्रा वाली थी। एक मात्रा "ल" के पीछे और एक उसके उपर लगी हुई थी, परन्तु लेखक ने उसे ह्रस्व "लि" समझ कर "अंगुलिक" बना लिया, छोटी बड़ी सभी मूर्तियां विषमांगुल परिमित होती हैं, परन्तु लेखक को न शिल्प का ज्ञान था न प्राचीन लिपि पढ़ने का बोध। परिणामस्वरूप यह भूल हो गई। इसी प्रकार विशेष नामों का परिचय न होने के कारण "काकन्दी को" "काकन्दी" "नालन्दा" को "नारिन्दा" आदि नाम दिए। इनके लेख में द्रम्म के अतिरिक्त "जैथल" नामक सिक्के का बार बार उल्लेख आया है, ये उल्लेख हस्तिनापुर तथा मथुरा के स्तूप की यात्रा के प्रसंग पर हुए हैं, इससे जाना जाता है कि यह कोई उत्तर भारतीय देशी राज्य का सिक्का होना चाहिए।

प्राचीन सिक्कों की नामावली में "जैथल" का नाम न होने से यह भी कोई अर्वाचीन सिक्का ही मालूम होता है।

जिनचन्द्रसूरि का वृत्तान्त पूरा होने के बाद गुर्वावली का लेखक बदल जाने की झांकी होती है। लेखक की लेखन-पद्धति बदलने के साथ ही उसकी प्रकृति भी बदली हुई प्रतीत होती है, इस भाग का लेखक गृहस्थों

को प्रशंसा की भरमार से मर्यादा को लांघता है, विरोधी गच्छवालों के ऊपर हृदय की जलन निकाली जाती है – "निरवधिविधिमार्गदुष्टलोकमुखमालिन्यनिर्मापणमषीकूर्चकानुकारिणा, × × × सकलविपक्षहृदयकीलकानुकारिणी" इत्यादि वाक्यों से लेखक ने अपने हृदय का जोश प्रकट किया है, चिष्ठका, रलिकचित्ता, प्रपाटी, शिलामय, पित्तलामय, भुवन, आदि अलाक्षणिक शब्दों का बार-बार प्रयोग करके अपने संस्कृतज्ञान का थाह बता दिया है। गृहस्थ भक्तों की लेखक ने किस प्रकार बिरुदावलियां लिखी हैं, उनका हम एक नमूना उद्धृत करके पाठकों की जिज्ञासापूर्ति करेंगे –

"ततः सं० १३७६ वर्षे मार्गशीर्षवदि पंचम्यां नाना-नगर-ग्रामवास्तव्याऽसंख्यमहर्द्धिकसुश्रावकलोकमहामेलापकेन श्रीसाधर्मिकवत्सलेन श्रीजिनशासनप्रोत्सर्पणाप्रवीणेनोदारचरित्रेण दक्षदाक्षिण्यौदार्यधैर्यगाम्भीर्यादिगुणगणमालालंकृतसारेण युगप्रवरागमश्रीजिनप्रबोधसूरिसुगुर्वनुजसाधुराजजाल्हण पुत्ररत्नेन स्वभ्रातृ – सा० रुद्रपालकलितेन साधुराजतेजपालसुश्रावकेण, × × × श्री भीमपल्लीसमुदायमुकुटकल्पेन सा० श्यामलपुत्ररत्नेनोदारचरित्रेन साधुवीरदेवेन।" इत्यादि।

यों तो सारी गुर्वावली अतिशयोक्तियों से भरी पड़ी है, फिर भी इसका अन्तिम भाग तो मानो एक उपन्यास-सा बन गया है। ऐतिहासिक कहे जाने वाले पट्टावली-गुर्वावली आदि साहित्य में इस प्रकार की अतिशयोक्तियां और विस्तृत वर्णन कहां तक उचित माने जा सकते हैं, इसका पाठकगण स्वयं विचार कर लेंगे।

आचार्य जिनकुशलसूरि के वृत्तान्त में सं० १३८० में दिल्ली का राजा गयासुद्दीन होने की बात लिखी है। आचार्य जिनपद्मसूरि के समय में सं० १३६३ में बूझरी के शासक को राजा के नाम से उल्लिखित किया है, इसी प्रकार हर एक आचार्य के विहार के प्रसंग में जहां इनके प्रवेश की धामधूम हुई है और ग्रामाधिपति उनके प्रवेश में सन्मुख गया है, वहां प्रायः सर्वत्र जागीरदार को राजा अथवा महाराजा के नाम से ऊंचे दर्जे चढ़ाया है। पट्टावली के इस भाग में बीसों स्थानों पर एक नये सिक्के का

उल्लेख किया गया है, जिसका नाम है "द्विवल्लकद्रम्म" अर्थात् "दो वाल भर का चांदी का सिक्का," तीर्थयात्राओं के प्रसंगों में जहां-जहां 'इन्द्र' आदि बनने के चढ़ावे बोले गए हैं, वे सभी इन्हीं द्रम्मों के नाम से बोले गये हैं, एक रुपये के वाल ३२ होते हैं, इस हिसाब से दो वाल रुपया का सोलहवां भाग अर्थात् १ आना हुआ, इसका अर्थ यह होता है कि विक्रमीय चौदहवीं शती में दक्षिण भारत में दो वाल का चांदी का सिक्का चलता था – जो "द्रम्म" नाम से व्यवहृत होता था। "द्रम्म" शब्द का मूल फारसी "दिहर्म" अथवा उर्दु "दिरम" शब्द प्रतीत होता है, पुराने "द्रम्म" शब्द की मूल प्रकृति "दिरम" साढे तीन वाल का होता था। जिसका प्रचार गुजरात तथा सौराष्ट्र में विक्रम की १२वीं शती में सर्वत्र हो चुका था। दो वाल का द्रम्म उसके बाद सौ डेढ़ सौ वर्षों में प्रचलित हुआ मालूम होता है।

खरतरगच्छीय बृहद्-गुर्वावली के अन्त में "वृद्धाचार्य-प्रबन्धावलि" इस शीर्षक के नीचे कतिपय प्राकृत भाषा के प्रबन्ध दिए गए हैं, जिनकी कुल संख्या १० है। इनमें से अन्तिम दो प्रबन्ध जो "जिनसिंह" और "जिनप्रभसूरि" सम्बन्धी है, जिनकी यहां चर्चा अवसर-प्राप्त नहीं है, क्योंकि ये दोनों आचार्य खरतरगच्छ की मूल परम्परा में नहीं हैं। शेष आठ प्रबन्ध क्रमशः श्री वर्धमानसूरि, जिनेश्वरसूरि, अभयदेवसूरि, जिनवल्लभसूरि, जिनदत्तसूरि, जिनचन्द्रसूरि और जिनेश्वरसूरि को लक्ष्य करके लिखे गए हैं। अतः गुर्वावली के अवलोकन में इन पर ऊहापोह करना अवसर-प्राप्त है।

प्रबन्धों में जो कुछ विशेष बातें उपलब्ध होती हैं, उन पर ऊहापोह करने के पहले इनके भाषाविषयक निरूपण और निर्माण समय के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

प्रबन्धों का लेखक प्राकृतभाषा का योग्य ज्ञाता नहीं था। आगम-सूत्रों में आने वाले वाक्यों, शब्दों और क्रियापदों को ले लेकर प्रबन्धों का निर्माण किया है – "गामाणुगामं, दूइज्जमाणा", "समोसड्ढो", "वयासी", "भो धरणिंदा! आढत्ता" इत्यादि शब्द तथा क्रियापद सूत्रों में से लेकर

धर दिये हैं। न व्याकरण का नियम है, न विभक्तिवचन का। जहां बहुवचन का प्रसंग है वहां एक बचन ही लिख दिया और एक बचन के स्थान बहुवचन। विषयनिरूपण का भी कोई ढंग घड़ा नहीं है, कतिपय विशेष नाम जिस प्रकार उनके समय में प्रचलित थे वैसे ही लिख दिए हैं, जैसे – "पोरवाड़ो" आदि।

(१) श्री वर्धमानसूरिजी को प्रबन्ध में "अरण्यचारी-गच्छनायक" और उद्योतनसूरि के पट्टधारी लिखा है। उनके कासह्रद गांव में, जो आबु पहाड़ी की पूर्वीय तलहटी में आया हुआ है और आजकल "कायन्द्रा" के नाम से प्रसिद्ध है, आने की बात कही गयी है – उसी कासह्रद गांव में दण्डनायक विमल देश का राज्य-ग्राह्य-भाग उगाहने के लिए आता है और आबु के ऊपर की रौनक देखकर वहां जिनमन्दिर बनाने की इच्छा करता है, परन्तु अचलेश्वर-दुर्गवासी जोगी, जंगम, तापस, संन्यासी, ब्राह्मण प्रमुख विमल की इच्छा को जान कर सब मिल कर विमल के पास आते हैं और कहते हैं – 'हे विमल ! यहां पर तुम्हारा तीर्थस्थान नहीं है। यह कुलपरम्परा से आया हुआ हमारा तीर्थ है, तुमको यहां मन्दिर बनाने नहीं देंगे। विमल यह सुनकर निराश होता है और वर्धमानसूरि के पास जाकर पूछता है; भगवन् ! आबु पर अपना कोई तीर्थ-प्राचीनजिनप्रतिमा नहीं है ? सूरिजी ने कहा – छद्मस्थ मनुष्य इसका निर्णय कैसे दे सकते हैं। विमल ने देवताराधना करके इस बात का निर्णय करने के लिए प्रार्थना की। वर्धमानसूरि ने छः मासी तप कर ध्यान किया, तब धरणेन्द्र वहां आया। आचार्य ने उसे कहा – हे धरणेन्द्र ! सूरिमन्त्र के चौसठ देवता अधिष्ठायक हैं, उनमें से एक भी नहीं आया, न मेरे प्रश्न का समाधान किया। इस पर धरणेन्द्र ने कहा – भगवन् ! सूरिमन्त्र का एक अक्षर आप भूल गये हैं, इसलिए अधिष्ठायक देव नहीं आते। मैं तो तुम्हारे तपोबल से आया हूं। इस पर आचार्य ने कहा – हे महाभाग ! पहले तुम मेरे सूरिमन्त्र को शुद्ध कर दो फिर दूसरा कार्य कहूंगा, इस पर धरणेन्द्र ने कहा – भगवन् ! सूरिमन्त्र को शुद्ध करने की मेरी शक्ति नहीं, यह कार्य तीर्थङ्कर के सिवाय नहीं हो सकता। इस पर वर्धमानसूरि ने अपने सूरि-

मन्त्र का गोलक धरणेन्द्र को दिया। उसे लेकर वह महाविदेह में गया और श्रीसीमन्धर स्वामी के पास सूरिमन्त्र को शुद्ध करवाया। उसके बाद केवल तीन बार स्मरण करने से सर्व अधिष्ठायक देव प्रत्यक्ष हो गए। गुरु ने पूछा — विमल दण्डनायक हमें पूछता है कि आबु पर्वत पर कोई प्राचीन जैनप्रतिमा है या नहीं? अधिष्ठायक देवों ने कहा — अर्बुदादेवी के प्रासाद से वामभाग में "अद्बुद" आदिनाथ की प्रतिमा है। अखण्ड अक्षतों के स्वस्तिक पर चउसर पुष्पमाला जहां दीखे — वहां खुदवाना चाहिए। गुरु ने यह देवादेश विमल को कहा, उसने वैसा ही किया और प्रतिमा निकाली। योगी, जंगम आदि को बुलाकर विमल ने जिनप्रतिमा दिखाई, उनके मुख निस्तेज हो गए। विमल ने प्रासाद का काम प्रारम्भ किया, तब ब्राह्मण आदि ने कहा — भले ही तुम्हारी यहां मूर्तियां निकलने से तुम यहां मन्दिर बना सकते हो, परन्तु जमीन हमारी है। इसको रुपयों से ढांक कर हमको इसका मूल्य दो और इस पर मन्दिर बनवाओ। विमल ने वैसा ही किया। जिनप्रासाद तैयार हो गया, ५२ जिनालय और सुवर्णदण्ड, ध्वज कलश-सहित विमल ने प्रासाद तैयार करवाया। इसके निर्माण में १८ करोड़ ५३ लाख द्रव्य लगा। आज भी प्रासाद अखण्ड दीख रहा है। इस प्रकार वर्धमानसूरिजी ने तीर्थ प्रकट किया।

ऊपर लिखे वृत्तान्त में सूरिमन्त्र सम्बन्धी कहानी हमारी राय में कल्पना मात्र है, क्योंकि वर्धमानसूरिजी के समय में संविग्नविहारी सुविहित आचार्य न सूरिमन्त्र की आराधना करते थे, न पूजा के लिए इसके पट्ट रखने के लिये गोलक (गोल भूङ्गले) रखते थे। यह प्रवृत्ति शिथिलाचारी पार्श्वस्थ आचार्यों की थी। प्रबन्ध-लेखक कोई खरतरगच्छीय अर्वाचीन भट्टारक मालूम होते हैं। खरतरगच्छ के लेखक आबु के मन्दिर — विमल वसहि की प्रतिष्ठा वर्धमानसूरिजी के हाथ से हुई बताते हैं, परन्तु प्रबन्ध में प्रतिष्ठा का सूचन नहीं है। वैसे आबु के विमलवसहिमन्दिर की प्रतिष्ठाएँ बहुधा अनेक आचार्यों के हाथों से हुई हैं। मूल मन्दिर की प्रतिष्ठा का वहां कोई लेख नहीं मिलता, परन्तु देहरियों की प्रतिष्ठा सम्बन्धी तथा जीर्णोद्धारों की प्रतिष्ठा सम्बन्धी सैकड़ों लेख मन्दिर में

मिलते हैं। श्री वर्धमानसूरिसन्तानीयचक्रेश्वरसूरि आदि ने प्रतिष्ठा की, उसके लेख मिलते हैं। चड्डावलि, आरासण, कासह्रदीय-गच्छ के अनुयायियों द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियां इस मन्दिर में मिलती हैं, परन्तु वर्धमानसूरि का नाम तक नहीं मिलता, यह विचारणीय हकीकत है।

(२) जिनेश्वरसूरिजी सम्बन्धी दूसरे प्रबन्ध में लिखा है कि वर्धमानसूरि पृथ्वी पर विचरते हुए सिद्धपुर१ गए। वहां सरस्वती नदी में अनेक ब्राह्मण नहाते हैं, वर्धमानसूरि बाहिरभूमि गए थे। सरस्वती में स्नान कर वापिस लौटता हुआ "जग्गा" नामक एक "पुष्करणागोत्रीय" ब्राह्मण उनको सामने मिला। वर्धमानसूरि को देखकर वह जिनमत की निन्दा करता हुआ बोला – ये श्वेताम्बर साधु शूद्र, वेदबाह्य और अपवित्र होते हैं, यह सुनकर आचार्य ने कहा – हे ब्राह्मण! बाह्य स्नान से शरीर की शुद्धि नहीं होती, क्योंकि तेरे सिर पर मृत कलेवर है। इनके आपस में विवाद छिड़ गया। जग्गा ने कहा – "यदि मेरे सिर में से मृतक निकल जाय तो मैं तुम्हारा शिष्य बन जाऊंगा अन्यथा तुम्हें मेरा शिष्य बनना पड़ेगा"। गुरु ने इस बात को मंजूर किया। तब जग्गा ने क्रोध से सिर पर के वस्त्र को दूर फेंका तब क्या देखता है कि भीतर से मरा हुआ एक मत्स्य गिरा। जग्गा शर्त में हार गया और उनका शिष्य बन गया। दीक्षा लेकर सिद्धान्त का अध्ययन कर तैयार हुआ। गुरु ने योग्य जान कर अपने पट्ट पर प्रतिष्ठित किया, "जिनेश्वरसूरि" ऐसा नाम दिया। वर्धमानसूरि अनशन करके परलोकवासी हुए, तब जिनेश्वरसूरि गच्छनायक बनकर विचरते हुए अणहिल पट्टन पहुँचे। वहां उन्होंने चौरासी गच्छों के भट्टारकों को देखा। सब द्रव्यलिंगी चैत्यवासी मठपति थे। जिनेश्वरसूरि ने शासन की उन्नति के लिए श्रीदुर्लभराज की सभा में उनसे वाद किया। सं० १०२४ में वे सब आचार्य हारे और जिनेश्वरसूरि जीते। राजा ने खुश होकर उनको "खरतर" ऐसा बिरद दिया, तब से "खरतर-गच्छ" हुआ। इस प्रबन्ध में कितनी सत्यता है, यह कहना कठिन है, क्योंकि पहले तो पुष्करण नामक कोई गोत्र ही नहीं होता था, तब ब्राह्मण जग्गा

१. मूल में "सीधपुर" है।

का पुष्करण गोत्र कहां से आया ? होगा, "पुष्कर नामक झील खोदने के कारण पुष्करण नाम पड़ा है", इसलिये उसको जाति कह सकते हैं, गोत्र नहीं। आज तक सिद्धपुर में औदीच्य, सारस्वत, नागर जाति के ब्राह्मण छात्र मिलते हैं, परन्तु पुष्करणों का वहां कोई नाम तक नहीं जानता। इससे ज्ञात होता है कि उपर्युक्त जिनेश्वरसूरि की दीक्षा की कहानी प्रबन्ध-लेखक ने कल्पनाबल से गढ़ ली है।

अन्य खरतरगच्छीय पट्टावलियों में जिनेश्वरसूरि तथा बुद्धिसागरसूरि को बनारस निवासी श्रोत्रिय ब्राह्मण लिखा है, इससे भी ऊपर की कहानी कल्पना मात्र ही ठहरती है।

पाटन में दुर्लभराजा की सभा में चैत्यवासियों को हराकर "खरतर" पद प्राप्त करने की बात भी प्रमाणिकता नहीं रखती, क्योंकि एक तो १०२४ में वहां दुर्लभराज का राज्य ही नहीं था। तब राजा ने खुश होकर "खरतर" विरुद दिया यह बात निराधार ठहरती है। "खरतर" यह शब्द सर्वप्रथम जिनदत्तसूरि के नाम के साथ प्रयुक्त हुआ था जो धीरे-धीरे लग-भग २०० वर्षों के बाद गच्छ के साथ मिल गया है, जिनेश्वरसूरि के समय में इस नाम को कोई जानता तक नहीं था, खरतरगच्छ की गुर्वावली आदि में वर्धमानसूरिजी का आबु पर स्वर्गवासी होना लिखा है, तब प्रबन्धलेखक ने स्वर्गवास स्थान के रूप में, आबु का नाम-निर्देश नहीं किया, इससे भी स्पष्ट होता है कि प्रबन्धलेखक भट्टारक ने केवल दन्त-कथाओं के आधार से ही प्रस्तुत प्रबन्ध लिख डाला है।

(३) तीसरे प्रबन्ध में जिनेश्वरसूरि के पट्टधर षट्विकृति त्यागी जिनचन्द्रसूरि को बताया है और उनके पट्टधर अभयदेवसूरि को। लेखक का यह मत भी ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जिनचन्द्रसूरि को षड्विकृतियों का त्यागी कहीं नहीं बताया और न अभयदेवसूरि के सम्बन्ध में शासनदेवी से कहलाया है कि खंभात नगर के बाहर सेढ़ी नामक नदी है उसके निकट खरपलाश के नीचे पार्श्वनाथ की प्रतिमा है, वहां जाकर स्तुति करो," इस लेख से तो यही मालूम होता है कि विचारे प्रबन्धलेखक को 'खंभात"

तथा "स्तम्भनक" इन दो नामों के बीच का भेद तक मालूम नहीं, उन्हें पहले यह समझ लेना चाहिए था कि सेढो नदी "खंभात" के बाहर नहीं, किन्तु "स्तम्भनक ग्राम" के बाहर है, जिसे आजकल "थांभणा" के नाम से पहिचानते हैं। "खंभाइति" इस नाम के उल्लेख से तो मालूम होता है कि लेखक सत्रहवीं शती के परवर्ती होने चाहिए। लेखक ने "पलाश" के साथ "खर" शब्द विशेषण के रूप से लगाया है, यह भी निरर्थक है, क्योंकि "पलाश" अपने नाम से ही पहिचाना जाता है, "खरपलाश" कोई वृक्ष ही नहीं होता। वर्तमान काल में लोग इसको "खाखरा" इस नाम से ही पहिचानते हैं। प्रबन्धलेखक ने "खाखर" शब्द की पूछपलाश से जोड़कर अपना निकटवर्ती समय ही सूचित किया है। प्रबन्ध-लेखकजी "जयतिहुअण०" स्तव के सम्बन्ध में लिखते हैं – "जयतिहुणस्स दो वित्तं भंडारियं, संपई तिसं वित्तं वट्टइ" इस वाक्य से प्रबन्ध-लेखक ने अपने प्राकृत भाषा सम्बन्धी ज्ञान का भी परिचय दे दिया है। "दो वित्तं भंडारियं" के स्थान में ("दुण्णि वित्ताण्णि भंडारियाणि") ऐसा चाहिए। तिसं (तीसं) वित्तं (वित्ताणि) वट्टइ (वट्टंति) ऐसा लिखना चाहिए था। अन्त में प्रबन्ध-लेखक कहते हैं – "आजकल खरतरगच्छ में "जयतिहुअण०" नमस्कार बिना प्रतिक्रमण करने नहीं पाते। इस प्रकार की गच्छ-सामाचारी गुरु-सम्प्रदाय है। इस अन्तिम कथन से प्रबन्ध कितना अर्वाचीन है, इस बात को पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

(४) चौथे प्रबन्ध में लेखक ने जिनवल्लभसूरि का वृत्तान्त लिखा है। लेखक कहते हैं – मालव देश की उज्जयनी नगरी में कच्चोलाचार्य चैत्य-वासी रहता था। उसके जिनवल्लभ नामक शिष्य था। वह संसार से विरक्तचित्त और संवेगभावी था। एक समय उसने एकान्त में एक पुस्तक खोला, उसमें से गाथा निकली–"असणे देवदव्वस्स परत्थीगमणे तहा०" इत्यादि। इस गाथा का अर्थ विचारता हुआ जिनवल्लभ वहां से निकल कर अणहिलपुर पाटन गया। वहां चौरासी पौषधशालाओं में चौरासी गच्छों के भट्टारक रहते थे। जिनवल्लभ प्रत्येक पौषधशाला में गया। पूछा, देखा, परन्तु कहीं भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। अन्त में अभयदेवसूरिजी

की पौषधशाला में गया, सुविहित आचार्य को देखा और उनके पास दीक्षा ग्रहण की। गुरु ने उसे योगोद्वहन करवा के गीतार्थ बनाया। सर्वसंघ की प्रार्थना के वश ११६७ के वर्ष में अभयदेवसूरि ने उसे सूरिमन्त्र दिया और "जिनवल्लभसूरि" यह नाम दिया। विधिपक्ष का स्थापन करते हुए, सुविहित जिनवल्लभसूरि मेवाड़ के चित्रकूट दुर्ग में पहुँचे। वहां मिथ्यात्वी लोग बहुत बसते थे। कोई जैनधर्म को स्वीकार नहीं करता, तब जिन-वल्लभसूरि चामुण्डादेवी के मन्दिर में ठहरे। रात्रि के समय चामुण्डा आई, मन्दिर कांपने लगा। जिनवल्लभ ने सूरिमन्त्र के बल से देवी को कीलित कर वश किया। देवी ने आचार्य से कहा – मेरे नाम से अपना गच्छ चलाओ, मैं तुम्हें सहायता करूंगी। गुरु ने वैसा ही किया, सर्व लोगों को प्रतिबोध देकर सम्यत्व प्रदान किया।

जिनवल्लभसूरि ने एक साधारण श्रावक को दस करोड़ द्रव्य का परिग्रह करवा के उसे करोड़पति बनाया। उसने चित्रकूट नगर में जैन-प्रासाद बनाया, शत्रुञ्जय का संघ निकाला। जिनवल्लभसूरि ने बागड़ प्रदेश में श्रीमालों को प्रतिबोध देकर दस हजार घर जैन बनाए और "पिण्ड-विशुद्धि-प्रकरण" की रचना की।

जिनवल्लभसूरि के प्रबन्ध में लेखक ने अनेक ऐसी बातें लिखी हैं, जो खरतरगच्छ की मान्यता से ही नहीं, इतिहास से भी विरुद्ध हैं। जिनको इन्होंने कच्चोलाचार्य लिखा है उनका खरा नाम "कूर्चपुरीय जिनेश्वर-सूरि" था और वे आशिका नगरी में भी रहते थे। आशिका और "कूर्चपुर" जो आजकल "कुचेरा" इस नाम से प्रसिद्ध है, ये दोनों मारवाड़ के अन्तर्गत हैं, न कि मालवा में।

जिनवल्लभ ने जिस पुस्तक को खोला था और उसमें से "असणे देवदव्वस्स" इत्यादि गाथा निकलने का लिखा है, प्रथम तो यह गाथा ही अशुद्ध है, दूसरा खरतरगच्छ की पट्टावलियों में "दशवैकालिक सूत्र" का पुस्तक खोला ऐसा लिखा है, परन्तु ऊपर उल्लिखित गाथा न दशवैकालिक की है, न किसी अन्य सूत्र की, यह गाथा मनघढन्त है, जो कहीं से उठाकर इसमें रख दी है।

प्रबन्धकार के कथनानुसार जिनवल्लभ स्वयं निकल कर पाटन पहुँचे थे, तब अन्य सभी लेखकों ने जिनवल्लभ को गुरु ने जैनसूत्र पढ़ने के लिए "अणहिलपुर भेजा था ऐसा लिखा है।" जिनवल्लभ पाटन में सभी पौषधशालाओं में फिर-फिराकर अन्त में अभयदेवसूरि की पौषधशाला में गये, ऐसा प्रबन्धकार कहते हैं, जो कल्पना मात्र है। क्योंकि न तो अभय-देवसूरि की कोई पौषधशाला थी और न वे किसी पौषधशाला में उतरते थे। अभयदेव, इनके गुरु और शिष्य परिवार सभी वसतिवासी थे और गृहस्थों के खाली मकानों में ठहरते थे।

अभयदेवसूरि के समीप जिनवल्लभ के दीक्षा लेने तथा अभयदेव द्वारा उन्हें सूरिमन्त्र देने आदि की बातें कल्पित हैं। जिनवल्लभ ने अभयदेवसूरि के पास ज्ञानार्थ उपसम्पदा लेकर उनसे सिद्धान्त पढ़ा था, ऐसा जिनवल्लभ स्वयं कहते हैं। आचार्य अभयदेवसूरि संवत् ११३५ में स्वर्गवासी हो चुके थे, तब ११६७ में जिनवल्लभ को सूरिमन्त्र देने कहां से आये, इस बात का प्रबन्ध-लेखक को विचार करना चाहिए था।

जिनवल्लभ चित्रकूट गये थे, उस समय वहां के लोग बहुधा मिथ्यात्वी थे, प्रबन्धकार का यह लिखना भी असत्य है। उस समय भी चित्तौड़ में जैन धर्म का प्राचुर्य था। जैनमन्दिर, पौषधशालाएं आदि सब-कुछ था। जिनवल्लभ को कहीं भी ठहरने के लिए स्थान नहीं मिला, इसका कारण था उनके पाटण में संघबहिष्कृत होने की बात। पाटन में जिनवल्लभ गणि संघ बहिष्कृत होकर चित्तौड़ गए थे, तब उनके वहां पहुँचने के पहल ही पाटन के समाचार वहां पहुंच चुके थे, जिससे उनको चण्डिका के मन्दिर में उतरना पड़ा था। चामुण्डा देवी के यह कहने पर कि "तुम मेरे नाम से अपना गच्छ चलाओ" इत्यादि बात में सत्यांश क्या है, यह कहना तो कठिन है, परन्तु अंचलगच्छ के "शतपदी" आदि ग्रन्थों में जिनवल्लभ के अनुयायियों की परम्परा को "चामुण्डिक-गच्छ" के नाम से उल्लिखित किया है, इससे इतना तो कह सकते हैं कि गच्छान्तरीय लोग जिनवल्लभ गणि को "चामुण्डिक" कहा करते होंगे।

प्रबन्ध में साधारण श्रावक को जिनवल्लभसूरि ने "दस करोड़" द्रव्य परिमाण परिग्रह कराने का लिखा है, तब खरतर पट्टावलियों में उसी साधारण श्रावक को "एक लाख" का परिग्रह परिमाण करने की बात कही है। खरतरगच्छ के लेखक अपनी मान्यता में एक दूसरे से कितने दूर पहुँच जाते हैं, इस बात में ऊपर का कथन एक उदाहरण माना जा सकता है।

(५) पांचवां प्रबन्ध श्री जिनदत्तसूरि के सम्बन्ध में लिखा गया है। प्रबन्धकार लिखते हैं – जिनदत्तसूरिजी अणहिलपुर में विचरे। वहां के श्री नागदेव श्रावक को युगप्रधान के सम्बन्ध में संशय था, क्योंकि सभी साधु अपने-अपने गच्छ के आचार्य को युगप्रधान कहते थे। नागदेव ने गिरनार पर्वत के अम्बिका-शिखर पर जाकर अट्ठम का तप किया, अम्बिका प्रत्यक्ष हुई और उसके हाथ में अक्षर लिखे और कहा – तेरे मन में युग-प्रधान विषयक संशय है, तू अणहिलपुर जाकर सभी पोषधशाला-स्थित आचार्यों को अपना हाथ दिखाना। जो तुम्हारे हाथ में लिखे अक्षरों को पढ़े उसे युगप्रधान जान लेना। नागदेव ने जाकर सभी पोषधशाला-स्थित आचार्यों को अपना हाथ दिखाया। किसी ने उसके हाथ के अक्षर नहीं पढ़े, तब वह खरतरगच्छाधिपति जिनदत्तसूरि की पोषधशाला में गया। आचार्य को वन्दन किया, सूरि ने उसका हाथ देख कर मौन किया और हाथ पर वासक्षेप किया और अपने शिष्यों को अक्षर पढ़ने का आदेश दिया। शिष्य ने निम्न प्रकार से अक्षर पढ़े –

> 'दासानुदासा इव सर्व्वदेवा, यदीयपादाब्जतले लुठन्ति।
> मरुस्थलीकल्पतरुः स जीयाद्, युगप्रधानो जिनदत्तसूरि ॥१॥'

उपर्युक्त श्लोक सुनकर नागदेव निःसंशय हो गया, तीन प्रदक्षिणा पूर्वक उसने आचार्य को वन्दन किया।

एक बार जिनदत्तसूरि अजमेर की तरफ विचरे। वहां चौसठ योगिनियों का पीठ था। योगिनियों ने सोचा – जिनदत्तसूरि यहां रहेंगे तो हमारा पूजा-सत्कार न होगा। इसलिए वे श्राविकाओं के रूप बनाकर आचार्य के व्याख्यान में आयीं। देवियों का अभिप्राय आचार्य को छलने

का था, परन्तु आचार्य ने सूरिमन्त्र के अधिष्ठायक द्वारा उन्हें कीलित करवा दिया। वे उठ न सकीं, तब दयावश होकर आचार्य ने उन्हें छोड़ा और आचार्य तथा देवियों के आपस में पणबन्ध हुआ, देवियों ने कहा – "जहां हम हैं वहां तुम न आओ, हमारे साढ़े तीन पीठ हैं, एक उज्जैनी में, दूसरा दिल्ली में, तीसरा अजमेर में और आधा भरोंच में। हे भट्टारक! तुम अथवा जो भी तुम्हारा शिष्य तुम्हारे पट्ट पर बैठे, वह हमारे उक्त पीठों में विहार न करे। अगर विहार करेगा तो वधबन्धादिक के कष्ट पाएगा, जैसे जिनहंससूरि ने पाए। जिनदत्तसूरि ने योगिनियों का कथन स्वीकार किया।

योगिनियों की शर्तें स्वीकार करने के बाद सिन्ध प्रदेश में विहार किया। वहां एक लाख अस्सी हजार ओसवालों के घर जैनधर्मी बनाए। उस नगर में परकायप्रवेश विद्या से जिनमन्दिर में से मरे हुए ब्राह्मण को सजीव कर नारायण के मन्दिर में रखा। ब्राह्मणों की प्रार्थना और हाथा-जोड़ी से फिर उसे सजीव कर श्मशानभूमि में छोड़ा।

सिन्ध से विहार करते हुए पंचनद के संगमस्थान पर पहुंचे और वहां सोमर नामक यक्ष को प्रतिबोध दिहा।

जिनवल्लभसूरि के स्वर्गगमन के समय गच्छ के आठ आचार्य थे, जिन में से एक पूर्वदिशा में रुद्रोली नगर में जिनशेखर नामक भट्टारक थे, जो रुद्रपल्लीय-गच्छ के अधिपति हुए। शेष सात आचार्यों ने जालोर नगर में मिलकर सलाह की कि समग्र संघ तथा गच्छ की अनुमति लेकर जिनवल्लभ-सूरि के पट्ट पर दूसरा आचार्य प्रतिष्ठत करेंगे। उस समय दक्षिण देश में देवगिरि नगर में जिनदत्तगणि चातुर्मास्य ठहरे हुए थे, उनको प्रभावशाली गीतार्थ जानकर संघ ने बुलाया, संघ की प्रार्थना से जिनदत्तगणि आने के लिए रवाना हो गये, जब वे उज्जैनी में आये, उस समय जिनवल्लभ के पूर्वगुरु कच्चोलाचार्य की मृत्यु का समय निकट आ चुका था, कच्चोलाचार्य ने जिनदत्तगणि के पास आराधना की और शुभध्यान से मरकर कच्चोला-चार्य सौधर्मकल्प में देव हुए। जिनदत्तगणि आगे चले। जिहरणी नामक

नगर के उद्यान में एक शून्य देवालय में ठहरे। प्रतिक्रमण के समय कच्चोला-चार्य देव उनके समीप आया और अपना परिचय देकर जिनदत्तगणि को उसने सात वर दिए, जैसे-तुम्हारे संघ में एक श्रावक महर्द्धिक होगा ? तुम्हारे गच्छ में साध्वी को ऋतुपुष्प न होगा २, तुम्हारे नाम से बिजली न गिरेगी ३, तुम्हारे नाम से आंधी और धूल के बवण्डर टल जायेंगे ४, अग्निस्तम्भ होगा ५, सैन्य तथा जलस्तम्भ होगा ६, सांप का जहर हानि करने को समर्थ न होगा ६, इसके अतिरिक्त देव ने कहा – पट्टस्थापना के जो दो मुहूर्त निर्धारित हुए हैं, उनमें से प्रथम मुहूर्त में पट्ट पर मत बैठना, क्योंकि वह अल्पायुःकारक है। दूसरे मुहूर्त में बैठने से युगप्रधान जिनशासन का प्रभावक होगा। तेरे गच्छ में एक हजार साधु और ७०० साध्वियों का परिवार होगा, इतनी बातें कहकर देव अदृष्ट हो गया; जालोर नगर में जिनदत्तगणि ११६९ के वर्ष मे पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए, अजमेर में प्रतिक्रमण में उद्योत करती हुई बिजली को स्तंभन कर दिया।

प्रबन्धलेखक ने जिनदत्तसूरि के सम्बन्ध में जो कुछ विशिष्ट चमत्कार पूर्ण बातें लिखी हैं वे सब लेखक के फलद्रूप भेजे में से निकली हुई हैं। न अम्बिका ने नागदेव के हाथ पर अक्षर लिखे न जिनदत्तसूरि के शिष्य ने "दासानुदासा:" इत्यादि श्लोक पढ़ा। चौसठ योगिनियों की बात तो इससे भी भद्दी हैं, जिनदत्त जैसे शुद्ध धर्म की लगन वाले विद्वान् आचार्य के पवित्र जीवन में ये बातें कलंक रूप हैं, भले ही अन्धश्रद्धालु अज्ञानी भक्त इन बातों को पढ़कर खुश हों और जिनदत्त के नाम की माला फेरते रहें, इससे जिन-दत्तसूरि का अथवा उनकी माला फेरने वाले भक्तों का भला होने की आशा नहीं रखना चाहिए।

प्रबन्धलेखक जिनदत्तसूरि के मुंह से योगिनियों का वचन "तहत्ति" कराता है, अभयदेवसूरि और जिनदत्तसूरि को पाटन की पौषधशाला में रहने वाला कहने वाला वचन, जिनवल्लभसूरि का स्वर्गवास होने के वर्ष में गच्छ में आठ आचार्य बताता है। जिनदत्त का आचार्य होने के पहले का नाम 'सोमचन्द्र' था परन्तु लेखक प्रारंभ से ही इनका "जिनदत्तगणि"

के नाम से उल्लेख करता है, जिनदत्त के आचार्य होने के पहले ही जिनशेखर का आचार्य के नाम से उल्लेख करता है। जिनदत्त को आचार्य का पद प्रदान करने का स्थान जालोर बताता है और जिनवल्लभ के पूर्वगुरु कूर्चपुरीय श्री जिनेश्वरसूरि के जीव को सौधर्म का देव बनाकर उससे जिनदत्तसूरि को सात वरदान दिलाता है और जिनदत्तसूरि के साधु साध्वी समुदाय की संख्या क्रमशः एक हजार तथा ७०० सौ की बताता है, इन सब बातों पर विचार करने से तो यही ज्ञात होता है कि लेखक, इतिहास किस चिड़िया का नाम है? यह भी जानता नहीं था। सुनी सुनायी और मनःकल्पित बातें लिखकर भले ही लेखक ने अपने मन से जिनदत्तसूरि की सेवा मान ली हो; परन्तु वास्तव में उसने उनकी कुसेवा की है। उनके वास्तविक चरित्र को ढांककर जनता के सामने प्रबन्ध के नाम से एक अपवित्र गन्दे कचरे का ढेर उपस्थित किया है।

(६) षष्ठ प्रबन्ध जिनदत्तसूरि के पट्टधर जिनचन्द्रसूरि के सम्बन्ध में संक्षेप में लिखा है। लेखक ने जिनचन्द्र के ललाट में नरमणि बताया है, वे जैसलमेर की तरफ विचरते थे, दिल्ली नगर के संघ ने उन्हें दिल्ली की तरफ बुलाया, जिनचन्द्र ने लेख द्वारा सूचित किया कि श्री जिनदत्तसूरिजी ने योगिनी पीठोंमें हमारा विहार निषद्ध किया है, फिर भी वे दिल्लीपुर के संघ की अभ्यर्थना के वश होकर योगिनी पीठ में विचरे, प्रवेश महोत्सव में ही योगिनियों ने उन्हें छला और मर गए, आज भी पुरानी दिल्ली में उनका स्तूप विद्यमान है, जिनचन्द्रसूरि के प्रबन्ध का सार उपर्युक्त है।

जिनचन्द्रसूरि के ललाट में दीप्यमान मणि बताया है, इस मणि का तात्पर्य क्या है? यह बात समझना कठिन है, मनुष्य का शरीर चर्म से ढंका हुआ होता है, उसके नीचे रहे हुए मणि का प्रकाश बाहर कैसे आता है, इसका लेखक ने कोई खुलासा नहीं किया।

(७) सातवां प्रबन्ध जिनप्रतिसूरि का है। जिनपति १२ वर्ष की अवस्था में पट्ट-प्रतिष्ठित हुए थे, आसीनगर में प्रतिष्ठा का प्रसंग था, बड़ी धूमधाम के साथ जिनपतिसूरि वहां पहुंचे, प्रतिष्ठा का कार्य प्रारंभ हुआ,

परन्तु उसी मौके पर एक विद्यासिद्ध योगी भिक्षार्थ आया, संघ प्रतिष्ठा के कार्य में व्यग्रचित्त था; किसी ने भिक्षा नहीं दी, योगी रूठ गया। मूल नायक बिम्ब को कीलित कर दिया, प्रतिष्ठा की लग्नवेला में सर्व संघ उठाने लगा पर बिम्ब नहीं उठा, संघ चिन्तातुर हो योगी की तलाश करने लगा, पर वह कहीं भी नहीं मिला, उस समय एक महत्तरा साध्वी आचार्य को वन्दन कर बोली – भगवन् ! संघ हँसता है। वह कहता है हमारे भट्टारक बालक हैं, ऐसी कोई विद्या नहीं जानते क्या किया जाय, यह सुनकर जिनपतिसूरि सिंहासन से उठे और सूरिमन्त्र से अभिमन्त्रित वास बिम्ब के मस्तक पर डाला, तत्काल एक श्रावक ने बिम्ब को उठा लिया बिम्बप्रतिष्ठा-महोत्सव समाप्त हुआ। खरतर गच्छ में जय-जय शब्द उछल गया।

जिनपतिसूरि ने राजसभा में ३६ वाद जीते। खरतरगच्छ सामाचारी का उद्धार किया, जिनवल्लभ कृत संघपट्टक प्रकरण की टीका बनाई। इस प्रकार महाप्रभावक हुए।

जिनपति-प्रबन्ध में बारह वर्ष की अवस्था में जिनपति को पट्ट-प्रतिष्ठित करने का लिखा है, तब गुर्वावली में १३ वर्ष की अवस्था में। यह तो एक सामान्य मतभेद है, परन्तु योगी द्वारा मूर्ति का स्थगित करना और जिनपति द्वारा वासक्षेप डाल कर एक श्रावक के उठवाने की बात एक चमत्कारी टुचका है। मालूम होता है, लेखक को चमत्कारों की बात लिखने में बड़ा आनन्द आता होगा। जिनपतिसूरि का वृत्तान्त लिखने में बृहद्-गुर्वावलीकार ने लगभग २० पृष्ठ भर दिये हैं, परन्तु यह चमत्कार नहीं लिखा कि इनके वासक्षेप डालने से योगी-कीलित जिनमूर्ति को एक श्रावक ने उठा लिया। इस पर से पाठकगण प्रबन्ध-लेखक की बातों के सत्यासत्य का निर्णय स्वयं कर लेंगे।

(८) आठवां प्रबन्ध जिनेश्वरसूरि के सम्बन्ध में है। जिनपतिसूरि के पट्ट पर नेमिचन्द्र भण्डारी के पुत्र जिनेश्वरसूरि हुए। जिनेश्वर के दो शिष्य थे, एक श्रीमाल जिनसिंहसूरि, दूसरा ओसवाल जिनप्रबोधसूरि। एक समय जिनेश्वरसूरि का दण्ड अकस्मात् टूट कर दो टुकड़े हो गये, इससे

आचार्य ने भविष्य सोचा कि मेरे गच्छ में दो टुकड़े होने वाले हैं, तब क्यों मैं स्वयं अपने हाथ से दूसरा गच्छ कायम न कर दूं ! इसी समय के दर्मियान श्रीमालों के संघ ने मिल कर विचार किया। अपने देश में कोई गुरु आते नहीं, चलो गुरु के पास गुरु को ले आयें। श्रीमाल संघ गुरु के पास गया और वन्दनपूर्वक विज्ञप्ति की कि-स्वामी ! हमारे देश में कोई गुरु नहीं आते, तब हम क्या करें – गुरु के बिना ? धर्मसामग्री कैसे जुड़े ? संघ की बात सुनकर आचार्य ने श्रीमालवंशज जिनसिंह गणि को अपने पद पर प्रतिष्ठित किया। "जिनसिंहसूरि" यह नाम देकर आचार्य ने कहा – लो श्रावको: ये मैंने तुम्हें अर्पण कर दिये। सूरि से कहा – इनके साथ विहार कर इनके देश में जाओ। जिनसिंहसूरि ने श्रावकों के साथ विहार किया। श्रीमाली संघ ने कहा – आज से लेकर हमेशा के लिए ये हमारे धर्माचार्य रहेंगे। इस प्रकार जिनेश्वरसूरि के शिष्यों से दो गच्छ हुए। १२८० के वर्ष में जिनेश्वरसूरि ने जिनसिंह को आचार्य बनाया और पद्मावती के मन्त्र का उपदेश दिया। कुछ वर्षों के बाद जिनेश्वरसूरि स्वर्गवासी हुए।

प्रबन्धकार ने प्रारम्भ में ही "जिनपतिसूरि पट्टं नेमिचन्द्र भण्डारी जिणेसरसूरीणो पिया संजाओ" इस प्रकार का अपपाठ लिखा है। लिखना तो यह चाहिए था कि "नेमिचन्दभण्डारी पुत्तो जिणेसरसूरी सजाओ" परन्तु जिस प्रबन्ध-लेखक को लिंग-वचन-विभक्ति का भी भान नहीं है उसको इस प्रकार का अपपाठ लिखना आश्चर्य क्या है। वह जो लिखे, भक्तों को सच्चा मान लेना चाहिए।

(१) वर्द्धमानसूरि –

वर्द्धमानसूरिजी का वास्तविक इतिहास गुर्वावली में नहीं मिलता उनके सम्बन्ध में केवल इतना ही लिखा है कि वे अम्भोहर देश के जिन-चन्द्राचार्य के शिष्य थे। जिनचन्द्र चैत्यवासी थे, परन्तु वर्धमान को चैत्यवास पसन्द नहीं आया। गुरु की आज्ञा से कुछ साधुओं के साथ वे दिल्ली की तरफ गए। उस समय वहां उद्योतनाचार्य नामक आचार्य विचर रहे थे। वर्धमान ने उनके पास आगम का अध्ययन किया और उन्हीं से चारित्रोपसम्पदा लेकर संविग्न विहारी के रूप में विचरने लगे।

एक समय वर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वर गणि ने अपने गुरु को गुजरात की तरफ विहार करने की सलाह दी और भामह आदि व्यापारियों के बड़े काफले के साथ वर्धमानसूरि आदि अट्ठारह साधुओं ने विहार किया। क्रमशः वे सब गुजरात की राजधानी अणहिल पत्तन पहुँचे और शुल्क-मण्डपिका में ठहरे। उनके लिए पाटन एक विदेश था। न कोई उनका भक्त, न कोई परिचित। कुछ विश्रान्ति लेने के बाद, पण्डित जिनेश्वर गुरु की आज्ञा लेकर नगर में गए और एक बड़ा मकान देख कर वहां पहुंचे। मकान राजपुरोहित का था। जिनेश्वर ने पुरोहित से वार्तालाप करके अपना परिचय दिया, पुरोहित ने अपने चतुश्शाल मकान में किनायत बंधवा के सब साधुओं को वहां ठहराया। नगर में बात फैल गई कि पाटन में वसतिपालक साधु आये हैं। चैत्यवासी आचार्यों ने सोचा, अपरिचित वैहारिक साधुओं का यहां रहना हानिकर होगा। उन्होंने उनको वहां से निकालने के अनेक प्रपंच किये, पर सफलता नहीं मिली। अन्त में दुर्लभ-राज की सभा में आगन्तुक तथा स्थानीय साधुओं के बीच चैत्य में रहने न रहने के सम्बन्ध में चर्चा हुई। जिनेश्वर गणि ने शास्त्रों के आधार से

साधुओं को वसति में ही ठहरना चाहिए, चैत्य में नहीं, इस बात को प्रमाणित किया।

श्री वर्द्धमानसूरि वसतिवास की स्थापना होने के बाद देश में सर्वत्र विचरने लगे। शुभ-लग्न देखकर उन्होंने जिनेश्वर गणि को अपना पट्टधर आचार्य बनाया। उनके भाई बुद्धिसागर को भी आचार्य-पद दिया। इनकी बहन कल्याणमती साध्वी को महत्तरा-पद दिया, बाद जिनेश्वरसूरि विहार-क्रम से देश में घूमे और जिनचन्द्र, अभयदेव, धनेश्वर, हरिभद्र, धर्मदेव, सहदेव, सुमति आदि अनेकों को दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाया।

वर्द्धमानसूरिजी ने शास्त्रीय विधिपूर्वक आबु ऊपर अनशन करके देवत्व प्राप्त किया।

(२) जिनेश्वरसूरि –

जिनेश्वरसूरिजी ने जिनचन्द्र और अभयदेव को योग्य जानकर आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित किया।

जिनेश्वरसूरि ने आशापल्ली की तरफ विहार किया, वहां "लीलावती" कथा की रचना की, डोडंवाना गांव में "कथानक कोष" बनाया।

भगवान् महावीर के शासन-धर्म की प्रभावना कर श्री जिनेश्वरसूरि देवगति को प्राप्त हुए।

(३) जिनचन्द्रसूरि –

जिनचन्द्रसूरि भी श्रेष्ठ आचार्य थे, जिनको अनेक नाममालाएं[१] कण्ठस्थ थी। सर्व शास्त्रज्ञ आचार्य जिनचन्द्र ने अठारह हजार श्लोक

१. गुर्वावली में लिखा है कि जिनचन्द्रसूरि को "१८ नाममालाएं" सूत्र तथा अर्थ से याद थीं, यह अतिशयोक्ति मात्र है। नाममालाएं अनेक हो सकती हैं, परन्तु एक व्यक्ति के लिये दो नाममालाएं पर्याप्त हो जाती हैं। एक तो 'एकार्थ नाममाला" और दूसरी "अनेकार्था", जिस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र कृत "अभिधानचिन्तामणि" और "अनेकार्थ संग्रह" पढ़ने के बाद तीसरे कोश की आवश्यकता नहीं रहती, उसी प्रकार जिनचन्द्र के लिए भी दो कोशों से अधिक की आवश्यकता नहीं थी। "१८ नाममालाएं" बताना केवल अतिशयोक्ति है।

परिमाण "संवेग रंगशाला नामक[1] ग्रन्थ बनाया, और जालोर में श्रावकों के आगे "चीइ वंदणमावस्सय" इत्यादि गाथा का व्याख्यान करते हुए जो सिद्धान्त के पाठ दिये थे वे उनके शिष्यों ने लिख दिये, जिससे ३०० श्लोक परिमाण का "दिनचर्या" ग्रन्थ बन गया। जिनचन्द्र भी वीरधर्म को यथार्थ रूप में प्रकाशित कर देवगति को प्राप्त हुए।

(४) अभयदेवसूरि –

अभयदेवसूरि के प्रबन्ध में लेखक ने शम्भानक (सम्भाण) गांव में उनके शरीर में रोग उत्पन्न होने और अभयदेव के अनशन करने तक की परिस्थिति लिखी है परन्तु किसी देवता ने आदेश दिया कि 'स्तम्भनक के पास सेढी नदी के तट पर पलाशवृक्ष के नीचे स्वयम्भू[2] प्रतिमा है, तुम उसको वन्दन करो, शरीर स्वस्थ हो जायगा'। आचार्य श्रावकों के साथ स्तम्भनक जाने के लिए रवाना हुए, प्रथम प्रयाण में ही उनको सरस आहार की इच्छा हुई, क्रमशः धवलक गांव तक पहुंचे और उनका शरीर स्वस्थ हो गया, फिर पैदल चलकर स्तम्भनक पहुँचे। श्रावकों ने मूर्ति की तपास की पर कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुई, तब गुरु ने कहा – खाखरा-पलाश[3] के नीचे देखो,

---

१. गुर्वावली में "संवेगरंगशाला" का श्लोक-परिमाण अठारह हजार बताया है, यह भी लेखक की अतिशयोक्ति समझना चाहिए। ग्रन्थ-भण्डारों की प्राचीन सूचियों में "संवेग रंगशाला" का श्लोक-परिमाण १००७५ लिखा मिलता है। गुर्वावलीकार के लिखे परिमाण में लगभग आठ हजार श्लोक अतिशयोक्ति के हैं। गुर्वावली ने प्रत्येक बात में आठ आने का रुपया बताकर अपने आचार्यों की महिमा बढ़ायी है, जो इतिहास-क्षेत्र में अन्धकार को ही फैलाता है।

२. लेखक की स्वयम्भू प्रतिमा होने की कल्पना अज्ञानपूर्ण है। शिवलिंग स्वयम्भू हो सकता है, परन्तु किसी भी देव की प्रतिमा स्वयम्भू नहीं होती। प्रतिमा तो घड़ने से ही तैयार होती है।

३. लेखक ने पलाश शब्द के पूर्व में "खंखरा" शब्द लिख कर अपना अर्वाचीनत्व सूचित किया है। "पलाश" शब्द इतना कठिन नहीं है कि उसके साथ "खंखरा" शब्द लिखने की आवश्यकता हो, इससे तो सूचित होता है कि लेखक की दृष्टि में "पलाश" दुर्ज्ञेय प्रतिभासित हुआ है, जिससे उसे सुगम बनाने के लिए साथ में "खंखरा" अर्थात् "खाखरा" नाम भी लिख दिया है।

श्रावकों ने वैसा ही किया, मूर्ति दृष्टिगोचर हुई। अभयदेवसूरि ने जाकर भक्तिपूर्वक वन्दन किया और खड़े-खड़े "जय तिहुयण०" इत्यादि नमस्कार-द्वात्रिंशिका की रचना की, देवताओं ने कहा -- इसमें से दो नमस्कार पद्य हटा लो, क्योंकि उनके स्मरण से प्रत्यक्ष होना पड़ेगा, जो कष्टदायक होगा। आचार्य ने दो पद्य हटा लिये। समुदाय ने प्रतिमा को वहां स्थापन किया, देवालय वहां बन गया। श्री अभयदेवसूरि स्थापित१ पार्श्वनाथ तीर्थ प्रसिद्ध हो गया।

स्तम्भनक से अभयदेवसूरि पाटन गए और "करडीहट्टी वसति" में ठहर कर स्थानांग प्रमुख नव आगमों की वृत्तियां निर्मित की, वृत्ति निर्माण में जहां कहीं सन्देह उत्पन्न होता वहां जया, विजया जयन्ती अपराजिता देवताओं को याद करते जिससे वे महाविदेह में तीर्थंकर के पास जाकर शंकित-स्थल को पूछ कर संशय दूर कर देती२।

अभयदेवसूरि के आने पर द्रोणाचार्य खड़े होते३ थे और चैत्यवासी

---

१. गुर्वावली लेखक ने 'स्तम्भतीर्थ" को "स्थम्भनकपुर" समझ लिया है। उनको यह समझ लेना चाहिये था कि अभयदेवसूरि ने स्तम्भनपुर के परिसर में पार्श्वनाथ की स्थापना की थी। परन्तु मुसलमानों के गुजरात में फैलने के समय में स्तम्भनपुर से हटाकर पार्श्वनाथ को 'स्तम्भतीर्थ" में ले जाया गया था और लेखक के समय में तो क्या आज तक वे "स्तम्भतीर्थ" में ही विराजमान हैं, "स्तम्भनक" में नहीं।

२. अभयदेवसूरि निर्मित वृत्तियों के सन्देहस्थल देवियों द्वारा तीर्थंकर को पुछवाकर निःसंदेह किये जाते थे, तब आचार्य अभयदेवसूरिजी ने द्रोणाचार्य प्रमुख पाटन के विद्वान् श्रमणों की समिति द्वारा अपनी सूत्र-वृत्तियां क्यों सुधरवाई, इसका गुर्वावली लेखक ने कुछ भी खुलासा नहीं किया, अभयदेवसूरिजी स्वयं तो स्थानांगवृत्ति में अपनी सूत्र-वृत्तियों का संशोधन करने वाली श्रमणसमिति की स्तुति करते हैं। तब गुर्वावली लेखक अभयदेव की वृत्तियों को तीर्थंकर के पास सुधरवाते हैं, यह कैसा गड़बड़झाला है।

३. अभयदेवसूरिजी के आने पर द्रोणाचार्य के खड़े होने और अभयदेवसूरिजी की प्रशंसा में पद्य लिखकर सर्व मठपतियो के पास भेजने सम्बन्धी लेखक की बात उसकी अन्ध-श्रद्धा का नमूना मात्र है, यदि लेखक ने स्थानांगवृत्ति का उपोद्घात पढ़ लिया होता तो वे इस प्रकार की हास्यजनक बातें कभी नहीं लिखते।

साधुओं के विरोध करने पर उन्होंने अभयदेवसूरिजी की प्रशंसा में एक पद्य बनाकर सर्व मटपतियों के पास पहुंचाया जिसे पढ़कर वे सब ठण्डे हो गये।

पालडदा ग्राम के भक्त श्रावकों के यानपात्र डूबने की बात सुनकर अभयदेवसूरिजी ने यानपात्रों के मालिक-भक्तों को आश्वासन देते हुए कहा, चिन्ता न करियेगा, तुम्हारे जलयान कुशलतापूर्वक समुद्र पार उतर गए[१] हैं। इस खुशी की बात को सुनकर यानों के मालिक बोले – किरानों से जितना लाभ होगा उसके आधे धन से हम सिद्धान्त लिखवायेंगे। आचार्य ने कहा – अच्छी बात है, आपका यह कार्य मोक्ष का कारण है। ऐसा परिणाम करना ही चाहिए। कालान्तर में अभयदेवसूरिजी वापस पाटन आए। इस समय तक उनकी सर्व दिशाओं में सिद्धान्तपारंगत के रूप में प्रसिद्धि हो चुकी थी।

उस समय आशो दुर्ग में श्री कूर्चपुरीय जिनेश्वरसूरि रहते थे। उस गांव में जितने श्रावकपुत्र थे वे सब जिनेश्वरसूरि की पौषधशाला में पढ़ते थे। वहां जिनवल्लभ नामक श्रावकपुत्र था, वह भी उसी पौषधशाला में पढ़ता था। जिनवल्लभ बुद्धिशाली लड़का था। उसकी मां को प्रलोभन देकर आचार्य ने उसे शिष्य बना दिया। व्याकरण, साहित्य आदि पढ़ाकर विद्वान् बना दिया।

एक समय जिनेश्वरसूरि की गैरहाजिरी के समय में जिनवल्लभ ने एक धार्मिक सूत्र पढ़ा उसमें साधु को माधुकरी वृत्ति से निर्दोष आहार लेने का लिखा था। उसका चैत्यवास की तरफ से मन भंग हो गया, परन्तु अपने गुरु से इस विषय में कुछ भी चर्चा नहीं की। जिनवल्लभ

---

१. पालडदा ग्राम के भक्तों के यानपात्र पार उतरने की बधाई भी लेखक के दिमाग की उपजमात्र है, अभयदेवसूरि सुविहित साधु थे, लेखक के जैसे शिथिल यति नहीं, जो व्यापार के लाभ का आधा भाग सिद्धान्त लिखने को देने की बात सुनकर उनका बार-बार समर्थन करते। अभयदेवसूरिजी की आगम वृत्तियां लिखवाने वाले अनेक गृहस्थ पाटन में थे, उनको उसके लिये – निमित्त भाषण द्वारा पालडदा के भक्तों को अनुकूल करने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

साहित्य में अच्छा तैयार हो गया था, फिर भी उसको धार्मिक सिद्धान्त पढ़ना शेष था। आचार्य ने अपने शिष्य जिनवल्लभ और जिनशेखर[१] को अभयदेवसूरिजी के पास धार्मिक सिद्धान्त पढ़ने के लिए भेजा। मरुकोट होकर अनहिल पत्तन जाते हुए जिनवल्लभ ने वहां एक गृहदेवालय की प्रतिष्ठा की, फिर वहां से पाटन पहुँचे, गुरु को वन्दन किया। गुरु ने भी जिनवल्लभ को देखते ही चूडामणि ज्ञान से उसकी योग्यता परख ली और आने का कारण पूछा। उसने कहा–हमको गुरु ने आपके पास जैन सिद्धान्त की वाचना लेने भेजा है। आचार्य ने सोचा – चैत्यवासी का शिष्य है फिर भी योग्य है यह विचार कर उनका स्वागत किया। अच्छा दिन देखकर वाचना देना प्रारम्भ किया। गुरु के मुख से निकलते हुए सूत्रवाक्यों को वह अमृत समान मान कर संतुष्ट होने लगा। गुरु ने भी सच्चे प्रतीच्छक को पाकर आनन्द का अनुभव किया। रात-दिन पढ़ने तथा चिन्तन करने से सिद्धान्त वाचना थोड़े ही काल में पूर्ण हो गई। आचार्य का एक स्वीकृत ज्योतिषी विद्वान् था, उसने कहा – यदि आपके कोई योग्य शिष्य हो तो मुझे सौंप देना, मैं उसे ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान करा दूंगा। जिन-वल्लभ उसको सौंप दिया गया। ज्योतिर्विद ने अपने पास जितना ज्योतिष का ज्ञान था, जिनवल्लभ को पढ़ा दिया। बाद में जिनवल्लभ ने अपने मूल गुरु के पास जाने की आज्ञा मांगी, गुरु ने कहा – जो कुछ सिद्धान्त का ज्ञान था, मैंने तुझे बता दिया है। अब ऐसा बर्तना जैसा कि सिद्धान्त में

१. गुर्वावली लेखक ने जिनशेखर को जिनवल्लभ का वैयावृत्यकार (सेवा करने वाला) लिखा है, वास्तव में जिनशेखर जिनवल्लभ के गुरु-भाई थे साथ ही पढ़कर अच्छे विद्वान् बने थे, इसीलिए तो जिनवल्लभ के पट्ट पर सोमचन्द्र को प्रतिष्ठित करने का अधिक साधुओं ने विरोध किया था, क्योंकि जिनशेखर जिनवल्लभ के गुरु-भाई होने के उपरान्त विद्वान् भी थे। परन्तु आचार्य देवभद्र की जिनशेखर पर अवकृपा थी, इसलिए उन्होंने गच्छ के विरोध का विचार न करके जिनवल्लभ के पट्ट पर मुनिसोमचन्द्र को "जिनदत्तसूरि" बनाकर बैठा दिया, इसी के परिणाम स्वरूप अन्य गीतार्थ श्रमणों ने जिनशेखर को भी आचार्य बनाकर जिनवल्लभ का उत्तराधिकारी नियत कर दिया। जिनशेखर जिनवल्लभ का केवल वैयावृत्यकार होता तो यह बखेड़ा कभी नहीं होता।

लिखा है। जिनवल्लभ ने कहा— यथाशक्ति आपकी आज्ञा का पालन करूंगा। जिस रास्ते से वे आये थे उसी रास्ते से चले गये। आशी दुर्ग से तीन कोश पर रहे हुए "माईयड" गांव में ठहरे और अपने आने की गुरु को खबर पहुँचाई। दूसरे दिन आशिका से आचार्य वहां आये। आशिका न आकर बीच में ठहरने का आचार्य ने कारण पूछा। जिनवल्लभ ने कहा — मैं चैत्यवास करना नहीं चाहता। आचार्य ने अनेक प्रकार से समझाया, पर जिनवल्लभ ने अपना निर्णय नहीं बदला। गुरु को वन्दन कर जिनवल्लभ फिर पत्तन की तरफ विहार कर गये। श्री अभयदेवसूरि के चरणों में जिनवल्लभ के आने से अभयदेवसूरि के मन का समाधान हो गया। वे मन में जानते थे कि जिनवल्लभ आचार्य-पद के योग्य है, परन्तु देवगृह निवासी का शिष्य होने से गच्छ को यह बात मंजूर न होगी, यह विचार कर उन्होंने अपने पट्ट पर वर्द्धमानसूरि को बैठाया। जिनवल्लभ गणि को अपनी उपसम्पदा[1] देकर कहा — सर्वत्र हमारी आज्ञा से विचरना। एकान्त में प्रसन्नचन्द्राचार्य को कहा — अच्छे लग्न में जिनवल्लभ गणि को मेरे पट्ट पर

---

१. उपसम्पदा का तात्पर्य क्या होता है इसको गुर्वावली लेखक समझा नहीं है, जिनवल्लभ ने चित्रकूट की प्रशस्ति में अपने लिये स्वयं लिखा है कि "उसने अभयदेवसूरि के पास 'ज्ञानोपसम्पदा' लेकर श्रुतज्ञान की प्राप्ति की थी"। जिनवल्लभ अन्त तक अपने मूल गुरु कूर्चपुरीय श्री जिनेश्वरसूरि को अपना गुरु मानते थे, सं० ११३८ में लिखे गए "विशेषावश्यक भाष्य" की कोट्याचार्य कृत टीका के अन्त में लिखा है कि "यह पुस्तक प्रख्यात आचार्य जिनेश्वरसूरि के शिष्य जिनवल्लभ गणि की है" "प्रश्नोत्तर एकषष्ठिशतक" में एक प्रश्नोत्तर में जिनवल्लभ गणि लिखते हैं — "मद्गुरवो जिनेश्वरसूरयः" अर्थात् मेरे गुरुजी जिनेश्वरसूरि हैं। जिनवल्लभ गणि के इस प्रकार के स्पष्ट लेख मिलने पर भी गुर्वावली लेखक अभयदेवसूरि की उपसम्पदा को प्रव्रज्या मानकर जिनवल्लभ को अभयदेवसूरि का दीक्षित शिष्य मानते हैं यह उनका अज्ञान है। यदि जिनवल्लभ ने अभयदेवसूरि के समीप चारित्रोपसम्पदा ली होती तो उनको अपने पूर्वगुरु जिनेश्वरसूरि और उनके गच्छ का त्याग करना पड़ता और अभयदेवसूरि के गच्छ को अपना गच्छ और आचार्य उपाध्यायों को अपने आचार्य उपाध्याय मानने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती परन्तु ऐसा कुछ भी नहीं हुआ, इससे सिद्ध है कि जिनवल्लभ गणि अभयदेवसूरि के प्रतीच्छक मात्र थे, शिष्य नहीं।

प्रतिष्ठित कर देना, परन्तु प्रसन्नचन्द्राचार्य को भी जिनवल्लभ को गुरु-पद पर बैठाने का प्रस्ताव न मिला। उन्होंने भी अपने आयुष्य की समाप्ति के समय कपडवंज में अभयदेवसूरिजी की भावना की देवभद्राचार्य को सूचना दी। देवभद्राचार्य ने उसको स्वीकार किया। आचार्य अभयदेवसूरिजी कपडवंज में आयुष्य पूर्ण कर स्वर्गवासी हुए।

(५) जिनवल्लभ गरिण –

जिनवल्लभ गरिण कुछ दिनों तक पाटन की परिसर-भूमि में विचरे, परन्तु वहां किसी को प्रतिबोध नहीं होता था, इसलिए उनका मन नहीं लगा, अतः दो साधुओं[१] के साथ विधिधर्म के प्रचारार्थ चित्रकूट की तरफ विहार किया। वे देश भी बहुधा चैत्यवासी आचार्यों से व्याप्त थे। वहां के निवासी भी उन्हीं के भक्त थे, फिर भी अनेक गांवों में फिरते हुए चित्तौड़ पहुँचे। वहां ठहरने के लिये श्रावकों से स्थान पूछा, उन्होंने कहा– "चण्डिका का मठ है, यदि वहां ठहरो तो", जिनवल्लभ ने कहा – "तुम्हारी अनुमति हो तो वहीं ठहरें"। श्रावकों ने अनुमति दी। जिनवल्लभ गरिण सभी विद्याओं में प्रवीरण थे। धीरे-धीरे चित्तौड़ में उनकी प्रसिद्धि हो गई, ब्राह्मरण आदि विद्वान् तथा इतर जिज्ञासु मनुष्य और कोई श्रावक भी उनके पास जाने लगे।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी महावीर के गर्भापहार कल्याणक का दिन है, यदि देवालय में जाकर विस्तार से देववन्दन किया जाय तो अच्छा है। उस समय वहां विधि-चैत्य तो था नहीं – वे चैत्यवासियों के देवालयों में जाने लगे, तब एक साध्वी देवगृह के द्वार पर खड़ी होकर कहने लगी –

१. गुर्वावली में जिनवल्लभ ने पाटन छोड़ा तब उन्हें "आत्मतृतीय" लिखा है, परन्तु हमारी राय में जिनवल्लभ गरिण अकेले ही पाटन से चित्तौड़ गये हैं, क्योंकि बाद के उनके जीवनवृत्त में उनके साथ में साधु होने की कोई सूचना तक नहीं मिलती, देवभद्र चित्तौड़ के लिए रवाने होते हैं जब उन्हें नागौर लिखते हैं – "अपने परिवार के साथ चित्तौड़ चले आना, परन्तु उनके साथ परिवार था इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। जिनवल्लभ के केवल एक "रामदेव" नामक शिष्य होने का उनके एक ग्रन्थ की अवचूर्णी से पता लगता है।

नयी रीतियां करने के लिये यहां स्थान नहीं है। इस पर जिनवल्लभ तथा उनके अनुयायी श्रावक वहां से लौट गये। अपने स्थान पर जाकर श्रावकों ने कहा – बड़े मकान हैं उनमें से एक के ऊपर "चतुर्विंशति जिनपट्ट" स्थापित कर देववन्दनादिक धार्मिक क्रियाएं की जाएं तो कैसा ? गुरु ने कहा – बहुत ठीक है। श्रावकों ने वैसा ही किया, गुरु का मन संतुष्ट हुआ। बाद में श्रावकों ने "चित्तौड़दुर्ग" में तथा "नगर" में एक-एक जिनालय बनाने का विचार किया और गणिजी की सम्मति मांगने पर जिनवल्लभ ने उनके विचार का अनुमोदन किया। दोनों मन्दिर तैयार हो गये१। दुर्ग में पार्श्वनाथ और नीचे महावीर के बिम्ब। जिनवल्लभ गणि द्वारा प्रतिष्ठित किये गये।

एक समय मुनिचन्द्राचार्य ने अपने दो शिष्यों को सिद्धान्त-वाचना के निमित्त जिनवल्लभ गणि के पास भेजा। गणिजी ने उनको वाचना देना प्रारम्भ किया, पर बाद में उन्हें एक पत्र से मालूम हुआ कि दोनों साधु मेरे श्रावकों को बहकाकर अपने गुरु का भक्त बना रहे हैं, उन्होंने साधुओं को फटकारा और वे वहां से चले गए२।

जिनवल्लभ गणि ने अपने श्रावक गणदेव को धार्मिक शिक्षा देकर उपदेशक बनाया, क्योंकि उसको वक्तृत्वशक्ति अच्छी थी। अपने नये तैयार

---

१. अष्टसप्ततिका के अनुसार मन्दिर एक ही बना था।

२. मुनिचन्द्रसूरि स्वयं आगम-शास्त्र और न्याय-शास्त्र के प्रौढ़ विद्वान् थे और जिनवल्लभ के स्वर्गवास के बाद वे वर्षों जक जीवित रहे थे, इस परिस्थिति में उनके शिष्यों का जिनवल्लभ के पास वाचना लेने जाने की बात निर्मूल प्रतीत होती है और जिनवल्लभ के श्रावकों को बहकाकर अपने गुरु के रागी बनाने का कथन इससे भी विशेष असंभव प्रतीत होता है, क्योंकि मुनिचन्द्रसूरि उस समय के सुविहित साधुओं में पहले नम्बर के त्यागी और उग्र विहारी थे, वे हमेशा सौवीर जल पीते थे और मास-कल्प के क्रम से विहार करते थे, वृद्धावस्था में भी पाटन में मास कल्प की मर्यादा का पालन करने के लिए प्रतिमास मुहल्ला और मकान बदलते थे। सारा पाटन उनका भक्त और प्रशंसक था। ऐसे त्यागी पुरुष के लिए भक्त बनाने के प्रपंच की बात केवल कल्पित कहानी ही हो सकती है।

किये हुए कुलक-लेखों के साथ जिनवल्लभ गणि ने गणदेव को बागड़ देश में धर्मप्रचार के लिए भेजा। वहां गणदेव ने सर्वलोकों को जिनवल्लभ गणि दर्शित विधि-धर्म की तरफ आकृष्ट किया था।

एक समय धारा नगरी में नरवर्मा राजा की सभा में दो दक्षिणी पंडित आए, उन्होंने "कण्ठे कुठार: कमठे ठकार:" यह पद सभा के पडितों को दिया और अनेक पण्डितों ने समस्यापूर्तियां कीं, परन्तु आगन्तुक पण्डितों को एक भी समस्यापूर्ति सन्तुष्ट न कर सकी। इससे राजा ने जिनवल्लभ गणि की प्रशंसा सुनकर उनसे समस्यापूर्ति कराने के लिए शीघ्रगतिक ऊंटों के साथ लेख लिख कर पुरुषों को चित्तौड़ भेजा। प्रतिक्रमण के समय नरवर्मा का आदमी जिनवल्लभ से मिला, पत्र दिया और जिनवल्लभ ने तुरन्त समस्यापूर्ति करके नरवर्मा के पुरुषों को दे दी। दाक्षिणात्य पण्डित समस्यापूर्ति सुनकर सन्तुष्ट हुए और राजा की तरफ से पारितोषिक पाकर चले गए।

जिनवल्लभ गणि कुछ दिनों के बाद धारा नगर पहुँचे[१]। राजा नरवर्मा ने जिनवल्लभ गणि को अपने पास बुलाया और "समस्यापूर्ति के पारितोषिक के रूप में तीन लाख पारुत्थ अथवा तीन गांव लेने के लिए कहा, उत्तर में गणिजी ने कहा — महाराज! हम साधु लोग धन-संग्रह नहीं करते। चित्तौड़ में श्रावकों ने दो जिनमन्दिर बनवाए हैं, उनकी पूजा के लिए आपकी शुल्कशाला की आमदनी में से दो पारुत्थ प्रतिदिन दिलाइयेगा। राजा ने चित्रकूट की शुल्कमण्डपिका से प्रतिदिन दो पारुत्थ चित्तौड़ के जैन-मन्दिरों में देने के लिए आज्ञा दी।

---

१. जिनवल्लभ गणि के धारा नगर जाने और चित्तौड़ के दोनों मन्दिरों के लिए प्रतिदिन दो पारुत्थ नियत करवाने की हकीकत वाला सारा प्रकरण प्रक्षिप्त है। गुर्वावली की अन्य प्रतियों में यह प्रकरण उपलब्ध नहीं होता, इस गुर्वावली की प्राचीन प्रति मिल गई होती तो इस प्रकार के तमाम कूटप्रकरणों का पता लग जाता, परन्तु अफसोस है कि प्राचीन प्रति के आदि के ५ पत्र ही उपलब्ध हुए, इसलिए लग-भग सम्पूर्ण प्रक्षिप्त पाठ गुर्वावली में रह गए हैं।

नागौर में श्रावकों ने नेमिनाथ का देवालय और नेमिनाथ का बिम्ब तयार करवाया था। उनकी इच्छा हुई कि हम जिनवल्लभ गरिण को गुरु के रूप में स्वीकार कर उनके हाथ से दोनों की प्रतिष्ठाएं करवायेंगे। सर्वसम्मति से उन्होंने जिनवल्लभ गरिण को बुलाया। अच्छे लग्न में देवगृह तथा नेमिनाथ-बिम्ब को प्रतिष्ठित करवाया। उसके प्रभाव से वे श्रावक लखपति बन गए। नेमिनाथ के बिम्ब के लिए उन्होने रत्नमय आभूषण बनवाये। इसी प्रकार 'नरवर' के श्रावकों की इच्छा हुई और जिनवल्लभ गरिण का गुरुत्व स्वीकार कर उनसे जिनालय तथा जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा करवाई। दोनों स्थानों के मन्दिरों में रात्रि में बलिप्रदान, स्त्रीप्रवेश, लकुटादिदान का निषेध कर विधि-चैत्य के नियम लिखवाए।

मरुकोट के श्रावकों की विज्ञप्ति से जिनवल्लभ गरिण विक्रमपुर होते हुए मरुकोट पहुंचे। वहां के श्रावकों ने एक अच्छा स्थल ठहरने के लिए दिया और उनके मुख से धर्मोपदेश सुनने की इच्छा व्यक्त की। गरिणजी ने उपदेशमाला सुनाना प्रारम्भ किया। यद्यपि यह ग्रन्थ श्रावकों का सुना हुआ था तथापि जिनवल्लभ गरिण की उपदेशधारा इतनी मधुर थी कि श्रोताओं को सुनकर तृप्ति नहीं होती थी। उस समय आचार्य देवभद्र विहार करते हुए अणहिल पत्तन आए। पत्तन आकर उन्होंने जिनवल्लभ गरिण को चित्तौड़ जल्दी आ जाने के लिए लिखा। जिनवल्लभ नागौर से विहार करते हुए चित्तौड़ पहुँचे और सं० ११६७ के आषाढ़ सुदि ६ के दिन वीरविधिचैत्य में अभयदेवसूरि के पट्ट पर जिनवल्लभ गरिण को प्रतिष्ठित किया। देवभद्रादिक अपने-अपने स्थान पहुँचे, परन्तु उसी वर्ष में कार्तिक बदि १२ को रात्रि के समय जिनवल्लभसूरि समाधिपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर स्वर्गवासी हो गये।

जिनवल्लभ का मरण-समाचार सुनकर देवभद्रसूरि को बड़ा दुःख हुआ और जिनवल्लभ के पद पर किसी योग्य साधु को प्रतिष्ठित कर उनकी परम्परा चालू करने की चिंता में लगे।

साधुओं की योग्यता पर विचार करते-करते उ० धर्मदेव के शिष्य सोमचन्द्र मुनि पर आचार्य देवभद्र की दृष्टि पहुँची। वह चपल

प्रकृति का होते हुए भी विद्वान् साधु था। आचार्य हरिसिंह के पास सिद्धान्त पढ़ा हुआ था। गृहस्थवर्ग तथा श्रमरणसमुदाय भी सोमचन्द्र की योग्यता से परिचित था। देवभद्रसूरि ने सर्वसम्मति से चित्तौड़ आने के लिए पत्र लिखा। चित्तौड़ जाने के बाद पं० सोमचन्द्र को देवभद्रसूरि ने एकान्त में कहा – अमुक दिन में आचार्य-पद प्रदान करने के योग्य लग्न निश्चित किया है। सोमचन्द्र ने कहा – ठीक है, पर इस लग्न में मुझे पद पर प्रतिष्ठित करोगे, तो मेरा जीवित लम्बा नहीं होगा। छः दिन के बाद शनिवार को जो लग्न आयगा, उसमें पट्टप्रतिष्ठित होने पर चारों दिशाओं में श्री जिनवल्लभसूरिजी के वचन का प्रचार होगा और चतुर्विध श्रमरणसंघ की वृद्धि होगी। श्री देवभद्रसूरि ने कहा – वह लग्न भी दूर नहीं है, उसी दिन पद प्रदान करेंगे। बाद में सोमचन्द्र के बताए दिन ११६९ के वैशाख सुदि १ को चित्रकूट के जिनचैत्य में श्रीजिनवल्लभसूरि के पट्ट पर पं० सोमचन्द्र को आचार्य-पद देकर "श्री जिनदत्तसूरि" यह नाम रक्खा। जिनदत्तसूरि की पदप्रदान के बाद की देशना सुनकर सब ने आचार्य देवभद्र की पसन्दगी की प्रशंसा की। देवभद्र ने कहा – जिन-वल्लभसूरिजी ने मुझे कहा था कि मेरे पट्ट पर आप सोमचन्द्र गरिण को बिठायें, इसलिए मैंने उनकी इच्छा के अनुकूल कार्य किया है। अन्त में देवभद्राचार्य ने नये आचार्य को कहा – कुछ दिन तक पाटन को छोड़ कर अन्य प्रदेश में विहार करना[१], जिनदत्तसूरि ने कहा – ऐसा ही करेंगे।

---

१. गुर्वावलीकार जिनदत्त को पाटन से अन्य स्थानों में विहार करने की सूचना देवभद्र के मुख से करवाता है, और जिनदत्तसूरि उसको स्वीकार करते हैं। इस पर भी जिनदत्त अट्ठम तप करके देव को बुलाते हैं और देव से अपने विहार का क्षेत्र पूछते हैं. देव उनको मरुस्थली का प्रदेश विहार के लिए सूचित करता है।

जिनशेखर को समुदाय में लेने के बाद गच्छ के आचार्य जिनदत्तसूरि को कहते हैं– जिनशेखर को शामिल लेना तुम्हारे लिए सुखकर न होगा, यह कहने के बाद वे आचार्य अपने-अपने स्थान जाते हैं, गुर्वावलीकार ने इस विषय में यथार्थ बात को छिपाया है। जिनशेखर को शामिल लेने का परिणाम जिनदत्त को भयंकर मिला हैं, इस सम्बन्ध में उपाध्याय श्री समयसुन्दरजी नीचे का वृत्तान्त लिखते हैं – जो ध्यान में लेने योग्य है – "श्री जिनवल्लभसूरिनिष्काषितसाधुमध्यग्रहणेन १३

एक दिन जिनशेखर ने व्रत के विषय में कुछ अनुचित कार्य किया, फलस्वरूप देवभद्राचार्य ने जिनशेखर को समुदाय से निकाल दिया, जहां होकर स्थण्डिल भूमि जाते हैं, वहां जाकर जिनशेखर खड़ा रहा। जिस समय बहिर्भूमि में जाते हुए जिनदत्तसूरि वहां पहुंचे और जिनशेखर उनके पैरों में गिरकर बोला – "मेरा यह अपराध क्षमा करियेगा" फिर ऐसी भूल न करूंगा। दयासागर श्री जिनदत्तसूरिजी ने उनको फिर समुदाय में मिला दिया, पता लगने पर आचार्य ने कहा – जिनशेखर को समुदाय में

आचार्यों: श्री जिनदत्तसूरिः गच्छाद्बहिष्कृतः ततः पदस्थापनाकारकं श्रावकं पृष्ट्वा वर्षत्रयावधिं कृत्वा निर्गतः ।।" अर्थात् = जिनवल्लभसूरि द्वारा निकाले हुए साधु को फिर समुदाय में लेने के अपराध में गच्छ के १३ आचार्यों ने श्री जिनदत्तसूरि को गच्छ से बहिष्कृत किया, तब पदस्थापनाकारक श्रावक को पूछकर तीन वर्ष के लिए जिनदत्तसूरि निकल गए।

खरतरगच्छ की एक अन्य पट्टावली में जो जिनराजसूरि तक के आचार्यों की परम्परा बताने वाली है और सत्रहवीं शदी में लिखी हुई है, जिनदत्तसूरि के उक्त प्रसंग में –

"बीगाई दीनि बाहरि गया छई, श्री जिनदत्तसूरि, तिवारइ, जिनशेखर आवी पगे लागऊ, कह्यऊ मारु × × × × × × × ×

माहि घातओ, गुरु साथइ लेई आव्या अनेरे आचार्ये कह्यऊ एकाढयऊ हुंतओ तम्हे अरणपूछिइ किममांहि आण्यो, तिवारइ जिनदत्तसूरि कह्यओ म्हारइ दाइ आरणइ मइ घाल्यो, श्री जिनवल्लभसूरि न ओ एगुराहि जिनषेखर, समस्त संघ १४ आचार्य मिली कह्यओ एबारउ काढओ नहितर थेई विहार करओ, जिनदत्तसूरि विहार किधओ, उपवास ३ करी स्मरयों हरिसिंहाचार्य देवलोक हूंती आव्यओ, मूनइ किसइ अर्थि स्मरओ तू हे, कह्यओ मुहूर्त ३ बीजई मुहूर्ति मूनई पाट हूओ, गच्छसूं विरोध हुयओं किसी-किसी दिसि विहार करओ, मारुवाडि मरुस्थलि दिशि विहार करि जेति तुम्हें स्मरस्यो तेथी हूं जुदउं।"

हमारे पास एक २६ पत्रात्मक बड़ी गुर्वावली है, उसमें जिनदत्तसूरि का वृत्तान्त क्षमाकल्याणकमुनि का लिखा हुआ है, उसमें जिनदत्तसूरि को गच्छ के आचार्यों द्वारा गच्छ बाहर निकालने की सूचना तक नहीं है, उपर्युक्त खरतर-

लेना तुम्हारे लिए सुखकर न होगा, बाद में दूसरे आचार्य आदि वहां से विहार कर गए, इसके बाद जिनदत्तसूरिजी ने अपने विहार का निश्चय करने के लिए तीन उपवास कर देवलोक-स्थित हरिसिंहाचार्य के जीवदेव का स्मरण किया; देव उनकेसमीप आया और बोला – मेरा स्मरण क्यों किया है ? जिनदत्तसूरि ने पूछा, "विहार किधर करूं" देव ने कहा – "मरुस्थली आदि देशों में विहार करो ।"

देवादेश के अनुसार जिनदत्तसूरि मारवाड़ में विहार करते हुए नागौर पहुंचे, वहां का रहने वाला धनदेव श्रावक उनका बड़ा आदर करता है और कहता है – यदि आप मेरा कथन माने तो मैं आपको सब का पूज्य बनालूं, इस पर जिनदत्तसूरि ने कहा – हे धनदेव ! शास्त्र में श्रावक को गुरु का वचन मानने का विधान है । गुरु को श्रावक का वचन मानने का नहीं, मेरे पास परिवार न होने से लोगों में मेरी पूजा न होगी, यह नहीं मान लेना चाहिए, अधिक परिवार वाला मनुष्य ही जगत् में पूज्यता को पाता है यह एकान्त नहीं मान लेना चाहिये क्योंकि अनेक पुत्रों में परिवृत भी गर्ताशूकरी विष्ठा खाती है । धनदेव को जिनदत्तसूरि का उपर्युक्त कठोर उत्तर भाया नहीं ।

वहां से जिनदत्तसूरि विचरते हुए अजमेर पहुंचे, बाहड़देव श्रावक के गृहदेवालय में जिनदत्तसूरि देववन्दनार्थ गए, अन्यदा वहां एक अन्य आचार्य

गच्छ की पट्टावलियों में से प्रथम दो १७ वीं सदी की हैं तब तीन गुर्वावलियां १६ वीं सदी की हैं, इस प्रकार ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है त्यों-त्यों खरतरगच्छ की पट्टावलियों, गुर्वावलियों में अनुकूल पाठ प्रक्षिप्त किये जाते हैं और प्रतिकूल पाठ उनमें से निकाल दिये जाते हैं, प्रस्तुत "खरतर बृहद् गुर्वावली" में से जिनदत्तसूरि वाला प्रसंग सर्वथा तो निकाला नहीं गया । परन्तु उसमें ऐसा गोलमाल किया है कि उस प्रसंग को खरे रूप में कोई समझ न सके । देवभद्रसूरि के मुख से इतना ही कहलाया कि "तुम अभी पाटन से अन्यत्र विहार करना," अन्य आचार्यों के मुख से इतना ही कहलाया – जिनशेखर को शामिल लेना तुम्हारे लिए सुखावह नहीं है, इन गोलमाल लेखों से इतना तो निश्चित होता है कि "बृहद् गुर्वावली" समयसुन्दर, जिनराजसूरि के समय से अर्वाचीन १८ वीं सदी की है, और उ० क्षमाकल्याण के पहले की ।

आया, जो पर्याय में छोटा था, जिनदत्तसूरि वहां जाते तब वह आचार्य उनके साथ उचित व्यवहार नहीं करता था। श्रावक प्रमुख जिनदत्तसूरि के श्रावकोंने अर्णोराज को विज्ञप्ति की कि हे देव ! हमारे गुरु जिनदत्तसूरिजी महाराज पधारे हुए हैं। राजा ने कहा – अच्छी बात है, कार्य हो तो कहो, श्रावकों ने कहा – एक जमीन का टुकड़ा चाहिए, जहां देवालय धर्मस्थान, श्रावक-कुटुम्बों के रहने के लिए मकान बनाये जासकें। राजा ने कहा – दक्षिण-दिशा में जो पर्वत दीख रहा है, उसको तलभूमि में जो करना चाहो करो। राजा ने कहा – आपके गुरु महाराज के दर्शन तो हमें भी करना ! राजा के साथ जो कुछ बातचीत हुई थी, वह सब श्रावकों ने अपने गुरु को सुनायी। आचार्य ने कहा – ऐसे राजा को अपने पास बुलाना चाहिए। अच्छा दिन देखकर राजा को बुलाया, राजा ने आचार्य को नमस्कार किया। आचार्य ने राजा को निम्नलिखित आशीर्वाद का श्लोक अर्थ के साथ सुनाया –

"श्रिये कृतनतानन्दा, विशेषवृषसंगताः।
भवन्तु भवतां भूप, ब्रह्म श्रीधरशंकराः॥"

आशीर्वाद सुनकर राजा प्रसन्न हुआ, बाद में श्रावकों ने स्तम्भनक, शत्रुञ्जय, उज्जयन्त, की कल्पना से पार्श्वनाथ ऋषभदेव और नेमिनाथ के बिम्बों की स्थापना की, भावना की। ऊपर के भाग में अम्बिका की देव-कुलिका और नीचे गणधर आदि के स्थान रखने का विचार किया।

अजमेर से वागड़ की तरफ विहार किया। वहां के लोग पहले से ही जिनवल्लभसूरि के भक्त थे और उन्होंने जब सुना कि जिनवल्लभ के पट्टधर भी बड़े विद्वान् हैं तो वे बहुत संतुष्ट हुए, कइयों ने दीक्षा ली, सुना जाता है कि वहां सब मिलकर ५२ साधु साध्वियों की दीक्षाएं हुईं।

उस प्रसंग पर जिनशेखर को उपाध्याय बनाकर कतिपय साधुओं के साथ रुद्रपल्ली की तरफ भेजा। वहां उसके सांसारी स्वजन रहते थे, उनके चित्तसमाधान के लिए जिनशेखर तपस्या करता था। कालान्तर में जिनदत्त-सूरि भी रुद्रपल्ली की तरफ विचरे। जिनशेखरोपाध्याय श्रावकों के साथ

आचार्य के सामने गए। ठाट के साथ जिनदत्तसूरि का नगरप्रवेश हुआ। वहां पर पार्श्वनाथ तथा ऋषभदेव के दो जिनालयों की प्रतिष्ठा की। अनेक श्रावकों ने सम्यक्त्व तथा देशविरति का व्रत स्वीकार किया, फिर वहां से पश्चिम में विहार करते हुए वागड़ में व्याघ्रपुर गये। वहां से जयदेवाचार्य को रुद्रपल्ली भेजा और आपने वहां रहते हुए "चर्चरी" की रचना की। पहले आपने वागड़ में रहते हुए जिन साधुओं को पठनार्थ धारा भेजा था, उन सब को अपने पास बुलाया और उनको सिद्धान्त सुनाया। जीवदेव को आचार्य-पद प्रदान किया। जिनचन्द्रगरिण, शीलभद्रगरिण, स्थिरचन्द्र-गरिण, ब्रह्मचन्द्रगरिण, बिमलचन्द्रगरिण, वरदत्तगरिण, भुवनचन्द्रगरिण, वरणागगरिण, रामचन्द्रगरिण और मरिणभद्रगणि इन दस को वाचनाचार्य-पद प्रदान किया।

श्रीमति, जिनमति, पूर्णश्री, जिनश्री और ज्ञानश्री इन पांच साध्वियों को महत्तरा का पद दिया। हरिसिंहाचार्य के शिष्य मुनिचन्द्र उपाध्याय के शिष्य जयसिंह को चित्तौड़ में आचार्य-पद दिया। उनके शिष्य जयचन्द्र को पाटन में आचार्य-पद पर स्थापित किया। इन दोनों को कहा — आगे रीति से चलना। सब पदस्थों को शिक्षा देकर विहारादि स्थानों का निर्देश करके आपने अजमेर की तरफ विहार किया।

विक्रमपुर के देवधर नामक श्रावक ने अपने नगर की तरफ जिनदत्त-सूरिजी को विहार कराने का निश्चय किया। उसके सामने किसी ने इन्कार नहीं किया, वह श्रावक-समुदाय के साथ नागौर गया और वहां के प्रसिद्ध आचार्य देवचन्द्रसूरि के साथ आयतन अनायतन के विषय में वार्तालाप करने के उपरान्त देवधर श्रावक अपने समुदाय और कुटुम्ब के साथ विधि-मार्ग का अनुयायी बन गया।

वहां से देवधर सपरिकर अजमेर गया और जिनदत्तसूरि को वन्दन कर विक्रमपुर की तरफ विहार करने की प्रार्थना की। अजमेर का कार्य निपटा कर देवधर के साथ जिनदत्तसूरिजी विक्रमपुर गए। वहां के अनेक मनुष्यों को प्रतिबोध किया और भगवान् महावीर की प्रतिमा की स्थापना की।

विक्रमपुर से उच्चानगर जाने के रास्ते में अनेक भूतों का भय था, उसे हटाया। उच्चा के लोगों को प्रतिबोध देकर नवहर गए और वहां से त्रिभुवनगिरि। त्रिभुवनगिरि के राजा कुमारपाल को प्रतिबोध किया, शान्तिनाथ की प्रतिष्ठा करवाई।

सं० १२०३ के फाल्गुन सुदि नवमी के दिन अजमेर में आपके हाथ से श्री जिनचन्द्रसूरि की दीक्षा हुई।

सं० १२०५ के वैशाख शुक्ल षष्ठी के दिन विक्रमपुर में श्री जिनदत्त-सूरिजी ने अपने पद पर जिनचन्द्रसूरि को प्रतिष्ठित किया और सं० १२११ के आषाढ़ वदि ११ को जिनदत्तसूरिजी अजमेर में स्वर्गवासी हुए।

(७) श्री जिनचन्द्रसूरि –

सं० १२१४ में जिनचन्द्रसूरि ने त्रिभुवनगिरि में श्री शान्तिनाथ के प्रासाद पर कलश-दण्ड-ध्वजारोहण किया। हेमदेवी गणिनी को प्रवर्तिनी-पद दिया, फिर आपने मथुरा की यात्रा की।

सं० १२१७ के फाल्गुन शुक्ल दशमी के दिन पूर्णदेवगणि जिनरथ, वीरभद्र, वीरजय, जगहित, जयशील, जिनभद्र और जिनपति आपके हाथ से दीक्षित हुए। इसी वर्ष में मरुकोट में चन्द्रप्रभ स्वामी के चैत्य पर वैशाख शुक्ल दशमी के दिन दण्डध्वज, कलशारोपण किया। ५०० पारुत्थ द्रम्म बोल कर सा० क्षेमंकर ने माला पहनी।

सं० १२१८ के वर्ष में उच्चा नगरी में ऋषभदत्त, विनयचन्द्र, विनयशील, गुणवर्धन, वर्धमानचन्द्र नामक ५ साधु और जगश्री, सरस्वती और गुणश्री नामक तीन साध्वियों की दीक्षा हुई।

सं० १२२१ के वर्ष में सागरपट्ट में पार्श्वनाथचैत्य में देवकुलिका की प्रतिष्ठा की। अजमेर में जिनदत्तसूरि का स्तूप प्रतिष्ठित किया। बब्बेरक में गुणभद्रगणि, अभयचन्द्र, यशश्चन्द्र, यशोभद्र और देवभद्र को दीक्षा दी। देवभद्र की भार्या भी दीक्षित हुई। आशिका में नागदत्त को

वाचनाचार्य-पद दिया, महावन में अजितनाथ के चैत्य की प्रतिष्ठा की, इन्द्रपुर में शान्तिनाथ के चैत्य पर कलश, दण्डध्वज का रोपण किया। नगला गांव में अजितनाथ के चैत्य की प्रतिष्ठा की।

सं० १२२२ में बादली नगर में पार्श्वनाथ चैत्य पर दण्डध्वज-कलश की प्रतिष्ठा की और अम्बिका शिखर पर कलश की प्रतिष्ठा कराके रुद्रपल्ली की तरफ विहार किया। उसके आगे नरपालपुर में किसी ज्योतिष-शास्त्र के जानकार पं० से ज्योतिष सम्बन्धी चर्चा हुई, फिर रुद्रपल्ली विचरे। वहां पद्मचन्द्राचार्य ने उनसे कुछ बातें पूछीं, जिनका इन्होंने उत्तर दिया। रुद्रपल्ली से विहार करते हुए चौरसिन्दानक ग्राम के समीप उनका साथ उतरा। वहां म्लेच्छों के भय से आकुल हुए साथ के लोगों को पूछा – आकुल क्यों हो? साथ वालों ने कहा – म्लेच्छों का लश्कर आ रहा है, आचार्य ने कहा– तुम सर्व वस्तु वृषभादि एकत्र करलो। आचार्य श्री जिनदत्तसूरि रक्षा करेंगे। यह कह कर उन्होंने पड़ाव के चारों ओर अपने दण्ड से गोलाकार लकीर खींच ली। सार्थ लोग सब बोरियों पर बैठे हुए घोड़ों पर चढ़े हुए हजारों म्लेच्छों को देखते हैं, परन्तु म्लेच्छ लोग किसी को नहीं देखते, वे केवल कोट को ही देखते हैं। निर्भयता होने के बाद वहां से चलकर सार्थ के साथ आचार्य अगले गांव गये। दिल्ली वास्तव्य श्रावकों ने आचार्य का आगमन सुना, वे उनके सामने गये। अपने महल पर बैठे हुए राजा मदनपाल ने वस्त्रालंकारों से सज्ज श्रावकों को जाते देखकर अपने आदमियों से पूछा – आज क्या मामला है, सब लोग बाहर क्यों जा रहे हैं? राजपुरुषों ने कहा – देव, इनके गुरु आ रहे हैं। ये लोग भक्तिवश उनके सामने जाते हैं। कुतूहल से राजा ने कहा – महासाधनिक पट्टघोड़े को तैयार कर और काहलिकहस्त द्वारा काहला को बजवा, जिससे लोग जल्दी तैयार होकर यहां आ जायं। आदेश होने के बाद हजार घोड़े सवारों से परिवृत राजा श्रावकों के पहले आचार्य के पास पहुँच गया। आचार्य के साथ आए हुए लोगों ने उपहार आदि द्वारा राजा का सत्कार किया। आचार्य ने मधुर वाणी से राजा को धर्म सुनाया, राजा ने आचार्य को अपने नगर में आने के लिए प्रार्थना की,

परन्तु उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया, क्योंकि जिनदत्तसूरिजी ने अपने पट्टधरों की परम्परा के आचार्य को योगिनीपुर में न आने का आदेश दिया था। राजा के उपरोध से जिनचन्द्रसूरि योगिनीपुर में आने के लिए तैयार हुए और ठाट के साथ नगरप्रवेश किया।

एक समय वहां रहने वाले अपने भक्त कुलचन्द्र श्रावक को पूज्य ने अतिगरीब देखकर उसे एक यन्त्रपट दिया और कहा – कुलचन्द्र ! अपनी मुट्ठीभर वास से पट की प्रतिदिन पूजना, इस पट पर चढाये हुए, निर्माल्य रूप वास पारद आदि के संयोग से सुवर्ण बन जायेंगे[१], गुरु की बताई हुई रीति से पट्ट को पूजता हुआ कुलचन्द्र कोटिध्वज हो गया।

---

१. वास को सोना बनाकर कुलचन्द्र श्रावक को करोड़पति बनाने वाला गुर्वावलीलेखक किसी नई दुनियाँ का मनुष्य प्रतीत होता है। खनिज-पदार्थों के सम्पर्क से पारद का सोना बनाने का तो भारतीय रसायन और तन्त्र-शास्त्रों में लिखा है, परन्तु केसर, कस्तूरी चन्दन आदि सुगन्ध काष्ठिक पदार्थों से सोना बनाने का गुर्वावली-कार को छोड़ कर अन्य किसी ने नहीं लिखा। लेखक को इस प्रकार के कल्पित किस्से लिखने के पहले सोचना था कि इन बातों को सत्य मानने वाले परिमित भोले भक्त मिलेंगे, तब इन बातों को पढ़कर लेखक की खिल्ली उड़ाने वाले बहुत मिलेंगे। परिणामस्वरूप इस जरिये से हमारे गुरु का महत्त्व बढ़ाने के बदले घट जायगा।

उक्त हकीकत वाले फिकरे के नीचे एक प्रक्षिप्त आठ पंक्ति का पाठ है, उसमें एक देवता को देव बनाने की कहानी लिखी है, वह कहानी इस प्रकार है – "एक दिन जिनचन्द्रसूरि दिल्ली के उत्तर दरवाजे से होकर स्थण्डिल भूमि की तरफ जा रहे थे। महानवमी का दिन था, श्री पूज्य ने मांस के निमित्त आपस में लड़ती हुई दो देवताओं को देखा। बड़े जोरों का युद्ध हो रहा था, उसे देख कर श्री पूज्य ने दया लाकर "अधिगालि" नामक देवता को प्रतिबोध दिया। शान्तचित्त होकर उसने आचार्य को कहा – भगवन् ! मैंने मांस-बलि का त्याग कर दिया, परन्तु आप मुझे कोई स्थानक बताएं, जहां रहकर आपकी आज्ञा का पालन करती रहूं। आचार्य ने उसे कहा – महानुभाव ! श्रीपार्श्वनाथविधिचैत्य में प्रवेश करते दाहिनी तरफ जो स्तम्भ है, उसमें तू अपना स्थान बना ले। श्री पूज्य बहिर्भूमि से पौषधशाला में आये और सा० लोहड, सा० कुलचन्द्र, सा० पाल्हण आदि प्रधान श्रावकों को कहा – श्री पार्श्वनाथ प्रासाद में प्रवेश करते दाहिनी तरफ के स्तम्भ

सं० १२२३ के द्वितीय भाद्रपद वदि १४ को समाधिपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर जिनचन्द्रसूरि स्वर्गवासी हो गए।

(८) श्री जिनपतिसूरि –

जिनपतिसूरि का जन्म १२१० विक्रमपुर में हुआ था और इनकी दीक्षा सं० १२१७ के फाल्गुन सुदि १० को और सं १२२३ में १४ वर्ष की उम्र में इन्हें क्षुल्लक नरपति से जिनपतिसूरि बनाकर जिनचन्द्रसूरि के पट्टपर प्रतिष्ठित किया था।

जिनचन्द्रसूरि के पाठक श्री जिनभक्त मुनि को आचार्य-पद देकर "श्री जिनभक्ताचार्य" बनाया, वहां के समुदाय के साथ सा० मानदेव ने हजार द्रव्य खर्च कर यह महोत्सव किया था। उसी स्थान पर जिनपति-सूरिजी ने पद्मचन्द्र और पूर्णचन्द्र को श्रमणव्रत दिये।

सं० १२२४ में विक्रमपुर में प्रथमनन्दी में गुणधर, गुणशील, दूसरी में पूर्णरथ, पूर्णसागर और तीसरी नन्दी में वीरचन्द्र तथा वीरदेव को दीक्षा दी और जिनप्रिय को उपाध्याय-पद, १२२५ में भी जिनसागर, जिनाकरादि की वहां दीक्षाएं हुई, फिर विक्रमपुर में जिनदेवगणि की दीक्षा हुई।

में अधिष्ठायक की मूर्ति खुदवालो। श्री पूज्य का आदेश होते ही श्रावकों ने वैसा ही किया। बड़े ठाट के साथ श्री पूज्य ने वहां प्रतिष्ठा की और "अतिबल" ऐसा अधिष्ठायक का नाम दिया, श्रावकों ने उसको बड़े-बड़े भोग चढ़ाना शुरु किया। "अतिबल" भी श्रावकों का मनोवांछित पूरने लगा।

पाठकगण ऊपर पढ़ आये हैं कि जिनचन्द्रसूरि ने जिस देवता को मांसबलि न लेने का प्रतिबोध दिया था, उसका नाम "अधिगालि" था और जात की वह देवी थी, परन्तु पार्श्वनाथ के मन्दिर में स्तम्भ पर प्रतिष्ठित कर आचार्य श्री जिनचन्द्रसूरि के भक्तों ने उसको "अतिबल" नामक देव बना लिया और जिनचन्द्र-सूरिजी से उसकी प्रतिष्ठा भी करवा ली। पाठक महोदयः इस प्रकार के चमत्कारों की बातें आपने किसी अन्य गच्छ की गुर्वावलियों में नहीं पढ़ी होगी। कभी आपको दिल बहलाने के लिए नवल कथा पढ़ने की इच्छा हो जाय तो एक आध खरतर-गच्छ की गुर्वावली पढ़ लेना सो आपकी इच्छा पूरी हो जायगी। ✶

सं० १२२७ में उच्चानगर में धर्मसागर धर्मचन्द्रादि की ६ दीक्षाएं हुई, एक श्राविका की दीक्षा हुई और जिनहित को वाचनाचार्य-पद दिया, उसी वर्ष में मरुकोट में शीलसागर, विनयसागर और उसकी बहन अजित-श्री को गणिनी का व्रत दिया।

सं० १२२८ में सागरपाट में अजितनाथ और शान्तिनाथ चैत्यों की प्रतिष्ठायें की; उसी वर्ष विहार करके बब्बेरक गए। आशिका के निकट श्री पूज्य का आगमन सुनकर आशिका का समुदाय, वहां के राजा भीमसिंह के साथ उनके सामने गया और नगर में प्रवेश कराया। आशिका में बहिर्भूमि जाते एक दिगम्बर विद्वान् मिला, उससे कुछ वार्तालाप हुआ। नगर में बात फैली कि श्वेताम्बर आचार्य ने वाद में दिगम्बर को जीता; राजा भीमसिंह ने अपनी प्रसन्नता प्रकट की। फाल्गुन शुक्ल ३ को वहां देवालय में पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापन कर वहां से सागरपाट जाकर देवकुलिका की प्रतिष्ठा की।

सं० १२२९ में धानपाली में संभवनाथ की प्रतिष्ठा और शिखर की प्रतिष्ठा की, सागरपाट में पं० मणिभद्र के पद पर विनयभद्र को वाचना-चार्य-पद दिया।

सं० १२३० विक्रमपुर में स्थिरदेव, यशोधर, श्रीचन्द्र तथा अभयमति, जयमति, आसमति और श्रीदेवी को दीक्षा दी।

सं० १२३२ फाल्गुन सुदि १० को विक्रमपुर में गुणचन्द्र गणि के स्तूप की प्रतिष्ठा की, उसी वर्ष में विक्रमपुर के समुदाय के साथ आशिका की तरफ विहार किया और ज्येष्ठ शुक्ल ३ को प्रवेश किया। धूमधामपूर्वक पार्श्वनाथ प्रासाद पर दण्डकलश का आरोपण हुआ। साहु श्राविका ने ५०० पारुत्थ द्रम्मों से माला ग्रहण की, धर्मसागर गणि और धर्मरुचि की दीक्षा हुई। आषाढ़ मास में कन्यानन के विधिचैत्य में श्री महावीरदेव की प्रतिमा स्थापित की, व्याघ्रपुर में पार्श्वदेव गणि को दीक्षा दी।

सं० १२३४ फलोधी के विधिचैत्य में पार्श्वनाथ को स्थापित किया और जिनमत को उपाध्याय-पद और गुणश्री को महत्तरा-पद दिया गया। सर्वदेवाचार्य और जयदेवी साध्वी को दीक्षा दी।

सं० १२३५ अजमेर में चातुर्मास्य किया। श्री जिनदत्तसूरि का स्तूप फिर से विस्तार के साथ प्रतिष्ठित किया, देवप्रभ तथा उनकी मां चरणमति गणिनी को दीक्षा दी।

सं० १२३६, अजमेर में महावीर प्रतिमा की और अम्बिका के शिखर की प्रतिष्ठा की। सागरपाट में भी अम्बिका के शिखर को प्रतिष्ठा की।

सं० १२३७, बब्बेरक में जिनरथ को वाचनाचार्य बनाया।

सं० १२३८, आशिका में दो बड़ी मूर्तियां स्थापित की।

सं० १२३९, फलोद्री में अनेक भक्तिमान् श्रावकों के साथ बहिर्भूमि जाते हुए श्री जिनभक्ताचार्य को देखकर ऊकेश-गच्छीय पद्मप्रभ नामक आचार्य जिनपतिसूरि को जीतने की भट्टों से प्रशस्ति पढ़ाने लगा, इससे श्रीपूज्य के भक्त श्रावकों ने पद्मप्रभ को बड़े कठोर शब्दों से फटकारा। बात बढ़ गई, एक दूसरे के सामने एक दूसरे के भक्त गृहस्थ बड़े बीभत्स शब्दों का प्रयोग करने लगे। बृहद् गुर्वावलीलेखक ने यह प्रकरण गुर्वावली में न लिखा होता तो अपने आचार्यों की बड़ी सेवा की मानी जाती।

आचार्य पद्मप्रभ के साथ जिनपति के शास्त्रार्थ में उनके भक्त सेठ रामदेव ने अपने घर से १६ हजार पारुत्थ द्रव्य खर्च किये थे।

सं० १२४० में विक्रमपुर में श्रीपूज्य जिनपतिसूरि ने १४ साधुओं के साथ गणियोग का तप किया।

सं० १२४१ में फलोदी में जिननाग, अजित, पद्मदेव, गणदेव, यमचन्द्र तथा धर्मश्री और धर्मदेवी को दीक्षा दी।

सं० १२४३ में खेटनगर में चातुर्मास्य किया।

सं० १२४४ में श्री अणहिलपाटक१ में इष्ट गोष्ठी चल रही थी, तब ठ० सा० अभयकुमार को भाण्डशालिक ने कहा – अभयकुमार! तुम हमारे स्वजन हो, कोटिधन के मालिक हो, और राजमान्य हो इससे हमको क्या फायदा हुआ? जो तुम हमारे गुरुओं को श्री उज्जयन्त, शत्रुञ्जय आदि तीर्थों की यात्रा नहीं कराते। भाण्डशालिक की इस प्रेरणा को सुनकर अभयकुमार बोला – भाण्डशालिक! किसी प्रकार से निराश मत हो, सब ठीक करूंगा, यह कह कर वह महाराज भीमदेव के पास गया।

---

१. बृहद् गुर्वावली में सोमचन्द्र मुनि के साथ अणहिल पाटन का नाम आया था। जिनवल्लभ गणि ने पाटन में वर्षों तक विधिधर्मका प्रचार किया, परन्तु पाटन के संघ द्वारा गुजरात भूमि की सीमा छोड़कर, वे मारवाड़, मेवाड़ की तरफ गये थे सो जीवन पर्यन्त गुजरात की सीमा में पग नहीं रक्खा, जिनदत्तसूरि ने भी आचार्य बनने के बाद मेवाड़, मारवाड़, सिन्ध की तरफ ही विहार किया। आचार्य देवभद्र ने उनको कुछ समय तक पाटन में न आने की सलाह दी थी, तब जिनदत्त ने तीन वर्ष तक गुजरात की तरफ न आने की प्रतिज्ञा करके चित्तौड़ से विहार किया था। परन्तु जहां तक हमने इनके जीवन का अध्ययन किया है, जिनदत्तसूरि ने आचार्य होने के बाद गुजरात और पाटन की तरफ प्रयाण नहीं किया।

अंचलगच्छ की शतपदी नामक सामाचारी के कथनानुसार जिनदत्त एक बार पाटन आये थे, परन्तु उनको रात्रि के समय वाहन द्वारा मारवाड़ की तरफ भाग जाना पड़ा था। जिनदत्त के पट्टधर मणिधारी जिनचन्द्रसूरि मारवाड़ तथा उत्तर भारत में ही विचरे थे, गुजरात की तरफ कभी विहार नहीं किया था। जिनचन्द्र के पट्टधर जिनपतिसूरि सं० १२२३ में पट्टप्रतिष्ठित हुए थे, परन्तु सं० १२४३ तक उन्होंने पाटन में पग नहीं रक्खा था। यद्यपि विधि-धर्म के अनुयायी अन्य साधु वहां आते जाते और रहते थे परन्तु गच्छ का मुख्य आचार्य पाटन में नहीं आता था। जिनवल्लभगणि पाटन में अपमानित होकर गए थे, इसलिए उनका वहां न आना सकारण था, परन्तु जिनदत्तसूरि जिनदत्त के शिष्य जिनचन्द्र और उनके पट्टधर जिनपतिसूरि का पाटन में न आना एक रहस्यमयी समस्या है, जिसका आजकाल के खरतरगच्छीय विद्वानों को पता तक नहीं है, प्रस्तुत गुर्वावली और बारहवीं शती के अन्यान्य ग्रन्थों से हमको पता लगा है कि जिनदत्तसूरि के उत्तेजक और लड़ाके उपदेशों को शान्तिभंग करने वाले बताकर जिनदत्तसूरि का पाटन

राजा और उसके प्रधान जगद्देव प्रतिहार को प्रार्थना करके अजमेर वास्तव्य खरतरगच्छ योग्य राजादेश लिखवा कर, वह अपने घर गया और अभयकुमार ने भाण्डशालिक को अपने पास बुलाकर उसके समक्ष राजाज्ञा का लेख तथा खरतरसंघ योग्य और जिनपतिसूरि योग्य अपने दो विज्ञप्ति-पत्र प्रधान लेखवाहक को देकर अजमेर संघ के पास भेजा।

में आना उनके विरोधी आचार्यों ने राजाज्ञा द्वारा निषिद्ध करवाया था। जिनेश्वरसूरि की परम्परा के अन्य साधु पाटन में उनकी कोटड़ी मे आते जाते और रहते हुए अपना सामान्य व्यवहार चलाते रहते थे। "विधिधर्म" का प्रचार और "आयतन अनायतन" की सभी चर्चाएं ठण्डी पड़ चुकी थी, इतना ही नहीं, जिनवल्लभ के समय से विधि धर्मानुयायियों द्वारा पाटन तथा आसपास में आठ दस विधिचैत्य बनाए गए थे, उनको भी उनके अनुयायियों से छिनवा कर "कुमारपाल के राज्यकाल में पाटन संघ को सुपुर्द कर दिया था, इन बातों से उत्तेजित होकर जिनदत्त दूर बैठे हुए भी अपने भक्तों को विधि-धर्म के लिए मरने-मारने के लिए उत्तेजित किया करते थे, परन्तु निर्नायक सैन्य की तरह विधि-धर्म के अनुयायियों पर उनका कोई असर नहीं होता था। आचार्य जिनदत्त अपने "उपदेश-रसायन रास" में लिखते हैं --

"जो गीयत्थ सु करइ न मच्छरु, सुवि जीवंतु न भिल्लई मच्छरु,।
सुद्धइ धम्मि जु लग्गइ विरलउ, संघि सु बज्झु कहिज्जइ जवलउ ॥२१॥"
(अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृ० ३६)

ऊपर के पद्य में जिनदत्तसूरि ने शुद्ध-धर्म में लगने वाले विरल मनुष्य को संघ द्वारा बहिष्कृत कहे जाने की बात कही है।

"विहि चेईहरि अविहि करेवइ, करहि उवाय बहुत्ति तिलेवइ।
जइ विहिजिणहरि अविहि पयट्टइ, तो घिउ सत्तुय मज्झि पलुट्टई ॥२३॥"
"जइ किर नरवरइ किविइ समवास, ताहिवि अघहि विहि चेइय दस।
तह वि न धम्मिय विहि विणु झगडहि, जइ ते सव्वि वि उट्ठहि लगुडिहि।२४।"
(अपभ्रंश का० त्र० पृ० ४१)

उपर के २३ वें पद्य में विधि-चैत्य में अविधि करने के लिए बहुतेरे उपाय किये जाने तथा विधि-जिनघर में अविधि प्रवर्तने की भक्त श्रावकों की फरियाद पर आचार्य उन्हें आश्वासन देते हुए कहते हैं, -- भाइयों-जो कुछ भी हो, होने दो!

श्रीपूज्य जिनपतिसूरि भी गुजरात के राजा का आदेश-पत्र और अभयकुमार की दो विज्ञप्तियां पढ़कर संघ की प्रार्थना से श्रीअजमेर के संघ के साथ तीर्थवन्दनार्थ चले ।

विधिजिन-घर में अविधि की प्रवृत्ति सत्तु में घी ढलने जैसी बात है । २४ वें पद्य में विधिधर्मियों की इस फरियाद पर कि "राजा ने दसही विधि-चैत्य अविधि करने वालों के हवाले दे दिये हैं ।" आचार्य कहते हैं -- यद्यपि राजा ने दुष्षम काल के वश हो दश विधि-चैत्य तुमसे ले लिए हैं, तथापि धार्मिकों को उनमें जाकर विधि-चैत्य का ही व्यवहार करना चाहिए, भले ही वे सब लाठियों के साथ सामना करने को खड़े हो ।

"धम्मिउ धम्मुकज्जु साहंतउ, परू मारइ कीवइ जुज्झन्तउ ।
तुवि तसु धम्मु अत्थि नहु नासइ, परम पइ निवसइ सो सासइ ॥२६॥
(अपभ्रंश का० त्र० पृ० ४२)

ऊपर के पद्य में आचार्य ने धार्मिकों को उत्साहित करते हुए कहा है -- धर्मकार्य को साधन करते हुए धार्मिकों को कोई क्रोध के वश हो मार डाले तब भी उसका धर्म नहीं जाता और वह मर कर शाश्वत पद अर्थात् "मोक्ष स्थान में निवास करता है ।"

जिनदत्तसूरि के उपर्युक्त प्रकार के उपदेशों से ही उनके पाटन के विहार पर प्रतिबन्ध लगाया गया था और कुमारपाल के राजस्वकाल में तो केवल जिनदत्त तथा इनके अनुयायियों का ही नहीं, पौर्णमिक, आंचलिक, विधिधर्म प्रवर्तक आदि सभी नये गच्छ वालों का पाटन में आना बन्द हो गया था । कुमारपाल के स्वर्गवास के बाद १२३६ में एक पौर्णमिक साधु पाटन में आया और पता लगने पर राजकर्मचारियों ने पूछा -- कि "तुम पौर्णमिक गच्छ के हो," उसने कहा -- "मैं पौर्णमिक नहीं हूं, मैं तो साधु-पौर्णमिक हूं." इस प्रकार पौर्णमिक से अपने को जुदा बताने पर ही उसे पाटन में ठहरने दिया, कुमारपाल के राज्य तक ही नहीं उसके बाद द्वितीय भीमदेव के राज्य तक उक्त पौर्णमिक खरतर आदि गच्छों का पाटन में आना जाना बन्द था ।

अजमेर से जिनपतिसूरि के भक्तों ने शत्रुञ्जय आदि तीर्थों की यात्रा के लिए संघ की तैयारी कर रक्खी थी और गुजरात के राजा पर अर्जी लिखने पर गुजरात में होकर संघ के जाने की आज्ञा भी मिल सकती थी, परन्तु सवाल यह था कि पाटन में संघ के जाने पर "खरतर आचार्य को" नगर में आने का मनाई हुक्म हो जाय तो मुश्किली खड़ी हो सकती है, इस भविष्य की चिन्ता को लक्ष्य में

अजमेर के संघ की बात चारों ओर फैली और विक्रमपुर, उच्चा, मरुकोट, जैसलमेर, फलोधी, दिल्ली, वागड़, मण्डोवर आदि नगरों के रहने वाले यात्रियों के समूह आ मिले। श्रीपूज्य भी अपने विद्या-तपो आदि गुणों से स्थान-स्थान में जैन प्रवचन की शोभा बढ़ाते हुए, संघ के साथ चन्द्रावती पहुंचे। वहां पर पूर्णिमा-पक्ष के आचार्य "अकलंकदेवसूरि" ने भी ज्ञानगोष्ठी करते हुए जिनपतिसूरि को पूछा कि "क्या साधु को तीर्थ-यात्रा के लिए घूमना शास्त्रोक्त है?" श्रीपूज्य ने कहा – "कारणवश

रखकर पाटन निवासी विधि-धर्म का अनुयायी एक भणशाली गृहस्थ किसी बड़े आदमी को कहकर खरतराचार्यों का पाटन में आना जाना शुरु करवाना चाहता था। एक दिन वह भांडशालिक गृहस्थ व्यवहारी साधु अभयकुमार सेठ के साथ बैठा हुआ था, सेठ को प्रसन्नचित्त देखकर उसने अभयकुमार को सम्बोधित किया – "अभयकुमार! तव सौजन्येन, तव कोटिसंख्यद्रव्याधिपत्येन, तव राज्यमान्यतया किमस्माकं फलं! यत्त्वमस्मद्गुरून् श्री उज्जयन्त-शत्रुञ्जयादितीर्थेषु यात्रा न कारयसि?" भणशाली के उपर्युक्त शब्द जो अपने सम्बन्धी अभयकुमार को उपालम्भ पूर्वक कहे गए हैं, इससे यही सूचित होता है कि अभयकुमार सेठ जैसे राजमान्य और धनाढ्य गृहस्थों के बिना पाटन में आने जाने का मार्ग खुलना कठिन था, अपने सांसारिक सम्बन्धी की इस प्रार्थना पर अभयकुमार ने तुरंत ध्यान दिया और संघ को गुजरात आने की आज्ञा के अतिरिक्त उनके साथ जो आचार्य आदि हों उनको भी किसी प्रकार की रोक टोक न होने की वाचिक मञ्जूरी ले ली और उसकी सूचना अजमेर के संघ और जिनपतिसूरिजी को अपने पत्रों द्वारा दे दी, यह कार्य अभयकुमार ने अच्छा ही किया, राजकीय आज्ञा, निषेध, परिस्थितियों के वश होते हैं तो परिस्थिति के बदलने पर, उनको बदलना ही चाहिए, परन्तु पाटन नगर अनेक गच्छों का केन्द्रस्थान था। खरतर, पौर्णमिक आदि सुधारक गच्छों से पुराने गच्छ नाराज तो थे ही फिर वे पुरानी राजाज्ञाओं को क्यों शिथिल होने देते? खरतरगच्छ वालों के लिए तो १३ वीं शती के मध्यभाग में ही मार्ग खुल गया था, परन्तु पौर्णमिक, आंचलिक, गच्छ वाले तो जब तक पाटन में राजपूतों का राज्य रहा तब तक पाटन से दूर-दूर ही फिरते थे। जब पुराने पाटन का मुसलमानों के आक्रमण से भंग हुआ और मुसलमानों ने वहां अपना राज्य जमा कर नया पाटन बसाया तब से पौर्णमिक आदि पाटन में प्रवेश कर पाए थे। ★

मुझे आचार्य-पद पर बैठा दिया है, इसलिए संघ के साथ विचरता हुआ अज्ञात देशों की भाषा से भी परिचित हो जाऊंगा और साथ-साथ तीर्थ-यात्रा भी हो जायगी। इसके अतिरिक्त संघ ने अत्यन्त प्रार्थना की कि प्रभो! अनेक चार्वाक लोकों से भरी हुई गुर्जर भूमि में तीर्थ आए हुए हैं, हम वहां तीर्थ-यात्रार्थ जाते हैं। कोई नास्तिक हमारे सामने तीर्थ-यात्रा का निषेध प्रमाणित करेगा तो हम अज्ञानी उसको क्या उत्तर देंगे, इसलिए आप संघ के साथ अवश्य पधारें ताकि जिनशासन का लाघव न हो, इसलिए हम संघ के साथ जा रहे हैं।" श्री अकलंकदेवसूरिजी ने जिनपति-सूरिजी के इस उत्तर को योग्य माना। दोनों आचार्यों के बीच देर तक ज्ञान-गोष्ठी होती रही। भिक्षा का समय हो जाने पर अकलंकसूरि अपने स्थान पर गए।

दूसरे दिन जिनपतिसूरि संघ के साथ कासह्रद गए। वहां पौर्णमिक आचार्य श्रीतिलकप्रभ अनेक साधुओं के साथ संघ के स्थान पर आए। परस्पर सुखवार्तादि शिष्टाचार हुआ और तिलकप्रभ के साथ श्रीपूज्य ने ज्ञानगोष्ठी की। अन्त में तिलकप्रभसूरि ने भी श्रीपूज्य की प्रशंसा की।

वहां से संघ आशापल्ली पहुंचा, वहां श्रावक क्षेमकर अपने संसारी पुत्र प्रद्युम्नाचार्य को वन्दनार्थ वादिदेवाचार्य सम्बन्धी पौषधशाला में गया। वन्दन के बाद प्रद्युम्नाचार्य ने क्षेमंकर को कहा – जिनपतिसूरि को गुरु के रूप में स्वीकार कर अच्छा नहीं किया। क्षेमंकर ने कहा – मेरी समझ से तो मैंने अच्छा ही किया है। प्रद्युम्नसूरि ने कहा – मरुस्थली के जड़ लोगों को पाकर आपके गुरु ने अपने को सर्वज्ञ मान लिया है सो ठीक है, क्योंकि "निर्वृक्षे देशे एरण्डोऽपि कल्पवृक्षायते" परन्तु तुम्हारे जैसे देवसूरि के वचनामृत का पान करने वाले समझदारों का मनोभाव बदल गया, इससे हमारा दिल दुःखता है।

वहां से आगे बढ़कर संघ ने स्तम्भनक, गिरनार आदि तीर्थों की यात्रा की। मार्ग की तकलीफ के कारण संघ शत्रुञ्जय नहीं गया।

यात्रा से लौट कर संघ वापस आशापल्ली आया। इस समय क्षेमंकर ने जिनपति के साथ प्रद्युम्नाचार्य का शास्त्रार्थ होने की बात

फैलाई[1] और दोनों को आमने-सामने भिड़ाया। शास्त्रार्थ का नाटक हुआ और जिनपति ने कहा– दूसरे सिद्धान्त-ग्रन्थ तो दूर रहो, हम "ओघनिर्युक्ति" के प्रमाणों से देवगृह तथा जिनप्रतिमा को अनायतन प्रमाणित कर दें तो हमारी जीत मानी जायगी ? प्रद्युम्नसूरि ने कहा – प्रमाण, परन्तु अभी टाइम बहुत हो गया है, आगे बात कल प्रभात को होगी।

प्रद्युम्नाचार्य ने रात्रि के समय अपने पक्ष के आचार्य और पण्डितों के साथ प्रदीप के प्रकाश में "ओघ-निर्युक्ति" सूत्रवृत्ति के पुस्तक पढ़े, परन्तु

---

१. क्षेमंकर यद्यपि प्रद्युम्नाचार्य का पिता लगता था, तथापि वह स्वयं खरतरगच्छ का अनुयायी बन चुका था और अपने पुत्र प्रद्युम्नाचार्य को किसी प्रकार खरतरगच्छ में खींचना चाहता था। प्रद्युम्नाचार्य एक विद्वान् आचार्य थे, आशापल्ली के लोग उन पर मुग्ध थे। क्षेमंकर ने उन्हें शास्त्रार्थ के नाम पर प्रपंच में फंसा दिया। कैसा भी विद्वान् क्यों न हो वह झूठे जाल में फंसकर अपमानित हो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। जिनपतिसूरि के भक्त "जिनहितोपाध्याय" और "रामदेव" जैसे गृहस्थ जाल बिछाने में सिद्धहस्त थे। अजमेर में ऊकेशगच्छीय आचार्य पद्मप्रभ को इसी प्रकार के जाल में फांसकर अपमानित किया था, अजमेर के राजा पृथ्वीराज के परिकर को जिनमें से अनेक पद्मप्रभाचार्य के पुराने भक्त थे, धन की थैलियां पाकर पद्मप्रभाचार्य के विरुद्ध हो चुके थे, जिस बात की पद्मप्रभाचार्य ने पृथ्वीराज के सामने सभा में खुल्ली शिकायत की थी, आचार्य ने कहा – "महाराज! मण्डलेश्वरो लञ्चाग्रहण एव प्रवीणो न गुणिनां गुणग्रहणे" अर्थात् हे राजा साहब! आपका माण्डलेश्वर कई मास लांच लेने में ही प्रवीण है गुणी के गुण ग्रहण करने में नहीं, इस प्रकार राजा के सामने शिकायत होने पर भी राजा ने उस तरफ कुछ ध्यान नहीं दिया। शास्त्रार्थ करने के लिए इस प्रकार की सभाएं नहीं होती, उसमें प्रमुख होता है, मध्यस्थ सभ्य होते हैं, वादी प्रतिवादी के वक्तव्यों को लेखबद्ध कर उनके ऊपर से फैसला देने वाले निर्णायक होते हैं, अजमेर की शास्त्रार्थसभा क्या थी, तमाशा करने वालों का थियेटर था। तमाशबीन लोग इकट्ठे हो जाते, शास्त्रार्थ करने वाले मुख से असभ्य वचन निकालकर विरोधी को अपमानित करते थे, राजा साहब सभा में आते और पूछते – कैसे कौन जीता ? कौन हारा ? उनके गुर्गे जिनकी तरफ से पेट भर जाता, उनकी तरफ अंगुली कर कहते – ये जीते और उनकी जय

"अनायतन" प्रतिपादक स्थान नहीं मिला। श्रीपूज्य के पास उन्होंने मनुष्य भेजा और पूज्य ने उनकी पृच्छा के अनुसार "ओघनिर्युक्ति" का उद्देश कहा, प्रद्युम्नसूरि आदि ने पूज्य के कथनानुसार उद्देश की गवेषणा करते हुए वह स्थल पाया। अनायतन प्रतिपादक गाथा-सम्बद्ध-वृत्ति के अक्षर अन्य गाथाक्षरों के साथ मिला कर उन पर विचार किया। प्रातः समय प्रद्युम्नाचार्य अभयड दण्डनायक के साथ जिनपतिसूरि के स्थान पर

जयकार पुकारते, क्या वादसभाओं का यही पोजिशन होता है? अजमेर में इसी प्रकार की धांधागर्दी से पद्मप्रभाचार्य को अपमानित किया था।

सभा शास्त्रार्थ का मनचाहा वर्णन करने के बाद गुर्वावलीकार लिखता है—
"दिनद्वयानन्तरं प्रतिज्ञातार्थनिर्वाहकः सबलवाहनो महाराजाधिराजश्री-पृथ्वीराजः श्री अजयमेरौ निजधवलगृहे समागत्य ततः स्थानाद्धस्तिस्कन्धा-धिरूढेन जयपत्रेण सह पौषधशालायामागतो ददौ च जयपत्रं श्रीपूज्यानां हस्ते। पठितश्चाशीर्वादः श्रीपूज्यैः श्रावकैश्च कारित महावर्धापनकं, तस्मिंश्च वर्धापनके श्रे० रामदेवेनात्मगृहात् पारुत्थद्रम्माः षोडश सहस्राणि व्ययीकृताः।"

अजमेर के राजा साहब हाथी पर आरूढ़ होकर जिनपतिसूरिजी को उनके स्थान पर "जयपत्र" देने जाते हैं, सूरिजी राजा साहब को आशीर्वाद देते हैं और सूरिजी के भक्त बधाई बांटते हैं, सूरिजी के भक्त सेठ रामदेव अपने घर से सोलह हजार रुपया खर्च करते हैं।

यहां कोई गुर्वावलीकार को पूछे कि आपके आचार्य की विजय पर नगर में वर्धापन तो श्रावकों ने ही किया था। तब सेठ रामदेव के घर से खर्च होने वाले १६०००) सोलह हजार रुपया किस मार्ग से गया, इसका कोई उत्तर दे सकता है? जिस प्रकार से अजमेर में धांधागर्दी से पद्मप्रभाचार्य का अपमान किया गया, उसी प्रकार से आशापल्ली में प्रद्युम्नाचार्य को कृत्रिम प्रमाण उपस्थित करके अपनी जीत दिखाई गई, दो पत्र छिपाने का जो हो हल्ला मचाया था, वास्तव में वे दो पत्र "ओघनिर्युक्ति" की वृत्ति में घुसेड़े हुए थे, उनका तथा मूल वृत्ति का सम्बन्ध ठीक ढंग से न बैठने के कारण प्रद्युम्नसूरि दो पत्रों को एक तरफ रखकर अगले पत्र के साथ पूर्वपत्र का सम्बन्ध मिलता है या नहीं इसकी जांच कर रहे थे, इतने में जिनहितोपाध्याय ने पाने छिपाने का जो हल्ला मचाया, वीरनाग जैसे ने चोरी करने के दण्ड की बात चलाई और हण्टर चलने लगे। क्या शास्त्रार्थ-सभाएं इसी

भाए और निचली भूमिका पर बैठे। जिनपति भी ऊपर से सपरिवार नीचे माए, संस्कृत भाषा में चर्चा का प्रारम्भ हुमा।

श्री जिनपतिसूरिजी ने प्रद्युम्नाचार्य की प्रत्येक युक्ति का खण्डन कर खरतर मार्ग का स्थापन किया। चर्चा के आखिरी भाग में "ओघ-निर्युक्ति" में से "आयतन अनायतन" सम्बन्धी अधिकार पढ़ने का कार्य प्रद्युम्नाचार्य को सौंपा गया। अधिकार पढ़ते-पढ़ते प्रद्युम्नाचार्य ने वृत्ति के दो पत्र छोड़कर अगला पत्र पढ़ना शुरु कर दिया उस समय पूज्य के पास बैठे हुए जिनहितोपाध्याय ने हाथ पकड़ कर कहा – आचार्य पहले के दो पत्र पढ़ने के बाद यह पत्र पढ़ने का है। प्रद्युम्नाचार्य व्याकुल हो गये थे, इधर-उधर के पत्र उलटने लगे, तब "श्रीमाल वंशीय वीरनाग ने

प्रकार की होती हैं ? जिनपतिसूरि के भक्त अपने आचार्य को 'राजसभा में छत्तीस वाद जीतने वाला' इस विशेषण से उल्लिखित करते हैं, दो सभाओं के वाद का वर्णन तो हम पढ़ चुके हैं, यदि इसी प्रकार की शेष चौतीस सभाओं में जिनपति-सूरिजी ने विजय पायी हो तो हमें कुछ कहने की जरूरत नहीं है।

ग्यारहवीं शती के उत्तरार्ध से जब से जिनेश्वरसूरि तथा इनके शिष्यों ने चैत्य-वासियों के विरुद्ध प्रचार शुरू किया था, तब से आज तक कई कृत्रिम गाथाओं कृत्रिम कुलकों और कृत्रिम ग्रन्थों का निर्माण हुआ, जिनमें न कर्त्ता का नाम है, न ग्रन्थ का नाम, कृत्रिम नामों से गाथा, श्लोक, कुलक, बनते ही जाते हैं, यह दुःख का विषय है, इस प्रकार अप्रामाणिकता को धारण कर विरोधी को नीचा दिखाना किसी प्रकार से उचित नहीं कहा जा सकता।

"ओघनिर्युक्त वृत्ति" के नाम पर गुर्वावलीकार ने ४६ से ५७ के अंक वाली जिन ८ गाथाओं को उद्धृत किया है, उनमें से अधिक गाथाएं कृत्रिम हैं, "ओघनिर्युक्ति" में अथवा उसकी वृत्ति में उक्त गाथाएं दृष्टिगोचर नहीं होती, जिनेश्वरसूरि की परम्परा के विद्वानों द्वारा निर्मित ग्रन्थों में अथवा उनकी वृत्तियों में ये गाथाएं बहुधा देखी जाती हैं, जैसे "धर्मरत्न-प्रकरण" की स्वोपज्ञ वृत्ति में, इन गाथाओं द्वारा प्रद्युम्नाचार्य को जीतने की बात एक प्रकार का षड्यन्त्र ही प्रतीत होता है, विधिधर्मियों के द्वारा संगठित इस प्रकार के प्रपंचों से जैन साहित्य पर्याप्त दूषित हुआ है, हम आशा करते हैं कि खरतरगच्छ के विद्वान् साधु तथा भक्त श्रावक मेरी इस चुनौती को ध्यान में लेंगे तो भविष्य में इस विषय पर अधिक लिखने का प्रसंग नहीं आयेगा।

★

अभय दण्डनायक को कहा – क्या तुम्हारे नगर में उसी को दण्ड दिया जाता है जो रात को चोरी करता है, दिन में चोरी करने वालों को अपराधी नहीं माना जाता ? अभय दण्डनायक ने कहा – हे हेडावाहक ! तुमने क्या कहा ? वीरनाग ने कहा – देखो देखो, आचार्य ने दो पत्र छिपा दिये। यह सुनते ही दण्डनायक ने उसके पीठ पर चमड़े से मढ़ा बेंत जमा दिया। जिनपतिसूरि ने "ओघनिर्युक्ति वृत्ति" में से "णाणस्स दसणस्स य" इत्यादि आठ गाथाओं का व्याख्यान करते हुए "जिनचैत्य" तथा "जिनप्रतिमा" को "अनायतन प्रमाणित किया" और प्रद्युम्नाचार्य ने मौन धारण किया। थोड़ी देर के बाद जिनपतिसूरिजी के आगे उन्होंने कहा – आचार्य ! हमारे नाम वाले पराजयसूचक रास, काव्य, चौपाई न बनवानी चाहिये, न पढ़वानी चाहिये। श्री पूज्य ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार किया, संघ में महान् आनन्द उमड़ पड़ा। श्री पूज्य, साधु और श्रावक समुदाय के साथ अपने उपरितन स्थान पहुँचे। प्रद्युम्ना-चार्य भी लज्जावश नीचे देखते हुए अपनी पोषधशाला में गए।

संघ के अन्दर और बाहर बड़ा आनन्द फैला। भां० शालिक, वैद्य सहदेव, ठ० हरिपाल, सा० क्षेमंकर, सा० सोमदेवादि समुदाय ने बड़े ठाट के साथ वर्द्धापन कराया। इस समय दण्डनायक अभय ने सोचा – ये यहां से आगे जाकर मेरे गुरु के पराजय की बात तो अवश्य करेंगे, इसलिए इन्हें यहीं कुछ शिक्षा करलूँ। मालव देश की तरफ गुजरात का लश्कर गया हुआ था, अपनी तरफ से एक विज्ञप्ति पत्र देकर एक मनुष्य को जगद्देव प्रतीहार के पास भेजा। इधर दूसरे ही दिन संघ में राजाज्ञा जाहिर की "महाराजाधिराज भीमदेव की आज्ञा है कि इस स्थान से हमारी आज्ञा से ही तुम जा सकते हो" उक्त आज्ञा जारी करने के साथ ही, संघ की निगरानी के लिए अभय ने गुप्त रूप से १०० राजपूतों को नियत कर दिया। संघ में से भण्डशालिक, वैद्य सहदेव, व्य० लक्ष्मीधर, ठ० हरिपाल, सा० क्षेमंधर आदि श्री पूज्य के पास गए और अभयड दण्डनायक के दुष्ट अभिप्राय की सूचना की। श्री पूज्य ने कहा – कुछ भी चिन्ता न करो, श्री जिनदत्तसूरिजी की कृपा से सब अच्छा होगा। परन्तु सब संघ

के मनुष्य भगवान् श्री पार्श्वनाथ की आराधना, स्नात्र-पूजा आदि धर्म-कृत्यों में तत्पर हो जाओ। श्रीपूज्य के उपदेशानुसार संघ धर्म में उद्यत हो गया। सुखपूर्वक १४ दिन बीत गये, पर वहां से कोई निकल नहीं सका, उधर अभयड का भेजा हुआ मनुष्य लश्कर में आ पहुँचा और अपने स्वामी अभयड की विज्ञप्ति जगद्देव के चरणों में रक्खी। पारिग्रहिक ने लेख पढ़ा और तुरन्त जगदेव ने अपने पारिग्राहक के हाथ से राजादेश लिखवाया और उसके साथ मनुष्य को वापिस भेज दिया। राजादेश दण्डनायक के हाथ पहुंचा और पढ़कर तुरन्त संघ को हिरासत से मुक्त किया।

वहां से संघ अणहिल-पाटण पहुँचा। पाटन में श्रीपूज्य ने अपने गोत्रीय ४० आचार्यों को अपनी भोजन-मण्डली में भोजन करवाया और वस्त्रदान पूर्वक सन्मान किया।

वहां से संघ के साथ श्री पूज्य चलते हुए लवणखेट पहुंचे। वहां पूर्णदेव गणि, मानचन्द्र गणि, गुणभद्र गणि को वाचनाचार्य पद दिया।

सं० १२४५ के फाल्गुन में पुष्करिणी में धर्मदेव, कुलचन्द्र, सहदेव, सोमप्रभ, सूरप्रभ, कीर्तिचन्द्र, श्रीप्रभ, सिद्धसेन, रामदेव और चन्द्रप्रभ को तथा संयमश्री, शान्तमति और रत्नमति को दीक्षा दी।

सं० १२४६ में पाटन में श्री महावीर की प्रतिमा स्थापन की।

सं० १२४८ में जिनहित को लवणखेट में उपाध्याय-पद दिया।

सं० १२४९ में पुष्करिणी में मलयचन्द्र को दीक्षा दी।

सं० १२५० में विक्रमपुर में पद्मप्रभ साधु को आचार्य-पद दिया और 'श्री सर्वदेवसूरि' यह नाम रक्खा।

सं० १२५१ मंडोवर में लक्ष्मीधर आदि अनेक श्रावकों को माला-रोपादि किया। वहां से अजमेर गए। अजमेर में उन दिनों म्लेच्छों का उपद्रव था, दो मास बड़े कष्ट से निकाले। वहां से चलन आकर भीमपल्ली

में चातुर्मास्य किया। कूईप गांव में जिनपाल गणि को वाचनाचार्य-पद दिया, "लवणखेड़ा में राणा श्री केल्हण के समझौते और उपरोध से दक्षिणावर्त आरती उतारना, मान्य किया।"

सं० १२५ में पाटन में विनयानन्द गणि को दीक्षा दी।

सं० १२५३ में भाण्डारिक नेमिचन्द्र श्रावक को प्रतिबोध दिया, और पतन भंग के बाद घाटी गांव में चातुर्मास्य किया।

सं० १२५४ में धारानगरी के शान्तिनाथ देवालय में विधि का प्रवर्तन किया और तर्कोपन्यासों द्वारा महावीर नामक दिगम्बर को खुश किया, रत्नश्री प्रवर्तिनी को दीक्षा दी। नागह्रद में चातुर्मास्य किया।

सं० १२५६ में लवणखेट में नेमिचन्द्र, देवचन्द्र धर्मकीर्ति और देवेन्द्र नामक साधुओं का दीक्षा हुई।

सं० १२५७ में श्री शान्तिनाथ देवालय में प्रतिष्ठा का आरम्भ अच्छे शकुन न होने के कारण आगे रक्खा।

सं० १२५८ चैत्र वदि ५ शान्तिनाथ विधिचैत्य में, शान्तिनाथ प्रतिमा और शिखर प्रतिष्ठित किया, चैत्र वदि २ को वीरप्रभ और देवकीर्ति गणी को दीक्षित किया।

सं० १२६० आषाढ वदि ६ वीरप्रभ और देवकीर्ति गणी की उपस्थापना की और सुमतिगणि, पूर्णभद्रगणि को दीक्षा दी, आनन्दश्री को महत्तरा-पद दिया, जयसलमेर के देवालय में फाल्गुन शु० २ को पार्श्वनाथ प्रतिमा स्थापित की।

सं० १२६३ फाल्गुन वदि ४ को लवणखेड़ में महावीर प्रतिमा की प्रतिष्ठा की, नरचन्द्र, रामचन्द्र, पूर्णचन्द, तथा विवेकश्री, मंगलमति, कल्याणश्री, जिनश्री की दीक्षा हुई और धर्मदेवी को प्रवर्तिनी-पद दिया।

सं० १२६५ में मुनिचन्द्र, मानभद्र गणि तथा सुंदरमति, रासमति की दीक्षा हुई।

सं० १२६६ में विक्रमपुर में भावदेव, जिनभद्र, विजयचन्द्र को दीक्षित किया, गुणशील को वाचनाचार्य-पद दिया और ज्ञानश्री को दीक्षा दी।

सं० १२६६ में जालोर के विधिचैत्य में महावीर प्रतिमा की स्थापना की, जिनपाल गणि को उपाध्याय-पद दिया, धर्मदेवी प्रवर्तिनी को महत्तरा-पद दिया और प्रभावती नाम रक्खा। महेन्द्र, गुणकीर्ति, मानदेव तथा चन्द्रश्री केवलश्री को दीक्षा दी, वहां से विक्रमपुर की तरफ विहार किया।

सं० १२७० बागड़ को तरफ विहार किया, दारिद्रेरक में सैकड़ो श्रावक श्राविकाओं ने सम्यक्त्व तथा मालारोपण किया तथा उपाध्याय आदि धर्मकृत्य किये।

सं० १२७१ में बृहद्द्वार में धूमधाम के साथ प्रवेश किया, दारिद्रेरक की तरह यहां भी नन्द्यादिक हुए। सं० १२७३ में बृहद्द्वार में लौकिक दशाहिक पर्व, गंगा की यात्रा के लिए जाते हुए अनेक राणा, नगरकोटीय राजाधिराज पृथ्वीचन्द्र के साथ आये हुए काश्मीरी पण्डित मनोदानन्द के साथ श्री जिनपालोपाध्याय का शास्त्रार्थ हुआ और पृथ्वीचन्द्र से जयपत्र प्राप्त किया।

सं० १२७३ के ज्येष्ठ वदि १३ को जिनपालोपाध्याय को जयपत्र मिलने के उपलक्ष्य में वर्द्धापनक किया गया। बृहद्द्वार से आते हुए रास्ते में भावदेव मुनि को दीक्षा दी और दारिद्रेरक में चातुर्मास्य किया।

सं० १२७५ में ज्येष्ठ सुदि १२ को जालोर में भुवनश्री गणिनी, जगमति, मंगलश्री तथा विमलचन्द्र गणि पद्मदेव गणि की दीक्षा हुई।

सं० १२७७ में पालनपुर में प्रभावना हुई, कालान्तर में नाभि के निचले भाग में गांठ उत्पन्न होने की वेदना से मूत्रसंग्रहादि रोग आदि से अपना आयुष्य निकट समझकर अपने अनुयायियों को सान्त्वन और प्रोत्साहन देकर सं० १२७७ के आषाढ सुदि १० के दिन श्री जिनपति-सूरि स्वर्गवासी हुए।

(६) श्री जिनेश्वरसूरि –

सं० १२७८ के माघ सुदि ६ को जालोर में जिनपतिसूरि के पट्टपर आचार्य सर्वदेवसूरि ने वीरप्रभ गणि की पदस्थापना की और "जिनेश्वर-सूरि" यह नाम रक्खा, माघ सुदि ९ के दिन यशकलश, विनयरुचि, बुद्धिसागर, रत्नकीर्ति, तिलकप्रभ, रत्नप्रभ और अमरकीर्ति गणि को जालोर में दीक्षा दो।

बाद में वहां के यशोधवल के साथ विहार कर श्रीमाल जाति के श्री विजयहेमप्रभ, श्री तिलकप्रभ, विवेकप्रभ तथा चारित्रमाला गणिनी, सत्यमाला गणिनी इन सब को ज्येष्ठ सुदि १२ के दिन दीक्षा दी। आगे आषाढ़ सुदि १० को श्रीमाल में समवसरण प्रतिष्ठा तथा शान्ति-नाथ स्थापना की, जालोर में देवगृह का प्रारंभ हुआ। सं० १२७९ के माघ सुदि ५ को अर्हद्दत्त गणि, विवेकश्री गणिनी, शीलमाला गणिनी, चन्द्रमाला गणिनी और विनयमाला गणिनी की जालोर में दीक्षा हुई।

सं० १ ८० के माघ सुदि १२ को श्रीमाल में शान्तिनाथ-भवन पर ध्वजारोप और ऋषभनाथ, गौतमस्वामी, जिनपतिसूरि, मेघनाद क्षेत्र-पाल और पद्मावती देवी की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की। फाल्गुन वदि १ को कुमुदचन्द्र, कनकचन्द्र, तथा पूर्णश्री गणिनी, हेमश्री गणिनी की दीक्षा हुई।

सं० १२८० के वैशाख सुदि १४ के दिन पालनपुर के स्तूप में जिनहितोपाध्याय ने जिनपतिसूरि की प्रतिमाप्रतिष्ठा की।

सं० १२८१ के वैशाख सुदि ६ को जालोर में विजयकीर्ति, उदय-कीर्ति, गुणसागर, परमानन्द और कमलश्री गणिनी की दीक्षा हुई, वहीं पर ज्येष्ठ सुदि ९ को महावीर भवन पर ध्वजारोप हुआ।

सं० १२८३ के माघ वदि २ को बाड़मेर के ऋषभदेव भवन पर ध्वजारोप हुआ, माघ वदि ६ को सूरप्रभ को उपाध्याय-पद और मंगल-

मति गणिनी को प्रवर्तिनी-पद दिया, वीर कलशगणि, नन्दिवर्द्धन और विजयवर्द्धन की दीक्षा हुई ।

सं० १२८४ में बीजापुर में वासुपूज्य की स्थापना हुई और आषाढ सुदि २ को अमृतकीर्ति गणि, सिद्धकीर्ति गणि और चरित्रसुन्दरी तथा धर्मसुन्दरी गणिनी की दीक्षा हुई ।

सं० १२८५ ज्येष्ठ सुदि २ को कीर्तिकलश गणि, पूर्णकलश और उदयश्री गणिनी की दीक्षा, ज्येष्ठ सुदि ६ को वासुपूज्य भवन पर ध्वजारोप और सं० १२८६ के फाल्गुन वदि ५ को बीजापुर में विद्याचन्द्र, न्यायचन्द्र, अभयचन्द्र गणि की दीक्षा ।

सं० १२८७ के फाल्गुन सुदि ५ को पालनपुर में जयसेन, देवसेन, प्रबोधचन्द्र, अशोकचन्द्र गणि और कुलश्री गणिनी तथा प्रमोदश्री गणिनी की दीक्षा ।

सं० १२८८, भाद्रपद सुदि १० को जालोर में स्तूपध्वज-प्रतिष्ठा और आश्विन सुदि १० को स्तूपध्वजारोप पालनपुर में और पौष सुदि ११ जालोर में शरच्चन्द्र, कुशलचन्द्र, कल्याणकलश, प्रसन्नचन्द्र, लक्ष्मीतिलक गणि, वीरतिलक, रत्नतिलक और धर्ममति, विनयमति गणिनी, विद्यामति गणिनी और चारित्रमति गणिनी की दीक्षा ।

सं० १२८८ (९) को चित्तौड़ में ज्येष्ठ सुदि १२ को अजितसेन, गुणसेन, अमृतमूर्ति, धर्ममूर्ति तथा राजीमति, हेमावलि, कनकावलि, रत्नावलि गणिनी, मुक्तावलि गणिनी की दीक्षा । आषाढ़ वदि २ ऋषभदेव, नेमिनाथ और पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा ।

सं० १२८९ उज्जयन्त, शत्रुञ्जय, स्तम्भनक तीर्थों की यात्रा की । स्तम्भतीर्थ में वादियमदण्ड नामक दिगम्बर के साथ गोष्ठी, नगर-प्रवेश में सपरिवार महामात्य श्री वस्तुपाल श्रीपूज्य के सामने गया ।

सं० १२९१ वैशाख सुदि १० को जालोर में यतिकलश, क्षमाचन्द्र, शीलरत्न, धर्मरत्न, चारित्ररत्न, मेघकुमार गणि, अभयतिलक गणि,

श्रीकुमार तथा शीलसुन्दरी गणिनी और चन्दनसुन्दरी की दीक्षा। ज्येष्ठ बदि २ मूलार्क में श्री विजयदेवसूरि को आचार्य-पद प्रदान।

सं० १२९४, श्री संघहितोपाध्याय को पद प्रदान।

सं० १२९६ फाल्गुन वदि ५ पालनपुर में प्रमोदमूर्ति, प्रबोधमूर्ति और देवमूर्ति गणि को दीक्षा। ज्येष्ठ सुदि १० को श्री शान्तिनाथ की प्रतिष्ठा। सं० १२९७ में चैत्र सुदि १४ को देवतिलक, धर्मतिलक की दीक्षा।

सं० १२९८ वैशाख की ११ को जालोर में ध्वजदण्डारोप कराया। सं० १२९९ प्रथम आश्विन वदि २ को मन्त्री कुलधर की दीक्षा, नाम कुलतिलक मुनि।

सं० १३०४ वैशाख सुदि १४ को विजयवर्द्धन गणि को आचार्य-पद, जिनरत्नाचार्य नाम दिया। त्रिलोकहित, जीवहित, धर्माकर, हर्षदत्त, संघप्रमोद, विवेकसमुद्र, देवगुरुभक्त, चारित्रगिरि, सर्वज्ञभक्त और त्रिलोकानन्द की दीक्षा हुई।

सं० १३०५ आषाढ़ सुदि १० को पालनपुर में महावीर, ऋषभनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ के बिम्बों की और नन्दीश्वर की प्रतिष्ठा की।

सं० १३०६ में ज्येष्ठ सुदि १३ को श्रीमाल में कुन्थुनाथ, अरनाथ की प्रतिमा-प्रतिष्ठा और दूसरी बार ध्वजारोपण करवाया।

सं० १३०९ मार्गशीर्ष सुदि १२ को पालनपुर में समाधिशेखर, गुणशेखर, देवशेखर, साधुभक्त और वीरवल्लभ मुनि तथा मुक्तिसुन्दरी साध्वी की दीक्षा और उसी वर्ष में माघ सुदि १० को शान्तिनाथ, अजितनाथ, धर्मनाथ, वासुपूज्य, मुनिसुव्रत, सीमन्धर स्वामी और पद्मनाभ की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराई। उसी वर्ष बाडमेर में आदिनाथशिखर पर दण्डकलश प्रतिष्ठित किए।

सं० १३१० वैशाख सुदि ११ जालोर में चारित्रवल्लभ, हेमपर्वत, अचलचित्त, लाभनिधि, मोदमन्दिर, गजकीर्ति, रत्नाकर, गतमोह, देवप्रमोद,

वीराणन्द, विगतदोष, राजललित, बहुचरित्र, विमलप्रज्ञ और रत्ननिधान इन १५ साधुओं को दीक्षित किया। वहीं पर वैशाखी १३ स्वाति शनिवार के दिन श्री महावीर विधिचैत्य में २४ जिनालय, सप्ततिशत, सम्मेत, नन्दीश्वर, तीर्थंकरमातृ, श्री नेमिनाथ, महावीर, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ, सुधर्म स्वामी, जिनदत्तसूरि, सीमन्धर स्वामी, युगमन्धर स्वामी प्रभृति की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा हुई। प्रमोदश्री गरिणनी को महत्तरा-पद और लक्ष्मीनिधि नाम रक्खा और ज्ञानमाला को प्रवर्तिनी-पद दिया।

सं० १३११ के वैशाख सुदि ६ को पालनपुर में चन्द्रप्रभ चैत्य में भीमपल्लीय प्रासाद स्थित श्री महावीर प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवाई और पालनपुर में उपाध्याय जिनपाल का अनशन पूर्वक स्वर्गगमन।

सं० १३१२ के वैशाख सुदि १५ को चन्द्रकीर्ति को उपाध्याय-पद देकर चन्द्रतिलकोपाध्याय नाम रक्खा और प्रबोधचन्द्र गरिण को तथा लक्ष्मीतिलक गरिण को वाचनाचार्य-पद दिये। ज्येष्ठ वदि १ को उपशम-चित्त, पवित्रचित्त, आचारनिधि और त्रिलोकनिधि की दीक्षा हुई।

सं० १३१३ फाल्गुन सुदि ४ जालोर में किले पर के बड़े मन्दिर में शान्तिनाथ की स्थापना की, चैत्र सुदि १४ को कनककीर्ति, विबुधराज, राजशेखर, गुणशेखर तथा जयलक्ष्मी, कल्याणनिधि, प्रमोदलक्ष्मी, गच्छ-वृद्धि की दीक्षा, वैशाख वदि १ को अजितनाथ-प्रतिमा की प्रतिष्ठा की, बाद में पालनपुर में आषाढ़ सुदि १० को भावनातिलक, भरतकीर्ति की दीक्षा और भीमपल्ली में उसी दिन महावीर की स्थापना।

सं० १३१४ माघ सुदि १३ को सुवर्णगिरि ऊपर बने हुए प्रधान मन्दिर में ध्वजारोप, महाराज उदयसिंहजी के प्रसाद से कार्य निर्विघ्न हुआ। आषाढ़ सुदि १० को पालनपुर में सकलहित, राजदर्शन साधु और बुद्धिसमृद्धि, ऋद्धिसुन्दरी, रत्नवृष्टि साध्वियों की दीक्षा हुई।

सं० १३१६ माघ सुदि १ जालोर में धर्मसुन्दरी गरिणनी को प्रवर्तिनी-पद, माघ सुदि ३ को पूर्णशेखर, कनककलश की प्रव्रज्या और

माघ सुदि ६ को सुवर्णगिरि के शान्तिनाथ के प्रासाद पर कलशदण्ड का आरोपण श्री चाचिगदेव के राज्य में करवाया। आषाढ़ सुदि ११ को बीजापुर में वासुपूज्य-जिनमन्दिर पर कलशध्वज-दण्डारोपण करवाया।

सं० १३१७ माघ सुदि १२ को लक्ष्मीतिलक गणि को उपाध्याय-पद और पद्माकर की दीक्षा हुई। माघ सुदि १४ को जालोर के महावीर प्रासाद पर स्थित २४ देहरियों पर कलश-दण्ड-ध्वजारोपण हुआ। फाल्गुन सुदि १२ को शासनपुर में अजितनाथ प्रासाद पर ध्वजारोप पूर्णकलश गणि द्वारा हुआ। भीमपल्ली में मण्डलिक राज्य में वैशाख सुदि १० सोमवार को महावीर के प्रासाद पर दण्ड-कलश की प्रतिष्ठा और ध्वजारोप हुआ और ५१ अंगुल परिमाण सरस्वती की प्रतिमा की प्रतिष्ठा की। ३१ अंगुल परिमाण शान्तिनाथ-प्रतिमा, ऋषभनाथ-प्रतिमा, महावीर-प्रतिमा, पार्श्वनाथ-प्रतिमा २ और भीमभुजबल-पराक्रम क्षेत्रपालबिम्ब, ऋषभनाथ महावीर की प्रतिमाएं, चतुर्विंशति पट्टक, अजित-प्रतिमा, ऋषभनाथ-प्रतिमा २; शान्तिनाथ-प्रतिमा २। महावीर की तीन प्रतिमाएं, जिनदत्तसूरि-मूर्ति, चन्द्रप्रभ-प्रतिमा, नेमिनाथ-बिम्ब और अम्बिका की प्रतिमा प्रतिष्ठित हुई और सौम्यमूर्ति, न्यायलक्ष्मी की दीक्षा हुई।

सं० १३१८ पौष सुदि ३ को संघभक्त की दीक्षा और धर्ममूर्ति गणि को वाचनाचार्य-पद दिया।

सं० १३१९ मार्गशीर्ष सुदि ७ को अभयतिलक गणि को उपाध्याय-पद हुआ और उसी वर्ष में अभयतिलक उपाध्याय का उज्जैनी की तरफ विहार। वहां तपोमतीय पं० विद्यानन्द के साथ यतिकल्प्य प्रासुक शीतल जल की चर्चा, फिर पालनपुर आदि की तरफ विहार और उसी वर्ष में माघ वदि ५ को विजयसिद्धि साध्वी की पालनपुर में दीक्षा, माघ वदि ६ चन्द्रप्रभ, अजितनाथ, सुमतिनाथ की प्रतिष्ठा। ऋषभनाथ, धर्मनाथ; सुपार्श्वनाथ-प्रतिमा, जिनवल्लभसूरि-मूर्ति और सिद्धान्त-यक्ष की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। पाटन के शान्तिनाथ प्रासाद में अक्षयतृतीया के दिन दण्ड-कलश का आरोपण किया।

सं० १३२१ फाल्गुन सुदि २ गुरु के दिन चित्तसमाधि, क्षान्तिनिधि साध्वियों की दीक्षा, फाल्गुन वदि ११ को पालनपुर में एक आले में तीन प्रतिमाएं और ध्वजादण्ड चढ़ाया, ज्येष्ठ सुदि १५ को विक्रमपुर में चारित्र-शेखर, लक्ष्मीनिवास और रत्नावतार साधुओं की दीक्षा।

सं० १३२२ माघ सुदि १४ को त्रिदशानन्द, शान्तमूर्ति, त्रिभुवनानन्द, कीर्तिमण्डन, सुबुद्धिराज, सर्वराज, वीरप्रिय, जयवल्लभ, लक्ष्मीराज, हेमसेन आदि नामक दस साधु। मुक्तिवल्लभ, नेमिभक्ति, मंगलनिधि और प्रियदर्शना नामक चार साध्वियों को दीक्षा दी और वैशाख ६ को वीर-सुन्दरी को विक्रमपुर में दीक्षा।

सं० १३२३ मार्ग० वदि ५ को नेमिध्वज साधु तथा विनयसिद्धि और आगमरिद्धि की दीक्षा जालोर में। वैशाख सुदि १३ देवमूर्ति गणि को वाचनाचार्य-पद पर द्वितीय ज्येष्ठ सुदि को जयसलमेरु पार्श्वनाथ-चैत्य पर दण्डकलश प्रतिष्ठा और विवेकसमुद्र गणि को वाचनाचार्य-पद की स्थापना की गई। आषाढ़ वदि १ को हीराकर साधु किया।

सं० १३२४ मार्ग वदि २ शनि को कुलभूषण, हेमभूषण की दीक्षा, अनन्तलक्ष्मी, व्रतलक्ष्मी, एकलक्ष्मी और प्रधानलक्ष्मी की जालोर में दीक्षा हुई।

सं० १३२५ वैशाख सुदि १० को जालोर में महावीर चैत्य में गजेन्द्रबल साधु और पद्मावती साध्वी की दीक्षा। वैशाख सुदि १४ को उसी महावीर-चैत्य में २४ जिनबिम्बों की, २४ ध्वजदण्डों की, सीमन्धर, युग्मन्धर, बाहु, सुबाहु के बिम्बों की तथा अन्य अनेक बिम्बों की प्रतिष्ठा हुई। ज्येष्ठ वदि ४ को सुवर्णगिरि के शान्तिनाथ-चैत्य में बनी हुई २४ देहरियों में उन्हीं २४ जिनबिम्बों तथा सीमन्धर, युग्मन्धर, बाहु, सुबाहु के बिम्बों की स्थापना हुई और उसी दिन धर्मतिलक गणि को वाचनाचार्य-पद दिया गया। उसी वर्ष वैशाख सुदि १४ को जैसलमेरु में पार्श्वनाथ-चैत्य पर दण्डकलशारोपण का उत्सव हुआ।

सं० १३२६ के चैत्र वदि १३ को पालनपुर से अभयचन्द्र की व्यवस्था में विधिधर्म का संघ शत्रुञ्जय-तीर्थ की यात्रा के लिए निकला। श्री जिनेश्वरसूरि, जिनरत्नाचार्य, चन्द्रतिलकोपाध्याय, कुमुदचन्द्र प्रमुख २३ साधु और लक्ष्मीनिधि महत्तरा प्रमुख १३ साध्वियों के साथ चलता हुआ संघ तारंगा तीर्थ पहुँचा। वहां इन्द्रादि पदों के चढ़ावे हुए, इन्द्रपद-द्र० १५००, मन्त्री प० द्र० ४००, सारथि प० द्र० १००, भाण्डागारी प० द्र० ११०, आद्य-चामर-धारी के २ पद ३०० द्रम, पिछले चमरधारी २ पद द्र०, छत्रधर पद द्र० ६२, वहां से संघ बीजापुर गया, वहां भी वासुपूज्य मन्दिर में चढ़ावे हुए। तीन हजार द्रम्म की आमदनी हुई, इसी प्रकार स्तम्भनक महातीर्थ में चढ़ावे हुए। कुल द्रम्म ५००० आये। वहां से संघ शत्रुञ्जय महातीर्थ पहुँचा और पूर्वक्त प्रकार के चढ़ावे बोले गये और ५३२ द्रम्म इन्द्रादिक के चढ़ावों में प्राप्त हुए। द्रम्म १७ हजार की प्राप्ति हुई। वहां से संघ गिरनार महातीर्थ पहुंचा, वहां पर भी इन्द्रमाला आदि के तमाम चढ़ावे हुए और ७०६३ द्रम्म की आमदनी हुई। एकन्दर इस संघ की तरफ से शत्रुञ्जय के देवभण्डागार में अनुमानतः २० हजार द्रम्म की प्राप्ति हुई और गिरनार के देवभण्डगार में १७ हजार द्रम्म आए। गिरनार पर नेमिनाथ-चैत्य में जिनेश्वरसूरि द्वारा प्रबोधसमुद्र (हर) विनय-समुद्र की दीक्षा हुई. वहां से संघ प्रभास पाटण गया और चतुर्विध संघ के साथ उधर के सर्व चैत्यों की यात्रा की। इस प्रकार विधिमार्ग संघ तथा सा० अभयचन्द्र के साथ आषाढ़ सुदि ६ को देवालय का जिनेश्वरसूरि प्रमुख चतुर्विध संघ सहित पालनपुर में प्रवेश हुआ।

सं० १३२८ के वैशाख सुदि १४ को जालोर में चन्द्रप्रभ, ऋषभदेव और महावीर के बिम्बों की प्रतिष्ठा करवाई, ज्येष्ठ वदि ४ को हेमप्रभा को दीक्षा दी।

सं० १३३० में वैशाख वदि ६ को प्रबोधमूर्ति गणि को वाचनाचार्य-पद दिया और कल्याणऋद्धि गणिनी को प्रवर्तिनी-पद हुआ, जालोर में वैशाख वदि ८ को स्वर्णगिरि के जिनचैत्य के शिखर में चन्द्रप्रभ की प्रतिमा स्थापित हुई।

जालोर में रहते हुए जिनेश्वरसूरिजी ने अपने आयुष्य की समाप्ति निकट जानकर सं० १३३१ के आश्विन कृष्ण ५ को प्रातःकाल अपने पद पर प्रबोधमूर्ति गणि को बैठाया और "जिनप्रबोधसूरि" यह नाम दिया।

पालनपुर में रहे हुए जिनरत्नाचार्य को आदेश दिया कि चातुर्मास्य के बाद सर्वगच्छ तथा विधि-समुदायों को इकट्ठा कर अच्छे लग्न में फिर सूरि-पद स्थापन कर देना, बाद में श्रीपूज्य ने अनशन किया और पंचपरमेष्ठि-मन्त्र का ध्यान करते हुए आश्विन कृष्ण ६ को दो घड़ी रात बीतने पर श्री जिनेश्वरसूरिजी स्वर्गवासी हुए। प्रभात समय में समुदाय ने श्रीपूज्य का संस्कार महोत्सव किया और सा० क्षेमसिंह ने अग्निसंस्कार के स्थान पर स्तूप बनवाया।

चातुर्मास्य उतरने पर जिनरत्नाचार्य जालोर आए और जिनेश्वरसूरि के उपदेशानुसार जिनप्रबोधसूरि का फिर बड़े ठाट के साथ पद स्थापना-उत्सव कराया और सं० १३३१ के फाल्गुन वदि ८ रवि को श्री जिनरत्नाचार्य द्वारा जिनप्रबोधसूरि की महोत्सव पूर्वक पट्ट-स्थापना हुई।

(१०) जिनप्रबोधसूरि –

सं० १३३१ के फाल्गुन सुदि ५ को स्थिरकीर्ति भवनकीर्ति और केवलप्रभा, हर्षप्रभा; जयप्रभा, यशःप्रभा साध्वियों की दीक्षा जालोर में हुई।

सं० १३३२ ज्येष्ठ वदि १ शुक्र को शा० क्षेमसिंह श्रावक ने नमि-विनमि परिवृत युगादिदेव, श्री महावीर, अवलोकनशिखरस्थ नेमिनाथबिम्ब, साम्बप्रद्युम्न की मूर्तियां, जिनेश्वरसूरि की मूर्ति, धनदयक्ष की मूर्ति और सुवर्णगिरि पर के चन्द्रप्रभ स्वामिचैत्य की ध्वजा की प्रतिष्ठा करवाई, ज्येष्ठ वदि ६ को चन्द्रप्रभ स्वामी के शिखर पर ध्वजारोप हुआ, ज्येष्ठ वदि ६ को स्तूप में जिनेश्वरसूरि की मूर्ति की प्रतिष्ठा की और उसी दिन विमलप्रज्ञ को उपाध्याय-पद और राजतिलक को वाचनाचार्य-पद प्रदान किया, ज्येष्ठ सुदि ३ को गच्छकीर्ति, चारित्रकीर्ति, क्षेमकीर्ति मुनियों को तथा लब्धिमाला, पुण्यमाला साध्वियों को दीक्षा दी।

सं० १३३३ के माघ वदि १३ को जालोर में कुशलश्री गणिनी को प्रवर्तिनी-पद दिया, इसी वर्ष में सा० क्षेमसिंह और चाहड़की तरफ से संघ प्रयाण की तैयारी हुई, अनेक गांवों से विधि-संघ का समुदाय इकट्ठा हुआ और उसके उपरोध से श्री शत्रुञ्जयादि महातीर्थों की यात्रा के लिए श्री जिनप्रबोधसूरि, श्री जिनरत्नसूरि, लक्ष्मीतिलकोपाध्याय, विमलप्रज्ञोपाध्याय, वा० पद्मदेव, वा० राजगणि प्रमुख २७ साधु और प्रवर्तिनी ज्ञानमाला गणिनी प्र० कुशलश्री, प्र० कल्याणऋद्धि प्रमुख २१ साध्वियों के परिवार सहित जालोर से चैत्र वदि ५ को संघ रवाना हुआ, वहां से श्रीमाल में शान्तिनाथ विधिचैत्य में द्रम्म १४७६ विधिसंघ ने सफल किये, वहां से पालनपुर आदि नगरों की यात्रा करता हुआ संघ तारंगातीर्थ पहुंचा, वहां इन्द्रमाला आदि के चढावे हुए, अनुमानतः द्रम्म ४ हजार मालादि लेकर कृतार्थ किये, वहां से स्तम्भनक तीर्थ में अनुमानतः ७००० द्रम्म के चढावे दिये, वहां से भरुच जाकर संघ ने ४७०० द्रम्म खर्चे, वहां से संघ शत्रुञ्जय पर पहुँचा, शत्रुञ्जय पर इन्द्रमालादि के चढ़ावे हुए और अनुमानतः सब मिलकर २५००० द्रम्म संघ ने खर्च किये।

ज्येष्ठ वदि ७ को युगादिदेव के सामने आपने जीवानन्द साधु और पुण्यमाला, यशोमाला, धर्ममाला, लक्ष्मीमाला को दीक्षा दी। मालारोपणादि का उत्सव हुआ, श्री श्रेयांस-विधिचैत्य में ७०८ द्रम्म, उज्जयन्त में ७५० द्रम्म, इन्द्रादि के परिवार की तरफ से २१५० और नेमिनाथ की माला के द्रम्म २०००, एकन्दर गिरनार पर २३००० द्रम्म की आमदनी हुई।

इस प्रकार स्थान-स्थान जिनशासन की उन्नति करता हुआ, सा० क्षेमसिंह विधिसंघ के साथ महातीर्थों की यात्रा करके आषाढ़ सुदि १४ को वापस जालोर आया।

सं० १३३४ मार्ग सुदि १३ को रत्नवृष्टि गणिनी को प्रवर्तिनी-पद दिया, वैशाख वदि ५ को भीमपल्ली में श्री नेमिनाथ तथा श्री पार्श्वनाथ के बिम्बों की, जिनदत्तसूरि की मूर्ति की, शान्तिनाथ के देवालय के ध्वजदण्ड की और गौतमस्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा का महोत्सव कराया, वैशाख

वदि ६ को मंगलकलश साधु की दीक्षा और ज्येष्ठ सुदि २ को बाड़मेर की तरफ विहार किया।

सं० १३३५ के मार्ग वदि ४ को पद्मकीर्ति, सुधाकलश, तिलककीर्ति, लक्ष्मीकलश, नेमिप्रभ, हेमतिलक और नेमितिलक नामक साधुओं की दीक्षा हुई, पौषसुदि ६ को चित्तोड़ में धूमधाम के साथ प्रवेश किया, फाल्गुण वदि ५ को श्री समरसिंह महाराज के राज्य में चौरासी में मुनिसुव्रत, युगादिदेव, अजितनाथ और वासुपूज्य के बिम्बों की, श्री महावीर के समवसरण की, स्वर्णगिरि के शान्तिनाथ विधिचैत्यस्थित पित्तलमय समवसरण की और दूसरी अनेक प्रतिमाओं की, साम्बमूर्ति की, आठ दण्डों की महोत्सव पूर्वक प्रतिष्ठा हुई और उसी दिन चौरासी में युगादिदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, शाम्ब, प्रद्युम्न और अम्बिका के मन्दिरों पर ध्वजारोप हुए, वद्रद्राह नामक गांव में जिनदत्तसूरि की प्रतिमा-प्रतिष्ठा, श्री पार्श्वनाथ चैत्य पर चित्रकूट में अभिषिक्त दण्ड फाल्गुन सुदि १४ को चढ़ाया, जाहेड़ा गांव में चैत्र सुदि १३ को सम्यक्त्वारोपादि नन्दी महोत्सव हुआ, वरड़िया में वैशाख वदि ६ को पुण्डरीक, गौतमस्वामी, प्रद्युम्न मुनि, जिनवल्लभसूरि, जिनदत्तसूरि, जिनेश्वरसूरि की मूर्तियों तथा सरस्वती की मूर्ति का प्रतिष्ठा-महोत्सव हुआ, वैशाख वदि ७ को मोहविजय, मुनिवल्लभ की दीक्षा और हेमप्रभगणि का वाचनाचार्य-पद हुआ।

सं० १३३६ में ज्येष्ठ सुदि ६ को अपने पिता का अन्त्य समय जानकर चित्तौड़ से जल्दी विहार करते हुए पालनपुर आए और अपने पिता श्रीचन्द्र श्रावक को दीक्षा दी और चन्द्र ने १७ दिन तक संस्तारक दीक्षा पालकर समाधि-पूर्वक स्वर्ग को प्राप्त किया।

सं० १३३७ के वैशाख वदि ६ को गुर्जर-भूमि के वोजापुर नामक गांव को अपने चरणों से पवित्र किया, श्रावकों ने बड़ी धूमधाम के साथ नगर प्रवेश कराया, ज्येष्ठ वदि ४ शुक्रवार को सारंगदेव महाराज के राज्य में वासुपूज्य चैत्य में २४ जिनालयों के बिम्बों तथा ध्वजदण्डों की, जोहला गांव के लिए पार्श्वनाथ की और अनेक जिनप्रतिमाओं की शानदार प्रतिष्ठा

हुई, इस उत्सव में वासुपूज्य चैत्य में द्र० ३०००० उत्पन्न हुए, द्वादशी के दिन आनन्दमूर्ति, पुण्यमूर्ति की दीक्षा हुई।

सं० १३३९ के फाल्गुन सुदि ५ को सर्वविधिमार्ग संघ के साथ प्रस्थान करके जिनरत्नाचार्य, देवाचार्य, वाचनाचार्य विवेकसमुद्र गणि प्रमुख अनेक मनुष्यों के साथ श्री जिनप्रबोधसूरिजी फाल्गुन चातुर्मास्य के दिन श्री अर्बुदगिरि ऊपर पहुँचे और युगादिदेव और नेमिनाथ की यात्रा की। आठ दिन तक वहां ठहर कर इन्द्रपदादि के उत्सवों द्वारा अपने साथ ने हजार द्रम्म सफल किये, बाद में श्रीपूज्य के प्रसाद से कुशलता-पूर्वक सर्वसंघ वापस जालोर आया। उसी वर्ष में ज्येष्ठ वदि ४ को जगच्चन्द्रमुनि और कुमुदलक्ष्मी तथा भुवनलक्ष्मी साध्वियों को दीक्षा दी, पंचमी को चन्दनसुन्दरी गणिनी को महत्तरा-पद दिया और चन्दनश्री नाम रक्खा।

वहां से सोम महाराज की अभ्यर्थना से शम्यानयन में चातुर्मास्य कर सं० १३४० में जिनप्रबोधसूरिजी ने फाल्गुन चातुर्मास्य के दिन जैसलमेर में प्रवेश किया। वहां पर अक्षयतृतीया के दिन २४ जिनालय तथा अष्टा-पदादि के बिम्बों-ध्वजों का प्रतिष्ठा-महोत्सव हुआ, जिसमें देवद्रव्य की आमदनी ६ हजार द्रम्म की हुई। ज्येष्ठ वदि ४ को मेरुकलश, धर्मकलश और लब्धिकलश मुनि की तथा पुण्यसुन्दरी, रत्नसुन्दरी, भुवनसुन्दरी और हर्षसुन्दरी साध्वियों की दीक्षा हुई, श्री कर्णदेव महाराज के आग्रह से चातुर्मास्य वहां किया।

चातुर्मास्य के बाद जिनप्रबोधसूरि ने विक्रमपुर को विहार किया। वहां सं० १३४१ के फाल्गुन वदि ११ के दिन महावीर चैत्य में सम्यक्त्वा-रोप, मालारोप, दीक्षादान आदि निमित्तक उत्सव हुए, जिनमें विनयसुन्दर, सोमसुन्दर, लब्धिसुन्दर, मेघसुन्दर और चन्द्रमूर्ति क्षुल्लकों की और धर्मप्रभा, देवप्रभा नामक दो क्षुल्लिकाओं की दीक्षायें हुईं। वहां पर शासनप्रभावक जिनप्रबोधसूरि को दाहज्वर उत्पन्न हुआ, अपना आयुष्य स्वल्प समझ कर निरन्तर प्रयाणों से श्रीपूज्य जालोर पधारे।

सं० १३४१ की अक्षय तृतीया के दिन अपने पद पर श्री जिनचन्द्र-सूरि को प्रतिष्ठित किया और उसी दिन राजशेखर गणि को वाचनाचार्य-पद दिया, बाद में अष्टमी को सकल संघ से मिथ्यादुष्कृत देकर आप अन्तिम आराधना में लगे और वैशाख शुक्ल एकादशी को स्वर्गवासी हुए ।

(११) जिनचन्द्रसूरि – (३)

सं० १३४२ के वैशाख शुक्ल १० के दिन श्री जिनचन्द्रसूरिजी ने जालोर के श्री महावीर चैत्य में प्रीतिचन्द्र, सुखकीर्ति, को और जयमञ्जरी, रत्नमञ्जरी तथा शीलमञ्जरी नामक क्षुल्लिकाओं को दीक्षित किया, उसी दिन वाचनाचार्य विवेकसमुद्र गणि का अभिषेक-पद सर्वराज गणि को वाचनाचार्य-पद और बुद्धि समृद्धि गणिनी को प्रवर्तिनी-पद दिया और वदि ७ को सम्यक्त्वारोपादि नन्दिमहोत्सव हुआ, ज्येष्ठ कृष्ण ६ को रत्नमय अजितनाथ बिम्बों की और युगादिदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ बिम्बों की तथा शान्तिनाथबिम्ब की, अष्टापदध्वजा-दण्ड की और अन्य अनेक जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा का महोत्सव श्री सामन्तसिंह के राज्य में श्री जिनचन्द्रसूरिजी ने करवाया, ज्येष्ठ वदि ११ को वाचनाचार्य देवमूर्ति गणि को अभिषेक-पद दिया और मालारोपणादि कार्य हुए ।

सं० १३४४ के मार्ग सुदि १० को महावीर चैत्य में स्थिरकीर्ति गणि को श्री जिनचन्द्रसूरि ने आचार्य-पद दिया और दिवाकराचार्य नाम दिया ।

सं० १३४५ के आषाढ सुदि ३ को मतिचन्द्र, धर्मकीर्ति की दीक्षा, वैशाख वदि १ को पुण्यतिलक, भुवनतिलक और चारित्रलक्ष्मी साध्वी को दीक्षा दी और राजदर्शनगणि को वाचनाचार्य-पद दिया ।

सं० १३४६ में माघ वदि १ को बाडड़ कारित स्वर्णगिरिस्थ श्री चन्द्रप्रभस्वामिदेवगृह के पास में रहे हुए युगादिदेव और नेमिनाथ के बिम्बों की मंडप के गोखलों में और सम्मेतशिखर के २० बिम्बों का स्थापना-महोत्सव हुआ, फाल्गुन सुदि ८ को शम्यानयन के प्रासाद में शान्तिनाथ की स्थापना हुई, देववल्लभ, चारित्रतिलक, कुशलकीर्ति, साधुओं की और रत्नश्री साध्वी की दीक्षा हुई, चैत्र वदि १ को पालनपुर से विहार किया,

भीमपल्ली के समुदाय द्वारा किये गये उत्सव में प्रतापकीर्ति आदि २ क्षुल्लकों की उपस्थापनाएं हुईं और दो क्षुल्लक नये किये जिनके नाम — तरुणकीर्ति और तेजकीर्ति हैं, दो क्षुल्लिकाओं को दीक्षा दी और नाम व्रतधर्मा, दृढ़धर्मा दिये।

उसी दिन रत्नमंजरी गणिनी को महत्तरा-पद देकर "जयर्द्धिमहत्तरा" यह नाम रक्खा और प्रियदर्शना गणिनी को प्रवर्तिनी-पद दिया। वहां से श्रीपूज्य पाटन नगर आए।

सं० १३६६ के मार्ग वदि ६ को श्रीपूज्य ने चन्दनमूर्ति, भुवनमूर्ति, सारमूर्ति, हीरमूर्ति नामक चार क्षुल्लक बनाए और केवलप्रभा गणिनी को प्रवर्तिनी-पद दिया।

सं० १३७० के माघ शुक्ल ११ श्रीपूज्य ने निधानमुनि कोथात यशोनिधि, महानिधि को पाटन में दीक्षा दी। वहां से भीमपल्ली गए।

सं० १३७१ में फाल्गुन शुक्ल ११ को त्रिभुवन कीर्तिमुनि तथा प्रिय-धर्मा, आशालक्ष्मी धर्मलक्ष्मी नामक साध्वियों को भीमपल्ली में दीक्षा दी।

बाद में श्रीपूज्यपाद जालोर विचरे, वहां पर संवत् १३७१ के ज्येष्ठ वदि १० को श्रीपूज्य ने देवेन्द्रदत्त, पुण्यदत्त, ज्ञानदत्त, चारदत्त मुनियों को तथा पुण्यलक्ष्मी ज्ञानलक्ष्मी, कमललक्ष्मी और मतिलक्ष्मी को दीक्षित किया, बाद में जालोर का भंग म्लेच्छों द्वारा (मुसलमानों से) हुआ, बाद में मार्ग में सिवाना, रीणी, बब्बेरक आदि स्थानों में होते हुए फलोदी पार्श्वनाथ की यात्रा को गए। वहां से नागोर की तरफ विहार किया, वहां से उच्चापुरीय विधि-समुदाय की प्रार्थना से श्री जिनचन्द्रसूरिजी ने सिन्ध की तरफ विहार किया और उच्चापुरीय के निकटवर्ती देवराजपुर में कुछ समय तक ठहरे।

सिद्धान्त के अनुसार यह घटित नहीं होती। जैन-सिद्धान्त ने पुण्य अथवा पाप की प्रवृत्ति करने वालों को स्वयं उनका भोक्ता बताया है। पुण्य के फल की तरह कोई पाप करने वाले का पाप फल अपने ऊपर ले ले और करने वाला अपना दुष्कृत दे दे तो क्या पापकर्त्ता पाप से मुक्त हो सकेगा? कभी नहीं। इसी प्रकार पुण्य के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए। ★

सं० १३७३ के मार्गशीर्ष वदि ४ को आचार्य ने पद-स्थापनादि उत्सव शुरु करवाने और चौमासे में भी देवराजपुर से विशल, महणसिंह श्रावकों को पाटन भेजकर अपने शिष्य रामचन्द्र को बुलाया, उपाध्यायजी ने भी गुरु की आज्ञा के अनुसार पुण्यकीर्ति गणि को साथ में देकर रामचन्द्र मुनि को उनको साथ भेज दिया, कार्तिक मास की चतुर्मासी के दिन रामचन्द्र मुनि श्री जिनचन्द्रसूरिजी के पास पहुँचे और अनेक नगरों के संघ-समवायों के समक्ष आचार्य ने अपने शिष्य रामचन्द्र को आचार्य-पद देकर राजेन्द्रचन्द्राचार्य बनाया, उसी उत्सव में ललितप्रभ, नरेन्द्रप्रभ, धर्मप्रभ, पुण्यप्रभ, अमरप्रभ साधुओं को दीक्षा दी।

सं० १३७४ फाल्गुन वदि ६ के दिन उच्चापुरीय आदि अनेक सिन्ध-देश के समुदायों ने नन्दिमहोत्सव किया, जिसमें दर्शनहित, भुवनहित, त्रिभुवनहित, मुनियों को दीक्षा प्रदान की, १०० श्राविकाओं ने माला-ग्रहण की, इस प्रकार देवराजपुर में दो चातुर्मास्य रहकर श्रीपूज्य ने नागौर की तरफ विहार किया, वहां से पूज्य ने कन्यानयन के निवासी सा० काला सुश्रावक की सहायता से श्रीपूज्य ने फलोदी पार्श्वनाथ को दूसरी बार यात्रा की।

सं० १३७५ के माघ शुल्क १२ को नागपुर में महोत्सव कराया और उसमें सोमचन्द्र साधु को तथा शीलसमृद्धि, दुर्लभसमृद्धि, भुवनसमृद्धि साध्वियों को दीक्षा दी, और पं० जगच्चन्द्र गणि तथा राजकुशल गणि को वाचनाचार्य-पद दिया, धर्ममाला गणिनी, पुण्यसुन्दरी गणिनी को प्रवर्तिनी-पद दिया, बाद में अनेक श्रावक समुदाय के साथ फलोदी जाकर श्री पार्श्वनाथ की तीसरी बार यात्रा की, श्री पार्श्वनाथ के भाण्डागार में ३० हजार जैथल उत्पन्न हुए, फिर श्रीपूज्य संघ के साथ नागोर गए।

सं० १३७५ के वैशाख वदि ८ को ठक्कुर अचल सुश्रावक ने श्री कुतुबुद्दीन सुरत्राण से आज्ञा निकलवा कर कुंकुमपत्रिकादानपूर्वक अनेक नगरों के समुदायों को एकत्र कर हस्तिनापुर, मथुरा महातीर्थों की यात्रा के लिए संघ निकलवाया, श्रीपूज्य जिनचन्द्रसूरि, जयवल्लभ गणि, पद्मकीर्ति

गणि, अमृतचन्द्र गणि आदि ८ साधु और जयर्द्धिमहत्तरा प्रमुख साध्वियों के परिवार से युक्त संघ नागोर से रवाना हुआ, क्रमशः श्री नरभट में पार्श्वनाथ की तीर्थयात्रा कर संघ कन्यानयन गया, वहां श्री वर्द्धमान स्वामी को नमन किया और आठ दिन तक उत्सव किया, वहां के यमुना पार तथा वागड़ के श्रावकों के समुदाय सहित ४०० घोड़े, ५०० शकट, ७०० बैल आदि विस्तार के साथ संघ नावों से यमुना महानदी को पार कर क्रमशः हस्तिनापुर पहुंचा।

पूज्य ने संघ के साथ शान्तिनाथ, अरनाथ, कुन्थुनाथ देवों की यात्रा की। संघ ने इन्द्रपदादि के चढ़ावे बोलकर अपना द्रव्य सफल किया। ठक्कुर देवसिंह श्रावक ने बीस हजार जैथल बोलकर इन्द्रपद ग्रहण किया, अन्य चढ़ावे मिलकर देवभण्डार में १ लाख ५० हजार जैथल की उपज हुई। वहां पांच दिन ठहर कर संघ मथुरा तीर्थ के लिए रवाना हुआ, दिल्ली के निकट आने पर वर्षा चातुर्मास्य लग गया, इसलिए श्रीपूज्य संघ को विसर्जन कर ठ॰ अचलादि सुश्रावकों के साथ खण्डसराय में चातुर्मास्य ठहरे। यहां पर सुरत्राण के कहने से और संघ के आग्रह से "रायाभिओगेणं, गणाभिओगेणं" इत्यादि सिद्धान्त वचन का अनुसरण करते हुए आप चौमासे में भी वागड़ देश के श्रावक-समुदाय के साथ मथुरा गए[1] और सुपार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ तथा

---

१. आचार्य जिनचन्द्रसूरि के द्वारा दूसरी बार जिनाज्ञा भंग करने का यह प्रसंग है। पहले आपने शत्रुञ्जय गिरनार के संघ के साथ वापस भीमपल्ली आते हुए, वायड महास्थान में आषाढी १४ की और बाद में वहां से श्रावण वदि में भीमपल्ली आकर चातुर्मास्य पूरा किया था। इस प्रसंग पर तो लगभग तीर्थों में जाने-आने में ही खासा चातुर्मास्य व्यतीत किया। पट्टावली-लेखक कहता है – सुरत्राण के उपरोध से और संघ के अत्याग्रह से आप मथुरा के लिए निकले थे, जो सरासर झूठा बचाव है। सुरत्राण को तो कोई मतलब ही नहीं था और संघ का भी इन्होंने विसर्जन कर दिया था, कतिपय वागड़ के श्रावकों के साथ आप खण्डसराय में चातुर्मास्य व्यतीत करने के लिए ठहरे थे, फिर मथुरा जाने का तात्कालिक क्या कारण उपस्थित हुआ कि जिससे बाध्य होकर आपको मथुरा जाना-आना पड़ा। हमारी राय में दोनों स्थानों पर जिनचन्द्रसूरि ने गफलत की है। प्रथम तो

महावीर तीर्थंङ्करों की यात्रा की, फिर दिल्ली आकर खण्डसराय में शेष चातुर्मास्य पूरा किया। दर्मियान श्री जिनचन्द्रसूरि के स्तूप की दो बार यात्रा की।

चातुर्मास्य के बाद श्रीपूज्य के शरीर में कम्परोग की पीड़ा उत्पन्न हुई जिससे अपना आयुष्य अल्प समझ कर अपने शिष्य वा० कुशलकीर्ति गणि को अपने पट्ट पर स्थापन करने का निश्चय करके सब हकीकत एक चिट्ठी में लिख कर राजेन्द्रचन्द्राचार्य को देने के लिए अपने विश्वासपात्र ठ० विजयसिंह के हाथ में चिट्ठी का बोलक दिया, बाद में चौहान श्री मालदेव के अत्याग्रह से दिल्लो से विहार कर मेड़ता की तरफ प्रयाण किया। कन्यानयन आते-आते आपको ताप श्वास आदि की विशेष बाधा बढ़ गई। परिणामस्वरूप अ.पने सर्व संघ से मिथ्या दुष्कृत किया और कहा – "यह लेख राजेन्द्रचन्द्राचार्य को देना"। कोई मास भर कन्यानयन में ठहर कर बाद में नरभटादि स्थानों में होते हुए मेड़ता पहुंचे, वहां पर राणक श्रीमालदेव के आग्रह से २४ दिन ठहर कर अपने स्वर्गवास के योग्य स्थान समझ कर वहां से कोसवाणा गए और वहां सं० १३७६ के

इस प्रकार साधुओं को तीर्थयात्रा के निमित्त भ्रमण करना निष्कारण भ्रमण बताया है और निष्कारण भ्रमण करने पर शास्त्रकार ने प्रायश्चित्त विधान किया है, तब चातुर्मास्य में दिल्ली से मथुरा जाकर चौमासे में ही वापस दिल्ली आना कितना बुरा दृष्टान्त है, इसका जिनसूरिजी ने कतई विचार नहीं किया। साधुओं के लिए संयम यात्रा ही मुख्य यात्रा है। तीर्थयात्रा दर्शनशुद्धि का कारण होने से श्रावकों के लिए खास उपयोगी है, साधुओं के लिए नहीं। चारित्र में विराधना लगाकर तीर्थयात्रा के लिए अपने भक्तों का समुदाय इकट्ठा करके इधर-उधर घूमते रहना यह खरतरगच्छ के आचार्यों का प्रचार मात्र है। जिनेश्वरसूरि, अभयदेवसूरि, जिनवल्लभसूरि आदि को तीर्थयात्रा निकाल कर तीर्थों में ले जाने वाला कोई नहीं मिला था क्या? खरी बात तो यह है कि वे साधु का कर्त्तव्य अकर्त्तव्य समझते थे। चन्द्रावती में जिनपतिसूरि के साथ वार्तालाप करते हुए पौर्णमिक-गच्छीय आचार्य श्री अकलंकदेवसूरि ने संघ के साथ साधु को जाने के लिए जो आपत्तियां उठायी हैं और जिमपतिसूरिजी ने उनका जो समाधान किया है उसके पढ़ने से पाठकगण अच्छी तरह समझ सकते हैं कि जिनचन्द्रसूरि की उक्त गफलत ही नहीं किन्तु निष्कारण अपवाद का सेवन है। ✻

वैशाख वदि १४ को भीमपल्ली गए और वैशाख सुदि ७ को शैलमय युगादिदेव बिम्ब, चतुर्विंशतिजिनालययोग्य १(२)४ बिम्ब, इन्द्रध्वज, श्री अनन्तनाथदण्ड ध्वज, जिनप्रबोधसूरि स्तूतमूर्ति दण्डध्वजों के अतिरिक्त अनेक पाषाण तथा पित्तलमय जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा का महोत्सव हुआ। ज्येष्ठ वदि ७ को नरचन्द्र, राजचन्द्र, मुनिचन्द्र, पुण्यचन्द्र साधुओं की और मुक्तिलक्ष्मी, मुक्तिश्री साध्वियों का दीक्षा हुई।

सं० १३४७ मार्ग० सुदि ६ पालनपुर में सुमतिकीर्ति की दीक्षा और नरचन्द्रादि साधु-साध्वियों की उपस्थापना, मालारोपण आदि महोत्सव हुआ, वहां से संघ मेलापक के साथ श्री तारणगढ़ में अजितनाथ की यात्रा की, पोषवदि ५ को बीजापुर श्रावक समुदाय के साथ गए, श्री जालोर में जिनप्रबोधसूरि के स्तूप में मूर्ति स्थापनोत्सव तथा दण्डध्वजारोपण उत्सव माघ सुदि ११ को सा० अभयचन्द्र ने करवाया और चैत्र वदि ६ को बीजापुर में अमररत्न, पद्मरत्न, विजयरत्न साधुओं को दीक्षा हुई।

सं० १३४८ के वैशाख सुदि ३ को पालनपुर में वीरशेखर, अमृतश्री की दीक्षा हुई, त्रिदशकीर्ति गणि को वाचनाचार्य-पद दिया गया, उसी वर्ष में श्रीपूज्य ने सुधाकलश, मुनिवल्लभ साधुओं के साथ गणियोग का तप किया।

सं० १३४९ भाद्रपद वदि ८ को अभयचन्द्र श्रावक को संस्तारक दीक्षा, अभयशेखर नाम दिया, मार्गशीर्ष वदि २ को यशःकीर्ति की दीक्षा।

सं० १३५० वैशाख सुदि ९ को भाण्डा० झांजन श्रावक को संस्तारक दीक्षा दी और नरतिलक राजर्षि नाम रक्खा।

सं० १३५१, माघ वदि १ पालनपुर में युगादिदेव चैत्र में महावीर प्रमुख ६४० जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा की और ५ को मालारोपणादि महोत्सव हुआ, विश्वकीर्ति साधु की और हेमलक्ष्मी साध्वी की दीक्षा हुई।

सं० १३५२ में राजशेखर गणि ने अड़गांव में विहार किया और वहां से कौशाम्बी, वाराणसी, काकन्दी, राजगृह, पावपुरी, नालन्दा, क्षत्रिय-

कुण्डग्राम, रत्नपुरादि गांवों में तीर्थयात्रा की और राजगृह समीप उद्दण्ड-विहार में चातुर्मास्य किया और उसी वर्ष में भीमपल्ली से विहार कर अनेक नगरों के समुदायों के साथ श्री विवेकसमुद्र उपाध्याय प्रमुख साधु मण्डली सहित श्रीपूज्य ने शंखेश्वर पार्श्वनाथ की यात्रा की। वहां से जिनचन्द्रसूरि पाटन पहुँचे, वहां के सर्व चैत्यों की यात्रा कर श्रीपूज्य वापस भीमपल्ली आए और बीजापुर के समुदाय की प्रार्थना से चातुर्मास्य वीजापुर में किया, वहां सं० १३५३ मार्ग० कृ० ५ को वासुपूज्य विधि-चैत्य में मुनिसिंह, तपः-सिंह और जयसिंह साधुओं की दीक्षा हुई।

वहां से जालोर की तरफ विहार किया और उसी वर्ष में सा० सीहा सा० माण्डव्यपुरीय मोहन श्रावकों ने संघ की व्यवस्था की, अनेक गांवों में विधि-समुदाय के साथ जालोर से वैशाख कृष्ण ५ को प्रस्थान कर अनेक मुनिसमुदाय परिवृत श्रीपूज्य ने संघ के साथ अर्बुदाचल पहुँच कर श्री युगादिदेव और नेमिनाथ की यात्रा की, वहां पर इन्द्र पद आदि के चढ़ावों द्वारा संघ ने बारह हजार द्रम्म खर्च किये और सकुशल संघ वापस जालोर पहुँचा।

सं १३५४ ज्येष्ठ वदि १० को जालोर महावीर विधिचैत्य में नन्दि-महोत्सव हुआ, जिसमें वीरचन्द्र, उदयचन्द्र, अमृतचन्द्र साधुओं की और जयसुन्दरी साध्वी की दीक्षा हुई। उसी वर्ष में आषाढ़ शुक्ल २ को सिराणा गांव में महावीर-प्रासाद का जीर्णोद्धार होकर महावीरबिम्ब की स्थापना हुई।

सं० १३५६ में राजा श्री जैत्रसिंह की विज्ञप्ति से मार्गशीर्ष वदि ४ को जैसलमेरु पहुँचे, वहां पर ही संवत् १३५७ में मार्गशीर्ष शुक्ल ६ को जयहंस, पद्महंस की दीक्षा हुई। सं० १३५८ के माघ सुदि १० को पार्श्वनाथ-विधिचैत्य में सम्मेत-शिखर आदि जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा का उत्सव हुआ।

सं० १३५६ फाल्गुन वदि ११ को श्रीपूज्य ने बाडमेर जाकर युगादि-देव को नमस्कार किया और वहीं पर सं० १३६० के माघ वदि १० को

मालारोपणादि नन्दिमहोत्सव हुआ, बाद में श्री शीतलदेव महाराज की विज्ञप्ति से और श्रावकों की प्रार्थना से श्रीपूज्य शम्यानयन श्री शान्तिनाथ की यात्रार्थ गए।

सं० १३६१ में शान्तिनाथ-विधिचैत्य में द्वितीय वैशाख सुदि ६ को शम्यानयन में प्रतिष्ठा-महोत्सव हुआ और १० को मालारोपणादि-नन्दि-महोत्सव हुआ, जिसमें पं० लक्ष्मीनिवास गणि को तथा पं० हेमभूषण गणि को वाचनाचार्य-पद दिया गया।

जालोर के संघ की प्रार्थना से श्रीपूज्य जालोर पधारे। वहां संवत् १३६४ वैशाख कृष्ण १३ को राजशेखर गणि को आचार्य-पद प्रदान किया, बाद में श्रीपूज्य भीमपल्ली पधारे।

भीमपल्ली से पाटन के समुदाय की प्रार्थना से आप पाटन पहुंचे, बाद में स्तम्भतीर्थ कोटडी के श्रावकों की प्रार्थना से शेरीषक पार्श्वनाथ देव की यात्रा करके श्रीपूज्य स्तम्भतीर्थ पहुँचे।

वहां से संवत् १३६६ के ज्येष्ठ वदि १२ को सा० जैसल द्वारा संयोजित संघ के साथ श्रीपूज्य, जयवल्लभ गणि, हेमतिलक गणि आदि ग्यारह साधु और प्र० रत्नवृष्टि गणिनी आदि १५ साध्वियों के परिवार सहित स्तम्भतीर्थ से महातीर्थों की यात्रा के लिए निकले, क्रमशः संघ पीपलाउली गांव पहुँचा। वहां शत्रुञ्जय महातीर्थ पर्वत के दर्शन कर संघ ने उत्सव मनाया। वहां से श्रीपूज्य ने श्री युगादिदेव की यात्रा की, इन्द्रपदादिमहोत्सव हुआ। वहां ज्येष्ठ शुक्ला १२ को मालारोपणादि महोत्सव संघ की तरफ से हुआ। वहां से संघ गिरनार की तरफ रवाना हुआ और गिरनार की तलहटी में जाकर संघ ने अपना पड़ाव डाला। श्रीपूज्य समुदाय के साथ पर्वत ऊपर चढ़े और नेमिनाथ की यात्रा की, श्रावकों ने इन्द्रपदादि के चढ़ावे बोले। वहां से वापस लौटकर श्रीपूज्य संघ के साथ स्तम्भतीर्थ आए और चातुर्मास्य वहां पर ही कर भरहपाल श्रावक की सहायता से पूज्य ने स्तम्भतीर्थ की यात्रा की, वहां से बीजापुर जाकर श्री वासुपूज्य की यात्रा की।

बीजापुर में सं० १३६७ के माघ बदि ६ को महावीर प्रमुख बिम्बों की श्रीपूज्य ने ठाट पूर्वक प्रतिष्ठा की, वहां से भीमपल्ली के समुदाय की प्रार्थना से भीमपल्ली पधारे और वहां फाल्गुन शुक्ल १ को तीन क्षुल्लक और २ क्षुल्लिकाओं को दीक्षा दी, उनके नाम परमकीर्ति, वरकीर्ति, रामकीर्ति, पद्मश्री तथा व्रतश्री थे। उसी दिन पं० सोमसुन्दर गणि को वाचनाचार्य-पद दिया गया।

प्रस्तुत वर्ष में ही कुंकुमपत्रिकाएं भेज कर श्री पाटन, पालनपुर, जालोर, सिवाना, जयसलमेर, राणुकोट, नागोर, रिणी, बीजापुर, सांचोर, भीनमाल, रत्नपुरादि अनेक स्थानों के वास्तव्य-श्रावक-समुदाय के साथ सा० सामल ने तीर्थ-यात्रा का प्रारम्भ किया। सामल तथा संघ समुदाय की प्रार्थना से चैत्र शुक्ल १३ के दिन चतुर्विध संघ और देवालय के साथ पूज्य श्रीजिनचन्द्रसूरिजी ने भीमपल्ली से प्रयाण किया और श्री शंखेश्वर में जाकर पार्श्वनाथ की यात्रा की, संघ ने आठ दिन तक वहां ठहर कर उत्सव किया, वहां से पाटडी में नेमिनाथ को वन्दन किया और राजशेखराचार्य, जयवल्लभ गणि आदि १६ साधु और प्र० बुद्धिसमृद्धि गणिनी आदि १५ साध्वियों के साथ विधिसंघ ने क्रमशः शत्रुञ्जय पहुँच कर आदिनाथ की यात्रा की। वहां से गिरनार जाकर श्री नेमिनाथ को वन्दन किया, दोनों तीर्थों पर इन्द्रपदादि के चढ़ावों द्वारा प्रचुर द्रव्य खर्च किया सर्व तीर्थों की यात्रा करके सा० सामल के संघ के साथ पूज्य जिनचन्द्रसूरि आषाढ़ चातुर्मास्य के दिन वायड गांव आए और महावीर की यात्रा कर श्रावण वदि में विधि-समुदाय के साथ जिनचन्द्रसूरि ने भीमपल्ली में प्रवेश किया।

संघ के साथ आए हुए भणशाली लूणा श्रावक ने पूज्यपाद आचार्य के समक्ष अपनी तरफ से संघ के पाश्चात्य-पद की व्यवस्था का भार निभा कर जो पुण्य उपार्जित किया था, वह सब अपनी माता भा० धनी सुश्राविका को दिया[1] और धनी ने श्रद्धापूर्वक उसका अनुमोदन किया।

---

१. भणशाली लूणा श्रावक द्वारा संघ के पाश्चात्य भार वहन करने से उत्पन्न पुण्य को अपनी मां को गुरु की साक्षी से अर्पण करने की बात कही गई है, परन्तु जैन

आषाढ़ शुक्ल ६ की रात्रि में डेढ़ पहर रात्रि व्यतीत होने पर चतुर्विध संघ को मिथ्यादुष्कृत कर समाधिपूर्वक देह छोड़कर स्वर्गवासी हुए ।

श्रावक-समुदाय ने नारियल आदि फल उछालते हुए ले जाकर आपका अन्तिम देहसंस्कार किया ।

चातुर्मास्य के अनन्तर जयवल्लभ गणि जिनचन्द्र का दिया हुआ लेख-पत्र लेकर भीमपल्ली राजेन्द्राचार्य के पास गए, वहां से आचार्य साधु समुदाय के साथ पाटन पहुंचे, उस प्रदेश में दुर्भिक्ष चल रहा था तो भी श्रीपूज्य के आदेश का पालन करने के निमित्त राजेन्द्राचार्य ने सं० १३७७ के ज्येष्ठ वदि ११ को कुम्भलमेर में मूलपद स्थापना का निश्चित किया ।

बाद में सा० तेजपाल श्रावक ने मूलपद स्थापना का महोत्सव करने का भार स्वीकार कर विधिमार्ग श्रावकों वाले सर्व गांव नगरों में कुंकुम-पत्रिकायें भेजी, सर्व स्थानों के विधिसमुदाय नियत दिन पर पाटन आ पहुंचे, ठक्कुर विजयसिंह भी श्रीपूज्यदत्त चिट्ठी का गोलक लेकर दिल्ली से पाटन आया, श्री राजेन्द्रचन्द्राचार्य, विवेकसमुद्र महोपाध्याय, प्रवर्तक जयवल्लभ गणि, हेमसेन गणि, वाचनाचार्य हेमभूषण गणि प्रमुख साधु ३३ और जयर्द्धि महत्तरा, प्रवर्तिनी बुद्धिसमृद्धि, प्रियदर्शना प्रमुख २३ साध्वियां सर्व-स्थानीय श्रावकसमुदाय के सामने जयवल्लभ गणि के हस्तक का लेख और ठा० विजयसिंह वाला चिट्ठी का गोलक राजेन्द्रचन्द्राचार्य को दिया, पत्र तथा चिट्ठी सभा में पढ़ी गई, सुनकर चतुर्विध विधि-संघ आनन्दित हुआ और ४० वर्ष की उम्र वाले वाचनाचार्य कुशलकीर्ति को शान्तिनाथ देव के सामने आचार्य-पद प्रदान किया गया और "जिनकुशलसूरि" यह नाम रक्खा ।

(१२) जिनकुशलसूरि --

उसके बाद श्री जिनकुशलसूरिजी भीमपल्ली गए, और प्रथम चातु-र्मास्य वहीं किया, सं० १३७८ के माघ शुक्ल ३ को भीमपल्ली में नन्दी-महोत्सव हुआ । श्री राजेन्द्रचन्द्राचार्य ने माला ग्रहण की और देवप्रभ मुनि को दीक्षा दी, तथा वाचनाचार्य हेमभवन गणि को अभिषेक पद

और पं० मुनिचन्द्र गणि को वाचनाचार्य-पद प्रदान किया, उसी वर्ष में विवेकसमुद्रोपाध्याय का आयुष्य समाप्त होता जानकर भीमपल्ली से श्रीपूज्य पाटन गए और ज्येष्ठ वदि १४ के दिन विवेकसमुद्रोपाध्याय को चतुर्विध संघ के साथ मिथ्यादुष्कृत कराके अनशन दिया, उपाध्यायजी पंचपरमेष्ठो नमस्कार मन्त्र का स्मरण करते हुए समाधि पूवक ज्येष्ठ शुदि २ को स्वर्गवासी हुए।

उसके बाद श्रीपूज्य ने विधि-समुदाय को उपदेश देकर श्री विवेक-समुद्र उपाध्याय के शरीर-संस्कार भूमि में स्तूप करवाया और आषाढ़ शुक्ल १३ को उस पर वासक्षेप किया, बाद में पाटन के समुदाय की प्रार्थना से पाटन में द्वितीय चातुर्मास्य किया।

सं० १३७६ के मार्गशीर्ष वदि ५ को पाटन में विधिचैत्य में प्रतिष्ठा-महोत्सव कराया और उसी दिन सा० खीमड श्रावक के उद्यम से और सा० तेजपालादि विधि-समुदाय की तरफ से शत्रुञ्जय तीर्थ पर श्री युगादिदेव के विधिचैत्य का प्रारम्भ किया गया, पाटन के इस महोत्सव में श्री शान्तिनाथ प्रमुख के शैलमय, रत्नमय, पित्तलमय १५० जिनबिम्बों की, दो समवसरणों की, श्री जिनचन्द्रसूरि, जिनरत्नसूरि और अधिष्ठायकों की मूर्तियों की श्रीपूज्य ने प्रतिष्ठा की।

बाद में श्री बीजापुर के संघ की प्रार्थना से श्रीपूज्य बीजापुर पधारे और बीजापुर से वहां के समुदाय के साथ त्रिशृंगम पधारे, त्रिशृंगम से बीजापुर के तथा वहां के समुदाय के साथ आरासण तथा तारंगातीर्थ की यात्रा कर श्री जिनकुशलसूरिजी पाटन पहुंचे और तीसरा चातुर्मास्य वहां किया।

सं० १३८० कार्तिक शुक्ल १४ को सा० तेजपाल श्रावक ने शत्रुञ्जय तीर्थ पर तैयार होने वाले विधि-चैत्य योग्य श्री युगादिदेव का २७ अंगुल परिमाण जिनबिम्ब जो तैयार करवाया था, उसकी प्रतिष्ठा की, अन्य भी अनेक शैलमय, पित्तलमय बिम्बों तथा जिनप्रबोधसूरि,

जिनचन्द्रसूरि की दो मूर्तियों कपर्दियक्ष, क्षेत्रपाल, अम्बिका आदि की मूर्तियां उसमें प्रतिष्ठित हुईं ।

शत्रुञ्जय पर विधीयमान प्रासाद योग्य दण्ड-ध्वज की प्रतिष्ठा भी इसी प्रतिष्ठा-महोत्सव में की ।

उसके बाद उसी वर्ष में दिल्ली निवासी सा० रयपति श्रावक ने बादशाह श्री गयासुद्दीन का फरमान हासिल कर पाटन श्रीपूज्य को अपनी तरफ से विज्ञप्ति करने के लिए मनुष्य भेजे और श्री जिनकुशलसूरिजी ने भी तीर्थयात्रा का आदेश दिया । गुरु आदेश प्राप्त कर हृष्ट-चित्त श्रीरयपति ने अपने कुटुम्ब के अतिरिक्त योगिनीपुर का तथा योगिनीपुर निकटवर्ती अनेक गांवों का विधि-समुदाय बुला कर वैशाख वदि प्रथम ७ को योगिनी-पुर से प्रस्थान किया । प्रथम संघ कन्यानयन गया और श्री महावीर देव की यात्रा करके ग्राम, नगर आदि में होता हुआ संघ नरभट पहुँचा और पार्श्वनाथ की यात्रा की, वहां से संघ फलौदी पार्श्वनाथ की यात्रार्थ गया । वहां से संघ जालोर पहुँचा और बड़े ठाट से वहां की यात्रा की, वहां से संघ भीनमाल पहुँचा और शान्तिनाथ की यात्रा की, वहां से प्रयाण कर संघ भीमपल्ली, वायड महास्थान में महावीर की यात्रा करता हुआ ज्येष्ठ वदि १४ को श्री पाटन पहुँचा ।

पाटन के देवालयों की यात्रा की और श्री जिनकुशलसूरिजी को संघ में पधारने की प्रार्थना की । वर्षाकाल निकट जानते हुए भी श्रीपूज्य संघ का अपमान नहीं करना चाहिए, इस भावना से वर्षा-चातुर्मास्य की भी अवगणना कर १७ साधु और जयर्द्धि महत्तरा प्रमुख १९ साध्वियों के परिवार सहित सा० रयपति के संघ में सम्मिलित हुए और बड़े आडम्बर के साथ ज्येष्ठ शुक्ल ६ के दिन संघ आगे रवाना हुआ ।

क्रमशः दण्डकारण्य[1] जैसे वालाक देश को उल्लंघन कर संघ श्री शत्रुञ्जय की तलहटी में पहुँचा, वहां पार्श्वनाथ की यात्रा की और

---

१. गुर्वावली-लेखक ने सौराष्ट्र के "भाल" प्रदेश को दण्डकारण्य की उपमा दी है, यह उनका साहित्य विषयक अज्ञान सूचन करता है, क्योंकि उपमा वहीं दी जाती है जो

आषाढ़ वदि ६ के दिन तीर्थाधिराज शत्रुञ्जय पर चढ़े और युगादिदेव की यात्रा की। संघपति श्री रयपति ने सुवर्णटंकों से नवांग पूजा की और करवाई, अन्य महर्द्धिक श्रावकों ने भी रूप्य टंकादि से पूजा की। उसी दिन श्री युगादिदेव के आगे देवभद्र और यशोभद्र क्षुल्लकों की दीक्षा सम्पन्न हुई और आषाढ़ वदि ७ को जल-यात्रा करके श्री युगादिदेव के मूलचैत्य में स्वकारित नेमिनाथ बिम्ब प्रमुख अनेक जिनबिम्बों, भण्डागार योग्य समवसरण, जिनपतिसूरि, जिनेश्वरसूरि प्रमुख अनेक गुरु-मूर्तियों की श्री जिनकुशलसूरिजी ने प्रतिष्ठा की और उसी दिन पाटन में प्रतिष्ठापित युगादिदेव के मूल नायक बिम्ब की शत्रुञ्जय पर नवनिर्मित प्रासाद में स्थापना की। आषाढ़ वदि ६ को मालारोपण आदि उत्सव युगादिदेव के मूलचैत्य में किया, उसी दिन सुखकीर्ति गणि को वाचनाचार्य-पद दिया और नूतन प्रासाद में ध्वजारोप महोत्सव हुआ।

उक्त महोत्सव में इन्द्रपद आदि के चढ़ावे तथा अन्य तरीकों से युगादिदेव के भण्डागार में द्विवल्लक ५००८० द्रम्म उत्पन्न हुए।

बाद में श्रीपूज्य संघ के साथ तलहटी में संघ के पड़ाव पर आए और वहां से गिरनार तीर्थ की यात्रा के लिए जूनागढ़ की तरफ चले और आषाढ़ शुक्ल १४ के दिन संघ ने गिरनार पर श्री नेमिनाथ की यात्रा की। यहां पर भी सा० रयपति प्रमुख श्रावकों ने सुवर्णटंकादि से पूजा की और संघ चार दिन ठहरा तथा महापूजा, ध्वजारोपादि महोत्सव किए। यहां नेमिनाथ के देवभण्डार में द्विवल्लक ४० हजार द्रम्म उत्पन्न हुए, उसके बाद पर्वत से उतर कर आचार्य तलहटी में संघ के स्थान पर आए और वहां से संघ वापस पाटन के लिए रवाना हुआ।

संघवी रयपति पूज्य आचार्य को वन्दन कर पाटन से रवाना हुआ, बीच में कोशवाणा में श्री जिनचन्द्रसूरि के स्तूप पर ध्वजारोप किया, फिर

उपमेय से मिलती-जुलती हो। माल प्रदेश ऐसा स्थान है जहां घास तक नहीं उगता, तब दण्डकारण्य ऐसी घनी वनस्पति वाला प्रदेश है, जहां सामान्य मनुष्य चल भी नहीं सकता। ऐसे एक दूसरे के विरुद्ध स्वभाव के दो पदार्थों को आपस में उपमेय उपमान बनाना अज्ञान का परिणाम है। 卐

वहां से फलौदी की यात्रा कर देशान्तरीय यात्रिकों को अपने-अपने स्थान पहुँचा कर संघपति ने अपने निवास-स्थान योगिनीपुर में कार्तिक वदि ४ को प्रवेश किया।

सं० १३८१ वैशाख सुदि ५ को सा० तेजपाल, सा० रुद्रपाल ने जलयात्रा पूर्वक प्रतिष्ठा महोत्सव कराया। इस उत्सव में श्री जिनकुशलसूरिजी ने जालोर योग्य महावीर देव का बिम्ब, देवराजपुर युगादिदेव का बिम्ब, शत्रुञ्जय स्थित वूल्ड़ा-वस्ति-प्रासाद जीर्णोद्धारार्थ श्रीश्रेयांस प्रमुख अनेक बिम्ब, शत्रुञ्जय स्थित स्वप्रासादमध्यस्थ अष्टापद योग्य चौबीस जिनबिम्ब इत्यादि शैलमय १५० जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा की। उच्चापुरीय योग्य श्रीजिनदत्तसूरि, जालोर तथा पाटन योग्य जिनप्रबोधसूरि और देवराजपुर योग्य जिनचन्द्रसूरि की मूर्तियों की और अम्बिका आदि अधिष्ठायकों की प्रतिष्ठा की और अपने भण्डार योग्य श्रेष्ठ समवसरण भी प्रतिष्ठित किया। देवभद्र, यशोभद्र क्षुल्लकों की उपस्थापना की, सुमतिसार, उदयसार, जयसार, क्षुल्लकों और धर्मसुन्दरी, चारित्रसुन्दरी, क्षुल्लिकाओं को दीक्षा दी। जयधर्म गणि को उपाध्याय-पद दिया, अनेक साध्वी श्राविकाओं ने माला ग्रहण की।

पाटन से श्रीपूज्य भीमपल्ली पहुँचे और वैशाख वदि १३ को महावीर देव को नमस्कार किया। इसी वर्ष में सा० वीरदेव श्रावक द्वारा रचित संघ के साथ जाने के लिए जिनकुशलसूरिजी ने स्वीकार किया। सा० वीरदेव ने बादशाह गयासुद्दीन से फर्मान निकलवा के नाना स्थानों के समुदायों को कुंकुम-पत्रिका देकर बुलाया, श्रीजिनकुशलसूरिजी भी सा० वीरदेव तथा संघ के आग्रह से चतुर्मास्य निकट होने पर भी ज्येष्ठ वदि ५ को भीमपल्ली से संघ के साथ रवाना हुए। श्री वायड़, सेरीसक आदि स्थानों में ठहर कर ध्वजारोप की रस्म करता हुआ संघ सरखेज नगर पहुँचा। निकटवर्ती आशापल्ली नगर के विधि-समुदाय की प्रार्थना से जिनकुशलसूरि कतिपय श्रावकों के साथ आशापल्ली पधारे, आशापल्ली की यात्रा कर आप वापस संघ में आए और वहां से सर्व संघ स्तम्भतीर्थ पहुँचा, नवांग वृत्तिकार अभयदेवसूरि प्रकटित श्री स्तम्भनक पार्श्वनाथ

विधिचैत्य में अजितनाथ को यात्रा की। आठ दिन तक संघ वहां ठहरा और इन्द्रमाला द्विवल्लक १२००० द्रम्म में पहनी गई, खम्भात से प्रस्थान कर संघ शून्य प्रदेशों में चलता हुआ शत्रुञ्जय की तरफ आगे बढ़ा, बीच में आने वाले धन्धूका नगर में ठ० उदयकरण श्रावक ने संघ वात्सल्य आदि किया। क्रमशः संघ शत्रुञ्जय की तलहटी में पहुँचा, वहां से श्रीपूज्य शत्रुञ्जय पर चढ़े और दूसरी बार श्री युगादिदेव की यात्रा की। दस दिन तक संघ वहां ठहरा और इन्द्रपदादि के चढ़ावे किये। श्री युगादिदेव के भण्डार में देकर विधि-संघ ने १५ हजार द्विवल्लक द्रम्म सफल किये, अपने युगादिदेव के विधि-चैत्य में नई तैयारी हुई। २४ देवगृहिकाओं पर श्रीपूज्य ने कलश-ध्वजारोप किया, इसके अनन्तर श्रीपूज्य संघ के साथ तलहटी में आए, बाद में सर्व संघ आया उसी रास्ते गया। क्रमशः सेरीशे होकर शंखेश्वर पहुँचे। वहां चार दिन ठहर कर ध्वजारोप आदि करके संघ के साथ श्री जिनकुशलसूरि श्रावण शुक्ल ११ को भीमपल्ली पहुँचे[१]। देशान्तरीय यात्रिकगण अपने-अपने स्थान पहुँचे।

---

१ जिनचन्द्रसूरिजी ने यात्रा निमित्त दो बार चातुर्मास्य में भ्रमण करने के जो अपवाद सेवन किये थे उन पर टिप्पण करते हुए हम लिख आये हैं कि चातुर्मास्य में इधर उधर होने की अनागमिक रीति योग्य नहीं है, हमारे उस कथन के अनुसार ही परिणाम आया, जिनचन्द्रसूरिजी दो बार इधर-उधर हुए थे तब उनके पट्टधर श्री जिनकुशलसूरिजी ने भी चातुर्मास्य में दो बार यात्रार्थ भ्रमण किया।

प्रथम यौगिनीपुर निवासी सा० रयपति के संघ के साथ सौराष्ट्र तीर्थ की यात्रा के लिए जाकर वापस भाद्रपद वदि ११ को पाटन पहुंचे थे और चातुर्मास्य वहां पर पूरा किया था।

दूसरी बार भीमपल्ली निवासी सा० वीरदेव के संघ के साथ उन्हीं तीर्थों की यात्रा करने गये और श्रावण शुक्ल ११ को वापिस भीमपल्ली में प्रवेश किया था।

इसी प्रकार खरतरगच्छ के आचार्यों ने नाम मात्र का निमित्त पाकर चौमासे में इधर उधर जाने में पाप नहीं समझा और खूबी यह है कि इनके पिछले गुर्वावलीकार लेखक "रायाभिओगेणं" इस आगार को आगे कर इस अनुचित प्रवृत्ति का बचाव करते हैं, उनको समझ लेना चाहिये कि इन बातों में "राजाभियोग, गणाभियोग" लागू ही नहीं होता। राजा साधुओं को वर्षाकाल में इधर उधर

सं० १३८२ के वैशाख सुदि ५ को सा० वीरदेव ने वहां नन्दि-महोत्सव किया और श्रीपूज्यजी ने उसमें चार क्षुल्लक, २ क्षुल्लिकाओं को दीक्षा दी, जिनके नाम विनयप्रभ, हरिप्रभ, सोमप्रभ आदि और कमलश्री तथा ललितश्री, इसके बाद श्रीपूज्य सांचोर पहुँचे।

एक मास सांचोर ठहर कर आगे लाटहृद (राडदरा) गए। वहां पर १५ दिन ठहर कर आगे बाडमेर गए और वर्षा चातुर्मास्य वहीं किया।

सं० १३८३ के पौष शुक्ल पूर्णिमा को बाडमेर में अट्ठाहिमहोत्सव हुआ और उसमें नव-दीक्षितों की उपस्थापना, मालारोपणादि उत्सव हुए। उसी वर्ष में बाडमेर से विहार कर लवणखेट (पचपदरा) सिवाना होते हुए जालोर पहुँचे और वहां पर अट्ठाही-महोत्सव शुरु हुआ, जिसमें १३८३ के फाल्गुन वदि ६ को श्री जिनकुशलसूरिजी ने प्रतिष्ठा, व्रतग्रहण, उपस्थापना, मालारोपणादि कार्य कराये और उस उत्सव में वैभारगिरि

होने की आज्ञा क्यों देंगे ? राजनीति तो साधु, नट, नर्तक आदि घुमक्कड जातियों को वर्षाकाल में एक स्थान में रहने की आज्ञा देती है, तब खरतरगच्छ के आचार्यों को वह वर्षाकाल में घूमने की आज्ञा क्यों देगी। युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरिजी वर्षाकाल में बादशाह अकबर के पास जाने को रवाना हुए और जालोर तक पहुंचने के बाद उनको बादशाह की तरफ से समाचार पहुंचे कि वर्षाकाल में चलते हुए आने की कोई आवश्यकता नहीं है, तब आपने शेष वर्षाकाल जालोर में बिताया, जहां तक हम समझ पाये हैं श्री जिनदत्तसूरिजी से ही खरतरगच्छ के अनुयायियों को गुरुपारतन्त्र्य का उपदेश मिलना प्रारम्भ हो गया था, उसके ही परिणाम स्वरूप खरतरगच्छ में यह बात एक सिद्धान्त बन गया है कि आगम से आचार्यपरम्परा अधिक बलवती है, किसी प्रसंग पर आचरणा के विपरीत आगम की बात होगी तो आगमिक नियम को छोड़कर आचरणा की बात को प्रमाण माना जायगा, शास्त्र विरुद्ध यात्रार्थभ्रमण और वर्षाकाल तक की उपेक्षा करना उसका कारण एक ही है कि वे इस प्रकार की प्रवृत्तियों के विरुद्ध कुछ भी कह नहीं सकते थे, ठीक है, गुरु पारतन्त्र्य में रहना चाहिए, परन्तु पारतन्त्र्य का अर्थ यह तो नहीं होना चाहिए कि शास्त्रविरुद्ध अथवा लोकविरुद्ध, प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में भी गुरुओं को कुछ नहीं कहा जाय, आंखें मुन्दकर गुरुओं की प्रवृत्तियों को निभाने का परिणाम यह होगा कि धीरे-धीरे गुरु और गच्छ दुनिया से विदा हो चलेंगे। ★

पर के चतुर्विंशति जिनालय के मूलनायक श्री महावीरदेव प्रमुख अनेक शैलमय-बिम्बों, पित्तलमय-बिम्बों, गुरु-मूर्तियों तथा अधिष्ठायक-मूर्तियों की प्रतिष्ठा हुई। ६ क्षुल्लक किये जिनके नाम न्यायकीर्ति, ललितकीर्ति, सोमकीर्ति, अमरकीर्ति, नमिकीर्ति और देवकीर्ति दिये थे। उसके बाद देवराजपुर के श्रावकों के अत्याग्रह से श्री जिनकुशलसूरिजी ने चैत्र वदि में सिन्ध की तरफ विहार करने का मुहूर्त किया। सिवाना, खेडनगर आदि स्थानों में होते हुए जसलमेरु पहुँचे। वहां १६ दिन ठहर कर उच्चा आदि स्थानों में होते हुए श्रीपूज्य देवराजपुर पहुँचे और श्री युगादिदेव को नमस्कार किया।

देवराजपुर में एक मास की स्थिरता कर वहां से विहार कर उच्चा पहुँचे। एक मास तक वहां ठहर कर विधिसमुदाय को स्थिर कर चातुर्मास्य करने के लिए आप फिर देवराजपुर पहुँचे। चातुर्मास्य के बाद सं० १३८४ में माघ शुक्ला ५ को आपने वहां पर प्रतिष्ठामहोत्सव करवाया। इस महोत्सव में राणुकोट, कियासपुर के चैत्यों के मूलनायक योग्य श्री युगादिदेव के २ बिम्ब तथा अन्य अनेक पाषाणमय तथा पित्तलमय बिम्बों की प्रतिष्ठा हुई, तथा नव-क्षुल्लक बनाये और तीन क्षुल्लिकाएं, इनके नाम – भावमूर्ति, मोदमूर्ति, उदयमूर्ति, विजयमूर्ति, हेममूर्ति, भद्रमूर्ति, मेघमूर्ति, पद्ममूर्ति और हर्षमूर्ति इनको दीक्षा दी और कुलधर्मा, विनयधर्मा, शीलधर्मा इन साध्वियों को भी।

सं० १३८५ में फाल्गुन शुक्ल ४ के दिन श्री जिनकुशलसूरिजी ने उत्सव कराया। उसमें पं० कमलाकर गणि को वाचनाचार्य-पद दिया, नूतन दीक्षितों की उपस्थापना की और मालारोपणादि कार्य हुए।

सं० १३८६ के वर्ष में बहिरामपुरीय संघ की प्रार्थना से श्रीपूज्य बहरामपुर गए और ठाट से नगर प्रवेश कर पार्श्वनाथ के दर्शन किये, कुछ दिन वहां ठहरे और वहां से विहार कर क्यासपुर गये और वहां से भारवाहन की तरफ विहार किया, छः दिन तक वहां ठहर कर वापस क्यासपुर की तरफ विचरे।

सं० १३८७ के वर्ष में उच्चकीय समुदाय के आग्रह से और १२ साधुओं के परिवार के साथ उच्चा गए और एक मास वहां ठहरे, बाद में परसुरोरकोट के श्रावकों के आग्रह से वहां पधारे, वहां से विहार करके बहिरामपुर पहुँचे, वहां से क्यासपुरादि होते हुए, वर्षा चातुर्मास्य करने देवराजपुर पहुंचे।

चातुर्मास्य के बाद १३८८ के वर्ष में बिम्बप्रतिष्ठा संस्थापनादि के लिए उत्सव करवाया। उच्चापुरीय, बहिरामपुर, क्यासपुर, सिलारवाणादि अनेक गांवों के रहने वाले सिन्धदेश के समुदायों की हाजरी में मार्गशीर्ष शुक्ला १० के दिन तरुणकीर्ति गणि को आचार्यपद दिया और तरुणप्रभाचार्य नाम रक्खा। पं० लब्धिनिधान गणि को अभिषेक पद देकर लब्धिनिधानोपाध्याय बनाया और जयप्रिय मुनि, पुण्यप्रिय मुनि को क्षुल्लक बनाया और राजश्री तथा धर्मश्री को क्षुल्लिका बनाया, उसके बाद देराउर में चातुर्मास्य किया।

श्रीपूज्य अपना अन्त समय देखकर चातुर्मास्य के बाद भी उसी क्षेत्र में ठहरे, माघ महीने में ज्वरश्वासादि के बढ़ जाने से अपना निर्वाण समय निकट समझकर तरुणप्रभाचार्य को और लब्धिनिधानोपाध्याय को अपने पट्ट के योग्य पद्ममूर्ति क्षुल्लक को बनाकर उसको पद प्रतिष्ठित करने की शिक्षा दे के सं० १३८९ के फाल्गुन कृष्ण ५ को चतुर्विध संघ के साथ मिथ्यादुष्कृत देने के बाद रात्रि के लगभग दो पहर बीतने पर आपने देह छोड़ देवगति को प्रयाण किया। आपके अग्निसंस्कार स्थान पर देवराजपुर के विधि-समुदाय ने स्तूप निर्माण करवाया।

सं० १३९० के ज्येष्ठ शु० ६ को मिथुन लग्न में देवराजपुर के युगादि जिनचैत्य में तरुणप्रभाचार्य ने जयधर्मोपाध्याय, लब्धिनिधानोपाध्याय प्रमुख ३० साधु, अनेक साध्वी समुदाय की हाजरी में भावना के अनुसार पद्ममूर्ति क्षुल्लक को श्री जिनकुशलसूरिजी के पट्टपर स्थापित किया, पूज्य के आदेशानुसार ही "श्री जिनपद्मसूरि" यह नाम दिया। इस पद स्थापना महोत्सव पर- जयचन्द्र, शुभचन्द्र, हर्षचन्द्र, महाश्री, कनकश्री, क्षुल्लिकाओं को जिनपद्मसूरिजी ने दीक्षा दी। पं० अमृतचन्द्र गणि को वाचनाचार्य-पद हुआ।

(१३) जिनपद्मसूरि –

सं० १३६० के ज्येष्ठ शुक्ल ६ को युगादिदेव प्रमुख जिनबिम्बों और स्तूप योग्य, जैसलमेर योग्य, क्यासपुर योग्य, जिनकुशलसूरिजी की तीन मूर्तियों की प्रतिष्ठा करने के लिए उत्सव किया और उसी दिन स्तूप में जिनकुशलसूरि की मूर्ति स्थापित की, बाद में श्रीपूज्य जिनपद्मसूरिजी ने दो उपाध्याय प्रमुख १२ साधुओं के साथ जैसलमेर की तरफ विहार किया और प्रथम चातुर्मास्य जैसलमेर में किया।

सं० १३६१ के पौष वदि १० को जैसलमेर में लक्ष्मीमाला गणिनी को प्रवर्तिनी-पद दिया, फिर बाड़मेर को तरफ विचरे। दस दिन तक वहां ठहर कर सांचोर की तरफ विहार किया, वहां पर माघ शुक्ला ६ के दिन समुदाय की तरफ से नन्दिउत्सव किया। उसमें नयसागर, अभयसागर क्षुल्लकों को दीक्षा दी। वहां मास से कुछ कम ठहर कर वहां से आदित्य-पाटक गए और शान्तिनाथ की यात्रा की, उसके बाद माघ पूर्णिमा को समुदाय की तरफ से प्रतिष्ठा-महोत्सव किया। उसमें युगादिदेव आदि के ५०० बिम्बों की श्रीपूज्य ने प्रतिष्ठा की।

सं० १३६२ मार्गशीर्ष वदि ६ के दिन २ क्षुल्लकों की उप-स्थापना की।

सं० १३६३ के कार्तिक मास में पाटणस्थित श्रीपूज्य ने लघुवय के होते हुए भी प्रथमोपधान तप वहन किया, वहां से फाल्गुन वदि १० को पाटन से जीरावला की यात्रा के लिए प्रयाण किया। नारउद्र होते हुए श्रीपूज्य आशोटा (आसेडा) पहुंचे। वहां भीमपल्लीय सा० वीरदेव श्रावक ने विधिसमुदाय के साथ श्रीराज० रुद्रनन्दन, राज० गोधा आदि को साथ में लेकर प्रवेशोत्सव कराया। वहां से श्रीपूज्य विचरते हुए बूजद्री पधारे।

उसी वर्ष में सा० मोकदेव ने आबू की यात्रा के लिए श्रीपूज्य से प्रार्थना की और उन्होंने स्वीकृति दी। चैत्र शुक्ल ६ के दिन तीर्थयात्रा योग्य देवालय में शान्तिनाथ को स्थापित कर वासक्षेप किया, फिर अट्ठाई

उत्सव कर चैत्र शुक्ल पूर्णिमा को बूजड़ी से संघ का प्रस्थान हुआ, श्रीपूज्य भी लब्धिनिधान उपाध्याय, वा० अमृतचन्द्र गणि प्रमुख १५ साधु और जयर्द्धि महत्तरा प्रमुख ८ साध्वियों के परिवार सहित चले। क्रमशः संघ आबू पहुँचा और विमलविहार में श्री आदिनाथ और लूणिकविहार में नेमिनाथ प्रमुख तीर्थङ्करों की यात्रा की। विधि-संघ ने इन्द्रपद आदि चढ़ावों में तथा अन्य उत्सवों में ५०० रूप्य टंक सफल किये, वहां से संघ के साथ श्रीपूज्य मुडस्थला (मुंगुथला) गांव जाकर जिनपतिसूरि की मूर्ति को वन्दन किया। वहां से संघ जीरापल्ली पहुँचा, वहां भी युगादिदेव के प्रासाद में २०० टंक खर्च किये। वहां से प्रयाण कर संघ आरासण गया और नेमिनाथ प्रमुख पचतीर्थों की यात्रा की। इन्द्रपदादि के चढ़ावों द्वारा १५० रूप्य टंक खर्च किये, वहां से संघ तारंगा पहुँचा और अजित-नाथ की यात्रा की, वहां भी इन्द्रपदादि के चढ़ावों में २०० रूप्य टंक खर्च किये। वहां से वापस लौट कर संघ त्रिशृङ्गमक पहुँचा। श्रीपूज्य ने वहां के सर्व चैत्यों की यात्रा की, संघ ने इन्द्रपदादि द्वारा पार्श्वनाथ के प्रासाद में १५० रूप्य टक खर्च किये। वहां से लौट कर चन्द्रावती के मार्ग से श्रीपूज्य बूजड़ी पधारे और वर्षा चातुर्मास्य वहीं किया।

राजाओं का मोह –

खरतरगच्छ की पट्टावलियों तथा गुर्वावलियों के लेखकों को राजाओं तथा महाराजाओं का बड़ा मोह था, एक साधारण गांव के जागीरदार अथवा कोली ठाकुर को भी राजा कहकर अपने गुरुओं के नगरप्रवेशों का महत्त्व बढ़ाया है, एक छोटे में गांवड़े का गिरासिया ठाकुर भी उनकी दृष्टि में बड़ा राजा तथा राजाधिराज था, इस प्रकार के बृहद् गुर्वावली में आने वाले नामों की एक लम्बो नामावली देकर खरतरगच्छ के एक लेखक महोदय ने "खरतरगच्छ गुर्वावलो का ऐतिहासिक महत्त्व" इस शीर्षक के नीचे नामावलि में सूचित राजा, महाराजा, जागीरदारों के संबन्ध में चर्चा की है। प्रस्तुत लेख में बृहद् गुर्वावली की प्रशंसा करने में लेखक ने सीमो-ल्लंघन कर दिया है। कई स्थानों में तो गुर्वावली के खरे अर्थ को छिपाकर

कल्पित अर्थ लगाकर अपने आचार्यों का महत्त्व बढ़ाया है, इस सम्बन्ध में एक दो दृष्टान्त देकर इस चर्चा को पूरा कर दिया जायगा।

१. बृहद् गुर्वावली में सं० १२४४ की हकीकत में पाटन के रहने वाले "व्यवहारी अभयकुमार सेठ" को खरतरगच्छ का एक अनुयायी भणशाली कहता है – 'अभयकुमार! तुम हमारे स्वजन हो, करोड़पति हो और राजमान्य हो, परन्तु इससे हमको क्या फायदा, जो हमारे गुरुओं को गिरनार, शत्रुञ्जय आदि तीर्थों की यात्रा नहीं करवाते।" भणशाली की इस बात से उत्साहित होकर अभयकुमार ने उसे आश्वासन दिया और महाराजा भीमदेव तथा उनके "प्रधान मन्त्री जगद्देव पडिहार" को मिलकर अजमेर से संघ निकलवाने की राजाज्ञा लिखवायी और अजमेर के खरतरगच्छ संघ तथा जिनपतिसूरि के नाम दो पत्र लिखकर अपने लेखवाहक द्वारा अजमेर के संघ के पास भेजे, अभयकुमार मार्फत आयी हुई राजाज्ञा तथा अभयकुमार के पत्रों को पढ़कर अजमेर के संघ के साथ जिनपतिसूरिजी ने यात्रा के लिए प्रयाण किया और वहां से सीधे आबु के निकटवर्ती चन्द्रावती होकर आशापल्ली आये और खंभात होते हुए, सौराष्ट्र के तीर्थों में गये, वहां की यात्रा करके संघ वापस आशापल्ली होता हुआ अन्त में पाटन आया, और वहां से अपने स्थान अजमेर पहुँचा तब "ऐतिहासिक महत्त्व लेखक" "पाटन से ही अभयकुमार की तरफ से संघ निकलवाता है। यह झूठा प्रचार नहीं तो क्या है? राजाज्ञा अजमेर पहुंचाने के बाद अभयकुमार का संघ के प्रकरण में कहीं नाम तक नहीं मिलता तब लेखक अभयकुमार द्वारा संघ निकलवाने की बात करते हैं, खरी बात तो यह है कि "खरतरगच्छ के पट्टधर आचार्यों के पाटन आने पर राजकीय प्रतिबन्ध लगा हुआ था," इसलिए संघ पाटन होकर ही नहीं पाटन राज्य की हद में होकर भी आ नहीं सकता था, इसलिए अभयकुमार ने राजाज्ञा अजमेर भेजी थी। अभयकुमार स्वयं पाटन से संघ निकालता तो राजाज्ञा अजमेर क्यों भेजता? और अजमेर का संघ पाटन को छोड़कर सीधा तीर्थों में क्यों जाता।

२. "सं० १२८६ में श्री जिनेश्वरसूरिजी के खम्भात जाने पर महामात्य वस्तुपाल द्वारा उनका समारोह से नगरप्रवेशोत्सव किया गया था,"

ऐसा लेखक लिखता है, यह भी गलत है – जिनेश्वरसूरि का नगरप्रवेशोत्सव उनके भक्तों ने किया था और वस्तुपाल भी अपने मित्रों के साथ उसमें सम्मिलित हुए थे इतना ही गुर्वावली में लिखा है।

३. बृहद् गुर्वावली में संवत् १३५३ में मुसलमानों द्वारा पाटन का भंग होने की बात गुर्वावलीकार ने लिखी है, यह भी सुनी सुनायी झूठी अफवाह लिख दी है, पाटन का भंग १३५३ में नहीं किन्तु १३६० में हुआ था, पहले मुसलमान पाटन पर चढ़ाई कर गुजरात तरफ आये थे, सही परन्तु आबु के निकट से ही गुजराती सैन्य की मार खाकर वापस भाग गए थे। स० १३६० तक पाटन में वाघेले सोलंकियों का ही राज्य था।

यों तो बृहद्गुर्वावली अतिशयोक्तियों, अफवाहों और कल्पित वर्णनों का खजाना है, परन्तु उन सभी बातों की चर्चा करने से कोई सारांश नहीं निकलता, जो कुछ इतिहास और वास्तविकता से विपरीत बातें प्रतीत हुई उनमें से कतिपय वृत्तान्तों की खरी समीक्षा लिखनी पड़ी है, आशा है, इसे पढ़कर पाठक गण सार ग्रहण करेंगे।

हस्तलिखित खरतर-गच्छीय पट्टावलियां

हमारे शास्त्र-संग्रह में कुछ हस्तलिखित खरतर पट्टावलियां भी हैं, जिनमें नम्बर २३२४,२३२७,२३२८,२३२९,२३३३ की पट्टावलियां खरतर-गच्छ के आचार्यों की परम्परा का प्रतिपादन करती हैं, यद्यपि इन पट्टावलियों में अव्यवस्थितता है, फिर भी इनमें से कुछ पट्टावलियों में विशेष वृत्तान्त भी मिलते हैं, अतः इन का अवलोकन लिखना प्रासंगिक होगा।

पट्टावली नम्बर २३२४ – उक्त पट्टावली १५ पत्रात्मक है, इसका लेखन समय विक्रम की सत्रहवीं शती का उत्तरार्ध है, लेखक ने अपना नाम नहीं लिखा फिर भी यह पट्टावली श्री जिनराजसूरि के समय की है, इसमें कोई शंका नहीं। पट्टावली लेखक का निम्नांकित उल्लेख इस पट्टावली का समय सूचित करता है – **"श्री जिनचन्द्रसूरि अनेक अवदातकीधा वृद्धावस्थायि पातिसाहजी कनई जई षट्दर्शन मुगता कीधा, अन्त समयि अणसण करी सं० १६७० आसु वदि २ बीलपुरइ दिवगत थया। दिवंगत हुयां पछेई मुहपती अग्निरइ विषइ साबती रही, तेहना कितराएक अवदात कहीयइ तेहनइ पाटनइ विषइ श्री जिनसिंघसूरि हूया जाणिवा, चौपड़ा गोत्रीय तेहना जितरा दिहाड़ा तितरा पवाडा ते कितरा एक कहियइ, श्री संघइ हृष्टइ दीठा हुती तेहनई पाटरइ विषयि बोहिथरा बंश सिणगारहार चूडामणि समान श्री जिनराजसूरि विजयमान प्रवर्तइ, तेहनई पाटरइ विषइ बोहथहरा वंशीय श्री जिनसागरसूरि थापी (मू० ग्रन्थ।ग्रन्थ ३७६ ॥छः॥) "महो उपाध्याय श्री हंसप्रमोद गणि, महो उपाध्याय श्री चारित्रचंद्र गणि, तत् शिष्य पंडित पीथाजी, तत् शिष्य पं० आणंदलिखितम् ॥छः॥"**

उपर्युक्त पट्टावली में आचार्य परम्परा श्री आर्यरक्षितसूरिजी से प्रारम्भ की है और आर्यरक्षितसूरि के पट्टपर आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी को बिठाया

है, इससे इतना तो पहले से ही निश्चित हो जाता है कि पट्टावली प्रमादपूर्ण है। श्री हरिभद्रसूरि के बाद श्री शांतिसूरि, श्री देविन्दवाचक, गोविन्द-वाचक, उमास्वातिवाचक, श्री जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण, इस क्रम से श्रुत-धरों के नाम लिखने के बाद लेखक कहते हैं — श्री देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण ने वलभी नगरी में सर्वसाधु संघ का सम्मेलन किया और सर्व-सिद्धान्त पुस्तकों में लिखवाएं, भगवान् महावीर से ९८० वें वर्ष में पुस्तक लिखे गए, श्री देवर्द्धि गणि के पट्टपर श्री शीलाङ्काचार्य हुए, जिन्होंने एकादशांगी पर वृत्ति बनाई, शीलाङ्काचार्य के पट्ट पर श्री देवसूरि, इनके पट्ट पर श्री नेमिच-न्द्रसूरि, नेमिचन्द्र के पट्टपर श्री उद्योतनसूरि, उद्योतनसूरि के पट्टपर श्री वर्धमानसूरि, । वर्धमानसूरि के सम्बन्ध में कहा जाता है कि अंभोहर देश में ८४ स्थविरों की मण्डली में श्री जिनचन्द्राचार्य सब से बड़े थे और जिनचन्द्रा-चार्य के शिष्य वर्धमान को सिद्धान्त का अवगाहन करते ८४ आशातनाओं का अधिकार आया, तब आपने गुरु से पूछा कि चैत्य में रहने से आशातनाएं लगती हैं, इस पर से जिनचन्द्रचार्य ने दिल्ली की तरफ विचरते हुए सुविहित श्री उद्योतनसूरिजी को पत्र लिखा कि मेरा शिष्य वर्धमानसूरि आपकी तरफ आरहा है सो आप इसे उपसंपदा देकर जिस प्रकार इसका विस्तार हो वैसा करें, मैंने अपना यह शिष्य आपको सोंप दिया है। वर्धमान उद्योतनसूरिजी के पास गया और उन्होंने योग्य जानकर अपना पट्टधर बना लिया।

वर्धमानसूरि के पट्ट पर जिनेश्वरसूरि तथा बुद्धिसागरसूरि हुए, । एक समय जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि पाटण गए और राजा के पुरोहित के यहां ठहरे, चैत्यवासियों के साथ दुर्लभराज की सभा में जिनेश्वरसूरि का वाद हुआ और साधुओं का "वसति में रहना प्रमाणित हुआ," इससे सं० १०८० में जिनेश्वरसूरि को "खरतर" बिरुद दिया, तब से उनका गच्छ "सुविहित" इस नाम से प्रसिद्ध हुआ और "चौरासी गच्छ" "कोमल" इस नाम से प्रसिद्ध हुए।

इतिहास के जानने वालों को यह समझने में तनिक भी देर न लगेगी कि आर्य रक्षित से पट्टावली की शुरुआत करवा कर उनके बाद हरिभद्र, श्री शान्तिसूरि, श्री देविन्दवाचक, गोविन्दवाचक, उमास्वातिवाचक श्री

जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण और देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण के नाम लिख दिये, इन श्रुतधरों का न पट्टक्रम से सम्बन्ध है, न कालक्रम से ही, जैसे नाम याद आए वैसे ही एक के बाद एक लिख दिए। हरिभद्रसूरि के बाद के सभी श्रुतधर उनके पूर्ववर्ती हैं, तब लेखक ने हरिभद्र को सब से पूर्व में लिखा हैं। देवर्षिगणि के पट्ट पर शीलाङ्काचार्य का नाम लिखना भी इतिहास का अज्ञान ही सूचन करता है। श्री वर्धमानसूरि तथा इनके पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के नाम कल्पनाबल से लिखे गए हैं, वास्तव में यह पट्टावली श्री वर्धमानसूरिजी से प्रारम्भ होती है, यही कहना चाहिए।

"दुर्लभराज की सभा में जिनेश्वरसूरि का चैत्यवासियों के साथ वाद हुआ" यह कथन भी एक विवादग्रस्त प्रश्न है, क्योंकि सं० १०८० के पहले ही राजा दुर्लभसेन सोलंकी इस दुनिया से विदा हो चुके थे। गुजरात पाटन के सोलंकी राजाओं की वंशावली प्राचीन शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों के आधार से विद्वानों ने इस प्रकार तैयार की है –

(१)	मूलराज	सोलंकी	इ०	९४२	से	९९७	तक
(२)	चामुण्ड	,,	,,	९९७	,,	१०१०	,,
(३)	वल्लभसेन	,,	,,	१०१०	,,	१०१०	,,
(४)	दुर्लभसेन	,,	,,	१०१०	,,	१०२२	,,
(५)	भीमदेव (प्रथम)	,,	,,	१०२२	,,	१०७२	,,
(६)	करण	,,	,,	१०७२	,,	१०९४	,,
(७)	सिद्धराज	,,	,,	१०९४	,,	११४३	,,
(८)	कुमारपाल	,,	,,	११४३	,,	११७४	,,
(९)	अजयपाल	,,	,,	११७४	,,	११७७	,,
(१०)	मूलराज (दूसरा)	,,	,,	११७७	,,	११७९	,,
(११)	भीमदेव (दूसरा)	,,	,,	११७९	,,	१२४१	,,
(१२)	त्रिभुवनपाल	,,	,,	१२४१	,,	१२४१	,,

उक्त वंशावली में राजा दुर्लभसेन जिसको खरतरगच्छीय लेखकों ने दुर्लभराज लिखा है, इसका राजत्वकाल इ० १०१० से १०२२ तक रहा था,

इस इसवी सन् को अगर हम विक्रम सं० बना लें तो भी १०७६ के पहले ही दुर्लभसेन का समय पूरा हो जाता है, इस परिस्थिति में दुर्लभराज के द्वारा जिनेश्वरसूरिजी को १०८० में खरतर बिरुद प्राप्त होने की बात प्रमाणित नहीं होती। हम इतना मान लेते हैं कि जिनेश्वरसूरि का पाटन के किसी चौलुक्य राजा को राजसभा में चैत्यवासियों के साथ चर्चा-विवाद होकर साधुओं का वसति-निवास प्रमाणित हुआ था। तथापि इस घटना से उन्हें "खरतर" विरुद मिलने का कथन कल्पना मात्र ही ठहरता है, इस सम्बन्ध में आचार्य श्री जिनदत्तसूरि निर्मित "गणधर सार्द्धशतक" को हमने ध्यान पूर्वक पढ़ा है। जिनदत्तसूरिजी ने अपने इस ग्रन्थ में "खरतर विरुद" मिलने का कोई सूचन नहीं किया, विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में निर्मित सुमतिगणि की "गणधर सार्द्धशतक की बृहद्वृत्ति" को भी हमने अच्छी तरह पढ़ा है। उसमें आचार्य जिनेश्वरसूरि, अभयदेवसूरि, बुद्धिसागर, जिनचन्द्रसूरि और जिनवल्लभसूरि तथा ग्रन्थकर्ता श्री जिनदत्तसूरि के सविस्तर चरित्र दिए गए हैं, चैत्यवासियों के साथ वसतिवास के सम्बन्ध में चर्चा होने की बात सूचित की है, परन्तु किसी भी राजा द्वारा जिनेश्वरसूरि को कोई विरुद मिलने की बात नहीं, ऐसी कोई घटना बनी होती तो जिनदत्तसूरिजी "सार्द्धशतक" के मूल में ही उसका सूचन कर देते पर ऐसा कुछ नहीं किया, न प्राचीन वृत्तिकार श्री सुमतिगणिजी ने ही "खरतर विरुद" की चर्चा की है, इससे निश्चित होता है कि राजा द्वारा "खरतर बिरुद" प्राप्त होने की बात पिछले पट्टावली लेखकों की गढ़ी हुई बुनियाद है।

श्री जिनेश्वरसूरि की परम्परा के कई विद्वान् साधुओं ने संस्कृत तथा प्राकृत भाषा में ग्रन्थों का निर्माण किया है और उनके अन्त में अपनी गुरु-परम्परा की प्रशस्तियां भी दी हैं, जिनमें "चन्द्रकुल" का निर्देश मात्र मिलता है, कहीं भी "खरतर" शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, जहां तक हमें ज्ञात हुआ है, "खरतर" शब्द श्री जिनदत्तसूरिजी के लिए प्रयुक्त हुआ है और वह भी इनके विरोधी साधुओं की तरफ से, जिनदत्तसूरि की प्रकृति कितनी कठोर भाषी थी, यह बात इनके ग्रन्थों के पढ़ने से जानी जाती है।

श्री जिनवल्लभ गरिण की पीठ थपेड़ कर उन्हें पाटन में संघ बाहर करवाया और जिनदत्तसूरि को भी उकसा कर जिनेश्वरसूरिजी के शिष्य-मंडल ने उन्हें पाटन से मारवाड़ की तरफ विहार करवाया, जिनवल्लभ गरिण ने पाटन से मेवाड़ की तरफ विहार करने के बाद, अपनी वाणी की उग्रता पर कुछ अंकुश डाल दिया था, जो उनके बाद के बने हुए "कुलकों" पर से जाना जाता है, परन्तु जिनदत्तसूरि की उग्रता अन्त तक बनी रही, ऐसा "चर्चरी," "उपदेशरसायनरास," "कालस्वरूप कुलक" तथा "गणधर सार्द्धशतक उत्तरार्ध की ७५ गाथाएं" पढ़ने से जाना जाता है। अनेक विद्वानों का कहना है कि "जिनवल्लभ के निरंकुश भाषणों से पाटण गुजरात में उन्हें संघ से बहिष्कृत होकर गुजरात छोड़ना पड़ा था,"—इस कथन में सत्यांश अवश्य है, अपने "संघपट्टक" में जिनवल्लभ गरिण ने तत्कालीन जैन संघ पर जो वचन-प्रहार किये हैं, वे इनके संघबहिष्कृत होने के बाद के वचन हैं, बाकी उन्होंने चैत्यवासियों की कतिपय अयोग्य प्रवृत्तियों का और उनके शिथिलाचार का खण्डन अवश्य किया है। "विधिचैत्यादि" कतिपय बातें जिनवल्लभ गरिण पर थोपी जाती हैं, परन्तु वास्तव में ये अधिकांश बातें "जिनदत्तसूरिजी" इनके बाद के आचार्य "जिनपतिसूरिजी" तथा "तरुणप्रभसूरिजी" आदि की चलाई हुई हैं, वास्तव में जिनवल्लभ गरिण के समय में इन बातों की चर्चा तक नहीं चली थी। जिनवल्लभ गरिण विद्वान् थे, और जिनेश्वरसूरि के कतिपय शिष्यों के उकसाने से वे चैत्यवासियों के खण्डन में अगुआ बने थे, परन्तु जब पाटण का पूरा संघ उनके विरुद्ध हुआ और संघ बाहर का प्रस्ताव पास किया, तब से उन्हें अकेला मारवाड़, मेवाड़ की तरफ फिरना पड़ा, उकसाने वाले तो क्या, उनका गुरुभाई जिनशेखर तक संघ बाहर होने के भय से साथ में नहीं गया, आचार्य देवभद्र आदि कतिपय साधुओं को जिनवल्लभ गरिण की तरफ पूरी सहानुभूति थी और इस सहानुभूति को चरितार्थ करने के लिए जिनवल्लभगरिणजी को आचार्य-पद तक देना चाहते थे, परन्तु पाटण में जो इनके संघ बाहर का प्रस्ताव हुआ था, उसके साथ यह भी प्रकट कर दिया था कि जो कोई जिनवल्लभ गरिण के साथ सम्बन्ध रखेगा उसे भी संघ बाहर समझा जायगा, इस संघ बाहर के हथियार से डरकर वर्षों तक आचार्य देवभद्र और उनकी

पार्टी जिनवल्लभ के भाव तक नहीं पूछ सकी, परन्तु जिनवल्लभ गरिए ने पाटरण में चैत्यवासियों के सामने जो विरोध की नींव डाली थी, वह धीरे-धीरे मजबूत होती गई। आचार्य चन्द्रप्रभ तथा आचार्य आर्यरक्षित आदि ने जिनवल्लभ की नींव पर तो नहीं, पर अपनी नयी विरोधी भित्तियों पर चैत्यवासियों के सामने ही नहीं, सारे जैन संघ के सामने अपने नये विरोध खड़े किये। आचार्य चन्द्रप्रभ ने प्राथमिक रूप में साधु द्वारा जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा करने का विरोध किया और धीरे-धीरे उनके अनुयायियों ने पूरिणमा का पाक्षिक प्रतिक्रमरण और भाद्रपद शुक्ल ५ को सांवत्सरिक प्रतिक्रमरण करने का प्रारंभ किया। "महानिशीथ सूत्र" के आधार पर पहले जो "उपधान" करवाया जाता था, उस प्रवृत्ति का भी त्याग किया। आर्य रक्षितसूरि, जो अचलगच्छ-प्रवर्तक माने जाते हैं, उन्होंने तो चन्द्रप्रभ से भी दो कदम आगे रक्खे, प्रचलित धार्मिक क्रिया-काण्ड जो किसी न किसी सूत्र अथवा उसकी पंचांगी का आधार रखता था, उसे छोड़कर शेष सभी परम्परागत प्रवृत्तियों का त्याग कर दिया, यहां तक कि "सूत्र की पंचांगी द्वारा प्रतिपादित नहीं है," यह कह कर श्राद्धप्रतिक्रमरणादि अनेक बातों का उन्होंने त्याग किया, इस विरोध तथा नये गच्छों की उत्पत्ति का परिरणाम यह हुआ कि पाटरण का सध-बंधारण जो सैकड़ों वर्षों से अक्षुण्ण चला आ रहा था, छिन्न-भिन्न हो गया।

संघ बंधारण के विनाशक समय में जिनवल्लभ गरिए से सहानुभूति रखने वाले आचार्य देवभद्र के ग्रुप की भी हिम्मत बढ़ी, उन्होंने गुजरात से मारवाड़ होकर चित्रकूट की तरफ विहार किया और विक्रम सं० ११६७ के आषाढ़ शुक्ला ६ के दिन जिनवल्लभ गरिए को आचार्य बनाकर अभयदेवसूरि के पट्ट पर बिठाया।

जिनवल्लभ गरिए को आचार्य बनाकर देवभद्रसूरि ने अभयदेवसूरि का पट्टधर होने की उद्घोषरणा की, इसका कारण बताते हुए देवभद्र ने कहा — आचार्य श्री अभयदेवसूरिजी ने प्रसन्नचन्द्राचार्य को एकान्त में सूचना की थी कि समय पाकर जिनवल्लभ को मेरा पट्टधर बना देना परन्तु प्रसन्नचन्द्राचार्य को अपने जीवनकाल में ऐसा समय नहीं मिला कि वे जिनवल्लभ

को आचार्य-पद देते, अन्तिम समय में प्रसन्नचन्द्राचार्य ने मुझे एकान्त में सूचित किया था, कि मुझे गुरु-महाराज की आज्ञा का पालन करने का मौका नहीं मिला, परन्तु तुम तो जिनवल्लभ को आचार्य बनाकर गुरु-महाराज की आज्ञा का पालन कर ही देना।"

उपर्युक्त बातों में सत्यता कहां तक होगी यह कहना तो असंभव है, परन्तु इतना तो निश्चित है कि जिनवल्लभ को अभयदेवसूरि का पट्टधर बनाने सम्बन्धी बात में वास्तविकता से कृत्रिमता अधिक होने का सभव प्रतीत होता है, इसके अनेक कारण हैं, प्रथम तो यह कि 'खरतरगच्छ' के किसी भी पट्टावलीकार ने श्री अभयदेवसूरिजी के स्वर्गवास का समय तक नहीं लिखा, उनके अनुयायी होने का दावा करने वालों के पास अपने पूर्वज आचार्य के स्वर्गवास का समय तक न हो यह क्या बताता है ? अभयदेव-सूरिजी सूत्रों के टीकाकार थे, इस कारण से अन्यान्य गच्छ की पट्टावलियों में उनके स्वर्गवास का समय संगृहीत हैं, कोई उन्हें विक्रम सं० ११३५ में स्वर्गवासी हुआ मानते हैं तो दूसरे इन्हें संवत् ११३९ में परलोकवासी हुआ मानते हैं, पर आश्चर्य की बात तो यह है कि उक्त दोनों संवत् अन्य-गच्छीय पट्टावलियों में मिलते हैं, खरतरगच्छ की किसी भी प्राचीन पट्टावली में नहीं। हमारी देखी हुई और पढ़ी हुई कोई १५ खरतरगच्छीय पट्टावलियों में से केवल एक पट्टावली में है—जिसकी कि समालोचना हो रही है। इस भाषा की पट्टावली में अभयदेवसूरि के स्वर्गवास के विषय में निम्नलिखित शब्द दृष्टि-गोचर होते हैं—'श्री जिनवल्लभवाचकई प्रतिष्ठयउ मरोटिमांहि नेमिनाथरउं देहरउं, तिहांथकी विहार करी गुजराती श्री अभयदेवसूरि कन्हई आवी वांदी कह्यउं मुनइ सिद्धांत भणावाओ, तिवारई गुरे कह्यउं, तप विण वह्यो सिद्धान्त भणिवा नहीं, कितराएक दिन अभयदेवसूरि कन्हइ रहि पछइ गुरु अभयदेव कहई-हुंतो भणावऊं जउं गुरु कन्हा जई अनुमति मांगी कागल लिखावी ल्यावइ तो, अम्हारी उपसम्पदा ल्यइ तओ, गुरु कन्हई जई घणओ आग्रह मांडी अनुमति लई कागल लिखावी अभय-देवसूरि कन्हइ आव्या, अभयदेवसूरि उपसम्पदा देइ तप विहरावी, सिद्धान्त भणाया, महापंडित पाट जोग्य महासंवेगी देवभद्राचार्य नई कह्यउं माहरउ

पाट एह जिनवल्लभनु देख्यो, इसमो कहई संवत् ११ पंचावन अभयदेवसूरि गुरु देवलोकि पहुता, भवत्रि जइ मोक्ष जासी ॥"

पट्टावली के उपर्युक्त फिकरे की अनेक बातें "गणधर सार्द्धशतक" की बातों से विरुद्ध जाती हैं, इसलिए ऐसी कल्पित पट्टावली के आधार से अभयदेवसूरि का सत्तासमय निर्णीत करना धोखे से खाली नहीं, अभयदेव-सूरिजी ने नवांग सूत्रों की वृत्तियां तो बनाई ही हैं और अधिकांश वृत्तियों के अन्त में उनके निर्माण समय का भी आपने निर्देश किया है, "पंचाशक" आदि प्राचीन प्रकरणों पर भी आपने वृत्तियां लिखी हैं, परन्तु आज तक हमने अभयदेवसूरिजी की किसी भी वृत्ति या टीका की प्रशस्ति विक्रम संवत् ११२८ के बाद की नहीं देखी। वृद्धावस्था या शारीरिक अस्वस्थता के कारण साहित्यनिर्माण के कामों के लिए आप अशक्त हो चुके थे, उसके बाद छः सात अगर दस ग्यारह वर्ष तक जीवित रहकर स्वर्ग प्राप्त हुए हों तो आश्चर्य की बात नहीं है, वृद्धपोषधशालिक पट्टावली आदि में इनका स्वर्गवास सं० ११३५ या ११३९ में होना लिखा है, वह ठीक प्रतीत होता है।

जिनेश्वरसूरि के समय की प्रस्तुत पट्टावली में जिनदत्तसूरिजी के सम्बन्ध में अनेकानेक चमत्कार की अद्भुत बातें मिलती हैं, जिनकी सुमति-गणि की "सार्द्धशतक की बड़ी टीका" में सूचना तक नहीं है, आचार्यश्री जिनदत्तसूरिजी की अनेक कृतियां मैंने पढ़ी हैं, उनमें जोश है, लगन है, अपने कार्य का दृढ आग्रह है, ये सभी बातें आपकी धार्मिक-संशोधक वृत्ति की परिचायक हैं, परन्तु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि पिछले भक्तों ने आपको एक चामत्कारिक जादूगर आचार्य बनाकर आपके वास्तविक जीवन को ढांकसा दिया है। भले ही अनपढ़ और अन्धश्रद्धालु भक्त लोग इन बातों से आपको महान् मानें परन्तु समझदार विचारकों के मत से तो इस प्रकार की बातें महापुरुषों के वास्तविक जीवन को अतिशयोक्तियों के स्तरों में अन्तर्हित कर देती हैं।

---

(२) पट्टावली नम्बर २३२७ :

यह पट्टावली वास्तव में "गणधर-सार्द्धशतक" की लघु टीका है, यह लघुवृत्ति ४३ पत्रात्मक है, इसके निर्माता वाचक सर्वराजगणि हैं कि जिनका सत्तासमय विक्रम की १५ वीं शताब्दी है, वृत्तिकार ने वृत्ति के उपोद्घात में आचार्य जिनदत्तसूरिजी को अनेक प्रकार के ऐसे विशेषण दिए हैं, जो पिछले लेखकों ने इनके जीवन के साथ जोड़ दिये हैं, जैसे – "भूतप्रेत-निरसन, योगिनीचक्रप्रतिबोधक, कुमार्गनिरसन, प्रतिवादिसिंहनादविधान श्रीत्रिभुवनगिरिदेवनियमित, पंचसप्रयतिवारण, श्री पार्श्वनाथ (नव) फण धारण, वामावतीरात्रिकस्थापन, निरन्तरागच्छद्गच्छयान, सुरासुरविर-चितांघ्रिसेवन, इत्यादि विशेषणों में अधिकांश विशेषण ऐसे हैं, जो बृहद्-वृत्ति में नहीं हैं, इससे यह प्रमाणित होता है कि या तो यह लघुवृत्ति बृहद्वृत्ति का अनुसरण करने वाली नहीं है, यदि यह शब्दशः बृहद्वृत्ति का अनुसरण करती है तो इसके उपोद्घात को किसी अर्वाचीन विद्वान् ने विगाड़कर वर्तमानरूप दे दिया है, इस प्रकार की प्रवृत्तियां खरतरगच्छ की पट्टावलियों में होना अस्वाभाविक नहीं, कुछ वर्षों पहले इसी लघुवृत्ति को हमने मुद्रित अवस्था में पढ़ा था, जिसमें यह छपा हुआ था कि "अणहिल पाटण के राजा दुर्लभराज ने श्री जिनेश्वरसूरिजी को चैत्यवासियों को जीतने के उपलक्ष्य में "खरतर" बिरुद प्रदान किया था, वही लघुवृत्ति हमारे पास हस्तलिखित है और इसके कर्त्ता भी वाचक सर्वराज गणि हैं, परन्तु इस लघुवृत्ति की हस्तलिखित वृत्ति में "खरतर बिरुद" देने की बात कहीं नहीं मिलती और न उपोद्घात छोड़कर जिनदत्तसूरि के जीवन में किसी चमत्कार की बात का ही उल्लेख मिलता है। आज तक हमने खरतरगच्छ से सम्बन्ध रखने वाले सकड़ों शिलालेखों तथा मूर्तिलेखों को पढ़ा है, परन्तु ऐसा एक भी लेख दृष्टिगोचर नहीं हुआ, जो विक्रम की १४ वीं शती के पूर्व का हो और उसमें "खरतर" अथवा "खरतरगच्छ" नाम उत्कीर्ण हो, इससे जाना जाता है कि "खरतर" यह "शब्द" पहले गच्छ के अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता था। "जिनदत्तसूरि" के कठोर भाषी स्वभाव के कारण उनके विरोधी जिनदत्तसूरि के लिए "खरतर" यह शब्द प्रयोग में लाते थे, तब

जिनदत्तसूरि और इनके अनुयायी विरोधियों को "कोमल" इस नाम से सम्बोधित करते थे, आगे जाते गच्छ वाले किसी न किसी गच्छ के नाम से अपनी परम्परा को प्रसिद्ध करने लगे, तब जिनदत्तसूरि तथा जिनकुशलसूरि के अनुयायियों ने भी अपने नाम के साथ "खरतर" शब्द का "गच्छ" के अर्थ में प्रयोग करना प्रारम्भ किया और पन्द्रहवीं शती के प्रारम्भ तक उसका पर्याप्त प्रचार हो गया।

"सार्द्धशतक" की लघुवृत्ति में जिनेश्वरसूरि का चैत्यवासियों के साथ विवाद होने का विवरण दिया गया है, किन्तु दुर्लभराज द्वारा खरतर विरुद प्राप्त होने का सूचन तक नहीं दिया गया, इससे प्रमाणित होता है कि वाचक सर्वराज गणि के समय तक "खरतरगच्छ" यह नाम गच्छ के अर्थ में प्रचलित नहीं हुआ था। लघुवृत्ति के सम्बन्ध में संक्षिप्त विवरण देने के बाद अब हम "गणधर सार्द्धशतक" के निरूपण के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

"गणधर सार्द्धशतक" नाम के अनुसार १५० गाथाओं का एक प्राकृत-भाषामय प्रकरण है। इसके कर्त्ता आचार्य श्री जिनदत्तसूरिजी हैं। आपने यह प्रकरण आचार्य-पद प्राप्त होने के बाद तुरन्त बनाया मालूम होता है। यही कारण है कि प्रकरण के अन्त में "जिनदत्त" और "सोमचन्द्र" इन दोनों नामों का निर्देश किया है। कुछ भी हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि यह "सार्द्धशतक" आपने पूर्वाचार्यों की स्तुति के रूप में निर्मित किया है न कि परम्पराप्रतिपादन के भाव से। यही कारण है कि इसमें परम्परा का हिसाब न रख कर सभी प्रसिद्ध श्रुतधरों की स्तुति की है, जिसका संक्षिप्त सार नीचे दिया जाता है :

प्रारम्भ में ऋषभदेव तीर्थङ्कर के प्रथम गणधर ऋषभसेन से लगा कर अजितादि चौबीस तीर्थङ्करों के गणधरों की स्मृति में ५ गाथाएं लिखी हैं, फिर दो गाथाओं में महावीर के पंचम गणधर सुधर्मा की स्तुति की है। सुधर्मा के बाद जम्बू स्वामी, प्रभवस्वामी, शय्यम्भवसूरि, यशोभद्रसूरि, सम्भूतविजयसूरि और भद्रबाहु स्वामी की क्रमशः सात गाथाओं में स्तवना

की है, फिर आर्य स्थूलभद्र की प्रशंसा की पांच गाथाएं लिखी हैं और उनके शिष्यद्वय आर्य महागिरि तथा सुहस्तीसूरि को दो गाथाओं में याद कर आर्य समुद्र, आर्य मंगु और आर्य धर्म नामक तीन युगप्रधानों को एक गाथा से नमस्कार किया है, फिर एक गाथा से युगप्रधान श्री भद्रगुप्त को वन्दन करके साढ़े चौदह गाथाओं में वज्रस्वामी का वृत्तान्त लिखा है और इसके बाद अक्रमप्राप्त युगप्रधान श्री आर्यरक्षितजी की दश (१०) गाथाओं में स्तवना की है। इसके उपरान्त दो गाथाओं से सामान्य युग-प्रधानों का शरण स्वीकार करके दो गाथाओं से श्री उमास्वाति वाचक को वन्दन कर आठ गाथाओं में याकिनी महत्तरा धर्मपुत्र श्री हरिभद्रसूरि की प्रशंसा की है। हरिभद्र के सम्बन्ध में उस समय तक दन्तकथा प्रचलित थी कि वे चैत्यवासी आचार्यों द्वारा दीक्षित और शिक्षित हुए थे। इस दन्त-कथा का आपने निम्नलिखित गाथा से खण्डन किया है– वह गाथा यह है –

"जंपइ केई समनाम – भोलिया भोलियाइं जंपंति।
चीवासी दिक्खिओ सिक्खिओ य गीयत्थेण तं न मयं॥"

उपर्युक्त गाथा में आचार्य कहते हैं – नामसाम्य की भ्रान्ति में पड़ कर कई भोले विद्वान् असत्य कहते हैं कि हरिभद्रसूरि चैत्यवासियों में दीक्षित हुए थे और उन्हीं के पास शिक्षित हुए थे, परन्तु यह कथन गीतार्थ-सम्मत नहीं है।

हरिभद्रसूरि के सम्बन्ध में आचार्य जिनदत्तसूरिजी कहते हैं– हरिभद्र-सूरि जिनभटसूरि के शिष्य थे और युगप्रधान जिनदत्तप्रभु के पास सूत्रार्थ का अनुयोग लेने वाले थे। ग्रन्थकार के उक्त कथन से हमारा मतभेद है, क्योंकि आचार्य हरिभद्रसूरिजी स्वयं अपने आपको जिनदत्तसूरि का शिष्य और जिनभटसूरि का आज्ञाकारी लिखते हैं, इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि हरिभद्रसूरि के दीक्षा-गुरु जिनदत्तसूरि थे और वे जिनभटसूरि की आज्ञा में रहते थे।

यहां पर लघुवृत्तिकार ने हरिभद्रसूरिजी को चतुर्दशशत प्रकरणकार लिखा है और उनके प्रकरणों तथा कतिपय टीकाग्रन्थों का नामनिर्देश किया है, जो इस प्रकार है –

"पंचवस्तुक, उपदेशपद, पंचाशक अष्टक, षोडशक, लोकतत्त्वनिर्णय, धर्मबिन्दु, लोकबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, दर्शनसप्ततिका, नानाचित्रक, बृहन्मिथ्यात्वमथन, पंचसूत्रक, संस्कृतात्मानुशासन, संस्कृत चैत्यवन्दनभाष्य, अनेकान्तजयपताका, अनेकान्तवादप्रवेशक, परलोकसिद्धि, धर्मलाभसिद्धि, शास्त्रवार्तासमुच्चय, आवश्यकवृत्ति, दशवैकालिक बृहद्वृत्ति, दशवैकालिक लघुवृत्ति, पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति, जीवाभिगमवृत्ति, प्रज्ञापनोपाङ्गवृत्ति, पंचवस्तुकवृत्ति, क्षेत्रसमासवृत्ति, शास्त्रवार्तासमुच्चयवृत्ति, अर्हद्श्रीचूडामणि, समरादित्य चरित्र, यथाकोश।"

आचार्य हरिभद्रसूरि के बाद सार्द्धशतककार ने आचारांग टीकाकार श्री शीलाङ्काचार्य की प्रशंसा करने के उपरान्त सामान्य युगप्रधान गणधरों को प्रणाम किया है, उसके बाद देवाचार्य, नेमिचन्द्र और उद्योतनसूरि गुरु के पारतन्त्र्यगमन का निर्देश किया है, फिर श्री वर्धमानसूरि के चैत्यवास त्यागने और वसतिवास ग्रहण करने की बात कही है। इसके बाद १३ गाथाओं में वसतिवास के उद्धारक युगप्रधान श्री जिनेश्वरसूरिजी की प्रशंसा की है। जिनेश्वरसूरिजी को वर्धमानसूरिजी का शिष्य लिखा है, अणहिलवाड में चैत्यवासियों के साथ शास्त्रार्थ करने के सम्बन्ध का तीन गाथाओं में निम्न प्रकार से वर्णन किया है –

"अणहिल्लवाडए नाडइव्व दंसियसुपत्तसंदोहे।
पउरपए बहुकविदूसगेये नायगाणुगए ॥ ६५ ॥

सड्ढियदुल्लहराए, सरसइअंकोवसोहिए सुहए।
मज्झे रायसहं पविसिऊण लोयागमाणुमयं ॥६६॥

नामायरिएहिं समं, करिय वियारं वियाररहिएहिं।
वसहिनिवासो साहूणं, ठाविओ ठाविओ अप्पा ॥६७॥"

अर्थात् – अणहिल्ल पाटक (पाटण) नगर में श्रद्धावान् श्री दुर्लभराज की सभा में नामाचार्यों (चैत्यवासियों) के साथ विचार करके श्री जिनेश्वरसूरिजी ने साधुओं के लिए वसतिवास को प्रतिष्ठित किया।

उपर्युक्त तीन गाथाओं में सार्द्धशतककार श्री जिनदत्तसूरिजी ने चैत्यवासियों के साथ जिनेश्वरसूरिजी का शास्त्रार्थ होने और वसतिवास का प्रमाणित होना बड़ी खूबी के साथ बताया है, परन्तु राजा की तरफ से जिनेश्वरसूरिजी को "खरतर विरुद" मिलने का सूचन तक नहीं है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जिनदत्तसूरिजी के "गणधर सार्द्धशतक" का निर्माण हुआ तब तक "खरतर" नाम व्यवहार में आया नहीं था, अन्यथा जिनदत्तसूरिजी इसकी सूचना किये विना नहीं रहते। हरिभद्रसूरिजी के सम्बन्ध में उनके चैत्यवासी होने की दन्तकथा का खण्डन करने के लिए आप तैयार हो गए हैं तो जिनेश्वरसूरि को राजसभा में "खरतर विरुद" मिलने की वे चर्चा न करें, यह बात मानने काबिल नहीं है।

जिनेश्वरसूरिजी के बाद "सार्द्धशतक" में श्री जिनचन्द्रसूरिजी का नम्बर आता है, जिनचन्द्रसूरि द्वारा अठारह हजार श्लोक[1] परिमाण "संवेगरंगशाला" कथा बनाने का निर्देश किया है, फिर अभयदेवसूरि का वर्णन दिया है और जिनवल्लभ गणि के आने, अभयदेवसूरि के पास सिद्धान्त पढ़ने और अपने पूर्व गुरु जिनेश्वराचार्य से मिलकर फिर अभय-देवसूरि के पास आकर उनसे उपसम्पदा लेने की बात कही है।

आचार्य श्री अभयदेवसूरिजी ने अपने पट्ट पर श्री वर्धमानसूरि को बैठने की बात भी लघुवृत्तिकार ने लिखी है, बाकी जिनदत्तसूरिजी ने "सार्द्धशतक" में अपने परिचित और उपकारक आचार्यों, उपाध्यायों की प्रशंसा करके "सार्द्धशतक" की १०० गाथाएं पूरी की हैं – इसके बाद की ५० गाथाएं लेखक ने अपने अनुयायियों की चैत्यवासियों से रक्षा करने तथा चैत्यवासियों के खण्डन में पूरी की हैं।

हमने "गणधर सार्द्धशतक" को खरतर पट्टावली का नाम इसलिए दिया है कि इसका लगभग आधा भाग खरतर-गच्छ के मान्य पुरुषों की

---

१ "गणधर सार्द्धशतक" टीकाकार श्री सर्वराजगणि ने "संवेगरंगशाला" का श्लोक-परिमाण अठारह हजार लिखा है जो ठीक नहीं जान पड़ता। "संवेगरंगशाला" का श्लोक-परिमाण १० हजार ७५ श्लोक है।

प्रशंसा में पूरा हुआ है। वास्तव में इसको पट्टावली कहने के बजाय "गणधर-स्तुति" कहना अधिक उपयुक्त है।

(३) पट्टावली नम्बर २३२८ :

उपर्युक्त पट्टावली संस्कृत भाषा में ६ पत्रात्मक हैं, इसके कर्त्ता समयसुन्दर गणि हैं, लेखक का मंगलाचरण निम्न प्रकार से है –

"गोतमादिगुरून्नत्वा: गणिः समयसुन्दरः ।
वक्ति गुर्वावली-ग्रन्थं गच्छे खरतराभिधे ॥१॥

इसके बाद गणि समयसुन्दरजी ने भगवान् महावीर के प्रथम शिष्य गौतम स्वामी और प्रथम गणधर सुधर्मास्वामी का समय लिखा है, उनके समय की थोड़ी-थोड़ी जानकारी भी लिखी है, सुधर्म के बाद जम्बू, प्रभव, शयम्भवसूरि, यशोभद्रसूरि, आचार्य संभूतविजय, आर्य भद्रबाहु के नाम तथा इनके समय का परिचय दिया है। भद्रबाहु के पट्टधर स्थूलभद्र, स्थूलभद्र के बाद पट्टावली में आर्य संभूतहस्तिसूरि नाम लिखा है, जो यथार्थ नहीं, आर्य सुहस्तीसूरि चाहिए, आर्य सुहस्ती के बाद श्री सुस्थितसूरि, उसके बाद इन्द्रदिन्नसूरि, इन्द्रदिन्न के बाद श्री दिन्नसूरि और श्री दिन्न के बाद सिंहगिरिजी का नाम उल्लिखित है।

यहां पर महावीर निर्वाण से ५०० वर्ष के बाद श्री वज्रस्वामी का जन्म बताया है। वज्रस्वामी के चार शिष्यों से नागेन्द्र, चन्द्र, निर्वृति, विद्याधर नामक चार शाखाओं का निकलना लिखा है, वीर निर्वाण के बाद ५४४ में "जटाधर मत[1]" निकलने का उल्लेख किया है, वीर निर्वाण से ६८६ में दिगम्बर मत निकलने का लिखा है जो ठीक नहीं। दिगम्बर मत ६०६ में निकला था। श्री वज्रस्वामी के पट्ट पर आचार्य वज्रसेन बैठे थे, यह १५ पट्टों का अनुक्रम कल्पसूत्र के अनुसार है, इसके बाद श्री चन्द्रसूरि

१, रोहगुप्त की त्रैराशिक प्ररूपणा के परिणाम स्वरूप वैशेषिक दर्शन की उत्पत्ति हुई थी, उसी वैशेषिक दर्शन के संन्यासियों को यहां जटाधर कहा है।

१६, समन्तभद्रसूरि १७, वृद्धदेवसूरि १८, प्रद्योतनसूरि १९, श्री मानदेवसूरि २०, श्री देवेन्द्रसूरि २१, श्री मानतुंगसूरि २२, श्री वीरसूरि २३, श्री जयदेवसूरि २४, श्री देवानन्दसूरि २५, श्री विक्रमसूरि २६, श्री नरसिंहसूरि २७, श्री समुद्रसूरि २८, श्री मानदेवसूरि २९, श्री विबुधप्रभसूरि ३०, श्री जयानन्दसूरि ३१, श्री रविप्रभसूरि ३२, श्री यशोभद्रसूरि ३३, श्री जिनभद्रसूरि ३४, श्री हरिभद्रसूरि ३५, श्री देवसूरि ३६, श्री नेमिचन्द्रसूरि ३७, सुविहितचूडामणि उद्योतनसूरि ३८, श्री उद्योतनसूरि के पट्ट पर वर्धमानसूरि ३९ हुए, श्री वर्धमानसूरि के पट्ट पर श्री जिनेश्वरसूरि जिन्होंने अणहिल पत्तन में दुर्लभराज-सभा में सं० १०८० में "खरतर" विरुद प्राप्त किया, जिनेश्वरसूरि के पट्ट पर श्री जिनचन्द्रसूरि हुए जिन्होंने "संवेगरंगशाला" ग्रन्थ बनाया और मोजदीन पिञ्जर को दिल्ली के राज्य का भविष्य कथन किया था जो सही उतरा ।

श्री जिनचन्द्रसूरि के पट्ट पर अभयदेवसूरि हुए, व्याख्यान में षड्रसों का पोषण करने से गुरु ने प्रायश्चित्त के रूप में छः महीने तक आचामाम्ल करने का दण्ड दिया, जिससे उनके शरीर में कुष्ठ रोग की उत्पत्ति हुई, स्तम्भनक पार्श्वनाथ मूर्ति प्रकटन, नवांगी वृत्तिकरणादि सम्बन्ध स्वयं समझ लेने चाहिए, अन्त में कपड़वंज नगर में अनशन द्वारा शरीर छोड़कर चौथे देवलोक गए ।

श्री अभयदेवसूरि के पट्ट पर जिनवल्लभसूरिजी हुए जो पूर्वावस्था में कूर्चपुरीय जिनेश्वरसूरिजी के शिष्य थे, बाद श्री अभयदेवसूरिजी के पास उपसम्पदा लेकर उनके शिष्य हुए ।

आचार्य अभयदेवसूरिजी जिनवल्लभ को अपना पट्टधर बनाना चाहते थे, परन्तु परगच्छीय को कैसे पट्ट दिया, इस प्रकार के लोकापवाद से डरते हुए वे उसे पट्ट नहीं दे सके और अपने शिष्य प्रसन्नचन्द्राचार्य को पट्ट देने का कह गए ।

प्रसन्नचन्द्राचार्य ने देवभद्राचार्य को जिनवल्लभ को पट्टधर बनाने की सूचना की, उसके बाद बारह वर्ष तक देवभद्राचार्य ने गच्छ का भार

चलाया, फिर सं० ११६७ के वर्ष में आचार्य देवभद्र ने श्री जिनवल्लभ गणि को अभयदेवसूरि के पट्ट पर स्थापित किया, परन्तु छः मास के बाद जिन-वल्लभसूरि वहीं पर देवगत हुए।

इस समय में खरतरगच्छ में 'मधुकरा शाखा' निकली। श्री जिन-वल्लभसूरि के पट्ट पर श्री जिनदत्त हुए, जिनदत्त का पूर्व नाम सोमचन्द्र था और वे "जयदेव[1] उपाध्याय" के शिष्य थे तथा धन्धूका में इनका जन्म और धन्धूका में ही सं० ११४१ में दीक्षा हुई थी। संवद् ११६९ में वैशाख वदि ६ के दिन श्री देवभद्राचार्य के द्वारा ये चित्तोड़ में जिनवल्लभ-सूरि के पद पर प्रतिष्ठित हुए।

श्री जिनवल्लभसूरि द्वारा समुदाय से निष्कासित किसी साधु को फिर गच्छ में लेने के अपराध में १३ आचार्यों ने मिलकर श्री जिनदत्तसूरि को अपने गच्छ से बहिष्कृत कर दिया।

जिनदत्तसूरि तीन वर्ष के लिए वहां से चले गए थे। उसके बाद पट्टावलीकार ने जिनदत्तसूरि को एक चमत्कारमूर्ति बना दिया है जो उनके जीवन के वास्तविक स्तर को ढांक देता है।

जिनदत्तसूरिजी ने कुल १५०० साधु और ७०० साध्वियों को दीक्षित किया, ऐसा लिखा हुआ है, परन्तु "चर्चरी" "उपदेशरसायन" और "कालस्वरूप कुलक" आदि इनकी खुद की कृतियों को पढ़ने से परिस्थिति इससे बिल्कुल विपरीत ज्ञात होती है।

पट्टावली में जिनदत्तसूरि के परकायप्रवेश की बात लिखी है, जो निराधार है। जिनके साथ परकायप्रवेश विद्या का सम्बन्ध है वे जिनदत्त-सूरि वायट-गच्छीय थे, यह बात प्रभावकचरित्रादि प्राचीन ग्रन्थों से जानी जा सकती है।

---

१. गणधर सार्द्धशतक की लघुटीका में सर्वराजगणि ने सोमचन्द्र के गुरु का नाम "धर्मदेव उपाध्याय" और जन्म-स्थान का नाम "धवलक" लिखा है।

जिनदत्तसूरिजी १२११ के आषाढ़ सुदि ११ के दिन अनशन करके अजमेर में स्वर्गवासी हुए थे। जिनदत्तसूरि के समय दर्म्यान सं० १२०५ में श्री जिनशेखरसूरि से 'रुद्रपल्लीय खरतर-गच्छ" निकला। जिनदत्तसूरिजी के पट्ट पर श्री जिनचन्द्रसूरि हुए। जिनचन्द्रसूरि का जन्म ११६७ में, दीक्षा संवत् १२०३ में, पट्ट स्थापना १२०५ में जिनदत्तसूरि द्वारा हुई थी और सं० १२२३ में इनका स्वर्गवास हुआ।

यहां से प्रत्येक चतुर्थ पट्टधराचार्य का नाम "जिनचन्द्र" देने की पद्धति चली। श्री जिनचन्द्रसूरि के पट्ट पर जिनपतिसूरि हुए, जिन्होंने खरतरगच्छ-सामाचारी स्थापित की। सं० १२७७ में श्री जिनपतिसूरिजी स्वर्गवासी हुए, जिनपतिसूरि के पट्ट पर श्री जिनेश्वरसूरि बैठे। इनके समय में श्री जिनसिंहसूरि से लघु खरतरगच्छ उत्पन्न हुआ, जिनेश्वरसूरि के पट्ट पर जिनप्रबोधसूरि हुए, जिनेश्वरसूरि ने इन्हें आचार्य-पद दिया था। सं० १३४१ में आप स्वर्गवासी हुए थे। जिनप्रबोधसूरि के पट्ट पर जिनचन्द्रसूरि हुए, जिनकी दीक्षा १३३२ में श्री जालोर नगर में हुई थी। संवत् १३४७ में जालोर में ही स्वर्गवासी हुए, श्री जिनचन्द्रसूरि के पद पर श्रीजिनकुशलसूरि हुए, जिनका जन्म सवत् १३३७ में हुआ था। १३४७ में दीक्षा, १३७७ में आचार्य-पद और १३८९ में आप स्वर्गवासी हुए। जिनकुशलसूरि के पट्ट पर सं० १३९० में श्री जिनपद्मसूरि को श्री तरुणप्रभाचार्य द्वारा आठ वर्ष की उम्र में आचार्य-पद दिया गया। सं० १४०० के वैशाख सुदि १४ के दिन किसी के छलने से पाटण में आपका स्वर्गवास हुआ, श्री जिनपद्मसूरि के पट्ट पर श्री जिनलब्धिसूरि हुए, आपको भी संवत् १४०० में तरुणप्रभाचार्य ने सूरि-पद दिया, सं० १४१६ के वर्ष में आप स्वर्गवासी हुए, जिनलब्धिसूरि के पट्ट पर श्री जिनोदयसूरि हुए, आप भी सं० १४१५ में तरुणप्रभाचार्य द्वारा सूरि-पद पर आरूढ़ हुए, सं० १४३२ में आपने पाटण में स्वर्गवास प्राप्त किया। श्री जिनोदयसूरि के पट्ट पर श्री जिनराजसूरि हुए, जिनराजसूरि को सं० १४३३ में पत्तन में श्री लोकहितसूरि ने सूरि-पद दिया, जिनराजसूरि ने श्री स्वर्णप्रभाचार्य, श्री भुवनरत्नाचार्य और श्री सागरचन्द्राचार्य को आचार्य-पद पर स्थापित

किया और सं० १४६१ में देलवाड़ा में स्वर्गवास प्राप्त किया, श्री जिनराज-सूरि के पट्ट पर श्री जिनवर्धनसूरि हुए।

जिनवर्धनसूरि –

जिनवर्धनसूरि को संवत् १४६१ में सागरचन्द्रसूरि ने आचार्य-पद पर स्थापित किया, यहां खरतरगच्छ में एक नया फाट पड़ा। जिनवर्धनसूरि से संवत् १४६१ में "पीपलिया" खरतरगच्छ उत्पन्न हुआ, तब श्री सागरचन्द्र-सूरि ने सं० १४७५ के वर्ष में श्री जिनभद्रसूरि को आचार्य-पद पर स्थापित किया।

जिनभद्रसूरि -

जिनप्रभसूरि ने भावप्रभाचार्य, कीर्तिरत्नसूरि प्रमुख अनेक आचार्य बनाये, स्थान-स्थान पर पुस्तक लिखवाकर भण्डागार स्थापित करवाए, सं० १५१४ में जिनभद्रसूरि ने श्री कुम्भलमेर में स्वर्गवास प्राप्त किया,

श्री जिनचन्द्रसूरि –

श्री जिनभद्रसूरि के पट्ट पर श्री जिनचन्द्रसूरि हुए, जो १५१५ में जिनकीर्तिसूरि द्वारा आचार्य बने और धर्मरत्नसूरि, गुणरत्नसूरि आदि को आचार्य-पद पर बिठाया, सं० १५३७ में जिनचन्द्रसूरि का जैसलमेर में स्वर्गवास हुआ।

श्री जिनसमुद्रसूरि –

श्री जिनचन्द्रसूरि के पट्ट पर जिनसमुद्रसूरि हुए, इनकी दीक्षा सं० १५२१ में और पदस्थापना १५३३ में जिनचन्द्रसूरि द्वारा हुई, आप सं० १५५५ में अहमदाबाद में परलोकवासी हुए।

श्री जिनहंससूरि –

श्री जिनसमुद्रसूरि के पट्ट पर जिनहंससूरि हुए, इनका जन्म संवत् १५२४, दीक्षा सं० १५३५ में और आचार्य-पद १५५६ में शान्तिसागर द्वारा हुआ, सं० १५८२ में जिनहंस पाटण में स्वर्गवासी हुए, इनके समय में सं० १५६३ में शान्तिसागर द्वारा "आचार्यीय" गच्छ की उत्पत्ति हुई।

श्री जिनमाणिक्यसूरि –

श्री जिनहंससूरि के पट्ट पर श्री जिनमाणिक्यसूरि हुए, जिनमाणिक्य को श्री जिनहंससूरि ने सं० १५८२ में आचार्य-पद दिया, सं० १६१२ में जिनमाणिक्यसूरि स्वर्गवासी हुए।

श्री जिनचन्द्रसूरि युग-प्रधान –

श्री जिनमाणिक्यसूरि के पट्ट पर जिनचन्द्रसूरि युगप्रधान हुए, इनका जन्म सं० १५६५ में हुआ था और सं० १६१२ में जैसलमेर वेगड़ा भट्टारक श्री गुणप्रभसूरि ने इन्हें आचार्य-पद दिया था। जिनचन्द्रसूरि ने क्रियोद्धार किया था, इनके प्रथम शिष्य का नाम सकलचन्द्र था, इन्होंने अकबर बादशाह द्वारा आषाढ़ महीने की अष्टाहिका के दिनों में जीवदया का फर्मान निकलवाया था। जिनचन्द्र ने अपना गच्छ जिनसिंहसूरि को सौंप कर सं० १६७० में परलोक प्राप्त किया।

श्री जिनसिंहसूरि –

जिनचन्द्र के पट्ट पर जिनसिंहसूरि हुए, जिनसिंह का जन्म १६१५ में और दीक्षा १६२३ में हुई थी, सं० १६४६ में लाहोर में आपको सूरि-पद प्राप्त हुआ था, सं० १६७० में बिलाड़ा नगर में मि० सु० १० के दिन भट्टारक-पद मिला और सं० १६७४ में मेड़ता में आप परलोकवासी हुए।

श्री जिनसागरसूरि –

श्री जिनसिंहसूरि के पट्ट पर जिनसागरसूरि हुए, इनकी दीक्षा १६६१ में और भट्टारक-पद १६७४ में मेड़ता में हुआ था। जिनराजसूरि द्वारा सं० १६८६ के वर्ष में किसी दुर्जन ने विषप्रयोग की मिथ्यावार्ता चलाई, जिसके परिणामस्वरूप गच्छ में फूट पड़ी, फिर भी आपकी मान्यता सर्वत्र होती रही, सं० १७२० में आपका अहमदाबाद में स्वर्गवास हुआ।

श्री जिनधर्मसूरि –

जिनसागर के पट्ट पर श्री जिनधर्मसूरि हुए, जिनधर्मसूरि को सं० १७०८ में अहमदाबाद में जिनसागरसूरि ने दीक्षा दी। और सं० १७११ में

अहमदाबाद में श्री जिनसागरसूरि द्वारा आचार्य-पद दिया गया और गुरु-महाराज दिवंगत हो जाने के कारण सं० १७२० में श्री बीकानेर में स्वयं ने भट्टारक-पद प्राप्त किया। सं० १७४७ में लूणकरणसर में आपका देहान्त हुआ।

श्री जिनचन्द्रसूरि –

जिनधर्मसूरि के पट्ट पर श्री जिनचन्द्रसूरि हुए, जिनचन्द्र को १७४६ में लूणकरण में भट्टारक-पद प्राप्त हुआ, सं० १७६४ में बीकानेर में जिन-चन्द्रसूरि स्वर्गवासी हुए।

श्री जिनविजयसूरि –

जिनचन्द्रसूरि के पट्ट पर जिनविजयसूरि हुए, आपको सं० १७८५ में श्री बीकानेर में जिनचन्द्रसूरि ने आचार्य-पद दिया, उनकी आज्ञा में श्री संघ प्रवृत्ति कर रहा है।

(४) पट्टावली न० २३२९ :

यह पट्टावली २६ पत्रात्मक संस्कृत भाषा में लिखी हुई है, इसके लेखक ने इसका नाम पट्टावली न रखकर गुर्वावली रक्खा है, यह पट्टावली विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में आचार्य श्री जिनमहेन्द्रसूरि के समय में बनी हुई है, हमारे पास वाली प्रति का लेखनकाल सं० १९१७ है, कहीं-कहीं विस्तृत प्रसंग भी इसमें लिखे गए हैं, फिर भी सामान्य रूप में यह "गुर्वावली" खरतरगच्छीय अन्य पट्टावलियों से मिलती जुलती है, इसके सम्बन्ध में हम विशेष विवरण न देकर पट्टधरों की नामावलियां तथा उनका यथोपलब्ध समय देकर ही इसका अवलोकन पूरा कर देंगे।

पट्टावली का मंगलाचरण निम्न प्रकार से है –

"प्रणिपत्य जगन्नाथं, वर्धमानं जिनेश्वरम्।
गुरूणां नामधेयानि, लिख्यन्ते स्वविशुद्धये ॥१॥"

भगवान् महावीर चतुर्थारक के तीन वर्ष और साढ़े आठ मास शेष रहे तब कार्तिकी अमावस्या को मुक्ति प्राप्त हुए।

महावीर के पट्ट पर इन्द्रभूति गौतम-वीर निर्वाण से १२ वर्ष के बाद मोक्ष, गौतम स्वामी की परम्परा आगे नहीं बढ़ी इसलिए ये पट्टधरों में नहीं गिने जाते।

(१) महावीर के पट्ट पर सुधर्मस्वामी, जिननिर्वाण से २० वर्ष के बाद मुक्ति।

(२) जम्बूस्वामी जिननिर्वाण से ६४ वर्ष के बाद मुक्ति प्राप्त हुए।

(३) प्रभवस्वामी वीरात् ७५ वर्षे स्वर्ग प्राप्ति।

(४) शय्यम्भवसूरि वीरात् ६८ वर्षे स्वर्ग गमन।

(५) श्री यशोभद्रसूरि का वीरात् १४८ वर्षे स्वर्ग गमन।

(६) संभूतविजय का वीरात् १६५ वर्षे स्वर्गवास।

(७) भद्रबाहु स्वामी-वीरात् १७० वर्षे परलोकगमन।

(८) स्थूलभद्र स्वामी-वीरात् २१६ वर्षे स्वर्गवास।

(९) आर्य महागिरि-वीरात् २४६ वर्षे स्वर्गवास।

(१०) आर्य सुहस्ती-वीरात् २६५ वर्षे स्वर्गवास।

(११) सुस्थितसूरि-वीरात् ३४३ वर्ष के बाद स्वर्ग। इन्हीं से हमारा सम्प्रदाय कोटिकगच्छ कहलाया।

(१२) श्री इन्द्रदिन्नसूरि, (१३) श्री दिन्नसूरि (१४) श्री सिंहगिरि, इस समय में आचार्य पादलिप्तसूरि, वृद्धवादिसूरि, तथा सिद्धसेन दिवाकर हुए।

(१५) श्री वज्रस्वामी का जन्म वीरात् ४६६ में, निर्वाण से ५८४ में स्वर्गवास।

(१६) वज्रसेनाचार्य-नागेन्द्र, चन्द्र, निर्वृति, विद्याधर को दीक्षा और कुलों की उत्पत्ति।

(१७) श्री चन्द्रसूरि – इस समय में आर्यरक्षित युगप्रधान हुए।

(१८) समन्तभद्रसूरि – (वनवासी)

(१९) श्री वृद्धदेवसूरि (२०) प्रद्योतनसूरि (२१) मानदेवसूरि (शान्ति-स्तव कर्त्ता)

(२२) मानतुंगसूरि (भक्तामर कर्त्ता)

(२३) वीरसूरि, इस समय के दर्म्यान देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण हुए जिन्होंने ६८० में वलभी नगरी में सर्वसिद्धान्त लिखवाए, इसी समय में श्री कालकाचार्य, जिन्होंने भाद्रपद शुक्ल ५ से चतुर्थी पर्युषणा पर्व किया, यह घटना वीर निर्वाण से ६६३ में बनी। इसके पहले दो कालकाचार्य और हुए, प्रथम श्यामाचार्य जो ३७६ में, द्वितीय गर्दभिल्लोच्छेदक कालकाचार्य वीर से ४५३ में, फिर इसी समय के भीतर श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (विशेषावश्यक भाष्य कर्त्ता) हुए, जिनके शिष्य शीलाङ्काचार्य ने आचारांग और सूत्रकृतांग की वृत्ति बनाई और इसी समय के लगभग प्रसिद्ध श्रुतधर हरिभद्रसूरि हुए।

(२४) श्री जयदेवसूरि, (२५) देवानन्दसूरि, (२६) विक्रमसूरि, (२७) नरसिंहसूरि, (२८) समुद्रसूरि, (२९) मानदेवसूरि, (३०) विबुधप्रभसूरि, (३१) जयानन्दसूरि, (३२) रविप्रभ, (३३) यशोभद्र (३४) विमलचन्द्रसूरि।

(३५) श्री देवसूरि, इनके सुविहित मार्गाचरण से सुविधि गच्छ ऐसी प्रसिद्धि हुई।

(३६) श्री नेमिचन्द्रसूरि

(३७) श्री उद्योतनसूरि – इनसे चोरासी गच्छों की उत्पत्ति हुई।

(३८) वर्धमानसूरि। (३९) जिनेश्वरसूरि बुद्धिसागर सूरि "**जिनेश्वरसूरि-मुद्दिश्यातिखरा एते इति राज्ञा प्रोक्तं तत एव "खरतर-बिरुदं" लब्धं, तथा चैत्यवासिनां हि पराजयप्रापणात् "कुवला" इति नामधेय प्राप्ता एवं च सुविहितपक्षधारका जिनेश्वरसूरयो विक्रमतः १००० वर्षेः "खरतर" बिरुद-धारका जाताः।**"

पट्टावली के उपर्युक्त फिकरे में राजा दुर्लभ द्वारा जिनेश्वरसूरि को "अतिखर" और इनके सामने चर्चा करने वालों को "कोमल" कहलाया है।

इन शब्दों से यही अर्थ निकलता है कि जिनेश्वरसूरि ने वसतिवास का निर्भयतापूर्वक प्रतिपादन किया, तब चैत्यवासियों ने इनके मुकाबिले में चैत्यवास का प्रतिपादन कोमलतापूर्वक किया, इस शब्दप्रयोगों से विरुद्ध प्रदान मान लेना यौक्तिक नहीं माना जा सकता है।

(४०) जिनचन्द्रसूरि (४१) अभयदेवसूरि

एक समय में आचार्य-पद प्राप्त करने के बाद आचार्यश्री अभयदेव-सूरिजी ने नव रसों का पोषण किया, जिसे सुनकर सभा आनन्दित हुई, परन्तु गुरु ने उन्हें उपालम्भ दिया, तब अभयदेवसूरिजी ने आत्मशुद्ध्यर्थ प्रायश्चित्त मांगा और गुरु ने १२ वर्ष तक आचामाम्ल व्रत करने का आदेश दिया[1] अभयदेवसूरिजी ने गुरु का वचन स्वीकृत करके छः ही विकृतियों का त्याग किया, परिणाम स्वरूप उनके शरीर में गलत्कुष्ठ रोग की उत्पत्ति हो गई, बाद में स्तम्भनक पार्श्वनाथ की स्तवना करके प्रतिमा निकलवाई, जिसके स्नात्रजल से शरीर नीरोग हुआ, बाद में सूरिजी ने नवांगसूत्रों की वृत्तियां बनाई और अन्त में कपड़वंज में अनशन कर चतुर्थ देवलोक प्राप्त किया।

(४२) जिनवल्लभसूरि –

जिनवल्लभसूरि जो पहले कूर्चपुरीय गच्छ के जिनेश्वरसूरि के शिष्य थे, इन्होंने "पिण्डविशुद्धिप्रकरण", "गणधर[2] सार्द्धशतक", "षडशीति" प्रमुख अनेक शास्त्र बनाये थे।

जिनवल्लभ सं० ११६७ में देवभद्राचार्य द्वारा आचार्य बने और छः मास तक आचार्य-पद भोगा। इनके समय में "मधुकर खरतर" शाखा निकली तथा इन्हीं के समय में शासन देवता के वचन से आचार्य के नाम की आदि में "जिन" शब्द रखने की प्रवृत्ति चली।

---

१. समयसुन्दरजी की पट्टावली में ६ मास का प्रायश्चित्त लिखा है।

२. "गणधर सार्द्धशतक" जिनवल्लभसूरि की कृति नहीं, यह जिनदत्तसूरि की कृति है।

(४३) जिनदत्तसूरि –

जिनदत्तसूरि का जन्म ११३२ में, दीक्षा ११४१ में, आचार्य-पद ११६९ में आचार्य देवभद्र द्वारा दिया गया। इनके समय में संवत् १२०४ में जिनशेखराचार्य से रुद्रपल्लीय शाखा निकली, यह द्वितीय गच्छभेद हुआ।

यहां पर वायटगच्छीय जिनदत्तसूरि सम्बन्धी गौशरीर में प्रवेश करने की हकीकत प्रस्तुत जिनदत्तसूरि के साथ जोड़ दी है जो अन्धश्रद्धा का परिणाम है, इसके सिवा अन्य भी अनेक वृत्तान्त जिनदत्तसूरि के जीवन के साथ जोड़ दिये हैं, जो इनकी महिमा बढ़ाने के बजाय महत्त्व घटाने वाले हैं।

जिनदत्तसूरि सं० १२११ के आषाढ़ शुक्ल ११ को अजमेर में स्वर्गवासी हुए।

यहां पर क्षमाकल्याणक मुनि ने निम्न प्रकार का डेढ़ श्लोक लिखा है –

"श्री जिनदत्तसूरीणां, गुरूणां गुणवर्णनम्।
मया क्षमाविकल्याण–मुनिना लेशतः कृतम्॥
सुविस्तरेण तत्कर्तुं, सुराचार्योऽपि न क्षमः॥१॥"

उपर्युक्त षट्पदी से मालूम होता है कि या तो यह पट्टावली क्षमाकल्याणक-कृत होनी चाहिए, जिसका अन्तिम भाग जिनमहेन्द्रसूरि के किसी शिष्य ने जोड़ कर इसे अपना लिया है। अगर ऐसा नहीं है, तो कम से कम जिनदत्तसूरिजी का वर्णन तो क्षमाकल्याणकजी की पट्टावली से उद्धृत किया होगा, इसमें कोई शंका नहीं है।

(४४) श्री जिनचन्द्रसूरि –

इनकी दीक्षा संवत् १२०३ में अजमेर में हुई थी। सं० १२११ में श्री जिनदत्तसूरिजी के हाथ से आचार्य-पद पर स्थापित हुए थे और सं० १२२३ में भाद्रपद कृष्णा १४ के दिन २६ वर्ष की उम्र में आपका स्वर्गवास हुआ था।

(४५) श्री जिनपतिसूरि –

आपकी दीक्षा १२१८ की साल में दिल्ली में हुई थी और संवत् १२२३ में श्री जयदेवाचार्य द्वारा आपकी पद-स्थापना हुई थी। सं० '२७० में पालनपुर में स्वर्गवास।

(४६) श्री जिनेश्वरसूरि –

आपकी दीक्षा सं० १२६५ में, १२७० में सर्वदेवाचार्य द्वारा जालोर में आचार्य-पद, इनके समय में ही १२१४ में आंचलिक मत की उत्पत्ति हुई। १२८५ में चित्रावालगच्छीय जगच्चन्द्रसूरि से तपागण प्रसिद्ध हुआ। सं० १३३१ में आपका स्वर्गवास हुआ। इनके समय में जिनसिंहसूरि से लघुखरतर शाखा प्रकट हुई।

(४७) श्री जिनप्रबोधसूरि –

इनका सं० १३३१ में जालोर में आचार्य-पद हुआ और स्वर्गवास १३४? में।

(४८) श्री जिनचन्द्रसूरि –

सं० १३३२ में जालोर में दीक्षा, सं० १३४१ में जालोर में पदमहोत्सव, सं० १३७६ में स्वर्गवास। इनके समय में "खरतरगच्छ" की "राजगच्छ" के नाम से प्रसिद्धि हुई थी।

(४९) श्री जिनकुशलसूरि –

सं० १३३० में जन्म, १३४७ में दीक्षा, सं० १३७७ में राजेन्द्राचार्य द्वारा सूरिमन्त्र दिया गया। सं० १३८९ में स्वर्गप्राप्ति।

(५०) श्री जिनपद्मसूरि –

सं० १३८९ में आचार्य तरुणप्रभ द्वारा सूरिमन्त्र दिया गया, सं० १४०० वैशाख सुदि १४ के दिन पाटण में स्वर्गवास।

(५१) जिनलब्धिसूरि –

श्री तरुणप्रभाचार्य द्वारा आचार्य-पद, सं० १४०६ में स्वर्गवास।

(५२) श्री जिनचन्द्रसूरि –

इनको सं० १४०६ में तरुणप्रभाचार्य द्वारा सूरि-मन्त्र मिला और १४१५ में स्वर्गवास।

(५३) जिनोदयसूरि –

सं० १३७५ में जन्म, १४१५ में आषाढ़ शु० २ को तरुणप्रभाचार्य द्वारा पद स्थापना और सं० १४३२ में पाटण में स्वर्गवास, इनके समय में १४२२ में "वेगडखरतरशाखा" निकली। यह चतुर्थ गच्छ भेद हुआ।

(५४) श्री जिनराजसूरि –

सं० १४३२ में पाटण में आचार्य-पद हुआ, स्वर्णप्रभाचार्य, श्री भुवनरत्नाचार्य और सागरचन्द्राचार्य को आचार्य बनाया। सं० १४६१ में देलवाड़ा में स्वर्गवास।

(५५) श्री जिनभद्रसूरि –

सं० १४६१ में सागरचन्द्राचार्य ने श्री जिनराजसूरि के पट्ट पर श्री जिनवर्द्धनसूरि को स्थापित किया था, उन्होंने जैसलमेर के श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ के पास में स्थापित क्षेत्रपाल की मूर्ति को गर्भगृह के बाहर ले जाकर स्थापित किया, इससे कुपित क्षेत्रपाल ने उनमें चतुर्थव्रत भंग का दोष बताया, जिससे इनके भक्त नाराज हो गये। सं० १५१४ में श्री जिनभद्रसूरि का कुम्भलमेर में स्वर्गवास। इनके समय में १४७४ में श्री जिनवर्द्धनसूरि से 'पिप्पलक' नाम की "खरतर शाखा निकली," यह पांचवां गच्छ भेद हुआ।

(५६) श्री जिनचन्द्रसूरि –

सं० १४९२ में दीक्षा, १५१४ में कीर्तिरत्नाचार्य द्वारा पद स्थापना और आबु ऊपर नवफणा पार्श्वनाथ प्रतिष्ठा की। धर्मरत्नसूरि, गुण-

रत्नसूरि प्रमुख अनेक आचार्य बनाने वाले, श्री जिनचन्द्रसूरि १५३० में जैसलमेर में स्वर्गवासी हुए, इनके समय में १५०८ में अहमदाबाद में लोंका नामक लेखक ने प्रतिमा-पूजा का विरोध किया; और सं० १५२४ में लोंका के नाम से मत प्रचलित हुआ।

(५७) श्री जिनसमुद्रसूरि –

१५२१ में दीक्षा, १५३० में श्री जिनचन्द्रसूरि द्वारा पदस्थापना और सं० १५५५ में अहमदाबाद में स्वर्गवास।

(५८) श्री जिनहंससूरि –

सं० १५६५ में दीक्षा, सं० १५५५ में आचार्य-पद, सं० १५५६ में फिर विशेष पद महोत्सव, सं० १५८२ में पाटन में स्वर्गवास, इनके समय में १५६४ में मारवाड़ में आचार्य शान्तिसागर ने आचार्यीय खरतरशाखा निकाली।

(५९) श्री जिनमाणिक्यसूरि –

सं० १५४९ में जन्म, १५६० में दीक्षा, सं० १५८२ में आचार्य-पद श्री जिनहंससूरि द्वारा, श्री जिनमाणिक्यसूरि कई वर्षों तक जैसलमेर में रहे। परिणामस्वरूप इनके सब साधु शिथिलाचारी हो गये, उधर प्रतिमोत्थापकों का मत बहुत बढ़ रहा था, यह देखकर मन्त्री संग्रामसिंह ने गच्छ की स्थिति ठीक रखने के लिए गुरु को अजमेर बुलाया, उन्होंने मन से तो क्रियोद्धार का संकल्प कर ही लिया था और कहा – प्रथम देराउल में श्री जिनकुशलसूरिजी की यात्रा करके फिर यहां से क्रियोद्धार करके विहार करूंगा। देराउल से आप वापिस जैसलमेर आ ही रहे थे परन्तु सं० १६१२ के आषाढ़ शुक्ल ५ को आप का स्वर्गवास हो गया।

(६०) श्री जिनचन्द्रसूरि –

इनकी दीक्षा सं० १६०४ में, सूरि-पद १६१२ में, गच्छ में शिथिलाचारित्व देखकर सर्व परिग्रह का त्याग कर कर्मचन्द्र के आग्रह से बीकानेर

गए और वहां से सुविहित साधुओं के साथ विहार करते हुए, प्रतिमोत्थापक मत का खण्डन करते हुए, अपनी सामाचारी को दृढ़ करते हुए गुजरात की तरफ गए। अहमदाबाद में शिवा, सोमजी नाम के दो भाइयों को प्रतिबोध करके धनवन्त किए, लाहोर जाकर अकबर को प्रतिबोध करके सब देशों में फर्मान भिजवाकर अट्ठाई के दिनों में अमारि का पालन करवाया, सं० १६५२ में पांच नदियों का साधन किया, जहां ५ पीर मणिभद्रयक्ष, खोडिया क्षेत्रपालादि देव शामिल थे, सं० १६७० में बेणातट पर आपका स्वर्गवास हुआ, इनके समय में सं० १६२१ में भावहर्षोपाध्याय से "भावहर्षीय खरतर शाखा" निकली। यह सातवां गच्छभेद हुआ।

(६१) श्री जिनसिंहसूरि –

सं० १६२३ में दीक्षा, १६४९ के फाल्गुन शुक्ल २ को लाहोर में आचार्य-पद और सं० १६७० में बेनातट पर सूरि-पद, १६७४ में मेड़ता में स्वर्गवास।

(६२) श्री जिनराजसूरि –

सं० १६५६ में दीक्षा, १६७४ में मेड़ता में सूरि-पद, इनके द्वितीय शिष्य सिद्धसेन गणि को आचार्य-पद देकर जिनसागरसूरि नाम रक्खा, १२ वर्ष तक आप इनकी आज्ञा में रहे, फिर समयसुन्दरोपाध्याय के शिष्य हर्षनन्दन के कदाग्रह से सं० १६८६ में आचार्य जिनसागरसूरि से "लघ्वाचार्य" खरतर शाखा निकली, यह अष्टम गच्छभेद हुआ। जिनराजसूरि ने नैषधीय काव्य पर "जैनराजी" नामक टीका बनाई, सं० १६९९ में आप स्वर्गवासी हुए। लगभग उसी समय १७०० में पं० रंगविजयजी गणि से "रंगविजया" शाखा निकली यह नवंमा गच्छभेद हुआ और इस शाखा में से श्रीसार उपाध्याय ने "श्रीसारीय खरतर शाखा" निकाली, यह दशवां गच्छभेद हुआ। ग्यारहवां सुविहित मूल खरतरगच्छ का भेद कायम रहा इस तरह ११ भेद पड़े।

(६३) श्री जिनरत्नसूरि –

सं १६९९ में श्री जिनराजसूरिजी ने सूरिमन्त्र दिया। सं० १७११ में जिनरत्नसूरि अकबराबाद में स्वर्गवासी हुए।

(६४) श्री जिनचन्द्रसूरि –

आपकी सं० १७११ में राजनगर में पद-स्थापना हुई, सं० १७६३ में सूरत बन्दर में स्वर्गवासी हुए।

(६५) श्री जिनसुखसूरि –

सं० १७५१ में दीक्षा, १७६३ में पदस्थापना हुई और संवत् १७८० में रीणी नगर में स्वर्गवास।

(६६) श्री जिनभक्तिसूरि –

सं० १७८० में आचार्य-पद, सं० १८०४ में मांडवी बन्दर में स्वर्गवास।

(६७) श्री जिनलाभसूरि –

सं० १७९६ में जैसलमेर में दीक्षा, १८०४ में आचार्य-पद, सं० १८३४ में स्वर्गवास।

(६८) श्री जिनचन्द्रसूरि –

सं० १८२२ में दीक्षा, सं० १८३४ में पदस्थापना, १८५६ में सूरत में स्वर्गवास।

(६९) श्री जिनहर्षसूरि –

सं० १८४३ में दीक्षा, सं० १८५६ में पदस्थापना, १८९२ में ब्राह्म-मुहूर्त में मंडोवर में स्वर्गवास।

(७०) श्री जिनमहेन्द्रसूरि –

सं० १८६७ में जन्म, १८८५ में दीक्षा, सं० १८९२ में जोधपुर महाराजा मानसिंहजी के राज्यकाल में आचार्य-पद। श्री पादलिप्तपुर में तपागच्छीय उपाश्रय के आगे होकर वादित्र बजाते हुए जिनमन्दिर में दर्शनार्थ गए।

श्री संघाधिप ने सपरिकर गुरु को अपने निवास-स्थान पर बुलाकर स्वर्णमुद्राओं से नवांग पूजा की और दस हजार रुपया और पालकी संघ के

समक्ष भेंट की। वाचक, पाठक साधुवर्ग को सुवर्ण रूप्य मुद्राएं तथा महावस्त्रादि ज्ञानोपकरण भेंट दिए।

श्री गुरु ने भी चौरासी-गच्छीय समस्त आचार्य तथा सहस्र साधुओं को महावस्त्र और प्रत्येक को दो-दो रूप्य-मुद्राएं अर्पण की।

ऊपर चौरासी गच्छ के आचार्यों तथा सहस्राधिक साधुओं को श्रीजी द्वारा महावस्त्र और वस्त्रादि दो-दो रुपयों के साथ देने की बात कही है तब आगे जाकर नीचे का फिकरा लिखते हैं —

"फाल्गुन सुदि २ दिने सर्व तपागच्छीयादि आचार्य साधूनुपस्थकार्यो संरोध्य श्रीजिनमहेन्द्रसूरयः सर्वसंघपतिभिः सार्द्धं श्रीमूलनायकजिनगृहाग्रतो गत्वा विधिना सर्वेषां कण्ठेषु संघमालाः स्थापिताः, अन्यगच्छीयाचार्याणां कौशिकानामिव मनोभिलाषं मनस्येव स्थितं, खरतरगच्छेश्वरसूर्योदयतेज प्रकरत्वात्तदनुत्तीर्य गीतगानतुर्यवाद्यमानगजाश्वशिबिकेन्द्रध्वजादिमहर्घ्या पादलिप्तपुरे जिनगृहे दर्शनं विधाय तपागच्छीयाचार्यस्थितोपाश्रयाग्रतो भूत्वा संघावासेऽयासिषुः भूयोऽपि तत्रस्थचतुरशीतिगच्छीय द्वादशशत साधुवर्गेभ्यो महावस्त्र-रूप्यमुद्रायुग्मं प्रत्येकं प्रदत्तानि, तदवसरे श्रीमत्पूज्यैर्बहुतरद्रव्यव्ययं कृतं, तत्सम्बन्धः पूर्ववत् पुनः श्री मदादिजिनकोशकुंचिकायुग्मं श्रीखरतरगणश्राद्धैस्तपाश्रद्धालुभ्यः सकाशाद्गृहीतं कुंचिकायुग्मं तत्पार्श्वे रक्षितं।"

पट्टावली का ऊपर जो पाठ दिया है इससे अनेक गुप्त बातें ध्वनित होती हैं। फाल्गुन सुदि २ के दिन, जिनमहेन्द्रसूरिजी पादलिप्तपुर में उपस्थित संघपतियों को माला पहिनाने वाले थे, परन्तु दादा की टूक में मूलनायकजी के सामने माला पहिनाने में तपागच्छीय तथा अन्यगच्छीय सभी आचार्य विरुद्ध थे, जिसके परिणामस्वरूप जिनमहेन्द्रसूरिजी ने राजकीय बल द्वारा अन्य सभी गच्छों के आचार्यों तथा साधुओं को ऊपर जाने से रुकवा दिया था, फिर आपने निर्भयता से दादा के सामने संघपतियों को मालायें पहिनाने का पुरुषार्थ किया था। पट्टावली के कथनानुसार यह घटना खरतरगच्छ के सूर्योदय के तेज का प्रकाश था, जिसके

सामने अन्यगच्छीय आचार्य-रूप उल्लुओं के नेत्र चौंधिया गए थे। ऊपर से उतर कर नगर के मन्दिर में दर्शनार्थ जाने के प्रसंग में तपागच्छ के उपाश्रय के सामने होकर गीत-वादित्रों के साथ जाने का उल्लेख किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि विशिष्ट प्रसंगों के सिवाय तपागच्छ के उपाश्रय के आगे होकर वादित्रों के साथ निकलने का खरतरगच्छीय आचार्यों के लिए बन्द होगा अन्यथा यहां पर उक्त उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। पट्टावली के उपर्युक्त पाठ में संघपति द्वारा अपने निवास-स्थान पर जिनमहेन्द्रसूरि को बुलाकर सुवर्ण मुद्राओं से नवांग पूजा करने और दस हजार की थैली भेंट करने की बात कही है। ठीक तो है, संघपति जब धनवान् है तो अपने गुरु को धनहीन कैसे रहने देगा। इन बातों से निश्चित होता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के "श्रीपूज्य" नाम से पहिचाने जाते जैन आचार्य और "यति के नाम से प्रसिद्ध जैन साधु" पूरे परिग्रहधारी बन चुके थे। संघपति ने अपने आचार्य तथा साधुओं को वस्त्र और दो दो रुपये भेंट किये, यह एक साधारण बात है, परन्तु आचार्य जिनमहेन्द्रसूरि द्वारा प्रत्येक साधु को दो-दो रुपयों के साथ वस्त्र देना, हमारी राय में उचित नहीं था। कुछ भी हो, परन्तु खरतरगच्छ के अतिरिक्त अन्य सभी गच्छों के आचार्य तथा साधुओं को ऊपर जाने से रोकने वाले संघपतियों से तथा उनके गुरु श्री जिनमहेन्द्रसूरि से अन्य गच्छ के आचार्यों तथा साधुओं ने वस्त्र तथा मुद्राओं की दक्षिणा ली होगी, इस बात को कौन मान सकता है। जिनके मन में अपने सम्प्रदाय का और अपनी आत्मा का कुछ भी गौरव होगा, वे तो दक्षिणा तो क्या उनकी शक्ल तक देखने को तैयार नहीं हुए होंगे। बाकी पट्टावली में कुछ भी लिखें इसको कौन रोक सकता है।

पट्टावली-लेखक कहता है – "तदवसरे श्रीमत्पूज्यैर्बहुतरं द्रव्यंव्ययं कृतं।" पट्टावलीकार की भाषा से इतना तो स्पष्ट होता है कि इसका अन्तिम भाग किसी अर्धदग्ध संस्कृतपाठी का लिखा हुआ है। अधिकांश पट्टावली शुद्ध संस्कृत में है, परन्तु जिनमहेन्द्रसूरि के वर्णन में जो कुछ लिखा गया है, उसमें व्याकरण की अशुद्धियों का तो ठिकाना ही नहीं,

लिंग, वचन और सन्धि तक का पूरा ज्ञान नहीं था, उसी ने जिनमहेन्द्र-सूरि के गुणगान किये हैं।

इसके अतिरिक्त पट्टावली में ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक स्खलनाएं दृष्टिगोचर होती हैं, परन्तु उन सब की यहां चर्चा करके लेख को बढ़ाना उचित नहीं समझा गया।

(५) पट्टावली नम्बर २३३३ :

उपर्युक्त नम्बर की पट्टावली में भिन्न-भिन्न पट्टावली तथा गुर्वावली के पांच पत्र हैं और इनमें भिन्न-भिन्न लेखकों की लिखी हुई पांच पाटपरम्पराएं हैं, परन्तु उन सब की यहां चर्चा करना उपयुक्त नहीं, इनमें से जो बातें उपयोगी जान पड़ेगी मात्र उन्हीं की चर्चा करना ठीक होगा, इन पानों में एक पाट परम्परा श्री जिनलाभसूरि पर्यन्त लिखी हुई है और जिनलाभसूरि का नम्बर ६९ वां दिया है, परन्तु बाद में किसी ने श्री जिन-चन्द्रसूरि और जिनहर्षसूरि के नाम बढ़ाकर पट्टधरों के नम्बर ७१ कर दिये हैं।

एक दूसरे पट्टावली पत्र में युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि को ६२ वें नम्बर में लिया है और आगे जिनसिंह, जिनराज, जिनरत्न और जिनचन्द्र-सूरि के नाम लिखकर पट्टधरों के नम्बर ६६ कर दिये हैं परन्तु बाद में जिनसुख, जिनभक्ति और जिनलाभ इन तीनों आचार्यों के नाम बढ़ाकर पट्टधरों के नम्बर ६९ कर दिये हैं।

एक पट्टावली का पत्र पद्यमय गुर्वावली का है, आचार्यों की स्तुति उद्योतनसूरि से प्रारम्भ की है और जिनलाभसूरि तक परम्परागत आचार्यों की स्तुति करके इस कल्पवाचना का उपोद्घात लिखा है, यह पत्र जिनलाभसूरि के समय का लिखा हुआ है।

चौथा पत्र सुधर्म-स्वामी से लेकर जिनलाभसूरि के पट्टधर श्री जिन-चन्द्रसूरि तक के ७२ पट्टधरों के नम्बर लगाए हैं, परन्तु इस पट्टावली में

कितने ही नाम युगप्रधानों के हैं जिनको यहां परम्परा में लिखा है, इनमें से बहुतेरे युगप्रधानों के नाम न आर्य महागिरि की परम्परा से मिलते हैं, न आर्य सुहस्तीसूरि की परम्परा से; यह पत्र जिनचन्द्रसूरि के समय का लिखा हुआ है, इसके अन्त में "खरतरगच्छ" की शाखाओं के तथा अन्य गच्छों की उत्पत्ति के समयनिर्देशपूर्वक उल्लेख किये गए हैं। यह पत्र विशेष उपयोगी होने से इसका विशेष संक्षेप सार देंगे।

इस पत्र में आर्य सुहस्ती तक प्रचलित परम्परा दी है, आर्य सुहस्ती को १० नम्बर दिया है, इसके बाद ११ वां शान्तिभद्रसूरि, (१२) हरिभद्र-सूरि, (१३) गुणाकरसूरि, (१४) कालकाचार्य, (१५) श्री शण्डिलसूरि, (१६) रेवन्तसूरि, (१७) श्री धर्मसूरि, (१८) श्रीगुप्तसूरि, (१९) श्री आर्य-समुद्रसूरि, (२०) श्री मंगुसूरि, (२१) श्री सुधर्मसूरि, (२२) श्री भद्रगुप्त-सूरि, (२३) श्री वयरस्वामी, (२४) आर्यरक्षितसूरि, (२५) दुर्बलिकापक्ष (पुष्य) मित्र, (२६) श्री आर्यनन्दसूरि, (२७) नागहस्तीसूरि, (२८) श्री लघुरेवतीसूरि, (२९) श्री ब्रह्मद्वीपसूरि, (३०) श्री षाण्डिलसूरि, (३१) हिमवन्तसूरि, (३२) श्री नागार्जुन वाचक, (३३) श्री गोविन्द वाचक, (३४) श्री सम्भूतिदिन्न वाचक, (३५) श्री लोहित्यसूरि, (३६) श्री दुष्य-गणि वाचक, (३७) उमास्वाति वाचक, (३८) जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, (३९) श्री हरिभद्रसूरि, (४०) श्री देवसूरि।

उपर्युक्त ४० नामों से आर्य सुहस्ती के बाद के ३० नाम अस्तव्यस्त और इधर-उधर से उठा कर लिख दिये हैं। इनमें न पट्टक्रम है, न समय ही व्यवस्थित है, कितनेक नाम तो कल्पित हैं, तब अधिकांश नाम युगप्रधान पट्टावलियों में से लिये हुए हैं। (४१) श्री नेमिचन्द्र, (४२) श्री उद्योतन, (४३) श्री वर्धमान और (४४) श्री जिनेश्वरसूरि के नाम खरतर पट्टावलियों से मिलते-जुलते हैं। इसके आगे के (४५) श्री जिनचन्द्र, (४६) श्री अभयदेव, (४७) श्री जिनवल्लभ, (४८) श्री जिनदत्त, (४९) श्री जिन-चन्द्र, (५०) श्री जिनपति, (५१) श्री जिनेश्वर, (५२) श्री जिनप्रबोध, (५३) श्री जिनचन्द्रसूरि, (५४) श्री जिनकुशल, (५५) श्री जिनपद्म, (५६) श्री जिनलब्धि, (५७) श्री जिनचन्द्र, (५८) श्री जिनोदय, (५९)

श्री जिनराज, (६०) श्री जिनभद्र, (६१) श्री जिनचन्द्र, (६२) श्री जिनसमुद्र, (६३) श्री जिनहंस, (६४) श्री जिनमाणिक्य, (६५) श्री जिनचन्द्र, (६६) श्री जिनहंस, (६७) श्री जिनराज, (६८) श्री जिनरत्न, (६९) श्री जिनचन्द्र, (७०) श्री जिनसुख, (७१) श्री जिनभक्ति, (७२) श्री जिनलाभ, (७३) श्री जिनचन्द्रसूरि । इस प्रकार ये पिछले सभी नाम खरतर पट्टावली के अनुसार हैं। जिनचन्द्र के समय में यह पाना लिखा गया है।

इस पत्र के अन्त में खरतरगच्छ की शाखाओं तथा अन्यगच्छ-मतों के प्रकट होने का समय-निर्देश नीचे लिखे अनुसार किया है।

१. सं० १२०४ में जिनशेखराचार्य से "रुद्रपल्लीय" खरतर शाखा निकली ।

२. सं० १२०५ में श्री जिनदत्तसूरि के समय "मधुकर" खरतर शाखा निकली ।

३. सं० १२२२ में जिनेश्वरसूरि द्वारा "वेगड" खरतर शाखा निकली ।

४. सं० १४६१ के वर्ष में श्री वर्धमानसूरिजी ने "पीप्पलीया" खरतरगच्छ की शाखा का प्ररूपण किया ।

५. सं० १५६० में श्री शान्तिसागराचार्य ने "आचार्या" नामक नयी खरतरगच्छ की शाखा निकाली ।

६. श्री जिनसागरसूरिजी ने सं० १६८७ में "लघु आचार्य" नामक खरतरगच्छ में एक नयी शाखा चलाई ।

७. सं० १३३१ में श्री जिनसिंहसूरि एवं जिनप्रभसूरि ने "लघु खरतरगण" नाम से अपने गच्छ को प्रसिद्ध किया ।

८. सं० १६१२ में भावहर्षगणि ने अपने नाम से खरतरगच्छ में "भावहर्षीया" शाखा निकाली ।

९. सं० १६७५ में श्री रंगविजयसूरि ने "रंगविजया" शाखा निकाली ।

१०. १६७५ वर्ष खरतरगच्छ में श्री सारजी से "श्री सारगच्छ" नामक भेद पड़ा ।

सं० १२३६ (१२२६) में आचार्य हेमसूरि त्रिकोटी ग्रन्थों के कर्त्ता हुए ।

सं० १२८५ में तपागच्छ की उत्पत्ति हुई ।

सं० ११५६ में पूर्णमीयागच्छ निकला ।

सं० १२१४ में आंचलीयागच्छ निकला ।

सं० १३३३ (अन्यत्र १२५०) में आगमिकगच्छ निकला ।

सं० १५०८ में अहमदाबाद में लुकाशाह नामक पुस्तक-लेखक ने "प्रतिमोत्थापक" मत निकाला और लखमसी से भेंट हुई ।

सं० १५२४ में लुंकागच्छ की उत्पत्ति हुई ।

उपसंहार :

इतिहास साधन होने के कारण हमने तपागच्छ, खरतरगच्छ, आंचलगच्छ आदि की यथोपलब्ध सभी पट्टावलियों तथा गुर्वावलियां पढ़ी हैं और इससे हमारे मन पर जो असर पड़ा है उसको व्यक्त करके इस लेख को पूरा कर देंगे ।

वर्तमानकाल में खरतरगच्छ तथा आंचलगच्छ की जितनी भी पट्टावलियां हैं, उनमें से अधिकांश पर कुलगुरुओं की बहियों का प्रभाव है, विक्रम की दशवीं शती तक जैन श्रमणों में शिथिलाचारी साधुओं को संख्या इतनी बढ़ गई थी कि उनके मुकावले में सुविहित साधु बहुत ही कम रह गये थे । शिथिलाचारियों ने अपने अड्डे एक ही स्थान पर नहीं जमाये थे, उनके बड़ेरे जहां-जहां फिरे थे, जहां-जहां के गृहस्थों को अपना श्राविक बनाया था, उन सभी स्थानों में शिथिलाचारियों के अड्डे जमे हुए थे, जहां उनकी पौषधशालाएं नहीं थीं वहां अपने अड्डों से अपने गुरु-प्रगुरुओं के श्राविकों को सम्हालने के लिये जाया करते थे, जिससे कि उनके पूर्वजों के भक्तों के साथ उनका परिचय बना रहे, गृहस्थ भी इससे खुश रहते थे कि हमारे कुलगुरु हमारी सम्हाल लेते हैं, उनके यहां कोई भी धार्मिक कार्य प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा, संघ आदि का प्रसंग होता, तब वे अपने कुलगुरुओं को आमन्त्रण करते और

धार्मिक विधान उन्हीं के हाथ से करवाते, धीरे-धीरे वे कुलगुरु परिग्रहधारी हुए: वस्त्र, पात्र के अतिरिक्त द्रव्य की भेंट भी स्वीकारने लगे, तबसे कोई गृहस्थ अपने कुलगुरु को न बुलाकर दूसरे गच्छ के आचार्य को बुला लेता और प्रतिष्ठादि कार्य उनसे करवा लेता तो उनका कुलगुरु बना हुआ आचार्य कार्य करने वाले अन्य गच्छीय आचार्य से झगड़ा करता। इस परिस्थिति को रोकने के लिए कुलगुरुओं ने विक्रम की १२ वीं शताब्दी से अपने-अपने श्रावकों के लिए अपने पास रखने शुरू किये, किस गांव में कौन-कौन गृहस्थ अपना अथवा अपने पूर्वजों का मानने वाला है उनकी सूचियां बनाकर अपने पास रखने लगे और अमुक-अमुक समय के बाद उन सभी श्रावकों के पास जाकर उनके पूर्वजों की नामावलियां सुनाते और उनकी कारकीर्दियों की प्रशंसा करते, तुम्हारे बड़ेरों को हमारे पूर्वज अमुक आचार्य महाराज ने जैन बनाया था, उन्होंने अमुक २ धार्मिक कार्य किये थे इत्यादि बातों से उन गृहस्थों को राजी करके दक्षिणा प्राप्त करते। यह पद्धति प्रारम्भ होने के बाद वे शिथिल साधु धीरे-धीरे साधुधर्म से पतित हो गए और "कुलगुरु" तथा "वही वंचों" के नाम से पहिचाने जाने लगे। आज पर्यन्त ये कुलगुरु जैन जातियों में बने रहे हैं, परन्तु विक्रम की बीसवीं सदी से वे लगभग सभी गृहस्थ बन गए हैं, फिर भी कतिपय वर्षों के बाद अपने पूर्वज-प्रतिबोधित श्रावकों को वन्दाने के लिऐ जाते हैं, बहियां सुनाते हैं और भेंट पूजा लेकर आते हैं, इस प्रकार के कुलगुरुओं की अनेक बहियां हमने देखी और पढ़ी हैं उनमें बारहवीं शती के पूर्व की जितनी भी बातें लिखी गई हैं वे लगभग सभी दन्तकथामात्र हैं, इतिहास से उनका कोई सम्बन्ध नहीं, गोत्रों और कुलों को बहियां लिखी जाने के बाद की हकीकतों में आंशिक तथ्य अवश्य देखा गया है, परन्तु अमुक हमारे पूर्वज आचार्य ने तुम्हारे अमुक पूर्वज को जैन बनाया था और उसका अमुक गोत्र स्थापित किया था, इन बातों में कोई तथ्य नहीं होता, गोत्र किसी के बनाने से नहीं बनते, आजकल के गोत्र उनके बड़ेरों के धन्धों रोजगारों के ऊपर से प्रचलित हुए हैं, जिन्हें हम "अटक" कह सकते हैं। खरतरगच्छ की पट्टावलियों में अनेक आचार्यों के वर्णन में लिखा मिलता है कि अमुक को आपने जैन बनाया और उसका यह गोत्र कायम किया, अमुक आचार्य ने इतने लाख और इतने हजार अजैनों

को जैन बनाया, इस कथन का सार मात्र इतना ही होता है कि उन्होंने अपने उपदेश से अमुक गच्छ में से अपने सम्प्रदाय में इतने मनुष्य सम्मिलित किए। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की बातों में कोई सत्यता नहीं होती, लगभग आठवीं नवमीं शताब्दी से भारत में जातिवाद का किला बन जाने से जैन समाज की संख्या बढ़ने के बदले घटती ही गई है। इक्का दुक्का कोई मनुष्य जैन बना होगा तो जातियों की जातियां जैन समाज से निकलकर अन्य धार्मिक सम्प्रदायों में चली गई हैं, इसी से तो करोड़ों से घटकर जैन समाज की संख्या आज लाखों में आ पहुँची है। ऐतिहासिक परिस्थिति उक्त प्रकार की होने पर भी बहुतेरे पट्टावलीलेखक अपने अन्य आचार्यों की महिमा बढ़ाने के लिए हजारों और लाखों मनुष्यों को नये जैन बनाने का जो ढिण्ढोरा पीटे जाते हैं इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, इसलिए ऐतिहासिक लेखों प्रबन्धों और पट्टावलियों में इस प्रकार की अतिशयोक्तियों और कल्पित-कहानियों को स्थान नहीं देना चाहिए।

हमने तपागच्छ की छोटी बड़ी पच्चीस पट्टावलियां पढ़ी हैं और इतिहास की कसौटी पर उनको कसा है, हमको अनुभव हुआ कि अन्यान्य गच्छों की पट्टावलियों की अपेक्षा से तपागच्छ की पट्टावलियों में अतिशयोक्तियों और कल्पित कथाओं की मात्रा सब से कम है और ऐसा होना ही चाहिए, क्योंकि कच्ची नींव पर जो इमारत खड़ी की जाती है, उसकी उम्र बहुत कम होती है। हमारे जैन संघ में कई गच्छ निकले और नामशेष हुए, इसका कारण यही है कि उनकी नींव कच्ची थी, आज के जैन समाज में तपागच्छ, खरतरगच्छ, आंचलगच्छ आदि कतिपय गच्छों में साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकात्मक चतुर्विध जैन संघ का अस्तित्व है, इसका कारण भी यही है कि इनमें वास्तविक सत्यता है। जो भी सम्प्रदाय वास्तविक सत्यता पर प्रतिष्ठित नहीं होते, वे चिरजीवी भी नहीं होते, यह बात इतिहास और अनुभव से जानी जा सकती है।

॥ इति खरतरगच्छीय पट्टावली संग्रह ॥

चतुर्थ परिच्छेद

[लौंकागच्छ और कडवामत की पट्टावलियाँ]

गृहस्थों का गच्छ-प्रवर्तन

लौंकामत-गच्छ की उत्पत्ति

सूत्रकाल में स्थविरों के पट्टक्रम की यादी को "थेरावली" अर्थात् "स्थविरावली" इस नाम से पहिचाना जाता था, क्योंकि पूर्वधरों के समय में निर्ग्रन्थश्रमण बहुधा वसति के बाहर उद्यानों में ठहरा करते थे और पृथ्वीशिलापट्ट पर बैठे हुए ही श्रोतागणों को धर्मोपदेश सुनाते थे, न कि पट्टों पर बैठकर। देश, काल, के परिवर्तन के वश श्रमणों ने भी उद्यानों को छोड़कर ग्रामों नगरों में ठहरना उचित समझा और धीरे-धीरे जिननिर्वाण से ६०० वर्ष के बाद अधिकांश जैन श्रमणों ने वसतिवास प्रचलित किया। गृहस्थ वर्ग जो पहले "उपासक" नाम से सम्बोधित होता था वह धीरे-धीरे नियत रूप से धर्म-श्रवण करने लगा, परिणाम स्वरूप प्राचीन श्रमणोपासक-श्रमणोपासिका-समुदाय श्रावक श्राविका के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह सब होते हुए भी तब तक श्रमणसंघ धार्मिक मामलों में अपनी स्वतंत्रता कायम रक्खे हुए था।

उपर्युक्त समय दर्मियान जो कोई निर्ग्रन्थ श्रमण अपनी कल्पना के बल से धार्मिक सिद्धान्त के विरुद्ध तर्क प्रतिष्ठित करता तो श्रमण-संघ उसको समझा-बुझाकर सिद्धान्तानुकूल चलने के लिए बाध्य करता, यदि इस पर भी कोई अपने दुराग्रह को न छोड़ता तो श्रमण-संघ उसको अपने से दूर किये जाने की उद्घोषणा कर देता। श्रमण भगवान् महावीर को जीवित अवस्था में ही ऐसी घटनाएँ घटित होने लगी थीं। महावीर को तीर्थ-

कर पद प्राप्त होने के बाद १४ वें और २० वें वर्ष में क्रमशः जमालि और तिष्यगुप्त को श्रमण-संघ से वहिष्कृत किये जाने के प्रसंग सूत्रों में उपलब्ध होते हैं, इसी प्रकार जिन-वचन से विपरीत अपना मत स्थापित करने वाले जैन साधुओं के संघबहिष्कृत होने के प्रसंग "आवश्यक-नियुक्ति" में लिखे हुए उपलब्ध होते हैं, इस प्रकार से संघ बहिष्कृत व्यक्तियों को शास्त्र में निह्नव इस नाम से उल्लिखित किया है और "औपपातिक" "स्थानाङ्गसूत्र" एवं आवश्यकनियुक्ति में उनकी संख्या ७ होने का निर्देश किया है।

वीरजिन-निर्वाण की सप्तम शती के प्रारंभ में नग्नता का पक्ष कर अपने गुरु से पृथक् हो जाने और अपने मत का प्रचार करने की आर्य शिवभूति की कहानी भी हमारे पिछले भाष्यकार तथा टीकाकारों ने लिखी है, परन्तु शिवभूति को संघ से बहिष्कृत करने की बात प्राचीन साहित्य में नहीं मिलती। इसका कारण यही है कि तब तक जैन श्रमण बहुधा वसतियों में रहने वाले बन चुके थे और उनके पक्ष, विपक्ष में खड़े होने वाले गृहस्थ श्रावकों का उनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बन चुका था। यही कारण है कि पहले "श्रमण-संघ" शब्द की व्याख्या "श्रमणानां संघः श्रमण-संघः" अर्थात् "साधुओं का संघ" ऐसी की जाती थी, उसको बदलकर "श्रमणप्रधानः संघः श्रमणसंघः" अर्थात् जिससंघ में साधु प्रधान हों वह "श्रमणसंघ" ऐसी व्याख्या की जाने लगी।

आर्य स्कन्दिल के समय में जो दूसरी बार आगमसूत्र लिखे गए थे, उस समय श्रमणसंघ शब्द की दूसरी व्याख्या मान्य हो चुकी थी और सूत्र में "चाउवण्णे संघो" शब्द का विवरण, "समणा, समणीओ, सावगा, साविगाओ" इस प्रकार से लिखा जाने लगा था। इसका परिणाम श्रमण-संघ के लिए हानिकारक हुआ, अपने मार्ग में उत्पन्न होने वाले मतभेदों और आचार-विषयक शिथिलताओं को रोकना उनके लिए कठिन हो गया था। जिननिर्वाण की १३ वीं शती के उत्तरार्ध से जिनमार्ग में जो मतभेदों का और आचारमार्ग से पतन का साम्राज्य बढ़ा उसे कोई रोक नहीं सका।

वर्तमान आगमों में से "आचारांग" और "सूत्रकृतांग" ये दो सूत्र मौर्यकालीन प्रथम आगमवाचना के समय में लिखे हुए हैं। इन दो में से

"आचारांग" में केवल एक "पासत्था" शब्द आचारहीन साधु के लिए प्रयुक्त हुआ उपलब्ध होता है, तब "सूत्रकृतांग" में एक शब्द जो आचार-हीनता का सूचक है अधिक बढ़ गया है। वह शब्द है "कुशील"।

उपर्युक्त दो सूत्रों के अतिरिक्त अन्य अनेक सूत्रों में "पार्श्वस्थ, कुशील, अवसन्न, संसक्त, और यथाछन्द" इन पांच प्रकार के कुगुरुओं की परिगणना हुई; परन्तु आगे चलकर "नियय" अर्थात् 'नियत" रूप से "वसति" तथा "आहार" आदि का उपभोग करने वालों की छट्ठे कुगुरु के रूप में परिगणना हुई। यह सब होने का मूल कारण गृहस्थों का संघ में प्रवेश और उनके कारण से होने वाला एक दूसरे का पक्षपात है। साधुओं के समुदाय जो पहले "गण" नाम से व्यवहृत होते थे "गच्छ" बने और "गच्छ" में भी पहले साधुओं का प्राबल्य रहता था वह धीरे-धीरे गृहस्थ श्रावकों के हाथों में गया, गच्छों तथा परम्पराओं का इतिहास बताता है कि कई "गच्छपरम्पराएं" तो केवल गृहस्थों के प्रपत्र से ही खड़ी हुई थी, और उन्होंने श्रमणगणों के संघटन का भयकर नाश किया था। मामला यहीं समाप्त नहीं हुआ, आगमों का पठन पाठन जो पहले श्रमणों के लिए ही नियत था, श्रावकों ने उसमें भी अपना दखल शुरू कर दिया, वे कहते – अमुक प्रकार के शास्त्र गृहस्थ-श्रावक को क्यों नहीं पढ़ाये जायें? मर्यादारक्षक आचार्य कहते – श्रावक सुनने के अधिकारी हैं, वाचना के नहीं, फिर भी कतिपय नये गच्छ वालों ने अमुक सीमा तक गृहस्थों को सूत्र पढ़ाना, सुनाना प्रचलित कर दिया, परिणाम जो होना था वही हुआ, कई सुधारक नये गच्छों की सृष्टि हुई और अन्धाधुन्ध परिवर्तन होने लगे, किसी ने सूत्र-पंचांगी को ही प्रमाण मानकर परम्परागत आचार-विधियों को मानने से इन्कार कर दिया, किसी ने द्रव्य-स्तव भावस्तवों का बखेड़ा खड़ा करके, अमुक प्रवृत्तियों का विरोध किया, तब कइयों ने आगम, परम्परा दोनों को प्रमाण मानते हुए भी अपनी तरफ से नयी मान्यताएं प्रस्तुत करके मौलिकता को तिरोहित करने की चेष्टा की, इस अन्धाधुन्ध मत सर्जन के समय में कतिपय गृहस्थों को भी साधुओं के उपदेश और आदेशों

का विरोध कर अपनी स्वयं की मान्यताओं को मूर्त रूप देकर अपने मत गच्छ स्थापित करने का उत्साह बढ़ा। ऐसे नये मतस्थापकों में से यहां हम दो मतों की चर्चा करेंगे, एक "लौंकामत" की और दूसरी "कडुवामत" की। पहला मत मूर्तिपूजा के विरोध में खड़ा किया था, तब दूसरामत वर्तमानकाल में शास्त्रोक्त आचार पालने वाले साधु नहीं हैं, इस बात को सिद्ध करने के लिये।

लौंका कौन थे ?

लौंकागच्छ के प्रादुर्भावक लौंका कौन थे ? यह निश्चित रूप से कहना निराधार होगा। लौंका के सम्बन्ध में प्रामाणिक बातें लिखने का आधारभूत कोई साधन नहीं है, क्योंकि लौंकाशाह के मत को मानने वालों में भी इस विषय का ऐकमत्य नहीं है। लौंका के सम्बन्ध में सर्वप्रथम लौंकागच्छ के यतियों ने लिखा है पर वह भी विश्वासपात्र नहीं। बीसवीं शती के लेखकों में शाह वाडीलाल मोतीलाल, स्थानकवासी साधु मणिलाल-जी आदि हैं, पर ये लेखक भी लौंका के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दिशाओं में भटकते हैं। शाह वाडीलाल मोतीलाल लौंकाशाह का जन्म अहमदाबाद में हुआ मानते हैं और इनको बड़ा भारी साहूकार एवं शास्त्र का बड़ा मर्मज्ञ विद्वान् मानते हैं, तब स्थानकवासी साधु मुनिश्री मणिलालजी अपनी पट्टावली में लौंका का जन्म "अर्हटवाडा" में हुआ बताते हैं और लिखते हैं -

अहमदाबाद में आकर लौंका बादशाह की नोकरी करता था और कुछ समय के बाद नोकरी छोड़ कर पाटन में यति सुमतिविजय के पास वि० सं० १५०९ में यतिदीक्षा ली थी और अहमदाबाद में चातुर्मास्य किया था, परन्तु वहां के जैनसंघ ने यति लौंका का अपमान किया, जिससे वे उपाश्रय को छोड़ कर चले गये थे।

इसके विपरीत लौंका के समीपवर्ती काल में बने हुए चौपाई, रास आदि में लौंकाशाह को गृहस्थावस्था में ही परलोकवासी होना लिखा है। इन परस्पर विरोधी बातों को देखने के बाद लौंकाशाह

के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित रूप से अभिप्राय व्यक्त करना साहस मात्र ही माना जायगा ।

लौंकाशाह और इनका मन्तव्य :

लौंकाशाह का अपना खास मन्तव्य क्या था, इसको इसके अनुयायी भी नहीं जानते। लौंका की मौलिक मान्यताओं का प्रकाश उनके समीपकालवर्ती लेखकों की कृतियों से ही हो सकता है, इसलिए पहले हम लौंका के अनुयायी तथा उनके विरोधी लेखकों की कृतियों के आधार से उनके मत का स्पष्टीकरण करेंगे ।

लौंकागच्छीय यति श्री भानुचन्द्रजी-कृत "दयाधर्म चौपाई" के अनुसार लौंका के मत की हकीकत –

यति भानुचन्द्रजी कहते हैं – "भस्मग्रह के अपार रोष से जैनधर्म अन्धकारावृत हो गया था । भगवान् महावीर का निर्वाण होने के बाद दो हजार वर्षों में जो जो बरतारे बरते उनके सम्बन्ध में हम कुछ नहीं कहेंगे, जब से शाह लौंका ने धर्म पर प्रकाश डाला और दयाधर्म की ज्योति प्रकट हुई है उसके बाद का कुछ वर्णन करेंगे ।१।२।"

"सौराष्ट्र देश के लींबड़ी गांव में डुङ्गर नामक दशा श्रीमाली गृहस्थ बसता था । उसकी स्त्री का नाम था चूड़ा । चूड़ा बड़े उदार दिल की स्त्री थी, उसने संवत् १४८२ के वैशाख वदि १४ को एक पुत्र को जन्म दिया और उसका नाम दिया लौंका । लौंका जब आठ वर्ष का हुआ तब उसका पिता शा. डुंगर परलोकवासी हो गया था ।३।४।"

"लौंका की फूफी का बेटा लखमसी नामक गृहस्थ था, जिसने लौंका का धनमाल अपने कब्जे में रक्खा था । लौंका की उम्र १६ वर्ष की हुई तब उसकी माता भी स्वर्ग सिधार गई । लौंका लीम्बड़ी छोड़कर अहमदाबाद आया और वहां नाणावट का व्यापार करने लगा । हमेशा वह धर्म सुनने और पौषधशाला में जाता और त्रिकाल-पूजा, सामायिक करता, व्या-

स्थान में वह साधुओं का आचार सुनता, परन्तु उस समय के साधुओं में शास्त्रोक्त-आचार पालन न देखकर उनको पूछता—आप कहते तो सही हैं परन्तु चलते उससे विरुद्ध हैं, यह क्या ? लौंका के इस प्रश्न पर यति उसको कहते—धर्म तो हमसे ही रहता है, तुम इसका मर्म क्या जानो। तुम पांच आश्रवसेवतो हो और साधुओं को सिखामन देने निकले हो। ५ ६।७।८।"

"यति के उक्त कथन पर शाह लौंका ने कहा—शास्त्र में तो दया को धर्म कहा है, पर तुम तो हिंसा का उपदेश देकर अधर्म की स्थापना करते हो ? इस पर यति ने कहा—फिट् भोण्डे ! हिंसा कहां देखी ? यति के समान कोई दया पालने वाला है ही नहीं। लौंका ने यति के उत्तर को अपना अपमान माना और साधुओं के पास पौषधशाला जाने का त्याग किया। स्थान-स्थान वह दया-धर्म का उपदेश देता, और कहता—आज ही हमने सच्चा धर्म पाया है। दूकान पर बैठा हुआ भी वह लोगों को दया का उपदेश दिया करता, जिसे सुनकर यति लोग उसके साथ क्लेश किया करते थे, पर लौंका अपनी धुन से पीछे नहीं हटा। फलस्वरूप संघ के कुछ लोग भी उसके पक्ष में मिले, बाद में शाह लौंका अपने वतन लींबड़ी गया, लींबड़ी में लौंका की फूफी का बेटा लखमसी कारभारी था, उसने लौंका का साथ दिया और कहा—हमारे राज्य में तुम धर्म का उपदेश करो। दया-धर्म ही सब धर्मों में खरा धर्म है। ९।१० ११।१२"

"शाह लौंका और लखमसी के उद्योग से बहुत लोग दया-धर्मी बने। इतने में लौंका को भाणा का संयोग मिला। लौंका बुड्ढा होने आया था, इसलिए उसने दीक्षा नहीं ली, परन्तु भाणा ने साधु का वेष ग्रहण किया और जिसका शाह लौंका ने प्रकाश किया था उस दया-धर्म की ज्योति भाणा ने सर्वत्र फैलायी। शाह लौंका संवत् १५३२ में स्वर्गवासी हुए।१३।१४।"

"दया-धर्म जयवन्त है, परन्तु कुमति इसकी निन्दा और बुराइयां करते हैं, कहते हैं—'लौंका साधुओं को मानने का निषेध करता है, पौषध, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, जिनपूजा और दान को नहीं मानता।' परन्तु हे

कुमतियो ! यह क्या कहते हो ? लौंका ने किस बात का खण्डन किया है, वह समझ तो लो । "लौंका सामायिक को दो से अधिक बार करने का निषेध करता है, पर्व बिना पौषध का निषेध करता है, व्रत बिना प्रतिक्रमण करने का निषेध करता है । वह भाव-पूजा से ज्ञान को अच्छा बताता है, वह द्रव्य-पूजा का निषेध करता है, क्योंकि उसमें धर्म के नाम से हिंसा होती है । ३२ सूत्रों को वह सच्चा मानता है, समता-भाव में रहने वालों को वह साधु कहता है ।" उक्त प्रकार से लौंका का धर्म सच्चा है, परन्तु भ्रम में पड़े हुए मनुष्य उसका मर्म नहीं समझते । १५। १६।१७।१८।१६।"

"जो कुमति है वह हठवाद करता है, जैसे बिच्छू के काटने से उन्मादी हुआ बन्दर । झूठ बोलकर जो कर्म बांधता है वह धर्म का सच्चा मर्म नहीं जानता । यतना में धर्म है और समता में धर्म है, इनको छोड़कर जो प्रवृत्ति करते हैं वे कर्म बांधते हैं, जो परनिन्दा करते हैं वे पाप का संचय करते हैं, जिनमें समता नहीं है उनके पास धर्म नहीं रहता । श्रीजिनवर ने दया को धर्म कहा है, शाह लौंका ने उसको स्वीकार किया है और हम उसी की आज्ञा को पालते हैं, यह तुमको बुरा क्यों लगता है ? क्या तुम दया में पाप मानते हो जो इतना विरोध खड़ा कर दिया है, तुम सूत्र के प्रमाण देखो, दया बिना का धर्म नहीं होता जो जिन आज्ञा का पालन करते हैं, उनको मेरा नमस्कार हो । मेरे इस कथन से जिनके मन में दुःख हुआ हो उनके प्रति मेरा मिथ्यादुष्कृत हो । सं० १५७८ के माघ सुदी ७ को यति भानुचन्द ने अपनी बुद्धि के उल्लास से लौंका के दया-धर्म पर यह चौपाई लिखी है, जो पढ़ने वालों के मन का उल्लास बढ़ाये । २०।२१।२२। २३।२४।२५।"

ऊपर जिसका सारांश लिखा है उस दया-धर्म चौपाई से शाह लौंका का जीवन कुछ प्रकाश में आता है । उसका जन्म-गांव, माता-पिता के नाम और जन्म-समय पर यह चौपाई प्रकाश डालती है । लौंका अरहट-वाड़ा में नहीं पर लीम्बड़ी (सौराष्ट्र) में जन्मे थे, उनका जन्म १५वीं शती के अन्तिम चरण में हुआ था । अपनी २८ वर्ष की उम्र में उसने यतियों

से विरुद्ध होकर उनके सामने "दया-धर्म के नाम से अपना मूर्तिपूजा विरोधी मत स्थापित किया था" और २२ वर्ष तक उन्होंने महेता लखमसी के सहकार से उसका प्रचार किया। सं० १५३२ में अपने पीछे भाणजी को छोड़कर लौंका परलोकवासी हुए। भाणजी ने साधु का वेश लौंकाशाह के जीवनकाल में धारण किया था या उनके स्वर्गवास के बाद ? इसमें दो मत प्रतीत होते हैं। उक्त "दया-धर्म चौपाई' में लौंका यति भानुचन्द्रजी ने सं० १५३२ में लौंकाशाह का स्वर्गवास माना है। लौंकाशाह ने खुद ने दीक्षा नहीं ली पर भाणा ने वेष-धारण किया था ऐसा चौपाई में लिखा है। इसके विपरीत लौंकागच्छ के यति केशवजी-कृत लौंकाशाह के सिलोके में लौंका द्वारा सं० १५३३ में भाणजी को दीक्षा देने और उसी वर्ष में लौंका के स्वर्गवास प्राप्त करने का लिखा है। केशवर्षि-कृत लौंकाशाह-सिलोके में लेखक ने कुछ ऐतिहासिक बातें भी लिखी हैं इसलिए सिलोका के आधार से लौंकामत की कुछ बातें लिखते हैं—

सौराष्ट्र में नागनेरा नदी के तट पर आए एक गाव में हरिचन्द्र नाम का एक सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम मूंगोबाई था। पूनमीया गच्छ के गुरु की सेवा से और शय्यद के आशीर्वाद से सं० १४७७ में उनके एक पुत्र हुआ जिसका नाम "लक्खा" दिया गया। लक्खा ज्ञानसागर गुरु की सेवा करता हुआ पढ़-लिखकर "लहिया" बना और वहीं पुस्तक लिखने का काम करने लगा। इस कार्य में लक्खा को द्रव्य की प्राप्ति होती थी, श्रुत की भक्ति होती थी, और ज्ञान-शक्ति भी बढ़ती थी। आगम लिखते-लिखते उसके मन में शंका उत्पन्न हुई कि "आगम में कहीं भी दान देने का विधान नहीं दीखता, प्रतिमा-पूजा, प्रतिक्रमण, सामायिक और पोषध भी मूल सूत्रों में कम दीखता है।" राजा श्रेणिक, कुणिक, प्रदेशी तथा तुंगिया नगरी के श्रावक जो तत्त्वगवेषी थे उनमें से किसी ने प्रतिक्रमण नहीं किया, न किसी को दान दिया। सामायिक और पूजा एक ठट्ठा है, और यतियों की चलाई हुई यह पोल है, प्रतिमा-पूजा बड़ा सन्ताप है, इसको करके हम धर्म के नाम पर थप्पड़ खाते हैं। लक्खा को लोग "लुम्पक" कहते हैं सो ठीक ही है, क्योंकि वह अविधि का लोप करने वाला है।

लखा का दूसरा नाम लऊका भी है। वह संयत नहीं है, फिर भी यति से अधिक है। लोगों ने लौंका-मत को परख लिया है।

सं० १५०८ में सिद्धपुर में लौंका ने खोज-पूर्वक शुद्ध जिन मत की स्थापना की है। लौंका मत प्रसिद्ध हुआ। बादशाह मुहम्मद लुंका-मत को प्रमाण मानता है। सूबा, सेवक सब कोई इसको मानते हैं और लखा गुरु के चरणों में शिर नवांते हैं।

उस समय सोरठ देश में लीम्बडी गांव का लखमसी नामक एक कामदार था, उसने लुंकागुरु का उपदेश ग्रहण किया और देश-विदेश में विस्तार किया। इस मत के सम्बन्ध में जो कोई वाद-विवाद करता है तो न्यायाशीश भी 'लौंका' का पक्षपात करता है।

"सं० १५३३ के वर्ष में लौंका-मत के प्रादुर्भावक शाह लौंका ने ५६ वर्ष की उम्र में स्वर्गवास प्राप्त किया और १५३३ में ही लौंका ने भाणजी को शिक्षा दी थी।" भाणजी ऋषि सत्य का और जीव-दया का प्रचार करते थे। वर्धमान की पेढी के नायक बनकर भाणजी ऋषि देश-विदेश में विचरते थे और अब तक उनकी शुद्ध परम्परा चलती है।

लौंकागच्छ की पट्टावली (१)

सिलोके में केशवजी कहते हैं – अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमान के गुणवान् ११ गणधर हुए इसलिए उनकी पाट-परम्परा कहते हैं –

१ महावीर के पंचम गणधर सुधर्मास्वामी हुए ।

२ सुधर्मा के शिष्य गुणवान् जम्बू हुए ।

३ जम्बू के प्रभव, ४ प्रभव के शय्यम्भव, ५ यशोभद्र, ६ संभूति, ७ बाहुस्वामी, ८ स्थूलभद्र, ९ महागिरि, १० सुहस्ती, ११ बहुल और १२ बलिस्सह स्वाति, १३ कालिकसूरि, १४ स्कन्दिलस्वामी, १५ आर्यसमुद्र, १६ श्रीमंगू, १७ श्रीधर्म, १८ भद्रगुप्त, १९ वज्र-स्वामी, २० सिंहगिरि, २१ वज्रसेन, २२ चन्द्र, २३ समन्तभद्र, २४ मल्लवादी, २५ वृद्धवादी, २६ सिद्धसेन, २७ वादीदेव, २८ हेमसूरि, २९ जगच्चन्द्रसूरि, ३० विजयचन्द्र, ३१ खेमकीर्तिजी, ३२ हेमजीस्वामी, ३३ यशोभद्र, ३४ रत्नाकर, ३५ रत्नप्रभ, ३६ मुनिशेखर, ३७ धर्मदेव, ३८ ज्ञानचन्द्रसूरि ।

लौंकागच्छ की पट्टावली (२)

हमारे भण्डार में श्री कल्पसूत्र मूल की एक हस्तलिखित प्रति है, उसके अन्तिम पत्र १७२ से १७४ तक में लौंकागच्छीय पट्टावली दी हुई है। यह कल्पसूत्र सं० १७६४ में लिखा गया था ऐसा इसकी निम्नोद्धृत पुष्पिका से ज्ञात होता है –

"इति कल्पसूत्र समाप्त "छ" श्री श्री संवत् १७६४ वर्षे शा० १६६० प्रवर्तमाने चैत्रमासे, कृष्णपक्षे ६ गुरौ लि० पूज्य श्री ५ नानाजी, तत् शिष्य ५ मनजीजी तत् शिष्य श्री ५ मूलजी, गुरुभ्राता प्रेमजी लिपी कृतं इकारसार्थं।"

उपर्युक्त पुष्पिका से ज्ञात होता है कि यह पट्टावली आज से लगभग सवा दो सौ वर्ष पहले लिखी गई है और इसके लिखने वाले लौंकागच्छ के श्रीपूज्य मूलजी के गुरुभाई प्रेमजी यति थे। पट्टावली का प्रारम्भ श्री स्थूलभद्रस्वामी से किया है, अन्य पट्टावली-लेखकों की तरह इसके लेखक ने भी अनेक युगप्रधानों के नामों तथा समयनिरूपण में गोलमाल किया है, फिर भी हम इसमें कुछ भी मौलिक परिवर्तन न करके पट्टावली को ज्यों का त्यों उद्धृत करते हैं –

॥६॥ तत् पट्टे श्री स्थूलभद्रस्वाम्योऽत्र स्थूलभद्रजीकथा सर्व जाणवी ॥७॥ दशपूर्वधारो महावीर पछी १७० वर्षे देवलोक पहोंता ॥ तत्पट्टे आर्य महागिरी १० पूर्वधर, ॥८॥ तत्पट्टे आर्य सुहस्तीस्वामी; ॥९॥ तत्पट्टे श्री गुणाकर स्वामी, ॥१०॥ तत्पट्टे श्री कालिकाचार्य, ॥११॥ तत्पट्टे श्री संडिल-स्वामी, ॥१२॥ तत्पट्टे श्री रेवतगिरस्वामी, ॥१३॥ तत्पट्टे सोधर्माचार्य,

॥१४॥ तत्पट्टे श्रीगुप्तास्वामी, ॥१५॥ तत्पट्टे श्री आर्यमंगुस्वामी, ॥१६॥ तत्पट्टे श्री आर्यसुधर्मस्वामी, ॥१७॥ तत्पट्टे श्री वृद्धवादधरस्वामी, ॥१८॥ तत्पट्टे श्री कुमुदचन्द्रस्वामी, ॥१६॥ तत्पट्टे श्री सिंहगिरिस्वामी, ॥२०॥ तत्पट्टे श्री वयरस्वामी दशपूर्वधर, ॥२१॥ तत्पट्टे श्री भद्रगुप्ताचार्य स्वामी, ॥२२॥ तत्पट्टे श्री आर्यनन्द स्वामी, ॥२३॥ तत्पट्टे श्री आर्यनागहस्ती स्वामी, ॥२४॥ तेणे वारे बीजी पट्टावलीमां सत्तावीसमे पाट देवर (धि) गणि जेणे सर्व सूत्र पुस्तके चढाव्या ते समंस्थ जाणव्यो, आर्यनागहस्ती, तत्पट्टे श्री रेवतस्वामी, ॥२५॥ तत्पट्टे श्री ब्रह्मदिन्नस्वामी, ॥२६॥ तत्पट्टे श्री संडिलसूरि, ॥२७॥ तत्पट्टे श्री हेमवन्तसूरि, ॥२८॥ तत्पट्टे श्री नागार्जुनस्वामी, ॥२६॥ तत्पट्टे श्री गोबन्दवाचक स्वामी, ॥३०॥ तत्पट्टे श्री संभूतिदिनवाचक स्वामी, ॥३१॥ तत्पट्टे श्री लोहगिरिस्वामी, ॥३२॥ तत्पट्टे श्री हरिभद्रस्वामी, ॥३३॥ तत्पट्टे श्री सिलंगाचार्यस्वामी ॥३४॥

तिवारपनी (छी) १२ दुकाली जोगे पाट लोहडीवडी पोसाल मां चाल्या जावत् पौशालिक धर्म प्रवर्त्यो । पौशालिक कालि माहात्मा नामधरवुई छै ॥ पाट ३३ । ३४ सुधी पूर्वधर छे, पछै पूर्व विद्या ढांकी पोसाल प्रवर्ति जातां जातां पाट १० । १२ पोसाल मां थया, तिणे समें सूत्रने ढांकी अनेरा वहेरा पोशालना माहातम ग्रन्थकरी पूजाऽर्चा धर्म चलाव्यो, वीर पछी १२ सौं वर्षे देहरा प्रवर्त्या, जावत् महावीर पछी बेसहस्र वर्ष वुओं तिहां सूधी पौशाल धर्म प्रवर्तना थई ॥ तेणे समें श्री गुजर देशें अणहल्लपुर पाटन नें विषे मोटी पौशाल सूरी सूरपाट प्रर्वति थई, तेणे समे ते नगरमां लोकासाह इसइं नामइं विवहारी वसे छे, जावत सिद्धवंत छे, लिखत कला छै, ते माटे एकदा समे सूरि सूरे सिद्धान्त परत जुनी थाई जांणी लका साहनें लिखवा दीधी, ते लिखतां वीरवांणी सिधांत जाण्यों, १ परत पोती ने अर्थ लिखें, १ परत सूरिसर ने लिखी देयें, एम करतां ३२ सूत्र लिख्यां, तेणे समे सूरिशरे जाण्यो ते पोतानो प्रति पण लिखे छै पछै भंडारमांथी लिखवा दीधो नहीं । पाटन ना भंडार मां ८४ सूत्र छै, बीजी आगमोक्त सर्व विधापण छै, पण ३२ सूत्र लकेसाहि लिख्यांति श्रावक आगेवांचो सांभना गुण दिषाडे ॥ वीरवाणी ओलखावदे इम करतां केतलाक सूत्र रचि

श्रावक थया, साध मूर्त मानता थया, तेणे समय मारवाड थी एक संघ सेत्रुजानी जात्राइं आइं, तेमां ८ संघ मुखी छे, भाणा, भीदा, जगमाल, सरवा प्रमुख ते पाटण आव्या, ते लकासाह नो नवीन धर्म प्रबोध सांभलवा आव्या, तेणे प्रबोध वई सिद्धान्त ओलखाव्यो, तेणे पोसाली धर्म, देहरों, प्रतमा पुजा मुकी, साधथया, तारे लके साही सूत्र ३३ साचनें ते सूंप्यां हुवे, तुम्यों वांचो धर्म धुरंधर, त्यार पछी भाणादिक साधे वीरधर्मवाणी साधु धर्म देशे २ प्रवर्तना कींधी, इम सारसरे जाण्यो जे सर्व ए धर्म ग्रहसे, तारि पोसालमांथी पाटधारी सूरि क्रियाउधारी निकल्यां, नाम "तपगच्छ" धराणों, इम करतां भाणा, भीदाना साधप्रवर्त्या, तेणे आचार्य-पद धरयो लके साहि धर्म प्रवर्ताव्यो ते माटे आचार्ये "लुंका नामे गच्छ स्थापना कीधी" लुंकागच्छ स्थापना जाणवी। श्रीवीरवाणी महापन्नवणा सूत्र मां तथा दुसरा ग्रन्थ मां कह्यो छे, जे पंचमा आरा मां 'रूपा, जीवा दो आरीया भवई", ते आचार्य श्रेमना साध धर्म प्रवर्त्या; तेणे समे संवत् १५०० मध्ये दक्षण देशे निकलंकी राजा ने घरे धर्मदत्त पुत्र उपनो, लोक मां बुध अवतारे कहवांणो, गुप्त पणे साधुधर्म प्रकासे, जिनशासन धर्मउदे करो संबुध कला ज्ञानप्रकासी पाचमां देवलोके देवता थया। तेलकगच्छ मां थया, तीर्थ गौत्री ते वीरवांणी सूत्र मांही छे, ते रूप रुष धर्म धूरंधर मंहत पुरुष धर्माचार्य भवप्राणी उधारक थया तिल (तेह) ना पाट लिखिये छे॥ छ॥

प्रथम पाट युगप्रधान श्री ६ श्री रुपरखजी (१), तत्पट्टे श्री युगप्रधान श्री ६ जीवरुषजी जी॥२॥, तत्पट्टे यु० श्री ६ वरुद्धवरसंगजी ॥३॥, तत्पट्टे यु० श्री ६ श्री लघुवरसंगजी ॥४॥, तत्पट्टे यु० जसवंतजी ॥५॥, तत्पट्टे यु० श्री ६ रुपसिंहजी ॥६॥, तत्पट्टे यु० श्री ६ दामोदरजी ॥७॥, तत्पट्टे यु० ६ श्री क्रमसिंहजी ॥८॥, तत्पट्टे युग० श्री ६ केशवजी ॥८॥, तत्पट्टे यु० त्तेजसिंहजी ॥१०॥, तत्पट्टे यु० श्री ६ लछमचंद्रजी ॥११॥, तत्पट्टे श्री ६ श्री दुलसिंहजी ॥१२॥, तत्पट्टे यु० श्री ६ श्री जगरूपजीजी जय-जयवन्त, अस्मिन् जंबुद्वीपे अस्मिन् भरतखण्डे, दक्षण भरते, अस्मिन् देशे, अस्मिन् ग्रांमनगरे, अस्मिन् चतुर्मासे चतुर्विध संग धर्म प्रबोधित तेहुना

गुणकीर्तिनां करतां संघ ने यर्भ (परम) कल्याणनी कोड हुई ॥श्रीरस्तु॥ तत्पट्टे श्री ६ श्री जगजीवनजी, तत्पट्टे श्री ः मेघराजजी, तत्पट्टे युगप्रधान जयवंता श्री ६ श्री सोमचंदजी, तत्पट्टे श्री ६ श्री हर्षचन्द्रजी, तत्पट्टे श्री ६ युगप्रवर्तक जयचन्द्रजी, तत् श्री युगप्रवर श्री ६ कल्याणचन्द्र सूरिसर छे ॥"

लौंकागच्छ की पट्टावली (३)

(बड़ोदे की गादी)

तपगच्छ की बड़ी पोशाल के आचार्य ज्ञानसागरसूरि के पुस्तक-लेखक लौंका गृहस्थ ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध में अपना लौंकामत चलाया, उसके मतानुयायी ऋषि नामक वेशधारियों की एक परम्परा नीचे मुजब है –

१. भाणजी ऋषि
२. भीदाजी ,,
३. नूनाजी ,,
४. भीमाजी ,,
५. जगमालजी ,,
६. सर्वाजी ,,
७. रुपजी ,,
८. जीवाजी ,,

(१) ९. वरसिंहजी (वृद्ध) को सं० १६१३ के ज्येष्ठ वदि १३ को बड़ोदे के भावसारों ने श्रीपूज्य का पद दिया, तब से उनकी गादी बड़ोदे में स्थापित हुई और "गुजराती लौंकागच्छ मोटीपक्ष" ऐसा नाम प्रसिद्ध हुआ। इसी दर्म्यान अहमदाबाद के मूल गादी के श्रीपूज्य कुंवरजी ऋषि के उत्तराधिकारी श्री मेघजी ऋषि ने २६ ऋषियों के साथ आचार्य श्री हीरसूरि के पास दीक्षा स्वीकार की, सं० १६२८ में।

(२) १० वरसिंहजी ऋषि (लघु) दूसरे वरसिंहजी जिनका स्वर्गवास

१६५२ में हुआ था, के शिष्य कलाजो ने भो संवेग-मार्ग स्वीकार किया था जो विजयानन्दसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए थे ।

११. यशवन्त ऋषि
१२. रुपसिंहजी ,,
१३. दामोदरजो ,,
१४, कर्मसिंहजी ,,
१५. केशवजो ,, गुजराती लौंकागच्छ के वड़े पक्ष का दूसरा नाम "केशवजी पक्ष" भी है ।
१६. तेजसिंहजो ,,
१७. कानजी ,,
१८. तुलसीदासजो ,,
१९. जगरूपजी ,,
२०. जगजीवनजी ,,
२१. मेघराजजी ,,
२२. सोमचन्दजी ,,
२३. हरकचन्दजी ,,
२४. जयचंदजी ,,
२५. कल्याणचन्दजी ,,
२६. खूबचन्दजी ,,
२७. श्रीपूज्य न्यायचन्द्रसूरि

बालापुर की गादी की लौंका पट्टावली (४)

८. ऋषि जीवाजी

९. „ कुंवराजी – इनको बालापुर के श्रावकों ने श्रीपूज्य का पद दिया, तब से इनकी गादी बालापुर में स्थापित हुई और "गुजराती लौंकापक्ष का छोटा पक्ष" इस नाम से वह प्रसिद्ध हुई। इनके शिष्य ऋषि मेघजी अहमदाबाद की गादी ऊपर थे, जिन्होंने सवेगी-मार्ग ग्रहण किया था।

१०. „ श्रीमलजी

११. „ रत्नसिंहजी

१२. „ केशवजी – स्व० सं० १६८६ में।

१३. „ शिवजी – इनके शिष्य धर्मसिंह के शिष्य धर्मदासजी ने "दुण्ढिया" मत चलाया।

१४. „ संघराजजी – स्व० सं० १७२५ में। आनन्द ऋषि ने अपने शिष्य ऋषितिलक को श्रीपूज्य बनाकर नया गच्छ स्थापित किया जो "अठारिया" के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

१५. „ सुखमलजी – स्वर्ग सं० १७६३ में।

१६. „ भागचन्द्रजी

१७. „ बालचंदजी

१८. „ माणिक्यचंदजी

१९. „ मूलचंदजी – स्वर्ग सं० १८७६

२०. „ जगतचंदजी

२१. „ रतनचंदजी

२२. „ नृपचंदजी – (मुनि मणिलाल-कृत "प्राचीन संक्षिप्त इतिहास")

गुजराती लौंकागच्छ की पट्टावली (२)

(पू० जयराजजी)

(पू०) ऋ० मेघराजजी)

(,, ,, कृष्णाजी)

(,, ,, वगतमलजी)

(,, ,, परसरामजी)

(,, ,, ज्योतिरूपजी) सं० १८६५

(,, ,, हर्षजी)

(,, ,, जिनदासजी) सं० १९१० आगरा

केशवर्षि वर्णित लौंकागच्छ की पट्टावली (६)

भाणाजी ऋषि के पाट पर सुबुद्धिभद्र ऋषि हुए।

भीमाजी स्वामी

जगमाल ऋषि

सर्वा स्वामी

इस समय कुमति बीजा पापी निकला जिसने फिर जिन-प्रतिमा की स्थापना की। सर्वा स्वामी के बाद–रूपजी।

जीवाजी।

कुंवरजी।

श्रीमलजी ऋषि जो विचर रहे हैं, इन पूज्य के चरणों को प्रणाम करके केशव ने यह गुरुपरम्परा गाई है।

उपर्युक्त लौंकाशाह-सिलोका के लेख के श्री केशवजी ऋषि ने श्रीमल जी को अपना गुरु बताया है और श्रीमलजी लौंकाशाह के आठवें पट्टधर श्री जीवर्षि के तीन शिष्यों में से एक थे, इससे सिलोका के लेखक केशवजी सं. १६०० के आसपास के व्यक्ति होने चाहिए। इनसे २५-३० वर्ष पूर्ववर्ती लौंका-गच्छीय यति भानुचन्द्रजी लौंका की मान्यता के सम्बन्ध में मन्दिर-मार्गियों की तरफ से होने वाले आक्षेपों का उत्तर देते हुए कहते हैं—"लौंका यतियों को नहीं मानता, लौंका सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, जिनपूजा, दान नहीं मानता इत्यादि।" क्या कहा ? लुंका ने क्या उत्थान किया है ? वह तो दो बार से अधिक बार सामायिक करने, पर्वदिन बिना पौषध करने, १२ व्रत बिना प्रतिक्रमण करने, आगार-सहित-

प्रत्याख्यान करने और असंयत को दान देने का निषेध करता है। तब भानुचन्द्रजी से बाद में होने वाले केशवजी ऋषि मन्दिर-मार्गियों की तरफ से किये जाने वाले आक्षेपों का खण्डन न करके अपने लौंकाशाह के सिलोका की गाथा १३, १४, १५ में उनका समर्थन करते हैं। वे कहते हैं–"दान देने में आगम साक्षी नहीं है। प्रतिमापूजा, प्रतिक्रमण, सामायिक और पौषध भी आगम में नहीं है। राजा श्रेणिक, कुणिक, प्रदेशी और तत्त्व-गवेषक तुंगिया के श्रावकों में से किसी ने प्रतिक्रमण नहीं किया, न पर को दान दिया। सामायिक पूजा यह ठट्ठा है और यतियों की चलाई हुई पोल है, प्रतिमा-पूजा सन्ताप रूप है तो इसको करके हम धर्म को थप्पड़ क्यों लगाएं? यति भानुचन्द्रजी और केशवजी ऋषि की इन परस्पर विरोधी बातों से मालूम होता है कि लौंकाशाह की मान्यताओं के सम्बन्ध में होने वाले आक्षेप सत्य थे। यदि ऐसा नहीं होता तो केशवजी ऋषि उनका समर्थन नहीं करते, इसके विपरीत यति भानुचन्द्रजी ने इन आक्षेप-जनक बातों का रूपान्तर करके बचाव किया है। इससे निश्चित होता है कि लौंका की प्रारम्भिक मान्यताओं के सम्बन्ध में लौंका के अनुयायी ऋषियों में ही बाद में दो मत हो गये थे, कुछ तो लौंकाशाह के वचनों को अक्षरशः स्वीकार्य्य मानते थे, तब कतिपय ऋषि उनको सापेक्ष बताते थे। कुछ भी हो एक बात तो निश्चित है कि कोई भी लौंका का अनुयायी लौंका के सम्बन्ध में पूरी जानकारी नहीं रखता था। यति भानुचन्द्रजी ने लौंका के सम्बन्ध में जो कुछ खास बातें लिखी हैं, केशवजी ऋषि ने अपने लौंका-सिलोका में उनसे बिल्कुल विपरीत लिखी हैं। भानुचन्द्रजी लौंका का जन्म सं० १४८२ के वैशाख वदि १४ को लिखते हैं, उसका गांव लीम्बड़ी, जाति दशा श्रीमाली और माता-पिता के नाम शाह डुंगर और चूड़ा लिखते हैं तथा लौंका का परलोकवास १५३२ में हुआ बताते हैं। इसके विपरीत केशव-ऋषि लौंका का गांव नागनेरा नदी के तट पर बताते हैं और माता पिता के नाम सेठ हरिचन्द्र और मूंगीबाई लिखते हैं, लौंका का नाम लखा लिखते हैं और उसका जन्म १४७७ में बताते हैं और लौंका का स्वर्गवास सं० १५३३ में होना लिखते हैं। इस प्रकार लौंकाशाह के निकटवर्ती अनुयायी ही उनके सम्बन्ध में एक-मत नहीं थे तो अन्य गच्छ

तथा सम्प्रदाय की मान्यता का निर्देश करके इस विषय को बढ़ाना तो बेकार ही होगा।

लौंका के जन्म-स्थान और जाति के सम्बन्ध में तो इतना अज्ञान छाया हुआ है कि उसका किसी प्रकार से निर्णय नहीं हो सकता। कोई इनको दशा-श्रीमाली और लीम्बड़ी मे जन्मा हुआ मानते हैं, कोई इनको ओसवाल जातीय अरहटवाड़ा का जन्मा हुआ मानते हैं, कोई इनको दशा-पोरवाल जाति में पाटन में जन्मा हुआ मानते हैं। कोई इनको नागनेरा नदी-तट के गांव में जन्म लेने वाला मानते हैं, कोई इनको जालोर मारवाड़ समीपवर्ती पोषालिया निवासी मानते हैं, कोई इनका जन्म-स्थान जालोर को मानते हैं, तब स्वामी जेठमलजी, श्री अमोलक ऋषिजी, श्री सन्तबालजी और शा० वाड़ीलाल मोतीलाल लौंकाशाह को अहमदाबाद निवासी मानते हैं।

पूर्वोक्त लौंकाशाह के संक्षिप्त निरूपण से इतना तो निश्चित हो जाता है कि लौंकाशाह १५वीं शताब्दी के अन्तिम चरण से १६वीं शती के द्वितीय चरण तक जीवित रहने वाले एक गृहस्थ व्यक्ति थे। लौंका ने मूर्तिपूजा के अतिरिक्त अनेक बातों को अशास्त्रीय कहकर खण्डन किया था, परन्तु उनके अनुयायी ऋषियों ने एक मूर्तिपूजा के अतिरिक्त शेष सभी लौंका द्वारा निषिद्ध बातों को मान्य कर लिया था और कालान्तर में लौंकागच्छ के अनुयायी यतियों और गृहस्थों ने मूर्तिपूजा का विरोध करना भी छोड़ दिया था। आज तक कई स्थानों में लुंकागच्छ के यति विद्यमान हैं जो मूर्तियों के दर्शन करते हैं और उनकी प्रतिष्ठा भी करवाते हैं और लौंकागच्छ का अनुयायी गृहस्थवर्ग जिन-मूर्तियों को पूजा भी करता है।

लौंकागच्छ और स्थानकवासी

लौंकागच्छ के अनुयायी यति और गृहस्थ जब लौंका की मान्यताओं को छोड़ कर अन्य गच्छों के यतियों की मर्यादा के बिलकुल समीप पहुँच गए तब उनमें से कोई कोई यति क्रियोद्धार के नाम से अपने गुरुओं से जुदा होकर मुँह पर मुँहपत्ति बांध कर जुदा फिरने लगे। इन क्रियोद्धारकों में पहला नाम "धर्मसिंहजी" का है, लौंकागच्छ वालों ने इनको कई कारणों से गच्छ बाहर कर दिया था। इस सम्बन्ध में नीचे लिखा दोहरा पढ़ने योग्य है –

"संवत् सोलह पंच्च्यसिए, अहमदाबाद मझार।
शिवजी गुरु को छोड़ के, धर्मसिंह हुआ गच्छ बहार॥"

क्रियोद्धारकों में दूसरे पुरुष यति लवजी थे जो लौंकागच्छीय यति बजरंगजी के शिष्य थे। गुरु के मना करने पर भी लवजी मुँह पर मुँह-पत्ति बांधकर उनसे अलग हो गये। धर्मसिंह और लवजी सूरत में मिले, दोनों क्रियोद्धारक थे, दोनों मुँहपत्ति बांधते थे, पर छः-कोटि आठ-कोटि के बखेड़े के कारण ये दोनों एक दूसरे से सहमत नहीं हुए, इतना ही नहीं, वे एक दूसरे को जिनाज्ञाभंजक और मिथ्यात्वी तक कहते थे।

तीसरे क्रियोद्धारक का नाम था धर्मदासजी। ये धर्मसिंहजी तथा लवजी में से एक को भी नहीं मानते थे और स्वयं मुँहपत्ति बांधकर क्रियो-द्धारक के रूप में फिरते थे। इन क्रियोद्धारकों से समाज और लौंकागच्छ को जो नुकसान हुआ है उसके सम्बन्ध में वाड़ीलाल मोतीलाल शाह का निम्नोद्धृत अभिप्राय पढ़ने योग्य है। शाह कहते हैं –

"× × × इतना इतिहास देखने के बाद मैं पढ़ने वालों का ध्यान एक बात पर खींचना चाहता हूं कि स्थानकवासी व साधुमार्गी जैन-धर्म का जब से पुनर्जन्म हुआ तब से यह धर्म अस्तित्व में आया और आज तक यह जोर-शोर में था या नहीं ! अरे ! इसके तो कुछ नियम भी नहीं थे, यतियों से अलग हुए और मूर्तिपूजा को छोड़ा कि ढूंढिया हुए। × × ×"

"× × × मेरी अल्पबुद्धि के अनुसार इस तरकीब से जैन-धर्म का बड़ा भारी नुकसान हुआ, इन तीनों के तेरह सौ भेद हुए। ×××"

ऊपर के विवरण से सिद्ध होता है कि आज का स्थानकवासी-सम्प्रदाय लौंकागच्छ का अनुयायी नहीं है, किन्तु लौंकागच्छ से बहिष्कृत धर्मदासजी लवजी तथा स्वयं वेशधारी धर्मसिंहजी का अनुयायी है, क्योंकि मुंह पर मुंहपत्ति बांध कर रहना उपर्युक्त तीन सुधारकों का ही आचार है। लौंकाशाह स्वयं असंयत दान का निषेध करते थे, तब उक्त क्रियोद्धारक अभयदान का शास्त्रोक्त मतलब न समझ कर पशुओं, पक्षियों को उनके मालिकों को पैसा देकर छोड़ाने को अभयदान कहते थे। आज तक स्थानकवासी-सम्प्रदाय में यह मान्यता चली आ रही है।

आजकल के कई स्थानकवासी-सम्प्रदायों ने अपनी परम्परा में से शाह लौंका का नाम निकाल कर ज्ञानजी यति, अर्थात् "ज्ञानचन्द्रसूरिजी" से अपनी पट्टपरम्परा शुरु की है। खास करके पंजाबी और कोटा की परम्परा के स्थानकवासी साधु लौंका का नाम नहीं लेते, परन्तु पहले के लौंकागच्छ के यति लौंकाशाह से ही अपनी पट्टपरम्परा शुरु करते थे। हमने पहले जिस लौंकाशाह के शिलोके को दिया है उसमें केशवजी ऋषि द्वारा लिखी हुई पट्टावली केशवर्षि वर्णित, "लौंकागच्छ की पट्टावली (६)", इस शीर्षक के नीचे दी है।

श्री देवर्द्धि गरिण के बाद ज्ञानचन्द्रसूरि तक के आचार्यों के नामों की सूची देकर केशवजी लौंकाशाह का वृत्तान्त लिखते हैं तथा लौंकाशाह के उत्तराधिकारी के रूप में भाणजी ऋषि को बताते हैं और भाणजी के बाद—

भद्र ऋषि
लवण ऋषि
भीमाजी
जगमाल ऋषि
सर्वा स्वामी
रूपजी
जीवाजी
कुंवरजी और

श्रीमलजी के नाम लिखकर उनको प्रणाम करते हैं।

इस लेख से प्रमाणित होता है कि लुंकागच्छ वालों ने अपना सम्बन्ध वृद्धपौषालिक पट्टावली से जोड़ा था, परन्तु उनमें से निकले हुए धर्मदासजी लवजी और धर्मसिंहजी के बाद उनके अनुयायियों मे अनेक परम्पराएं और आम्नाय स्थापित हुए। इन आम्नायों के अनुयायी स्थानकवासी साधु अपना सम्बन्ध प्रसिद्ध अनुयोगधर श्री देवर्द्धिगणि क्षमा-श्रमण से जोड़ना चाहते हैं, इसके लिए उन्होंने कल्पित नाम गढ़कर अपना सम्बन्ध जोड़ने का साहस भी किया है, परन्तु इसमें उनको सफलता नहीं मिली, क्योंकि लौंकागच्छ वालों ने तो, ज्ञानचन्द्रसूरि तक के पूर्वाचार्यों को अपने पूर्वज मान कर सम्बन्ध जोड़ा था और वह किसी प्रकार मान्य भी हो सकता था, परन्तु स्थानकवासी समाज के नेता ५२५ वर्ष से अधिक वर्षों को कल्पित नामों से भर कर अपने साथ जोड़ते हैं, यह कभी मान्य नहीं हो सकेगा।

इस समय हमारे पास स्थानकवासी-सम्प्रदाय की चार पट्टावलियां मौजूद हैं –

(१) पंजाबी स्थानकवासी साधुओं द्वारा व्यवस्थित की गई पट्टावली।
(२) अमोलक ऋषिजी द्वारा संकलित।
(३) कोटा के सम्प्रदाय द्वारा मानी हुई पट्टावली और
(४) श्री स्थानकवासी साधु श्री मणिलालजी द्वारा व्यवस्थित की हुई पट्टावली।

ये चारों ही पट्टावलियां आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण पर्यन्त की हैं। इनमें गणधर सुधर्मा से लेकर नवमें पट्टधर आचार्य महागिरि तक के नाम सब में समान हैं, बाद के १८ नामों में एक दूसरे से बहुत ही विरोध है, परन्तु इसकी चर्चा में उतर कर समय खोना बेकार है।

पंजाब के स्थानकवासियों की पट्टावली में देवर्द्धिगणि के बाद के १८ नाम छोड़ कर आगे के नाम निम्न प्रकार से लिखे हैं –

"४६ हरिसेन, ४७ कुशलदत्त, ४८ जीवनर्षि, ४९ जयसेन, ५० विजयर्षि, ५१ देवर्षि, ५२ सूरसेनजी, ५३ महासेन, ५४ जयराज, ५५ विजयसेन, ५६ मिश्र(त्र)सेन, ५७ विजयसिंह, ५८ शिवराज, ५९ लालजीमल्ल, ६० ज्ञानजी यति।

स्थानकवासियों की हस्तलिखित पट्टावली १.

स्थानकवासी पट्टावलियों के सम्बन्ध में ऊपर हमने जो ऊहापोह किया है, वे सभी मुद्रित पट्टावलियां हैं। अब हम एक हस्तलिखित पट्टावली के सम्बन्ध में विचार करेंगे। हमारे पास स्थानकवासी सम्प्रदाय की एक ११ पत्र की पट्टावली है जिसका प्रारंभ निम्नलिखित शब्दों से होता है–

"अथः श्री गुरुभ्यो नमो नमः" ॐ ह्रीं श्री मोतीचन्दजी, श्री वर्धीचन्दजी श्री नमो नमः।" "अथः श्री पटावली लिखंते" "वली पाट परंपराये चाल्यो आवे छे ते कहे छे–"

"श्री जेसलमेर ना भंडार मांहे थी पुस्तक लोंके महेताजीए कढावी जोया छे, तिणमांहे ऐसी बीगत निकली छे ॥"

उपर्युक्त प्रारम्भ वाली पट्टावली किसी स्थानकवासी पूज्य ने सं० १९३९ के वर्ष में गांव सीतामऊ में लिखी हुई है, ऐसा अन्तिम पुष्पिका से ज्ञात होता है। "पटावली" यह अशुद्ध नाम स्वयं बताता है कि इसका लेखक संस्कृत का जानकार नहीं था, उसने इस पट्टावली में सुनी-सुनाई बातें लिखी हैं और जैसलमेर के भण्डार में से पुस्तकें लौंका महेता ने निकालकर देखने की बात तो कोरी डींग है, क्योंकि लौंका महेता ने अहमदाबाद और लीम्बड़ी के बीच के गांवों के अतिरिक्त कोई गांव देखे ही नहीं थे। लौंका के परलोकवास के बाद भाणजी आदि ने गुजरात और अन्य प्रदेशों में फिरकर लौंका के मत का प्रचार किया था पर उनमें से कोई जैसलमेर गया हो ऐसा प्रमाण नहीं मिलता।

प्रस्तुत पट्टावली-लेखक जैनशास्त्र और ज्योतिषशास्त्र से कितना दूर था यह बात उसके निम्नलिखित शब्दों से स्पष्ट होती है—

लेखक इन्द्र के मुख से भगवान् महावीर को कहलाता है – "अहो भगवन्त ! पूज्य तुमारी जन्मरास उपरे भस्म ग्रहो बेठो छे, दोय हजार वरसनो सीघस्थ छ ।" भगवान् महावीर की जन्मराशि पर दो हजार वर्ष की स्थिति वाला भस्मग्रह बैठने और उसको "सिंहस्थ" कहने वाले लेखक ने "कल्प-सूत्र" पढ़ा मालूम नहीं होता, क्योंकि कल्पसूत्र देखा होता तो वह भगवन्त की जन्मराशि न कहकर जन्म-नक्षत्र पर दो हजार वर्ष की स्थिति का भस्मग्रह बैठने की बात कहता, और "भस्मग्रह को सिंहस्थ" मानना भी ज्योतिष से विरुद्ध है । प्रथम तो भगवान् महावीर के समय में राशियों का प्रचलन ही नहीं हुआ था, दूसरा महावीर की जन्मराशि "कन्या" है और जन्म नक्षत्र "उत्तरा-फाल्गुनी ।" इस परिस्थिति में उक्त कथन करना अज्ञानसूचक है ।

अब हम पट्टावलीकार की लिखी हुई देवर्द्धिगरिण क्षमा-श्रमण तक की पट्टपरम्परा उद्धृत करके यह दिखायेंगे कि मुद्रित लौंकागच्छ की सभी पट्टावलियों में देवर्द्धिगरिण की परम्परा नन्दी-सूत्र के अनुसार देने की चेष्टा की गई है, वह परम्परा वास्तव में देवर्द्धि की गुरु-परम्परा नहीं है, किन्तु अनुयोगधर वाचकों की परम्परा है । तब प्रस्तुत पट्टावली में लेखक ने देवर्धिगरिण क्षमा-श्रमण की गुरु-परम्परा समझकर दी है, जिससे कई स्थानों पर भूलें दृष्टिगोचर होती हैं ।

प्रस्तुत पट्टावली की देवर्द्धिगणि-परम्परा :

(१) सुधर्मा (२) जम्बु (३) प्रभव
(४) शय्यम्भव (५) यशोभद्र (६) संभूतविजय
(७) भद्रबाहु (८) स्थूलभद्र (९) महागिरि
(१०) सुहस्ती (११) सुप्रतिबुद्ध (१२) इन्द्रदिन्न
(१३) आर्यदिन्न (१४) वज्रस्वामी (१५) वज्रसेन

(१६) आर्य रोहण	(१७) पुष्यगिरि	(१८) युगमन्त्र
(१९) धरणींधर स्वामी	(२०) शिवभूति	(२१) आर्यभद्र
(२२) आर्यनक्षत्र	(२३) आर्यरक्ष	(२४) नाग
(२५) जेहलविसन स्वामी	(२६) संदिदन्न	(२७) देवड्ढि

पट्टावली लेखक यह परम्परा नन्दीसूत्र के आधार से लिखी बताते हैं जो गलत है। इस परम्परा के नामों में आर्य-महागिरि और आर्य-सुहस्ती को एक पट्ट पर माना है, तब आर्य सुहस्ती के बाद के नामों में से कोई भी नाम नन्दी में नहीं है, किन्तु पिछले सभी नाम कल्पसूत्र की स्थविरावली के हैं; इसमें दिया हुआ ११ वां सुप्रतिबुद्ध का नाम अकेला नहीं किन्तु स्थविरावली में "सुस्थित सुप्रतिबुद्ध" ऐसे संयुक्त दो नाम हैं। आर्य-दिन्न के बाद इसमें वज्रस्वामी का नाम लिखा है जो गलत है। आर्यदिन्न के बाद पट्टावली में आर्य सिंहगिरि का नाम है, बाद में उनके पट्टधर वज्र-स्वामी है। वज्रस्वामी के शिष्य वज्रसेन के बाद इसमें आर्य-रोहण का नाम लिखा है जो गलत है। आर्यरोहण आर्यसुहस्ती के शिष्य थे, न कि वज्रसेन के, वज्रसेन के शिष्य का नाम 'आर्य-रथ' था। पुष्यगिरि के बाद इसमें १८वें पट्टधर का नाम "युगमन्त्र" लिखा है जो अशुद्ध है। पुष्य-गिरि के उत्तराधिकारी का नाम आर्य "फल्गुमित्र" था, फल्गुमित्र के बाद के पट्टधर का नाम कल्पस्थविरावली में आर्य "धनगिरि" है जिसको बिगाड़कर प्रस्तुत पट्टावली में "धरणीधर-स्वामी" लिखा है। आर्य-नक्षत्र के पट्टधर का नाम कल्पस्थविरावली में "आर्य-रक्ष" है, जिसके स्थान पर प्रस्तुत पट्टावलीकार ने "क्षत्र" ऐसा गलत नाम लिखा है। आयनाग के बाद "कल्पस्थविरावली" में "जेहिल" और इसके बाद "विष्णु" का नम्बर आता है, तब प्रस्तुत पट्टावली में उक्त दोनों नामों को एक ही नम्बर के नीचे रख लिया है। विष्णु के बाद कल्पस्थविरावली में "आर्यकालक" का नम्बर है, तब प्रस्तुत पट्टावली में इसके स्थान पर "सढिल" यह नाम है जो शाण्डिल्य का उपभ्रंश है। शाण्डिल्य देवर्द्धिगणि के पूर्ववर्ती आचार्य थे, जबकि पट्टावली लेखक विष्णु के बाद के अनेक आचार्यों के नाम छोड़कर देवर्द्धिगणि के समीपवर्ती शाण्डिल्य का नाम खींच लाया है, इसके बाद

देवर्द्धिगणि क्षमा-श्रमण का नाम लिखकर उन्हें २७वां पट्टधर मान लिया है। वास्तव में देवर्द्धिगणि क्षमा-श्रमण की गुरु-परम्परा गिनने से उनका नम्बर ३४वां आता है, जबकि देवर्द्धिगणि क्षमा-श्रमण २७ वें पुरुष माने गये हैं, सो वाचक-परम्परा के क्रम से, न कि गुरु-शिष्य-परम्परा-क्रम से। इस भेद को न समझने के कारण से ही प्रस्तुत पट्टावलीकार ने कल्पस्थविरावली के क्रम से देवर्द्धिगणि को २७वां पुरुष मानने की भूल की है।

देवर्द्धिगणि तक के नाम लिखकर पट्टावली लेखक कहता है – ये २७ पाट नन्दीसूत्र में मिलते हैं, "ये २७ पट्टधर जिनाज्ञा के अनुसार चलते थे, तब इनके बाद में पाट परम्परा द्रव्यलिंगियों की चली, फिर कालान्तर में आत्मार्थी साधु शुद्धमार्ग को चलायेंगे उनका अधिकार आगे कहते हैं।"

लेखक के कहने का तात्पर्य यह है कि देवर्द्धिगणि के बाद जो साधु परम्परा चली वह मात्र वेषधारियों की परम्परा थी। भाव साधुओं की नहीं। यहां लेखक को पूछा जाय कि भावसाधु देवर्द्धिगणि के बाद नहीं रहे और सं० १७०९ से भगवान् के दयाधर्म का प्रचार स्थानकवासी साधुओं ने किया, तब देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गवास के बाद और स्थानकवासी साधुओं के प्रकट होने के पहले के १२०० वर्षों में भगवान् का दयाधर्म नहीं रहा था ? क्योंकि जैन शासन के चलाने वाले तो निर्ग्रन्थ भावसाधु ही होते थे। तुम्हारी मान्यता के अनुसार देवर्द्धि के बाद की श्रमणपरम्परा केवल लिंगधारियों की थी तब तो सं० १७०९ के पहले के १२०० वर्षों में जैन दयाधर्म विच्छिन्न हो गया था, परन्तु भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर ने अपना धर्मशासन २१ हजार वर्षों तक अविच्छिन्न रूप से चलता रहने की बात कही है, अब भगवतीसूत्र का कथन सत्य माना जाय या प्रस्तुत स्थानकवासी पट्टावली के लेखक पूज्यजी का कथन ? समझदारों के लिए तो यह कहने की आवश्यकता ही नहीं है, कि वर्तमान अवसर्पिणी के चतुर्थ आरे के अन्तिम भाग में भगवान् महावीर ने श्रमणसंघ की स्थापना करने के साथ धर्म की जो स्थापना की है वह आज तक अविच्छिन्न रूप से चलती रही है और पंचम आरे के अन्त तक चलती रहेगी, चाहे स्थानकवासी-सम्प्रदाय

बढ़ें घटे या विच्छिन्न हो जाय, जैनधर्म के अस्तित्व में उसका कोई असर नहीं पड़ेगा।

यद्यपि प्रस्तुत स्थानकवासी पट्टावली ११ पानों में पूरी की है, फिर भी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की परम्परा के अतिरिक्त इसमें कोई भी व्यवस्थित परम्परा या पट्टक्रम नहीं दिया। आर्यकालक की कथा, पंचकाली, सप्तकाली, बारहकाली सम्बन्धी कल्पित कहानियां और दिगम्बर तथा निह्नवों के उटपटांग वर्णनों से इसका कलेवर बढ़ाया है, हमको इन बातों की चर्चा में उतरने की कोई आवश्यकता नहीं।

"लौंकागच्छ तथा "स्थानकवासी सम्प्रदायों" से सम्बन्ध रखने वाली कुछ बातों की चर्चा करके इस लेख को पूरा कर देंगे।

पट्टावली के आठवें पत्र के दूसरे पृष्ठ में प्रस्तुत पट्टावलीकार लिखते हैं – श्री महावीर स्वामी के बाद दो हजार तेईस के वर्ष में जिनमत का सच्चा श्रद्धालु और भगवन्त महावीर स्वामी का दयामय धर्म मानने वाला लौंकागच्छ हुआ[१]।"

लौंकागच्छ के यति भानुचन्द्रजी और केशवजी ऋषि अपने कवित्तों में लौंकाशाह के धर्मप्रचार का सं० १५०८ में प्रारम्भ हुआ बताते हैं और १५३२ में तथा ३३ में भाणजीऋषि की दीक्षा और लौंकाशाह का देवलोक गमन लिखते हैं, तब स्थानकवासी पट्टावली लेखक वीरनिर्वाण २०२३ में अर्थात् विक्रम सं० १५३३ में लौंकागच्छ का प्रकट होना बताते हैं, जिस समय कि लौंकाशाह को स्वर्गवासी हुए २० वर्ष से अधिक समय व्यतीत हो चुका था। पट्टावली लेखक कितना असावधान और अनभिज्ञ है यह बताने के लिए हम ने समयनिर्देश पर ऊहापोह किया है।

यहां पर पट्टावलीकार ने लौंकागच्छ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक कल्पित कथा दी है जिसका सार यह है –

---

१. "श्री महावीर पछे २०२३ वरषेजिनमति साचीसरदाका धणी भगवन्त महावीर स्वामी नो धर्म दया में चाल्यो लौंकागच्छ हुवां।" (पट्टावली का मूल पाठ)

"पुस्तक भंडार में से पुस्तक निकाले तो कुछ पाने दीमक खा गया था, यह देख यति ने उनके पास गए हुए मेहता लुंका को कहा – महेताजी। एक जैन मार्ग का काम है, महेता ने कहा – कहिये क्या काम है ? यति ने कहा – सिद्धान्त के पांने दीमक खा गया है, उन्हें लिख दो तो उपकार होगा, लौंका ने उनका वचन मान लिया। यति ने "दशवैकालिक" को प्रत लौंका को दी। लौंका ने मन में सोचा-वीतराग भाषित दयाधर्म का मार्ग दशवैकालिक में लिखे अनुसार है, आजकाल के वेषधारी इस आचार को छोड़ हिंसा की प्ररूपणा करते हैं, वे स्वय धर्म से दूर हैं इसलिए लोगों को शुद्धधर्म-मार्ग नहीं बताते, परन्तु इस समय इनको कुछ कहूंगा तो मानेंगे नहीं, इसलिए किसी भी प्रकार से पहले शास्त्र हस्तगत करलूं तो भविष्य में उपकार होगा, यह सोचकर महेता लुंका ने दशवैकालिक को दो प्रतियां लिखी, एक अपने पास रखी, एक यति को दी। इस प्रकार सब शास्त्रों की दो-दो प्रतियां उतारी और एक-एक प्रति अपने पास रखकर खासा शास्त्र-संग्रह कर दिया। महेता अपने घर पर सूत्र की प्ररूपणा करने लगा' बहुत से लोग उनके पास सुनने जाते और सुनकर दयाधर्म की प्ररूपणा करते।

उस समय हटवाणिया के वणिक् शाह नागजी १, मोतीचन्दजी २, दुलीचन्दजी ३, शम्भुजी ४, और शम्भुजी के बेटा की बेटी मोहीबाई और मोहीबाई की माता इन सब ने मिलकर संघ निकाला। घाड़ो, गोड़े, ऊंट, बैल, इत्यादि साज सामान के साथ निकले परन्तु मार्ग में जलवृष्टि हो गई, जहां लौंका महेता अपने मत का उपदेश करता था वहां यात्रिक आए और लौंका की वाणी सुनने लगे। लौंका महेता भी बड़ी तत्परता से दयाधर्म का प्रतिपादन करते थे। सारा यात्री संघ लुंका महेता वाले गांव में आया और वहां पड़ाव डालकर महेता की वाणी सुनने लगा, उस समय संघ के गुरु वेशधारी साधु ने सोचा – अगर संघ के लोग सिद्धान्त शैली सुनेंगे तो आगे चलेंगे नहीं और हमारी बात भी मानेंगे नहीं, यह विचार कर वेशधारी साधु संघनायक के पास आया और कहने लगा – संघ के लोग खर्च और पानी से दुःखी हैं, तब संघनायक ने कहा – मार्ग में तो त्रसजीव और

हरियाली के अंकुर निकल जाने से अयतना बहुत दीख रही है वास्ते अभी ठहरो ! इस पर द्रव्यलिंगी गुरु बोले – शाहजी धर्म के निमित्त होने वाली हिंसा को हिंसा नहीं माना, यह सुनकर संघवी ने सोचा कि लौंका महेता के पास जो सुना था कि वेशधारी साधु अनाचारी हैं, छः काय की दया से हीन हैं, वह बात आज प्रत्यक्ष दीख रही है, द्रव्यलिंगी यति वापस लौट गया और संघ के साथ सिद्धान्त सुनता वहीं ठहरा, सुनते-सुनते उनमें से ४५ जनों को वैराग्य उत्पन्न हुआ और संयम लिया, उनके नाम – सर्वोजी, भाणोजी, नयनोजी, जगमोजी आदि थे, इस प्रकार ४५ साधु जिनमार्ग के दयाधर्म की प्ररूपणा करने लगे और अनेक जीवों ने दयाधर्म का स्वीकार किया, उस समय लौंकाशाह ने पूछा तुम कैसे साधु कहलाते हो ? साधु बोले – महेताजी हमने तीर्थङ्कर का धर्ममार्ग आपसे पाया है, इसलिए हम "लौंका साधु" कहलाते हैं और हमारा समुदाय "लौंकागच्छ" कहलाता है ।

कल्पित कथा के प्रारंभ में "दशवैकालिक" के पाने दीमक खाने की बात कही गई है । और "दशवैकालिक" की प्रति लौंका को देने का कहा है. अब विचारणीय बात यह है कि पुस्तक के पाने दीमक द्वारा नष्ट हो गये तो उसी "दशवैकालिक" की प्रति के ऊपर से लौंका ने दो प्रतियां कैसे लिखी ? क्योंकि लौंका के पास तो पुस्तक भंडार था नहीं और लौंका को लिखने के लिए पुस्तक देने वाले यतिजी ने उसे "दशवैकालिक" की अखंडित प्रति देने का का सूचन तक नहीं है, केवल "दशवैकालिक" ही नहीं यतिजी के पास से दूसरे भी सूत्र लिखने के लिए लौंका ले जाता था और उनकी एक-एक नकल अपने लिए लिखता था । यदि भण्डार के तमाम सूत्रों में दीमक ने नुकशान किया था और यतिजी भंडार के पुस्तकों को लिखवाते थे तो साथ में अखड़ित सूत्रों की प्रतियां देने की आवश्यकता थी, परन्तु इस कहानी से ऐसी बात प्रमाणित नहीं होती अतः "लौंकाशाह जिनमार्ग का काम समझकर सूत्रों की प्रतियां लिखते थे, यह कथन सत्यता से दूर है ।" सत्य बात तो यह है कि लौंकाशाह लेखक का धन्धा करता था । मेहनताना देकर साधु उससे पुस्तक लिखवाते थे,

उनमें से लौंका ने लिखवाने वाले की आज्ञा के बिना अपने लिए पुस्तक की एक-एक प्रति लिख ली हो तो असम्भव नहीं है, परन्तु एक बात विचारणीय यह है कि लौंका के समय में जैनसूत्रों पर टिब्बे नहीं बने थे। सूत्रों पर टिब्बे सर्वप्रथम पार्श्वचन्द्र उपाध्याय ने लिखे थे और पार्श्वचन्द्र का समय शाह लौंका के बाद का है। लौंका "संस्कृत" या "प्राकृत" भाषा का जानकार भी नहीं था फिर उसने सूत्रों की नकल करते-करते मूल सूत्रों का अगर उसकी पंचांगी का तात्पर्य कैसे समझा कि सूत्रों में साधु का आचार ऐसा है और साधु उसके अनुसार नहीं चलते हैं। सच बात तो यह है कि वह साधुओं के व्याख्यान सुना करता था, इस कारण से वह साधुओं के आचारो से परिचित था। वृद्ध पौषधशालिक आचार्य श्री ज्ञानचन्द्रसूरि का पुस्तक-लेखन का कार्य लौंकाशाह कर रहा था और इस व्यवसाय को लेकर ही ज्ञानचन्द्रसूरि ने लौंका को फिटकारा और लौंका ने साधुओं के पास न जाने की प्रतिज्ञा की थी और उनके आचार-विचार के सम्बन्ध में टोका-टिप्पणियां करने लगा था।

लौंकामत को कल्पित कहानी में दी गई, हटवाणियां गांव के संघ की कहानी भी सरासर झूठी है। क्योंकि पहले तो "हटवाणिया" नामक कोई गांव ही मारवाड़ अथवा गुजरात में नहीं है, दूसरा चातुर्मास्य आगे लेकर संघ निकालने की पद्धति जैनों में नहीं है, फिर लौंकाशाह के निकट पहुँचने के लगभग जलवृष्टि होना और वनस्पति के अंकुरों के उत्पन्न होने आदि की बातें केवल कल्पना-कल्पित हैं। विद्वान् साधुओं की विद्वत्तामयी धर्मदेशना सुनकर हजारों में से शायद ही कोई दीक्षा के लिये तैयार होता है। तब लौंकाशाह के उपदेश से केवल यांत्रिक-संघ में से ४५ जनों के दीक्षा लेने की बात सफेद झूठ नहीं तो और क्या हो सकती है। लौंकाशाह के थोड़े ही वर्षों के बाद होने वाले लौंका भानुचन्द्रजी ऋषि और लौंका केशवजी ऋषि अपनी रचनाओं में लौंकाशाह के अन्तिम समय में केवल एक भाणजी की दीक्षा होने की बात लिखते हैं। तब बीसवीं शती का स्थानकवासी पट्टावलीकार ४५ जनों के दीक्षा की बात कहता है और लौंकाशाह के द्वारा पुछवाता है कि "तुम कैसे साधु कहलाते हो?" साधु

कहते हैं कि—"हम लौंकागच्छ के साधु कहलाते हैं" यह क्या मामला है ? पट्टावलीकार के लेखानुसार लौंकाशाह के स्वर्गवास के बाद २१वें वर्ष में लौंकागच्छ की उत्पत्ति होती है और ४५ साधु लौंकाशाह के सामके कहते हैं—"हम लौंकाशाह के साधु कहलाते हैं" क्या यह अन्धेरगर्दी नहीं है ? लौंकागच्छ को कहलाने वाली सभी स्थानकवासी पट्टावलियां इसी प्रकार के अज्ञान से भरी हुई हैं । न किसी में अपनी परम्परा का वास्तविक क्रम है न व्यवस्था, जिसको जो ठीक लगा वही लिख दिया, न किसी ने कालक्रम से सम्बन्ध रक्खा, न ऐतिहासिक घटनाओं की श्रृंखला से ।

पट्टावली-लेखक आगे लिखता है –

उसके बाद रूपजी शाह पाटन का निवासी संयमी होकर निकला, वह "रूपजी ऋषि के नाम से प्रसिद्ध हुआ । यह लौंकागच्छ का पहला पट्टधर हुआ ।"

उसके बाद सूरत निवासी शाह जीवा ने रूपजी ऋषि के पास दीक्षा ली और जीवजी ऋषि बने । व्यवहार से हम इनको शुद्ध साधु जानते हैं । बाद में स्थानक-दोष सेवन करने लगे । आहार की गवेषणा से मुक्त हुए, वस्त्र पात्र की मर्यादा लोपी, तब सं० १७०६ में सूरत निवासी बहोरा वीरजी का दोहिता शा० लवजी जो पढ़ा-लिखा था, उसको वैराग्य उत्पन्न हुआ और संयम लेने के लिए अपने नाना वीरजी से आज्ञा मांगी । वीरजी ने कहा – लौंकागच्छ में दीक्षा ले तो आज्ञा दूं, लवजी ने सोचा – अभी प्रसंग ऐसा ही है, एक बार दीक्षा ले ही लूं यह विचार कर लवजी ने लौंकागच्छ के यति बजरंगजी के पास दीक्षा ली । उनके पास सूत्र सिद्धान्त पढ़ा । कालान्तर में अपने गुरु से पूछा – सिद्धान्त में साधु का आचार जो लिखा है उस प्रकार आजकल क्यों नहीं पाला जाता ?, गुरु ने कहा – आजकल पांचवां आरा है । इस समय आगमोक्त आचार किस प्रकार पल सकता है ?, शिष्य लवजी ने कहा – स्वामिन् ! भगवन्त का मार्ग २१ हजार वर्ष तक चलने वाला है, सो लौंकागच्छ में से निकलो, आप मेरे गुरु और मैं आपका शिष्य । बजरंगजी ने कहा – मैं तो गच्छ से

निकल नहीं सकता, तब लवजी ने कहा – मैं तो गच्छ का त्याग कर चला जाता हूं, यह कह कर ऋषि लवजी, ऋषि भाणोजी और ऋषि सुखजी तीनों वहां से निकल गये और तीनों ने फिर से दीक्षा ली। गांव नगरों में विचरते हुए जैनधर्म की प्ररूपणा की, अनेक लोगों को धर्म समझाया, तब लोगों ने उनका "ढुण्ढिया" ऐसा नाम दिया।

अहमदाबाद के कालुपुर के रहने वाले शाह सोमजी ने लवजी के पास दीक्षा ली। २३ वर्ष की अवस्था में दीक्षा लेकर बड़ी तपस्या की, उनके अनेक साधु-साध्वियों का परिवार बढ़ा जिनके नाम हरिदासजी १, ऋषि प्रेमजी २, ऋषि कानाजी ३, ऋषि गिरधरजी ४, लवजी प्रमुख बजरंगजी के गच्छ से निकले थे जिनके अनुयायियों का नाम अमीपालजी १, ऋषि श्रीपालजी २, ऋ० धर्मपालजी ३, ऋ० हरजी ४, ऋ० जीवाजी ५, ऋ० कर्मणजी ६, ऋ० छोटा हरजी ७, और ऋ० केशवजी ८। इन महापुरुषों ने अपना गच्छ छोड़ कर दीक्षा ली और जैनधर्म को दीपाया। बहुत टोले हुए, समर्थजी पूज्यश्री धर्मदासजी, श्री गोदाजी, फिर होते ही जाते हैं। इनमें कोई कहता है – मैं उत्कृष्ट हूं, तब दूसरा कहता है – मैं उत्कृष्ट हूं।

उपर्युक्त शुद्ध साधुओं का वृत्तान्त है, पीछे तो केवली स्वीकारे, सो सही। यह परम्परा की पट्टावली लिखी है।

पट्टावली-लेखक ने रूपजी ऋषि को लौंकागच्छ का प्रथम पट्टधर लिखा है, परन्तु लौंकागच्छीय ऋषि भानुचन्द्रजी तथा ऋषि केशवजी ने लौंकागच्छ का और लौंकाशाह का उत्तराधिकारी भाणजी को बताया है।

उपर्युक्त दोनों लेखकों का सत्ता-समय लौंकाशाह से बहुत दूर नहीं था, इससे इनका कथन ठीक प्रतीत होता है। पट्टावलीकार रूपजी ऋषि को लौंकागच्छ का प्रथम पट्टधर कहते हैं वह प्रामाणिक नहीं है।

पट्टावलीकार रूपजी जीवाजी को महापुरुष और शुद्ध साधु कहकर उनको उसी जीवन में स्थानक-दोष, आहार-दोष, वस्त्रापात्र आदि मर्यादा

का लोप आदि दोषों के कारण शिथिलाचारी बताता है. और १७०९ में शा० लवजी की दीक्षा की बात कहता है। लवजी दीक्षा लेने के बाद अपने गुरु बजरंगजी को लौंकागच्छ से निकालने का आग्रह करते हैं, और इनके इन्कार करने पर भी ऋ० लवजी, ऋ० भाणजी और ऋ० सुखजी के साथ लौंकागच्छ को छोड़कर निकल जाते हैं, और तीनों फिर दीक्षा लेते हैं और लोग उनको "ढुण्ढिया" यह नाम देते हैं। पट्टावलीकार ने उक्त त्रिपुटी को दीक्षा तो लिवाली, पर दीक्षा-दाता गुरु कौन थे ? यह नहीं लिखा। अपने हाथ से कल्पित वेश पहिन लेना यह दीक्षा नहीं स्वांग होता है। दीक्षा तो दीक्षाधारी अधिकारी-गुरु से ही प्राप्त होती है, न कि वेश-मात्र धारण करने से। लौंकागच्छ के साधु स्वयं गृहस्थ-गुरु के चेले थे तो उनमें से निकलने वाले लवजी आदि नया वेश धारण करने से नये दीक्षित नहीं बन सकते।

पट्टावली के अन्त में लेखक ऋषि लवजी के मुंह से कहलाता है – "अरे भाई ! पांचवां आरा है, ऐसी कठिनाई हम से नहीं पलेगी, ऐसा करने से हमारा टोला बिखर जाय।

पट्टावलीकार ने पूर्व के पत्र में तो लवजी को महात्यागी और लौंका-गच्छ का त्याग करके फिर दीक्षा लेने वाला बताया और आगे जाकर उन्हीं लवजी के मुंह से पंचम आरे के नाम से शिथिलाचार को निभाने की बात कहलाता है। यह क्या पट्टावली-लेखक का ढंग है ! एक व्यक्ति को खूब ऊंचा चढ़ाकर दूसरे ही क्षण में उसे नीचे गिराना यह समझदार लेखक का काम नहीं है।

ढुण्ढक-मत की पट्टावली २.

श्री आत्मारामजी महाराज के हाथ से लिखी हुई स्थानकवासियों की पट्टावली सम्यक्त्व शल्योद्धार के आधार से नीचे दी जाती है – पूज्य लेखक का कथन है कि "यह पट्टावली हमने अमरसिंहजी के परदादा श्री मुल्कचन्दजी के हाथ से लिखी हुई, ढुंढकपट्टावली के ऊपर से ली है।" हमने सभी स्थानकवासियों की अन्यान्य पट्टावलियों की अपेक्षा से इसमें कुछ वास्तविकता देखकर यहां देना ठीक समझा है। पट्टावलीकार लिखते हैं कि "अहमदाबाद में रहने वाला लोंका नामक लेखक ज्ञानजी यति के उपाश्रय में उनके पुस्तक लिखकर अपनी आजीविका चलाता था, एक पुस्तक में से सात पांने उसने यों ही छोड़ दिए। यतिजी को मालूम हुआ कि लोंका ने जान बुझकर बेईमानी से पांने छोड़ दिये हैं, उसे फटकार कर उपाश्रय में से निकाल दिया और दूसरे पुस्तक लिखाने वालों को भी सूचित कर दिया कि इस लुच्चे लेखक लोंका के पास कोई पुस्तक न लिखावें।"

उक्त प्रकार से लोंका की आजीविका टूट जाने से वह जैन साधुओं का द्वेषी बन गया, पर अहमदाबाद में उसका कुछ नहीं चला, तब वह अहमदाबाद से ४० कोस की दूरी पर आये हुए लीम्बड़ी गांव गया, वहां उसका मित्र लखमशी नामक राज्य का कार्यभारी रहता था। लोंका ने लखमशी से कहा – "भगवान् का मार्ग लुप्त हो गया है, लोग उल्टे मार्ग चलते है, मैंने अहमदाबाद में लोगों को सच्चा उपदेश किया, पर उसका परिणाम उल्टा आया, मैं तुम्हारे पास इसलिए आया हूं कि मैं सच्चे दयाधर्म की प्ररूपणा करूं और तुम मेरे सहायक बनों।" लखमशी ने लोंका को आश्वासन देते हुए कहा – खुशी से अपने राज्य में तुम दयाधर्म का प्रचार करो, मैं तुम्हारे खान-पान आदि की व्यवस्था कर दूंगा।

सं० १५०८ में लौंका ने जैन साधुओं के विरोध में मन्दिर मूर्तिपूजा आदि का खण्डन करना शुरू किया, लगभग २५ वर्ष तक दयाधर्म-सम्बन्धी चौपाइयां सुना-सुनाकर लोगों को मन्दिरों का विरोधी बनाता रहा, फिर भी उसका उत्तराधिकारी बनकर उसका कार्य सम्हालने वाला कोई नहीं मिला।

सं० १५३४ में भाणा नामक एक बनिया उसे मिला, अशुभ कर्म के उदय से वह लौंका का अनन्य भक्त बना। इतना ही नहीं, वह लौंका के कहने के अनुसार बिना गुरु के ही साधु का वेश पहन कर अज्ञ लोगों को लौंका का अनुयायी बनाने लगा। लौंका ने ३१ सूत्र मान्य रखे थे। व्यवहार सूत्रों को वह मानता नहीं था और माने हुए सूत्रों में भी जहां जिनप्रतिमा का अधिकार आता वहां मनःकल्पित अर्थ लगाकर उनको समझा देता।

सं० १५६८ में भाणजी ऋषि का शिष्य रूपजी हुआ।

सं० १५७८ में माघ सुदि ५ के दिन रूपजी का शिष्य जीवाजी हुआ।

सं० १५८७ के चैत्र वदि १४ के दिन जीवाजी का शिष्य वृद्धवरसिंहजी नामक हुआ।

सं० १६०६ में उनका शिष्य वरसिंहजी हुआ।

सं० १६४९ में वरसिंहजी का शिष्य यशवन्त नामक हुआ और यशवन्त के पीछे बजरंगजी नामक साधु हुआ, जो बाद में लौंकागच्छ का आचार्य बना था।

उस समय सूरत के रहने वाले बोहरा वीरजी की पुत्री फूलांबाई के दत्तपुत्र लवजी ने लौंकाचार्यजी के पास दीक्षा ली और दीक्षा लेने के बाद उसने अपने गुरु से कहा – दशवैकालिक सूत्र में जो साधु का आचार बताया है, उसके अनुसार आप नहीं चलते है। लवजी की इस प्रकार की बातों से बजरंगजी के साथ उनका झगड़ा हो गया और वह लौंकामत और अपने गुरु का सदा के लिए त्याग कर थोमण ऋषि आदि कतिपय लौंका साधुओं को साथ में लेकर स्वयं दीक्षा ली और मुख पर मुँहपत्ति बांधी।

लवजी के सोमजी और कानजी नामक दो शिष्य हुए।

कानजी के पास एक गुजराती छीपा दीक्षा लेने आया था, परन्तु कानजी के आचरण अच्छे न जानकर उनका शिष्य न होकर वह स्वयं साधु बन गया और मुंहपर मुंहपत्ति बांध ली। धर्मदास को एक जगह उतरने को मकान नहीं मिला, तब वह एक ढुण्ढे (फुटे टुटे खण्डहर) में उत्तरा तब लोगों ने उसका नाम "ढुण्ढक" दिया।

लोंकामति कुंवरजी के धर्मशी; श्रीपाल और अभीपाल ये तीन शिष्य थे, इन्होंने भी अपने गुरु को छोड़कर स्वयं दीक्षा ली, इनमें से आठ कोटि प्रत्याख्यान का पन्थ चलाया, जो आजकल गुजरात में प्रचलित है।

धर्मदास के धनजी नामक शिष्य हुए।

धनजी के भूदरजी नामक शिष्य हुए और भूदरजी के रघुनाथजी जयमलजी और गुमानजी नामक तीन शिष्य हुए जिनका परिवार मारवाड़ गुजरात और मालवा में विचरता है।

रघुनाथजी के शिष्य भीखमजी ने १३ पंथ चलाया।

भीखमजी के तेरापंथ सम्प्रदाय की आचार्य-परम्परा

तेरापन्थी सम्प्रदाय स्थानकवासी साधु रघुनाथमलजी के शिष्य भिक्खूजी से चला। तेरापन्थी भिक्खूजी को श्री भिक्षुगणी के नाम से व्यवहृत करते हैं। आज तक इस सम्प्रदाय को दो सौ वर्ष हुए और इसके उपदेशक आचार्य ९ हुए। नवों आचार्यों की नामावलि क्रमशः इस प्रकार है –

(१) आचार्य श्री भिक्षुगणी
(२) ,, ,, भारमल गणी
(३) ,, ,, ऋषिराय गणी
(४) ,, ,, जयगणी – श्री मज्जयाचार्य
(५) ,, ,, मघवागणी
(६) ,, ,, माणकगणी
(७) ,, ,, डालगणी
(८) ,, ,, कालूगणी
(९) ,, ,, तुलसीगणी

ऊपर की तेरापन्थी आचार्यों की नामावलि तेरापन्थी मुनि श्री नगराजजी लिखित "तेरापन्थ दिग्दर्शन" नामक पुस्तिका से उद्धृत की है। पुस्तिका में लेखक ने अतिशयोक्तियाँ लिखने में मर्यादा का उल्लंघन किया है, जिसका एक ही उदाहरण यहाँ उद्धृत किया जाता है –

"संस्कृत भाषा के अभ्यासी ऐसे भी साधु संघ में हैं, जिन्होंने एक-एक दिन में पांच-पांच सौ व सहस्र-सहस्र श्लोकों की रचना की है।"

ठीक तो है जिस संघ में प्रतिदिन पांच-पांच सौ और सहस्र-सहस्र श्लोक बनाने वाले साधु हुए हैं उस संघ में संस्कृत-साहित्य के तो भण्डार भी भर गए होंगे, परन्तु दुःख इतना ही है कि ऐसे संघ की तरफ से एक भी संस्कृत ग्रन्थ मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ देखने में नहीं आया।

लवजी के शिष्य सोमजी हुए।
हरिदासजी के शिष्य वृन्दावनजी हुए।
वृन्दावनजी के भवानीदासजी हुए।
भवानीदासजी के शिष्य मलूकचन्दजी हुए।
मलूकचन्दजी के शिष्य महासिंहजी हुए।
महासिंहजी के शिष्य खुशालरामजी हुए।
खुशालरामजी के शिष्य छजमलजी हुए।
रामलालजी के शिष्य अमरसिंहजी हुए।

अमरसिंहजी का शिष्य-परिवार आजकल पंजाब में मुख बांध कर विचरता है।

लवजी के शिष्यों का परिवार मालवा और गुजरात में विचरता है।

"समकितसार" के कर्त्ता जेठमलजी धर्मदासजी के शिष्यों में से थे और उनके आचरण ठीक न होने के कारण उनके चेले देवीचन्द और मोतीचन्द दोनों जन उनको छोड़ कर जोगराजजी के शिष्य हजारीमलजी के पास दिल्ली में आकर रहे थे।

ऊपर हमने जो लोंकामत की और स्थानकवासी लवजी की परम्परा लिखी है वह पूर्वोक्त अमोलकचन्दजी के हाथ से लिखी हुई ढुण्ढकमत की पट्टावली के ऊपर से लिखी है, इस विषय में जिस किसी को शंका हो, वह हस्तलिखित मूल प्रति को देख सकता है।

लौंकाशाह, लौंकागच्छ और स्थानकवासी सम्प्रदाय के सम्बन्ध में अनेक व्यक्तियों ने लिखा है। वाडीलाल मोतीलाल शाह ने अपनी "ऐतिहासिक नोंध" में, संत बालजी ने "धर्मप्राण लौंकाशाह" में, श्री मणिलालजी ने "प्रभुवीर पट्टावली" में और अन्यान्य लेखकों ने इस विषय के लेखों में जो कुछ लिखा है, वह एक दूसरे से मेल नहीं खाता, इसका कारण यही है कि सभी लेखकों ने अपनी बुद्धि के अनुसार कल्पनाओं द्वारा कल्पित बातों से अपने लेखों को विभूषित किया है। इन सब में शाह वाडीलाल मोतीलाल सब के अग्रगामी हैं। इनकी असत्य कल्पनाएं सब से बढ़ी-चढ़ी हैं, इस विषय का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। लौंकागच्छ के आचार्य श्री मेघजी ऋषि अपने २५ साधुओं के साथ लौंकामत को छोड़ कर तपागच्छ के आचार्य श्री विजयहीरसूरिजी के शिष्य बने थे। इस घटना को बढ़ा-चढ़ा कर शाह वाडीलाल लौंकागच्छ के ५०० साधु तपागच्छ में जाने की बात कहते हैं। अतिशयोक्ति की भी कोई हद होती है, परन्तु शाह ने इस बात का कोई ख्याल नहीं किया। इसी प्रकार शाह वाडीलाल ने अपनी पुस्तक "ऐतिहासिक नोंध" में अहमदाबाद में मूर्तिपूजक और स्थानकवासी साधुओं के बीच शास्त्रार्थ का जजमेन्ट लिख कर अपनी असत्यप्रियता का परिचय दिया है, शाह लिखते हैं –

"आखिर सं० १८७८ में दोनों ओर का मुकद्दमा कोर्ट में पहुँचा। सरकार ने दोनों में कौन सच्चा कौन झूठा? इसका इन्साफ करने के लिए दोनों ओर के साधुओं को बुलाया। "स्था० की ओर से पूज्य रूपचन्दजी के शिष्य जेठमलजी आदि २८ साधु उस सभा में रहने को चुने गये" और सामने वाले पक्ष की ओर से "वीरविजय आदि मुनि और शास्त्री हाजिर हुए।" मुझे जो यादी मिली है, उससे मालूम होता है कि मूर्तिपूजकों का पराजय हुआ और मूर्तिविरोधियों का जय हुआ।" शास्त्रार्थ से वाकिफ होने के लिए जेठमलजी-कृत "समकितसार" पढ़ना चाहिए × × × १८७८ के पौष सुदि १३ के दिन मुकद्दमा का जजमेन्ट (फैसला) मिला।"

ऐ० नों० पृ० १२६।

शाह शास्त्रार्थ होने का वर्ष १७८७ बताते हैं और मिति उसी वर्ष के पौष मास की १३। शाह ने वर्ष-मिति की यह कल्पना पं० वीरविजयजी और ऋषि जेठमलजी के बीच हुए शास्त्रार्थ की यादगार में पं० उत्तम-विजयजी द्वारा निर्मित "लुंपकलोप-तपगच्छ जयोत्पत्ति वर्णन रास" के ऊपर से गढ़ी है, क्योंकि उत्तमविजयजी के बनाये हुए रास की समाप्ति में सं० १७८७ के वर्ष का और माघ मास का उल्लेख है। शाह ने उसी वर्ष को शास्त्रार्थ के फैसले का समय मान कर पौष शुक्ल १३ का दिन लिख दिया है पर वार नहीं लिखा, क्योंकि वार लिखने से लेख की कृत्रिमता तुरन्त पकड़ी जाने का भय था। शाह का यह फैसला उनके दिमाग की कल्पना मात्र है, यह बात निम्न लिखे विवरण से प्रमाणित होगी –

"समकितसार" के लेखक जेठमलजी लिखते हैं – श्री वर्द्धमान स्वामी मोक्ष गए तब चौथा आरा के ३ वर्ष और साढ़े आठ मास शेष थे। उसके बाद पांचवां आरा लगा और पांचवे आरे के ४७० वर्ष तक वीर संवत् चला, उसके बाद विक्रमादित्य ने संवत्सर चलाया, जिसको आजकल १८६५ वर्ष हो चुके हैं।"

शाह के जजमेन्ट के समय में अहमदाबाद में कम्पनी का राज्य हो चुका था और अंग्रेजी अदालत में ही अर्जी हुई और जजमेन्ट भी अंग्रेजी में लिखा गया था, फिर भी जजमेन्ट में अंग्रेजी तारीख न लिखकर पौष सुदि १३ लिखा है इसका अर्थ यही है कि उक्त जजमेन्ट उत्तमविजयजी के रास के आधार से शाह वाड़ीलाल ने लिखा है, जो कल्पित है यह निश्चित होता है।

शाह शास्त्रार्थ के फैसले में लिखते हैं – "शास्त्रार्थ से वाकिफ होने के लिए जेठमलजी कृत समकितसार पढ़ना चाहिए," यह शाह का दम्भ वाक्य है और "समकितसार" के प्रचार के लिए लिखा है, वास्तव में जेठमलजी के "समकितसार" में वीरविजयजी के साथ होने वाले शास्त्रार्थ की सूचना तक भी नहीं है।

"ऐतिहासिक नोंध" के पृष्ठ १३० में शाह लिखते है "परन्तु किसी प्रकार के लिखित प्रमाण के अभाव में किसी तरह की टीका करने को खुश नहीं हूं।" भला किसी लिखित प्रमाण के अभाव में शास्त्रार्थ का जजमेन्ट देने को तो खुश हो गए तब उस पर टीका-टिप्पणी करने में आपत्ति ही क्या थी ? परन्तु शाह अच्छी तरह समझते थे कि केवल निराधार बातों की टीका-टिप्पणी करता हुआ कहीं पकड़ा जाऊंगा, इसलिए वे टीका करने से बाज आए है।

शाह स्वयं स्वीकार करते है कि दोनों सम्प्रदायों के बीच होने वाले शास्त्रार्थ में कोन जीता और कौन हारा, इसका मेरे पास कोई लिखित प्रमाण नहीं है, इससे इतना तो सिद्ध होता है कि इस शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में जेठमलजी ऋषि अथवा उनके अनुयायियों ने कुछ भी लिखा नहीं है, अन्यथा शाह वाड़ीलाल को ऐसा लिखने का कभी समय नहीं आता। पं० वीरविजयजी और उनके पक्षकारों ने प्रस्तुत शास्त्रार्थ का सविस्तर वर्णन एक लम्बी ढुंढक चौपाई बनाकर किया है, जिसमें दोनों पक्षों के साधुओं तथा श्रावकों के नाम तक लेख-बद्ध किये हैं, इससे सिद्ध होता है कि शास्त्रार्थ में जय मूर्तिविरोध पक्ष का नहीं, परन्तु मूर्तिपूजा मानने वाले पं० वीरविजयजी के पक्ष का हुआ था, इस शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में लिखित प्रमाण होते हुए भी शाहने अपने पक्ष के विरुद्ध होने से उनको छुआ तक नहीं है।

रासकार पं० उत्तमविजयजी कहते हैं –मुंहपर पाय बांधकर गांव गांव फिरते और लोगों को भ्रमणा में डालते हुए एक समय लौंका के अनुयायी साणंद आये और वहां लोगों को फंसाने के लिए पास फैलाया, वहां पर तपागच्छ का एक श्रावक नानचन्द शान्तिदास रहता था, कर्मवश वह ढुंढको के फंदे में फंस गया। वह ढुंढकों को मानने लगा और परापूर्व के अपने जैनधर्म को भी पालता था, इस प्रकार कई वर्षों तक वह पालता रहा और बीसा श्रीमाली न्यात ने उसको निभाया, अब नानूशाह के पुत्रों की बात कहता हूं। अफीमची, अमरा, परमा पनजी और हमका ये चारों पुत्र भी न्यात जात की धर्म छोड़कर ढुंढकधर्म पालने लगे, इस समय न्यात

ने देखा कि यह चेप बढ़ रहा है, अब इसका प्रतीकार करना जरूरी है, यह सोचकर नानचन्द और उसके पुत्रों को न्यात से बहिष्कृत कर दिया, कोई उनको पानी तक नहीं पिलाता था। सगे सम्बन्धी भी अलग हो गये, फिर भी वे अपना दुराग्रह नहीं छोड़ते थे। उनके घरों में लड़कियां १२-१२ वर्ष की हो गई थीं, फिर भी उनसे कोई संबन्ध नहीं करता था और जो लड़की राजनगर में ब्याही थी वह भी न्याती का विचार कर घर नहीं आती थी इस पर नानचन्द ने अपनी न्यात पर १४ हजार रुपयों का राजनगर की राज्यकोर्ट में दावा किया।"

उधर अमरचन्द के घर में उसकी औरत के साथ रोज क्लेश होने लगा। औरत कहती – "तुमने न्यात के विरुद्ध झगड़ा उठाया, यह मूर्खता का काम किया। न्यात से लड़ना झगड़ना आसान बात नहीं। पहले यह नहीं सोचा कि इसका परिणाम क्या होगा, तुमने न्यात से सामना किया और लोगों के उपालम्भ मैं खाती हूं बड़ी उम्रकी बेटी को देखकर मेरी छाती जलती है," साह अमरा अपनी औरत की बातों से तंग आकर शा० पूंजा टोकर से मिला और कहने लगा – न्यात बहिष्कृति वापस खींचकर हमें न्यात में कैसे लें, इसका कोई मार्ग बताओ। बेटी बड़ी हो गई है, उसको ब्याहे बिना कैसे चलेगा, अमरा की बात सुनकर पूंजाशाह ने अमरा को उल्टी सलाह दी, कहा – न्यात पर कोर्ट में अर्जी करो, इस पर अमरा ने अर्जी की और अपनी पुत्री को खंभात के रहने वाले किसी दुण्ढक को ब्याह दी। पूंजाशाह ने न्यात में कुछ "करियावर" किया – तब उनके वेवाई जो दुण्ढक थे, उसके वहां मर्यादा रक्खी तो भी दुण्ढक लज्जित नहीं हुए, बहुत दिनों के बाद जब अर्जी की पेशी हुई तब शहर के धर्मप्रेमी सेठ भगवान् इच्छाचन्द माणकचन्द और अन्य भी जो धर्म के अनुयायी थे सब अदालत में न्यायार्थ गए। अदालत ने अर्जी पर हुक्म दिया कि "मामला धर्म का है, इसलिए सभा होगी तब फैसला होगा, दोनों पक्षकार अपने-अपने गुरुओं को बुलाकर पुस्तक प्रमाणों के साथ सभा में हाजिर हों," अदालत का हुक्म होते ही गांव-गाव पत्र-वाहक भेजे, फिर भी कोई दुण्ढक आया नहीं था।

इस समय पाटन में रहे हुए जेठमलजी ऋषि ने अहमदाबाद पत्र लिखा कि 'मूर्तिपूजकों की तरफ से वाद करने वाला विद्वान् कौन आएगा ? मूर्तिपूजकों की तरफ से एक वीरविजयजी झगड़े में आयें तो अपने पक्ष के सब ऋषि राजनगर आने के लिए तैयार हैं," इस प्रकार का जेठमलजी ऋषि का पत्र पढ़कर प्रेमाजी ऋषि ने गलत पत्र लिखा कि "वीरविजयजी यहां पर नहीं है और न आने वाले हैं" इस मतलब का पत्र पढ़कर जेठमलजी ऋषि लगभग एक गाड़ा के बोझ जितनी पुस्तकें लेकर अहमदाबाद आए और एक गली में उतरे, वहां बैठे हुए अपने पक्षकारों से सलाह मशविरा करने लगे। लीम्बडी गांव के रहने वाले देवजी ऋषि अहमदाबाद आने वाले थे परन्तु विवाद के भय से बीमारी का बहाना कर खुद नहीं आए और अपने शिष्य को भेजा। मूलजी ऋषि जो शरीर के मोटे ताजे थे और चलते वक्त हाँफते थे, इसलिए लोगों ने उनका नाम "पूज्यहाँफूस" ऐसा रख दिया था। इनके अतिरिक्त नरसिंह ऋषि जो स्थूलबुद्धि थे। वसराम ऋषि आदि सब मिलकर ८१ ढुण्ढक साधु जो मुंह पर मुंहपत्ति बांधे हुए थे, अहमदाबाद में एकत्रित हुए।

शहर में ये सर्वत्र भिक्षा के लिए फिरते थे। लोग आपस में कहते थे – ये ढुण्ढिये एक मास भर का अन्न खा जायेंगे। तब दीनानाथ जोशी ने कहा – "फिकर न करो आने वाला वर्ष ग्यारह महीने का है," जोशी के वचन से लोग निश्चिन्त हुए। श्रावक लोग उनके पास जाकर प्रश्न पूछते थे, परन्तु वे किसी को उत्तर न देकर नये-नये प्रश्न आगे धरते थे। तपागच्छ के पण्डितों के पास जो कोई प्रश्न आते उन सब का वे उत्तर देते, यह देखकर ढुण्ढकमत वाले मन में जलते थे, इस प्रकार सब अपनी पार्टी के साथ एकत्रित हुए। इतने में सरकारी आदमी ने कहा – "साहब अदालत में बुलाते है," उस समय जो पण्डित नाम धराते थे, सभा में जाने के लिए तैयार हुए; मन्दिर मार्गियों के समुदाय में सब से आगे पं० वीरविजयजी चल रहे थे, उनकी मधुर वाणी और विद्वत्ता से परिचित लोग कह रहे थे – जयकमला वीरविजयजी को वरेगी। हितचिन्तक कहते थे – महाराज !

अच्छे शकुन देखकर चलियेगा, इतने में एक मालिन फूलमाला लेकर वीरविजयजी को सामने मिली इस शकुन को देखकर जानकार कहने लगे – ये शकुन जेठाजी ऋषि को हरायेंगे और उनके समर्थक नीचा देखेंगे। वीर-विजयजी से कहा – तुम्हारी कीर्ति देश-देश में फैलेगी। उस समय वीर-विजयजी के साथ खुशालविजयजी, मानविजयजी, भुजनगर से आये हुए आनन्दशेखरजी, खेड़ा के चौमासी दलोचन्दजी और साणंद से आए हुए लब्धिविजयजी आदि विद्वान् साधु चल रहे थे, इतना ही नहीं गांव-गांव के पढ़े लिखे श्रोता श्रावक जैसे बीसनगर के गलालशाह, जयचन्दशाह आदि। इन के अतिरिक्त अनेक साधु सूत्र-सिद्धान्त लेकर साथ में चल रहे थे और धन खर्च ने में श्रीमाली सेठ रायचन्द, वेचरदास, मनोहर, वस्तचन्द, महेता, मानचन्द आदि जिनशासन के कार्य में उल्लास पूर्वक भाग ले रहे थे। भाविक श्रावक केसर चन्दन वरास आदि घिसकर तिलक करके भगवान् की पूजा करके जिनाज्ञा का पालन कर रहे थे, नगर सेठ मोतीभाई धर्म का रंग हृदय में धरकर सर्व-गृहस्थों के आगे चल रहे थे।

इधर ऋषि जेठमलजी अपने स्थान से निकलकर छीपा गली में पहुँचे, वहां सभी जाति के लोग इकट्ठे हुए थे, वहां से ऋषि जेठमलजी और उनकी टुकड़ी अदालत द्वारा बुलाई गई, सब सरकारी सभा की तरफ चले, मूर्ति-पूजक और मूर्तिविरोधियों की पार्टियां अपने-अपने नियत स्थानों पर बैठी।

शास्त्रार्थ में पूर्वपक्ष मन्दिर-मार्गियों का था, इसलिए वादी पार्टी के विद्वान् अपने-अपने शास्त्र-प्रमाणों को बताते हुए मूर्तिविरोधियों के मत का खण्डन करने लगे। जब पूर्व पक्ष ने उत्तर पक्ष की तमाम मान्यताओं को शास्त्र के आधार से निराधार ठहराया तब प्रतिमापूजा-विरोधी उत्तर पक्ष ने अपने मन्तव्य का समर्थन करते हुए कहा – "हम प्रतिमापूजा का खण्डन करते हैं, क्योंकि प्रतिमा में कोई गुण नहीं है, न सूत्र में प्रतिमापूजा कही है, क्योंकि दशवें अंग सूत्र "प्रश्न व्याकरण" के आश्रवद्वार में मूर्ति पूजने वालों को मन्दबुद्धि कहा है और निरंजन निराकार देव को छोड़कर चैत्या-लय में मूर्ति पूजने वाला मनुष्य अज्ञानी है।"

उत्तर पक्ष की युक्तियों को सुनकर पं० वीरविजयजी प्रत्युत्तर देते हुए बोले – "तुम ढुण्ढक लोगों का प्रवाह जानवरों के जैसा है, जिस प्रकार जानवरों के टोले को एक आदमी जिधर ले जाना चाहता है, उसी तरफ ले जाता है, वही दशा तुम्हारी हैं, तुम्हारे आदि गुरु लौंका ने किसी को गुरु नहीं किया और मूर्तिपूजा आदि का विरोध कर अपना मत स्थापित किया, उसी प्रकार तुमने भी किसी भी ज्ञानी गुरु के विना उनकी बातों को लेकर उसके पन्थ का समर्थन किया है, जिससे एक को साधते हो और दस टूटते हैं। प्रतिमा में गुण नहीं कहते हो तो उसमें दोष भी तो नहीं है और उसके पूजने से भक्तिगुण की जो पुष्टि होती है वह प्रत्यक्ष है। सूत्र-सिद्धान्त में अरिहन्त भगवन्त ने जिनप्रतिमा पूजनीय कही है आश्रव द्वार में प्रतिमापूजा वालों को मन्दबुद्धि कहा है – वह प्रतिमा जिन की नहीं, परन्तु नाग भूत आदि की समझना चाहिए ऐसा "अंगविद्या" नामक ग्रन्थ में कहा है। इतना ही नहीं बल्कि उसी "प्रश्नव्याकरण" अंग के सवरद्वार से जिनप्रतिमा की प्रशंसा की है और पूजने वाले के कर्मों को निर्बल करने वाली बताई है। छट्ठे अंग "ज्ञातासूत्र" में द्रौपदी के ठाठ के साथ पूजा करने का पाठ है, इसके अतिरिक्त विद्याचारणमुनि जिनप्रतिमा वन्दन के लिए जाते हैं, ऐसा भगवती सूत्र में पाठ है। सूर्याभदेव के शाश्वत जिनप्रतिमाओं की पूजा करने का "राजप्रश्नीय" में विस्तृत वर्णन दिया हुआ है और "जीवाभिगम" सूत्र में विजयदेव ने जिनप्रतिमा की पूजा करने का वर्णन विस्तारपूर्वक लिखा है, इस प्रकार जिन-जिन सूत्रों में मूर्तिपूजा के पाठ थे वे निकालकर दिखाये जिस पर ढुण्ढक कुछ भी उत्तर नहीं न दे सके। आगे पं० वीरविजयजी ने कहा – जब स्त्री ऋतुधर्म से अपवित्र बनती है, तब उसको "सूत्र-सिद्धान्त" पढ़ना तथा पुस्तकों को छूना तक शास्त्र में निषेध किया है। यह कह कर उन्होंने "ठाणाङ्ग" सूत्र का पाठ दिखाया, तब ढुण्ढकों ने राजसभा में मंजूर किया कि ऋतुकाल में स्त्री को शास्त्र पढ़ना जैन सिद्धान्त में वर्जित किया है। परन्तु यह बात शास्त्रार्थ के अन्तर्गत नहीं है हमारा विरोध प्रतिमा से है इसके उत्तर में वीरविजयजी ने कहा – यज्ञ कराने वाला शयम्भव भट यूप के नीचे से निकली हुई शान्तिनाथ की प्रतिमा को देखकर प्रतिबोध पाया, इसी प्रकार अनेक भव्य मनुष्यों ने जिनप्रतिमा के दर्शन से जैनधर्म

को पाया और दीक्षा लेकर मोक्ष के अधिकारी हुए। प्रतिमा का विरोध करने वाले लोंका के अनुयायी सं० १५३१ में प्रकट हुए, उसके पहले जैन नामधारी कोई भी व्यक्ति जिनप्रतिमा का विरोधी नहीं था। इस पर नृसिंह ऋषि बोले – सूत्र में जिनप्रतिमा का अधिकार है यह बात हम मानते हैं, परन्तु हम स्वयं प्रतिमा को जिन के समान नहीं मानते। नरसिंह ऋषिजी के इन इकबाली बयानों से अदालत ने मूर्तिपूजा मानने वालों के पक्ष में फंसला सुना दिया और जैनशासन की जय बोलता हुआ मूर्तिपूजक समुदाय वहां से रवाना हुआ।

बाद में मूर्तिपूजा विरोधियों के अगुआओं ने संघ के नेताओं से मिल कर कहा – "हम शहर में झूठे तो कहलाये, फिर भी हम वीरविजयजो से मिल कर कुछ समाधान करले। इसलिए जेठमलजी ऋषि को वीरविजयजी मिलें ऐसी व्यवस्था करो" इस पर इच्छाशाह ने कहा – यह तो चोरों की रीति है, साहूकारों को तो खुल्ले आम चर्चा करनी चाहिए। तुम मूर्ति को उत्थापन करते हो, इस सम्बन्ध में तुम से पूछे गये १३ प्रश्नों के उत्तर नहीं देते, राजदरबार में तुम झूठे ठहरे, फिर भी धीठ बनकर एकान्त में मिलने की बातें करते हो ?, मोटे ताजे मूलजी ऋषि अदालत में तो एक कोने में जाकर बैठे थे और अब एकान्त में मिलने की बात करते हैं ?, अगर अब भी जेठाजी ऋषि और तुमको शास्त्रार्थ कर जीतने की होंश हो तो हम बड़ी सभा करने को तैयार हैं। उनमें शास्त्र के जानकार चार पण्डितों को बुलायेंगे, दूसरे भी मध्यस्थ पण्डित सभा में हाजिर होंगे। वे जो हार-जीत का निर्णय देंगे, दोनों पक्षों को मान्य करना होगा। तुम्हारे कहने मुजब एकान्त में मिलकर कुलड़ी में गुड़ नहीं भांगेंगे।

सभा करने की बात सुनकर प्रतिपक्षी बोले – हम सभा तो नहीं करेंगे, हमने तो आपस में मिलकर समाधान करने की बात कही थी।

सभा करने का इनकार सुनने के बाद प्रतिमा पूजने वालों का समुदाय और प्रतिमा-विरोधियों का समुदाय अपने-अपने स्थान गया।

अपने स्थानक पर जाने के बाद जेठाजी ऋषि ने हुकमाजी ऋषि को कहा – आज राजनगर में अपने धर्म का जो पराजय हुआ है, इसका

मुख्य कारण तुम हो। हमने पहले ही तुमको पुछाया तो तुमने लिखा कि शहर में शास्त्रार्थ करने वाला कोई पण्डित नहीं है। तुम्हारे इस झूठे पत्र के भरोसे हम सब हर्षपूर्वक यहां आये और लूटे गये। इस प्रकार एक दूसरे की भूलें निकालते हुए, ढुण्ढक अहमदाबाद को छोड़ कर चले गये। शहर से बहुत दूर निकल जाने के बाद वे गांव-गांव प्रचार करने लगे कि राजनगर की अदालत में हमारी जीत हुई। ठीक तो है, सुवर्ण थाल से कांसे का रणकार ज्यादा ही होता है। विष को बघारना इसी को तो कहते हैं, "काटने वाला घोड़ा और आंख से काना", "झूठा गाना और होली का त्यौंहार", "रण का जंगल और पानी खारा" इत्यादि कहावतें ऐसे प्रसंगों पर ही प्रचलित हुई हैं।

रास के रचियता पं० श्री उत्तमविजयजी जो उस शास्त्रार्थ के समय वहां उपस्थित थे, रास की समाप्ति में अपना अभिप्राय व्यक्त करते हुए कहते हैं —

"जैनिंदक वस्त लहिइंरे ॥ जै० ॥ निंदा तेनो नवी कहिइंरे ॥ जै० ॥
अहमदाबाद सेहर मजार रे ॥ जै० ॥ सहु चढ्या हता दरबार रे ॥जै०॥३॥
करयो न्याय अदालत मांथे रे ॥जै०॥ त्यारे अमे गया ता साथे रे ॥जै०॥
त्यारे ढुण्ढ सभा थी भागा रे ॥जै०॥ जिनसासन डंका वागा रे ॥जै०॥४॥
ए वातो नजरें दीठी रे ॥ जै० ॥ हइयामां लागी मीठी रे ॥ जै० ॥
जब जाजा वरसते थाय रे ॥ जै० ॥ तब कांइक वीसार जाय रे ॥जै०॥५॥
पछे कोइ नर पुछाय रे ॥ जै० ॥ आडुं अवलुं बोलाय रे ॥ जै० ॥
जूठा बोलां करी गाय रे ॥ जै० ॥ दुनिया जीति भवि जाय रे ॥जै०॥६॥
अंग चौथुं जे समवाय रे ॥ जै० ॥ जूठा ना पाप गवाय रे ॥ जै० ॥
अमें जूठ नथी कहेंवाय रे ॥ जै० ॥ आटा मां लूण समाय रे ॥जै०॥७॥
जिन सासन फरसी छाय रे ॥ जै० ॥ साचा बोलां मुनि राय रे ॥जै० ॥
जे मृग तृष्णा जल धाय रे ॥ जै० ॥ ते आपमति कहेवाय रे ॥जै०॥८॥
अमे अवलंब्या गुरु पाय रे ॥ जै० ॥ साचुं सोनुं ते कसाय रे ॥जै०॥
साची वातों अमे भाखी रे ॥ जै० ॥ छे लोक हजारो साखी रे ॥जै०॥९॥

अढार अठयोत्तर वरसे रे ॥ जैं० ॥ सुदि पोष नी तेरस दिवसें रे ॥जैं०॥
कुमति ने शिक्षा दीधी रे ॥ जैं० ॥ तव रास नी रचना कीधी रे ॥जैं०॥१७॥
राधनपुर ना रहेवासी रे ॥ जैं० ॥ तपगच्छ केरा चौमासी रे ॥ जैं० ॥
खुशालविजयजी नु सीस रे ॥ जैं० ॥ कहे उत्तमविजय जगीस रे ॥जैं०॥११॥
जे नारी रस भर गास्ये रे ॥ जैं० ॥ सोभाग्य अखंडित थास्ये रे ॥ जैं० ॥
सांभल से रास रसीला रे ॥ जैं० ॥ ते लेस्यें अविचल लीला रे ॥जैं०॥१२॥

"॥इति लुंपक लोप तपगच्छ जयोत्पत्ति वर्णन रास संपूर्ण। सं० १८७८ ना वर्षे माघ मासे कृष्णपक्षे ५ वार चन्द्र पं० वीरविजयजी नी आज्ञा थीं कत्तपुरा गच्छे राजनगर रहेवासी पं० उत्तमविजय। सं० १८८२ र. वर्षे लिपिकृतमस्ति पाटम नगरे पं० मोतीविजय ॥"

'जो निन्दक होता है, उसके वास्तविक स्वभाव का वर्णन करना वह निन्दा नहीं है। अहमदाबाद में जब दोनों पार्टियां कोर्ट में जाकर लड़ी थीं और अदालत ने जो फैसला दिया था, उस समय हम भी अदालत में उनके साथ हाजिर थे। ढुण्ढकों के विपक्ष में फैसला हुआ और जैनशासन का डंका बजा, तब ढुण्ढक सभा को छोड़ कर चले गये थे। यह हमने अपनी आंखों से देखी बात है। जब कोई भी घटना घटती है और उसको अधिक समय हो जाता है, तब वह विस्मृत हो जाती है। लम्बे काल के बाद उस घटना के विषय में कोई पूछता है तो वास्तविक स्थिति से ज्यादा कम भी कहने में आ जाता है और तब जानकार लोग उसको असत्यवादी कहते हैं, हालाकि कहने वाला विस्मृति के वश ऊंचा-नीचा कह देता है, परन्तु दुनियां को कौन जीत सकता है, वह तो उसको असत्यवादी मान लेती हैं। चौथे समवायांग सूत्र में असत्य बोलने का पाप बताया है, इसलिये जो बात ज्यों बनी है हम वही कहते हैं। वर्णन में असत्य की मात्रा आटे में नमक के हिसाब से रह सकती है, अधिक नहीं। जिन्होंने जैनशासन को छाया का भी स्पर्श किया है, वैसे मुनि तो सत्यभाषी ही कहलाते हैं। जो मृग की तरह मृगतृष्णा के पीछे दौड़ते हैं, वे आपमति कहलाते हैं। हमने तो गुरु के चरणों का आश्रय लिया है। जिस प्रकार

सच्चा सोना कसौटी पर कसा जाता है, हमारी बातों की सच्चाई के हजारों लोग साक्षी हैं।

सं० १८७८ के पौष सुदि १३ के दिन जब दुर्बुद्धि मूर्तिलोपकों को शिक्षा दी, उस समय इस रास की रचना की है। राधनपुर रहने वाले तपागच्छ के चौमासी श्री खुशालविजयजी के शिष्य उत्तमविजयजी कहते हैं – जो नारी इस रास को रसपूर्वक गायेगी उसका सौभाग्य अखंडित होगा और जो इस रसपूर्ण रास को सुनेंगे वे शाश्वत सुख पायेंगे।

"इस प्रकार लुम्पक लोप तपगच्छ जयोत्पत्ति वर्णन रास पूर्ण हुआ। सं० १८७८ के माघ कृष्णपक्ष में ५ सोमवार को पंडित वीरविजयजी की आज्ञा से कत्तपुरागच्छीय राजनगर के निवासी पं० उत्तमविजयजी ने रास की रचना की और सं० १८८२ के वर्ष में पं० मोतीविजय ने पाटन नगर में यह प्रति लिखी ॥"

उपर्युक्त पं० उत्तमविजयजी के रास से और वाडीलाल मोतीलाल शाह के जजमेन्ट से प्रमाणित होता है कि "समकितसार" के निर्माण के बाद स्थानकवासियों का प्रचार विशेष हो रहा था, इसलिए इस प्रचार को रोकने के लिए अहमदाबाद के जैनसघ ने स्थानकवासियों के सामने कड़ा प्रतिबन्ध लगाया था। परिणामस्वरूप अदालत द्वारा दोनों पार्टियों से सभा में शास्त्रार्थ करवा कर निर्णय किया था। निर्णयानुसार स्थानकवासी पराजित होने से उन्हें अहमदाबाद छोड़ कर जाना पड़ा था।

प्रभुवीर - पट्टावली (२)

स्थानकवासी साधु श्री मणिलालजी द्वारा संकलित "प्रभुवीर पट्टा-वली" के पृ० १५७ में ३३ पट्टधरों के उपरान्त आगे के पट्टधरों के नाम निम्न प्रकार से दिये हैं –

३४ वर्धनाचार्य	४२ जयदत्ताचार्य
३५ भूराचार्य	४३ जयदेवाचार्य
३६ सूदनाचार्य	४४ जयघोषाचार्य
३७ सुहस्ती	४५ वीरचक्रधर
३८ वर्धनाचार्य	४६ स्वातिसेनाचार्य
३६ सुबुद्धि	४७ श्री वन्ताचार्य
४० शिवदत्ताचार्य	४५ सुमतिआचार्य (लौंकाशाह के गुरु)
४१ वरदत्ताचार्य	

अब हम पंजाब की पट्टावली और श्री मणिलालजी की पट्टावली के नाम तुलनात्मक दृष्टि ने देखते हैं तो वे एक दूसरे से मिलते नहीं हैं, इसका कारण यही है कि ये दोनों पट्टावलियां कल्पित है और इसी कारण से पंजाबी स्थानकवासियों की पट्टावली के अनुसार लौंकाशाह के गुरु ज्ञानजी यति का पट्ट नं० ६० वां दिया है, तब श्री मणिलालजी ने ज्ञानजी यति के स्थान पर "सुमति" आचार्य नाम लिखा है और उनको ४८ वां पट्टधर लिखा है।

स्थानकवासी पंजाबी साधुओं की पट्टावली (३)

पंजाब के स्थानकवासियों की पट्टावली जो "ऐतिहासिक नोंध" पृ० १६३ में दी गई है, उसमें देवर्द्धिगणि के बाद के १८ नाम छोड़कर शेष ४६ से लगाकर निम्न प्रकार से नाम लिखे हैं —

४६ हरिसेन
४७ कुशलदत्त
४८ जीवनर्षि
४९ जयसेन
५० विजयर्षि
५१ देवर्षि
५२ सूरसेन
५३ महासेन
५४ जयराज
५५ गजसेन
५६ मिश्रसेन
५७ विजयसिंह
५८ शिवराज
५९ लालजीमल्ल
६० ज्ञानजी यति

सुतागमों की प्रस्तावना की स्थानकवासी पट्टावली (४)

१ सुधर्मा	२ जम्बू	३ प्रभव
४ शय्यम्भव	५ यशोभद्र	६ सम्भूति
७ आर्य भद्रबाहु	८ स्थूलभद्र	९ आर्य महागिरि
१० बलिस्सह	११ सन्तायरिय	१२ श्यामाचार्य
१३ साण्डिल्य	१४ जिनधर्म	१५ समुद्र
१६ नन्दिल	१७ श्री नागहस्ती	१८ रेवत
१९ खन्दिल	२० सिंहगिरि	२१ श्रीमन्त
२२ नागार्जुन	२३ गोविन्द	२४ भूतदिन्न
२५ लोहाचार्य	२६ दुप्रस्सह	२७ देवर्द्धिगणि
२८ वीरभद्र	२९ शिवभद्र	३० जसवीर
३१ वीरसेन	३२ णिज्जामय	३३ जससेन
३४ हर्षसेन	३५ जयसेन	३६ जग्रपाल गणि
३७ देवर्षि	३८ भीमसेन	३९ कर्मसिंह
४० राजर्षि	४१ देवसेन	४२ शंकरसेन
४३ लक्ष्मीलाभ	४४ रागर्षि	४५ पद्माचार्य
४६ हरिशर्म्मा	४७ कुशलप्रभ	४८ उन्मूनाचार्य
४९ जयसेन	५० विजयर्षि	५१ श्री देवचन्द्र
५२ सूरसेन	५३ महासिंह	५४ महासेन
५५ जयराज	५६ गजसेन	५७ मित्रसेन
५८ विजयसिंह	५९ शिवराज	६० लालाचार्य

६१ ज्ञानाचार्य	६२ भाणा	६३ रूपाचार्य
६४ जीवर्षि	६५ तेजराज	६६ हरजी
६७ जीवराज	७८ धनजी	६९ विस्सणायरियो
७० मनजी	७१ नाथूरामाचार्य	७२ लक्ष्मीचन्द्र
७३ छित्तरमल	७४ राजाराम	७५ उत्तमचन्द
७६ रामलाल	७७ फकीरचन्द	७८ पुप्फभिक्खू
७९ सुमित्त	८० जिणचन्द	

(२०११ में जिनचन्द्र ने यह पट्टावली बनाई)

श्रमण-सुरतरु की स्थानकवासि-पट्टावली (१)

पुप्फभिक्खु की पट्टावली लिखने के बाद स्थानकवासी मुनि श्री मिश्री-मलजी (मरुधर केसरी) निर्मित "श्रमणसुरतरु" नामक एक पट्टक हमारे देखने में आया, उसमें दी गई सुधर्मा स्वामी से ज्ञानजी ऋषि पर्यन्त के ६७ नाम पट्टावली में लिखे गए हैं। तब पुप्फभिक्खु की नूतन पट्टावली में ज्ञानजी ऋषि को "ज्ञानाचार्य" नाम दिया है, और ६१ वां पट्टधर बताया है, इस प्रकार इन दो पट्टावलियों में ही छः नाम कम ज्यादह आते हैं और जो नाम लिखे गए हैं उनमें से छः नाम दोनों में एक से मिलते हैं। वे ये हैं –

२८	आ०	वीरभद्रजी
३१	आ०	वीरसेनजी
३६	आ०	जगमालजी
३८	आ०	भीमसेनजी
४०	आ०	राजर्षिजी
४१	आ०	देवसेनजी

उपर्युक्त छः आचार्यों के नाम और नम्बर दोनों पट्टावलियों में एक से मिलते हैं' तब शेष देवर्द्धिगणि के बाद के ३४ नामों में से एक भी नाम एक दूसरे के साथ मेल नहीं खाता, इससे प्रमाणित होता है कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के बाद के ज्ञानजी यति तक के सभी नाम कल्पित हैं, जिनकी पहिचान यह है कि इन सब नामों के अन्त में 'जी' और 'महाराज' शब्द प्रयुक्त किए गए हैं, 'जी' कारान्त और 'महाराजान्त' नाम मौलिक नहीं है,

यह बात नामों की रचना और उनके प्रयोगों से ही पाठकगण अच्छी तरह समझ सकने हैं ।

सुधर्मा से देवर्द्धिगणि तक के २८ नामों में भी लेखक महोदय ने अनेक स्थानों में अशुद्धियां घुसेड़ दी है, इनके दिये हुए देवर्द्धिगणि क्षमा-श्रमण तक के नाम वास्तव में किसी की गुरु-परम्परा के नाम नहीं हैं, किन्तु ये माथुरी वाचनानुयायी वाचक-वंश के नाम है, जिसका खरा क्रम निम्न प्रकार का है –

६ श्री आर्य महागिरि	१० श्री बलिस्सहसूरि
११ ,, स्वास्तिसूरि	१२ ,, श्यामार्य
१३ ,, जीतधर-शाण्डिल्य	१४ ,, आर्य समुद्र
१५ ,, आर्य मंगू	१५ ,, आर्य नन्दिल
१७ ,, नागहस्ती	१८ ,, रेवती नक्षत्र
१६ ,, ब्रह्मद्वीपकसिंह	२० ,, स्कन्दिल
२१ ,, हिमवान्	२२ ,, नागार्जुन
२३ ,, गोविन्द वाचक	२४ ,, भूतदिन्न
२५ ,, लोहित्य	२६ ,, दूष्यगणि
२७ ,, देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण	

'श्रमणसुरतरु' के लेखक महाशय ने ११ वें नम्बर में सुहस्तीसूरि को रखा है, जो ठीक नहीं, क्योंकि महागिरि के बाद उनके अनुयोग-धर शिष्यों के नाम ही आते हैं, सुहस्ती का नहीं ।

१२ वें नम्बर में आचार्यश्री शान्ताचार्य लिखा है, इसी लाइन में नन्दिलाचार्य नाम लिखा है, वे भी यथार्थ नहीं हैं, खरा नाम स्वात्याचार्य है । सुप्रतिबुद्ध का नाम वाचक-परम्परा में नहीं है, किन्तु सुहस्तिसूरि की की शिष्य-परम्परा में है और नन्दिल का नाम १६ वें नम्बर में आता है ।

१३ वां नम्बर स्कन्दिलाचार्य का दिया है, जो गलत है । १३ वें नम्बर के श्रुतधर जीतश्रुतधर शाण्डिल्य हैं, स्कन्दिल नहीं । स्कन्दिलाचार्य का

नम्बर २० वां है, १३ वां नहीं, कोष्टक में आर्यदिन्न का नाम भी गलत लिखा है, आर्यदिन्न आर्य सुहस्ती की परम्परा के स्थविर थे और इनका पट्ट नम्बर ११ वां था, १३ वां नहीं।

१४ वें नम्बर में जीतधर स्वामी का नाम लिखा है, जो ठीक नहीं है, क्योंकि जीतधर विशेष नाम नहीं है, किन्तु १३ वें नम्बर के आर्य शाण्डिल्य का विशेषण मात्र है।

१५ वें नम्बर में आर्य समुद्र का नाम दिया है पर आर्य समुद्र १४ वें नम्बर में हैं और आगे कोष्टक के श्री वज्रधर स्वामी ऐसा नाम लिखा है, यह भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि इस नाम के कोई भी स्थविर हुए ही नहीं हैं।

१६ वें नम्बर के आगे "वयर-स्वामी" लिखा है, जो गलत है, इस नम्बर के नन्दिलाचार्य स्थविर ही हुए हैं, इनके आगे वज्रशाख १, चन्द्र-शाखा २, निवृत्तिशाखा ३ और ४ विद्याधरीशाखा नाम लिखे हैं, ये भी यथार्थ नहीं हैं। वज्रस्वामी से वाज्रीशाखा जरूर निकली है, "चन्द्र" नाम कुल का है शाखा का नहीं इसी तरह "निवृति" नहीं किन्तु "निर्वृति" नाम है और वह नाम शाखा का नहीं "कुल" का है, इसी तरह "विद्याधर" भी "कुल" का नाम है। शाखा का नहीं।

१७ वें नम्बर के आचार्य "रेवतगिरि" "श्री आर्यरक्षित" और श्री "धरणीधर" इनमें से पहले और तीसरे नाम के कोई श्रुतधर हुए ही नहीं है और आर्यरक्षित हुए हैं, तो इनका नम्बर २० वां है, १७ वां नहीं।

१८ वें और १९ वें नम्बर के आगे आचार्य "श्री सिंहगणि" और "स्थविर-स्वामी" ये नाम लिखे हैं, परन्तु दोनों नाम गलत है, क्योंकि इन नामों के कोई श्रुतधर हुए ही नहीं, सिंहगणि के आगे शिवभूति का नाम लिखा है, सो ठीक है परन्तु शिवभूति वाचक-वंश में नहीं किन्तु देवर्द्धिगणि की गुर्वावली में है, यह बात लेखक को समझ लेना चाहिए थी।

२० वें नम्बर में आचार्य शाण्डिल्य का नाम लिखा है, और कोष्टक में आर्य नागहस्ती एवं आर्य भद्र के नाम हैं, परन्तु ये शाण्डिलाचार्य श्रुतधर शाण्डिल्य नहीं, क्योंकि श्रुतधर शाण्डिल्य का नाम १३ वां है, जो पहले लेखक ने खन्दिलाचार्य के रूप में लिख दिया है। प्रस्तुत शाण्डिल्य आर्य नागहस्ती और आर्य भद्र ये तीनों नाम देवर्द्धिगणि की गुर्वावली के हैं और गुर्वावली में इनके नम्बर क्रमशः ३३, २२ और २० हैं, जिनको लेखक ने ऊटपटांग कहीं के कहीं लिख दिए हैं।

२५ वें नम्बर के आगे श्री लोहगणि नाम लिखा है, सो ठीक नहीं, शुद्ध नाम "लौहित्यगणि" है।

२६ नम्बर के आगे इन्द्रसेनजी लिखकर कोष्टक में दूष्यगणि लिखा है, वास्तव में "इन्द्रसेनजी" कोई नाम ही नहीं है, शुद्ध नाम "दूष्य-गणि" ही है।

जैनसंघ तीर्थयात्रा को जा रहा था। लौंकाशाह जहां अपने मत का प्रचार कर रहे थे वहां संघ पहुंचा और वृष्टि हो जाने के कारण संघ कुछ समय तक रुका। संघजन लौंका का उपदेश सुनकर "दयाधर्म के अनुयायी बन गए और संघ को आगे ले जाने से रुक गए," यह कल्पित कहानी स्थानकवासी सम्प्रदाय की अर्वाचीन पट्टावलियों में लिखी मिलती है; परन्तु न तो सिरोही स्टेट के अन्दर अहवाड़ा अथवा अर्हटवाड़ा नामक कोई गांव है, न इस कहानी की सत्यता ही मानी जा सकती है, तब अहवाड़ा में लौंका का जन्म बताने वाली बात सत्य कैसे हो सकती है। सं० १४७२ के कार्तिक सुदि १५ को गुरुवार होना पंचांग गणित के आधार से प्रमाणित नहीं होता, न उनके स्वर्गवास का समय ही १५४६ के चैत्र सुदि ११ को होना सिद्ध होता है।

उपर्युक्त दोनों संवत् मनघडन्त लिखे हैं, क्योंकि उन दोनों तिथियों में "एफेमेरिज" के आधार से लिखित वार नहीं मिलते। अब रही दीक्षा की बात सो लौंकागच्छ की किसी भी पट्टावली में लौंकाशाह के दीक्षा लेने की बात नहीं लिखी। प्रत्युत केशवजी ऋषि ने लौंका को अदीक्षित माना है,

तब २१ वीं सदी के स्थानकवासी श्रमणसंघ और "श्रमणसुरतरु" के लेखक मुनिजी को लौंकाशाह के जन्म, दीक्षा और स्वर्गारोहण के समय का किस ज्ञान से पता लगा, यह सूचित किया होता तो इस पर कुछ विचार भी हो सकता था। खरी बात तो यह है कि पट्टावली-लेखकों तथा लौंका-गच्छ को अपना गच्छ कहने वालों को लौंकाशाह को गृहस्थ मानने में संकोच होता था, इसलिये पंजाबी पट्टावली में से लौंकाशाह कों पहले से ही अदृश्य बना दिया था, अब मारवाड़ के श्रमणों को भी अनुभव होने लगा कि लौंकाशाह को साधु न मानला अपने गच्छ को एक गृहस्थ का चलाया हुआ गच्छ मानना है, इसी का परिणाम है कि 'श्रमणसुरतरु' के लेखक ने, लौंकाशाह को दीक्षा दिलाकर "अपने गच्छ को श्रमण प्रवर्तितगच्छ बताने की चेष्टा की है," कुछ भी करें, लौंका के अनुयायियों की परम्परा गृहस्थोपदिष्ट मार्ग पर चलने वाली है, वह इस प्रकार की कल्पित कहानियों के जोड़ने से आगमिक श्रमण-परम्पराओं के साथ जुड़ नहीं सकती।

प्रारम्भिक पट्टावलियों के विवरण में लौंकागच्छीय और स्थानक-वासियों की पट्टावलियों के सम्बन्ध में हम लिख आए है कि ये सभी पट्टा-वलियां छिन्नमूलक हैं। देवर्द्धिगणि क्षमा-श्रमण तक के २७ नामों से भी इनका एकमत्य नहीं है। किसी ने देवर्द्धिगणि क्षमा-श्रमण को आर्य-महागिरि की परम्परा के मानकर नन्दी की स्थविरावली में लिया है, तब किसी ने उन्हें आर्य-सुहस्ती की गुरु-परम्परा के स्थविर मानकर कल्पसूत्र की स्थविरावली में घसीटा है। वास्तव में दोनों प्रकार के लेखक देवर्द्धिगणि-क्षमा-श्रमण की परम्परा लिखने में मार्ग भूल गये हैं।

देवर्द्धिगणि-क्षमा-श्रमण के बाद के कतिपय स्थविरों को छोड़कर "प्रभुवीर पट्टावली" में उसके लेखक श्री मणिलालजी ने लौंकाशाह के गुरु तक के जो नाम लिखे हैं, वे लगभग सब के सब कल्पित हैं। उधर पंजाब के स्थानकवासियों की पट्टावली में जो नाम देवर्द्धिगणि के बाद १८ नामों को छोड़कर शेष लिखे गए हैं, उनमें से भी अधिकांश कल्पित ही ज्ञात होते हैं, क्योंकि आधुनिक स्थानकवासी साधु उनमें के अनेक नामों को भिन्न

प्रकार से लिखते हैं। पंजाब की पट्टावलियों में देवर्द्धिगणि-क्षमाश्रमण के बाद १८ नाम छोड़कर ज्ञानजी यति तक के जो नाम मिलते हैं, उनसे भी नहीं मिलने वाले आधुनिक स्थानकवासी पंजाबी साधु श्री फूलचन्दजी द्वारा सम्पादित "सुत्तागमे" नामक पुस्तक के दूसरे भाग के प्रारम्भ में दी गई पट्टावली में उपलब्ध होते हैं, जो १८ नाम अन्य पट्टावलियों में नहीं मिलते, वे भी इसमें लिखे मिलते हैं।

पुप्फभिक्खू की पट्टावली (६)

२७ देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण
२८ वीरभद्र
२९ शिवभद्र
३० जसवीर
३१ वीरसेन
३२ णिज्जामय
३३ जससेन
३४ हर्षसेन
३५ जयसेन
३६ जयपाल गणि
३७ देवर्षि
३८ भीमसेन
३९ कर्मसिंह
४० राजर्षि
४१ देवसेन
४२ शंकरसेन
४३ लक्ष्मीलाभ
४४ रामर्षि
४५ पद्माचार्य
४६ हरिशर्म्मा
४७ कुशलप्रभ
४८ उन्मनाचार्य
४९ जयसेन
५० त्रिजयर्षि
५१ देवचन्द्र
५२ सूरसेन
५३ महासिंह
५४ महासेन
५५ जयराज
५६ गजसेन
५७ मित्रसेन
५८ विजयसिंह
५९ शिवराज
६० लालाचार्य
६१ ज्ञानाचार्य
६२ भाणाचार्य
६३ रूपाचार्य
६४ जीवर्षि
६५ तेजराज
६६ हरजी
६७ जीवराज
६८ धनजी
६९ विस्सरणायरिओ
७० मनजी
७१ नाथूरामाचार्य
७२ लक्ष्मीचन्द्र
७३ छितरमल
७४ राजाराम
७५ उत्तमचन्द
७६ रामलाल
७७ फकीरचन्द
७८ पुष्पभिक्षु
७९ सुमित्र
८० जिनचन्द्र

उपर्युक्त ८० नामों में से देवर्द्धिगणि पर्यन्त के २७ नाम ऐतिहासिक हैं। इनमें भी कतिपय नाम अस्त-व्यस्त और अशुद्ध बना दिये हैं। २७ में से ११वां, १४वां, २०वां, २१वां, २५वां और २६ वां, ये सात नाम वास्तव

में देवर्द्धिगणि की वाचक-वंशावली के नहीं हैं और न देवर्द्धि की गुरु-परम्परा के ये नाम हैं, तथा २८ से लेकर ६० तक ये नाम कल्पित हैं। इन नामों के आचार्यों या साधुओं के होने का उल्लेख माथुरी या वालभी स्थविरावली में अथवा तो अन्य किसी पट्टावली स्थविरावली में नहीं है। ६१वां ज्ञानाचार्य वास्तव में वृद्धपोषधशालिक आचार्य ज्ञानचन्द्रसूरि हैं। इसके आगे के ६२ से लेकर ८० तक के १८ नामों में प्रारम्भ के कतिपय नाम लौंकागच्छ के ऋषियों के हैं, तब अन्तिम कतिपय नाम पुष्पभिक्षु के बड़ेरों के और उनके शिष्य-प्रशिष्यों के हैं।

पंजाब के स्थानकवासियों की पट्टावली जो "ऐतिहासिक नोंध" पृ० १६३ में दी है उसमें देवर्द्धिगणि के बाद के १८ नाम छोड़कर ४६ से लगाकर निम्न प्रकार से नाम लिखे हैं—

४६ हरिसेन	४७ कुशलदत्त	४८ जीवनर्षि
४९ जयसेन	५० विजयर्षि	५१ देवर्षि
५२ सूरसेन	५३ महासेन	५४ जयराज
५५ गजसेन	५६ मिश्रसेन	५७ विजयसिंह
५८ शिवराज	५९ लालजीमल्ल	६० ज्ञानजी यति

पंजाबी साधु फूलचन्दजी ने अपनी नवीन पट्टावली में देवर्द्धिगणि-क्षमाश्रमण के बाद जो २८ से ४५ तक के नम्बर वाले नाम लिखे हैं वे तो कल्पित हैं ही, परन्तु उसके बाद के भी ४६ से ६० नम्बर तक के १५ नामों में से ७ नाम फूलचन्दजी की पट्टावली के नामों से नहीं मिलते। ४६वां पट्टधर का नाम पंजाबी पट्टावली में हरिसेन है, तब फूलचन्दजी ने उसके स्थान पर हरिशर्म्मा लिखा है। पं० पट्टावली में ४७वां नाम कुशलदत्त है, तब फूलचन्दजी ने उसे कुशलप्रभ लिखा है। पं० पट्टावली में ४८वां नाम जीवनर्षि है, तब फूलचन्दजी ने उसके स्थान पर "उमणायरियो" लिखा है। ५१वां नाम पं० पट्टावली में "देवर्षि" है तब फूलचन्दजी ने "देवचन्द्र" लिखा है। पं० पट्टावली में ५३वां नाम "महासेन" मिलता है तब फूलचन्दजी ने "महासिंह" लिखा है। पं० पट्टावली में ५४वां नाम

जयराज है तब फूलचन्दजी ने उस नम्बर के साथ "महासेन" लिखा है और "जयराज" को नम्बर ५५वां में लिया है, और पं० पट्टावली में ५५वें नंबर के साथ गजसेन का नाम लिखा है। पं० पट्टावली में ५६वां पट्टधर "मिश्रसेन" बताया है, तब फूलचन्दजी ने इन्हीं को "मित्रसेन" लिखा है और नम्बर ५७वां दिया है। पं० पट्टावली में ५७वां नाम "विजयसिंह" का है, तब फूलचन्दजी ने विजयसिंह को ५८वें नम्बर में रखा है। पं० पट्टावली में ५८-५९-६० नम्बर क्रमशः शिवराज, लालजीमल्ल, और ज्ञानजी यति को दिए है, तब फूलचन्दजी ने इन्हीं को ५९-६०-६१ नम्बर में रखा है।

उपर्युक्त नामों की तुलना से जाना जा सकता है कि पंजाबी साधु श्री फूलचन्दजी सूत्रों के पाठों के परिवर्तन में और नये नाम गढने में सिद्ध-हस्त प्रतीत होते हैं। इन्होंने स्थविरों के नामों में ही नहीं आगमों के पाठों में भी अनेक परिवर्तन किये हैं और कई पाठ मूल में से हटा दिये हैं। इस हकीकत की जानकारी पाठकगण आगे दिये गए शीर्षकों को पढ़कर हासिल कर सकते हैं।

जैन आगमों में काट-छांट :

लोंकामत का प्रादुर्भाव विक्रम सं० १५०८ में हुआ था और इस मत में से १८वीं शती के प्रारम्भ में अर्थात् १७०९ में मुख पर मुहपत्ति बांधने वाला स्थानकवासी सम्प्रदाय निकला, इत्यादि बातों का विस्तृत वर्णन लोंकागच्छ की पट्टावली में दिया जा चुका है। शाह लोंका ने तथा उनके अनुयायी ऋषियों ने मूर्तिपूजा का विरोध अवश्य किया था, परन्तु जैन आगमों में काटछांट करने का साहस किसी ने नहीं किया था।

सर्वप्रथम सं० १८६५ में स्थानकवासी साधु श्री जेठमलजी ने "समकितसार" नामक ग्रन्थ लिखकर मूर्तिपूजा के समर्थन में जो आगमों के पाठ दिये थे उनकी समालोचना करके अर्थ-परिवर्तन द्वारा अपनी मान्यता

का बचाव करने की चेष्टा की, परन्तु मूल-सूत्रों में परिवर्तन अथवा काट-छांट करने का कातर प्रयास किसी ने नहीं किया।

उसके बाद स्थानकवासी साधु श्री अमोलकऋषिजी ने ३२ सूत्रों को भाषान्तर के साथ छपवाकर प्रकाशित करवाया। उस समय भी ऋषिजी ने कहीं-कहीं शब्द परिवर्तन के सिवा पाठों पर कटार नहीं चलाई थी।

विक्रम की २१ वीं शती के प्रथम चरण में उन्हीं ३२ सूत्रों को "सुत्तागमे" इस शीर्षक से दो भागों में प्रकाशित करवाने वाले श्री पुप्फ-भिक्खू (श्री फूलचन्दजी) ने उक्त पाठों को जो उनकी दृष्टि में प्रक्षिप्त थे निकालकर ३२ आगमों का संशोधन किया है। उन्होंने जिन-जिन सूत्रों में से जो-जो पाठ निकाले हैं उनकी संक्षिप्त तालिका नीचे दी जाती है –

(१) श्री भगवती सूत्र में से शतक २० । ३०९ । सू० ६८३ – ६८४ । भगवतीसूत्र शतक ३ । ३०२ में से।
भगवतीसूत्र के अन्दर जंघाचारण विद्याचारणों के सम्बन्ध में नन्दीश्वर मानुषोत्तर पर्वत तथा मेरु पर्वत पर जाकर चैत्यवन्दन करने के पाठ मूल में से उड़ा दिए गए हैं।

(२) ज्ञाताधर्म-कथांग में द्रौपदी के द्वारा की गई जिनपूजा सम्बन्धी सारा का सारा पाठ हटा दिया है।

(३) स्थानांग सूत्र में आने वाले नन्दीश्वर के चैत्यों का अधिकार हटाया गया है।

(४) उपासक-दशांग सूत्र के आनन्द श्रावकाध्ययन में से सम्यक्त्वोच्चारण का आलापक निकाल दिया है।

(५) विपाकश्रुत में से मृगारानी के पुत्र को देखने जाने के पहले मृगादेवी ने गौतम स्वामी को मुंहपत्ति से मुंह बांधने की सूचना करने वाला पाठ उड़ा दिया है।

(६) औपपातिक सूत्र का मूल पाठ जिसमें अम्बडपरिव्राजक के सम्यक्त्व उचरने का अधिकार था, वह हटा दिया गया है, क्योंकि उसमें

"अरिहन्तचैत्य" और "अन्य तीर्थिक परिगृहीत अरिहन्त चैत्यों" का प्रसंग आता था ।

(७) राजप्रश्नीय सूत्रों में सूर्याभदेव के विमान में रहे हुए सिद्धायतन में जिनप्रतिमाओं का वर्णन और सूर्याभदेव द्वारा किये हुए उन प्रतिमाओं के पूजन का वर्णन सम्पूर्ण हटा दिया है ।

(८) जीवाभिगम सूत्र में किये गए विजयदेव की राजधानी के सिद्धायतन तथा जिनप्रतिमाओं का, नन्दीश्वर द्वीप के जिनचैत्यों का रुचक तथा कुण्डल द्वीप के जिनचैत्यों का, वर्णन निकाल दिया गया है। श्री जीवाभिगम की तीसरी प्रतिपत्ति के द्वितीय उद्देश में विरुद्ध जाने वाला जो पाठ था उसको हटा दिया है ।

(९) इसी प्रकार जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि सूत्रों में आने वाले सिद्धायतन कूटों में से "आयतन" शब्द को हटाकर "सिद्धकूट" ऐसा नाम रक्खा है ।

(१०) वहार-सूत्र के प्रथम उद्देशक के ३७ वें सूत्र के द्वितीय भाग में आने वाले "भाविजिनचेइअ" शब्द को हटा दिया है ।

उपर्युक्त सभी पाठ स्थानकवासी साधु धर्मसिंहजी से लगाकर बीसवीं सदी के स्थानकवासी साधु श्री अमोलक ऋषिजी ने ३२ सूत्रों को भाषान्तर के साथ छपवाकर प्रकाशित करवाया तब तक सूत्रों में विद्यमान थे ।

गतवर्ष सं० २०१९ के शीतकाल में जब हमने श्री पुप्फभिक्खू सम्पादित "सुत्तागमे" नामक जैनसूत्रों के दोनों अंश पढ़े तो ज्ञात हुआ कि सूत्रों के इस नवीन प्रकाशन में श्री फूलचन्दजी (पुप्फभिक्खू) ने बहुत ही गोलमाल किया है । सूत्रों के पाठ के पाठ निकालकर मूर्तिविरोधियों के लिए मार्ग निष्कण्टक बनाया है । मैंने प्रस्तुत सूत्रों के सम्पादन में की गई काट-छांट के विषय में स्थानकवासी श्री जैनसंघ सहमत है या नहीं, यह जानने के लिए एक छोटा सा लेख तैयार कर "जिनवाणी" कार्यालय जयपुर (राजस्थान) तथा चांदनी चौक देहली नं० ६ "जैनप्रकाश" कार्यालय को

एक-एक नकल प्रकाशनार्थ भेजी, परन्तु उक्त लेख स्थानकवासी एक भी पत्रकार ने नहीं छापा, तब इसकी नकल भावनगर के "जैन" पत्र के ऑफिस को भेजी और वह लेख जैन के "भगवान् महावीर-जन्म कल्याणक विशेषाङ्क" में छपकर प्रकट हुआ, हमारा वह संक्षिप्त लेख निम्नलिखित था।

श्री स्थानकवासी जैनसंघ से प्रश्न :

पिछले लगभग अर्द्धशताब्दी जितने जीवन में अनेक विषयों पर गुजराती तथा हिन्दी भाषा में मैंने अनेक लेख तथा निबन्ध लिखे हैं, परन्तु श्री स्थानकवासी जैनसंघ को सम्बोधन करके लिखने का यह पहला ही प्रसंग है, इसका कारण है "श्री पुप्फभिक्खू" द्वारा संशोधित और सम्पादित "सुत्तागमे" नामक पुस्तक का अध्ययन।

पिछले कुछ वर्षों से प्राचीन जैन साहित्य का स्वाध्याय करना मेरे लिए नियम सा हो गया है, इस नियम के फलस्वरूप मैंने "सुत्तागमे" के दोनों अंश पढ़े, पढ़ने से मेरे जीवन में कभी न होने वाला दुःख का अनुभव हुआ।

मेरा झुकाव इतिहास-संशोधन की तरफ होने से "श्री लौंकागच्छ" तथा "श्री बाईस सम्प्रदाय" के इतिहास का भी मैंने पर्याप्त अवलोकन किया है। लौंकाशाह के मत-प्रचार के बाद में लिखी गई अनेक हस्तलिखित पुस्तकों से इस सम्प्रदाय की पर्याप्त जानकारी भी प्राप्त की, फिर भी इस विषय में कलम चलाने का विचार कभी नहीं किया, क्योंकि संप्रदायों के आपसी संघर्ष का जो परिणाम निकलता है उसे मैं अच्छी तरह जानता था। लौंकाशाह के मौलिक मन्तव्य क्या थे, उसको उनके अनुयायियों के द्वारा १६वीं शताब्दी के अन्त में लिखित एक चर्चा-ग्रन्थ को पढ़ कर मैं इस विषय में अच्छी तरह वाकिफ हो गया था। उस हस्तलिखित ग्रन्थ के बाद में बनी हुई अनेक इस गच्छ की पट्टावलियों तथा अन्य साहित्य का भी मेरे पास अच्छा संग्रह है। स्थानकवासी साधु श्री जेठमलजी द्वारा संदृब्ध "समकितसार" और इसके उत्तर में श्री विजयानन्दसूरि-लिखित "सम्यक्त्व-

शल्योद्वार" पुस्तक तथा श्री अमोलकऋषिजी द्वारा प्रकाशित ३२ सूत्रों में से भी कतिपय सूत्र पढ़े थे। यह सब होने पर भी स्थानकवासी सम्प्रदाय के विरुद्ध लिखने की मेरी भावना नहीं हुई। यद्यपि कई स्थानकवासी विद्वानों ने अपने मत के बाधक होने वाले सूत्र-पाठों के कुछ शब्दों के अर्थ जरूर बदले थे, परन्तु सूत्रों में से बाधक पाठों को किसी ने हटाया नहीं था। लौंकागच्छ की उत्पत्ति से लगभग पौने पांच सौ वर्षों के बाद श्री पुप्फभिक्खू तथा इनके शिष्य-प्रशिष्यों ने उन बाधक पाठों पर सर्वप्रथम कैंची चलाई है, यह जान कर मन में अपार ग्लानि हुई। मैं जानता था कि स्थानकवासी सम्प्रदाय के साथ मेरा सद्भाव है, वैसा ही बना रहेगा, परन्तु पुप्फभिक्खू के उक्त कार्य से मेरे दिल पर जो आघात पहुँचा है, वह सदा के लिए अमिट रहेगा।

भगवतीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशांग, विपाकसूत्र, औपपातिक, राजप्रश्नोय ,जोवाभिगम, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, व्यवहारसूत्र आदि में जहां-जहां जिनप्रतिमा-पूजन जिनचैत्यवन्दन, सिद्धायतन, मुंहपत्ति बांधने के विरुद्ध जो जो सूत्रपाठ थे, उनका सफाया करके श्री भिक्खूजी ने स्थानकवासी सम्प्रदाय को निरापद बनाने के लिए एक अप्रामाणिक और कापुरुषोचित कार्य किया है, इसमें कोई शंका नहीं, परन्तु इस कार्य के सम्बन्ध में मैं यह जानना चाहता हूं कि "सुत्तागमे" छपवाने में सहायता देने वाले गृहस्थ और सुत्तागमें पर अच्छी-अच्छी सम्मतियां प्रदान करने वाले विद्वान् मुनिवर्य मेरे इस प्रश्न का उत्तर देने का कष्ट करेंगे कि इस कार्य में वे स्वयं सहमत हैं या नहीं?

उपर्युक्त मेरा लेख छपने के बाद "अखिल भारत स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेन्स" के माननीय मन्त्री और इस संस्था के गुजराती साप्ताहिक मुखपत्र "जैन-प्रकाश" के सम्पादक श्रीयुत् खीमचन्दभाई मगनलाल वोहरा द्वारा "जैन" पत्र के सम्पादक पर तारीख १-५-६२ को लिखे गये पत्र में लिखा था कि – "सुत्तागमें" पुस्तक श्री पुप्फभिक्खू महाराज का खानगी प्रकाशन है, जिसके साथ "श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ" अथवा "अखिल भारतीय स्थानकवासी जैन कॉन्फ्रेन्स" का कोई सम्बन्ध

नहीं है, सो जानिएगा। "इस पुस्तक के प्रकाशन के सम्बन्ध में श्रमणसंघ के अधिकारी मुनिराजों ने तथा कॉन्फ्रेन्स ने श्री पुप्फभिक्खू महाराज के साथ पत्र व्यवहार भी किया है, इसके अतिरिक्त यह प्रश्न श्रमणसंघ के विचारणीय प्रश्नों पर रक्खा गया है और श्रमणसंघ के अधिकारी मुनिराज थोड़े समय में मिलेंगे तब इस पुस्तक प्रकाशन के विषय में आवश्यक निर्णय करने का सोचा है।"

कुछ समय के बाद पत्र में लिखे मुजब ता० ७-६-६२ के "जैन-प्रकाश" में स्थानकवासी श्रमणसंघ की कार्यवाहक समिति ने "सुत्तागम" पुस्तक को अप्रमाणित ठहराने वाला नीचे लिखा प्रस्ताव सर्वानुमति से पास किया --

"मन्त्री श्री फूलचन्दजी महाराज ने "सुत्तागमे" नामक पुस्तक के प्रकाशन में आगमों में कतिपय मूल पाठ निकाल दिए हैं, वह योग्य नहीं। शास्त्र के मूल पाठों में कमी करने का किसी को अधिकार नहीं है, इसलिए "सुत्तागमे" नामक सूत्र के प्रस्तुत प्रकाशन को यह कार्यवाहक समिति अप्रमाणित उद्‌घोषित करती है।"

उपर्युक्त स्थानकवासी श्रमणसंघ की समिति का प्रस्ताव प्रसिद्ध होने के बाद इस विषय में अधिक लिखना ठीक नहीं समझा और चर्चा वहीं स्थगित हो गई।

पट्टावली के विवरण में श्री पुप्फभिक्खू के "सुत्तागमे" नामक सूत्रों के प्रकाशन के सम्बन्ध में पुप्फभिक्खूजी द्वारा किये गये पाठ परिवर्तन के सम्बन्ध में कुछ लिखना आवश्यक समझ कर ऊपर निकाले हुए सूत्रपाठों की तालिका दी है। पुप्फभिक्खूजी का पुरुषार्थ इतना करके ही पूरा नहीं हुआ है, इन्होंने सूत्रों में से चैत्य शब्द को तो इस प्रकार लुप्त कर दिया है कि सारा प्रकाशन पढ़ लेने पर भी शायद ही एकाध जगह चैत्य शब्द दृष्टिगोचर हो जाये[१]।

---

१. उत्तराध्ययन-सूत्र के महानियंठिज्ज नामक बीसवें अध्ययन की दूसरी गाथा के चतुर्थ "मण्डि कुच्छिसि चेइए" इस चरण में "चैत्य" शब्द रहने पाया है, वह भी भिक्खूजी

भिक्खूजी की चैत्य शब्द पर इतनी अब कृपा कैसे हुई यह समझ में नहीं आता, मन्दिर अथवा मूर्तिवाचक "चैत्य" शब्द को ही काट दिया होता तो बात और थी। पर आपने चुन-चुन कर "गुणशिलकचैत्य," "पूर्णभद्रचैत्य," और चौबीस तीर्थङ्करों के "चैत्यवृक्ष" आदि जो कोई भी चैत्यान्त शब्द सूत्रों में आया, उसको नेस्तनाबूद कर दिया। इनके पुरोगामी ऋषि जेठमलजी आदि "चैत्य" शब्द को "व्यन्तर का मन्दिर" मानकर इसको निभाते थे, उनके बाद के भी बीसवीं शती तक के स्थानकवासी लेखक "चैत्यशब्द" का कहीं 'ज्ञान,' कहीं 'साधु,' कहीं 'व्यन्तर देव का मन्दिर' मानकर सूत्रों में इन शब्दों को निभा रहे थे, परन्तु "श्री पुप्फ-भिक्खूजी" को मालूम हुआ कि इन शब्दों के अर्थ बदलकर चैत्यादि शब्द रहने देना यह एक प्रकार की लीपापोती है। "चैत्यशब्द" जब तक सूत्रों में बना रहेगा तब तक मूर्तिपूजा के विरोध में लड़ना झगड़ना बेकार है, यह सोचकर ही आपने "चैत्य" "आयतन" "जिनघर" "चैत्यवृक्ष" आदि शब्दों को निकालकर अपना मार्ग निष्कण्टक बनाया है। ठीक है, इनकी समझ से तो यह एक पुरुषार्थ किया है, परन्तु इस करतूत से इनके सूत्रों में जो नवीनता प्रविष्ट हुई है, उसका परिणाम भविष्य में ज्ञात होगा।

पुप्फभिक्खूजी ने पूजा-विषयक सूत्र-पाठों, मन्दिरों और मूर्तिविषयक शब्दों को निकालकर यह सिद्ध किया है, कि इनके पूर्ववर्ती शाह लौंका, धर्मसिंह, ऋषि जेठमलजी और श्री अमोलक ऋषिजी आदि शब्दों का अर्थ बदलकर मूर्तिपूजा का खण्डन करते थे, वह गलत था।

"चैत्य शब्द" का वास्तविक अर्थ :

आजकल के कतिपय अदीर्घदर्शी विद्वान् "चैत्यशब्द" की प्रकृति "चिता" शब्द को मानते हैं और कहते हैं मरे मनुष्य को जहां पर जलाया

के प्रमाद से नहीं किन्तु निरुपायता से, क्योंकि "चेइए" इस शब्द के स्थान में रखने के लिए आपको दूसरा कोई रगणात्मक "चेइय" शब्द का पर्याय नहीं मिलने से चैत्य शब्द कायम रखना पड़ा और नीचे टिप्पण में "उज्जाणे" यह शब्द लिखना पड़ा।"

जाता था उस स्थान पर लोग चबूतरा आदि कुछ स्मारक बनाते थे, जो "चैत्य" कहलाता था। इस प्रकार "चिता" शब्द की निष्पत्ति बताने वाले विद्वान् व्याकरण-शास्त्र के अनजान मालूम होते हैं। "चिता" शब्द से "चैत्य" नहीं बनता पर "चैत" शब्द बनता है। आज से लगभग ५ हजार वर्ष पहले के वैदिक धर्म को मानने वाले सवर्ण भारतीय लोग अग्निपूजक थे, उन प्रत्येक के घरों में पवित्र अग्नि को रखने के तीन-तीन कुण्ड होते थे, उन कुण्डों में अग्नि की जो स्थापना होती थी उसको "अग्निचित्या" कहते थे। सैकड़ों वर्षों के बाद "अग्निचित्या" शब्द में से "अग्नि" शब्द तिरोहित होकर व्यवहार में केवल "चित्या" शब्द ही रह गया था। आज से लगभग २४०० वर्ष पहले के प्रसिद्ध वैयाकरण श्री पाणिनिऋषि ने अपने व्याकरण में व्यवहार में प्रचलित "चित्या" शब्द को ज्यों का त्यों रखकर उसको स्पष्ट करने वाला उसको पर्याय शब्द "अग्निचित्या" को उसके साथ जोड़कर "चित्याग्निचित्ये" ३। १ ॥ ३२, यह सूत्र बना डाला, इसी अग्निचयनवाचक "चित्या" शब्द से "चैत्य' शब्द की निष्पत्ति हुई, जिसका अर्थ होता है – "पवित्र अग्नि, पवित्र देवस्थान, पवित्र देवमूर्ति और पवित्र वृक्ष" इन सब अर्थों में "चैत्य" शब्द प्रचलित हो गया और आज भी प्रचलित है।

जिनचैत्य का अर्थ – जिन का पवित्र स्थान अथवा जिन की पवित्र प्रतिमा, यह अर्थ आज भी कोशों से ज्ञात होता है। जिस वृक्ष के नीचे बैठकर जिन ने धर्मोपदेश किया वह वृक्ष भी श्रीजिन चैत्य-वृक्ष कहलाने लगा और कोशकारों ने उसी के आधार से "चैत्य जिनौकस्तद्बिम्बं, चैत्यो जिनसभातरुः" इस प्रकार अपने कोशों में स्थान दिया।

कौटिल्य अर्थशास्त्र जो लगभग २३०० वर्ष पहले का राजकीय न्याय-शास्त्र है, उसमें भी अमुक वृक्षों को "चैत्यवृक्ष" माना है और उन पवित्र वृक्षों के काटने वालों तथा उसके आस-पास गन्दगी करने वालों के लिए दण्डविधान किया है।" नगर के निकटवर्ती भूमि-भागों को देवताओं के नामों पर छोड़कर उनमें अमुक देवों के मन्दिर बना दिये जाते थे और उन भूमि-भागों के नाम उन्हीं देवों के नाम से प्रसिद्ध होते थे। जैसे –

राजगृह नगर के ईशानदिक्कोण में "गुणशिलक" नामदेव का स्थान होने से वह सारा भूमिभाग "गुणशिलक चैत्य" कहलाता था। इसी प्रकार चम्पा-नगरी के ईशान दिशा-भाग में "पूर्णभद्र" नामक देव का स्थान था जो "पूर्णभद्र चैत्य" के नाम से प्रसिद्ध हो गया था और उस सारे भूमिभाग को देवता-अधिष्ठित मानकर उस स्थान की लकड़ी तक लोग नहीं काटते थे।

इसी प्रकार प्राचीनकाल के ग्रामों, नगरों के बाहर तत्कालीन भिन्न-भिन्न देवों के नामों से भूमि-भाग छोड़ दिए जाते थे और वहां उन देवों के स्थान बनाए जाते थे, जो चैत्य कहलाते थे। आजकल भी कई गांवों के बाहर इस प्रकार के भूमिभाग छोड़े हुए विद्यमान हैं। आजकल इन मुक्त भूमिभागों को लोग "उण" अर्थात् "उपवन" इस नाम से पहिचानते हैं।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से पाठकगण समझ सकेंगे कि "चैत्यशब्द" "साधुवाचक" अथवा "ज्ञानवाचक" न कभी था न आज ही है। क्योंकि चैत्य शब्द की उत्पत्ति पूजनीय अग्निचयन वाचक "चित्या" शब्द से हुई है, न कि "चिता" शब्द से अथवा "चिति संज्ञाने" इस धातु से। इस प्रकृतियों से "चैत" "चित्त" "चैतस्" शब्द बन सकते हैं, "चैत्य-शब्द" नहीं। श्री पुप्फभिक्खू की समझ में यह बात आ गई कि शब्दों का अर्थ बदलने से कोई मतलब हल नहीं हो सकता। पूजनीय पदार्थ-वाचक "चैत्य" शब्द को सूत्रों में से हटाने से ही अमूर्तिपूजकों का मार्ग निष्कण्टक हो सकेगा।

श्री पुप्फभिक्खू अपने प्रकाशन के प्रथम अंश के प्रारम्भ में "सूचना" इस शीर्षक के नीचे लिखते हैं—

"यह प्रकाशन मेरे धर्मगुरु धर्माचार्य साधुकुल-शिरोमणि १०८ श्री-फकीरचन्दजीमहाराज (स्वर्गीय) के धारणा-व्यवहारानुसार है।"

पुप्फभिक्खूजी की इस सूचना में "धारणा-व्यवहार" शब्द का प्रयोग किस अर्थ में हुआ है यह तो प्रयोक्ता ही जाने, क्योंकि "धारणा-व्यवहार" शब्द प्रायश्चित्त विषयक पांच प्रकार के व्यवहारों में से एक का वाचक है।

शास्त्र के प्रकाशन में प्रायश्चित संबन्धी व्यवहार का कोई प्रयोजन नहीं होता, फिर भी आपने इसका प्रयोग किया है। यदि "हमारे गुरु की धारणा यह थी कि चैत्यादि-वाचक शब्द-विशिष्ट पाठों को निकालकर सूत्रों का सम्पादन करना" यह धारणा व्यवहार के अर्थ में अभिप्रेत है तो जिनके विशेषणों से पौने दो पृष्ठ भरे है वे विशेषण अपार्थक हैं और यदि वे लेखक के कथनानुसार विद्वान् और गुणी थे तो सम्पादक ने उनकी "धारणा" का नाम देकर अपना बोझा हल्का किया है; क्योंकि गुणी और जिनवचन पर श्रद्धा रखने वाला मनुष्य जैनागमों में काट-छांट करने की सलाह कभी नहीं दे सकता। श्री भिक्खूजी के सम्पादन में सूत्रों की काफी काटछांट हुई है, इसकी जवाबदारी पुप्फभिक्खूजी अपने गुरुजी पर रक्खे या स्वयं जवाबदार रहें इस सम्बन्ध में हमको कोई सारांश निकालना नहीं है। पुप्फभिक्खूजी के समानधर्मी श्रमणसमिति ने इस प्रकाशन को अप्रमाणित जाहिर किया, इससे इतना तो हर कोई मानेगा कि यह काम भिक्षुजी ने अच्छा नहीं किया।

पुप्फभिक्खूजी ने अपने प्रस्तुत कार्य में सहायक होने के नाते अपने शिष्यि श्री जिनचन्द्र भिक्खू की अपने वक्तव्य में जो सराहना की है उसका मूल आधार निम्नलिखित गाथा है –

"दो पुरिसे धरइ धरा, अहवा दोहिंवि धारिश्रा धरणी।
उवयारे जस्स मई, उवयरिअं जो न फुसेई ॥"

अर्थात्;– पृथ्वी अपने ऊपर दो प्रकार के पुरुषों को धारण करती है उपकार बुद्धि वाले उपकारक को और उपकार को न भूलने वाले "कृतज्ञ" को अथवा दो प्रकार के पुरुषों से पृथ्वी धारण की हुई है। एक उपकारक पुरुष से और दूसरे उपकार को न भूलने वाले कृतज्ञ पुरुष से।

उपर्युक्त सुभाषित को गुरु-शिष्यों के पारस्परिक सहकार को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त करना शिष्टसम्मत है, या नहीं, इसका निर्णय हम शिष्ट वाचकों पर छोड़ते हैं।

श्री पुप्फभिक्खू; सुमित्तभिक्खू और जिणचन्दभिक्खू यह त्रितय "सुत्तागमे" के सम्पादन में एक दूसरे का सहकारी होने से आगे हम इनका उल्लेख "भिक्षुत्रितय" के नाम से करेंगे।

पुस्तक की प्रस्तावना में "आगमों की भाषा" नामक शीर्षक के नीचे लिखा है –

"देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने आगमों को लिपिबद्ध किया, इतने समय के बाद लिखे जाने पर भी भाषा की प्राचीनता में कमी नहीं आई।"

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय में भाषा की प्राचीनता में कमी नहीं आई, यह कहने वाले भिक्षुत्रितय को प्रथम प्राचीन और अर्वाचीन अर्द्धमागधी भाषा में क्या अन्तर है, यह समझ लेना चाहिए था। आगमों में आचारांग और सूत्रकृतांग हैं और आगमों में विपाक और प्रश्न व्याकरण भी हैं, इन सूत्रों की भाषाओं का भी पारस्परिक अन्तर समझ लिया होता तो वे "प्राचीनता में कमी नहीं हुई" यह कहने का साहस नहीं करते।

आचारांग तथा सूत्रकृतांग सूत्र आज भी अपने उसी मूल रूप में वर्तमान हैं, जो रूप उनके लिखे जाने के मौर्य्य-समय में था। इनके आगे के स्थानांग आदि सभी अंग सूत्रों में भिन्न-भिन्न वाचनाओं के समय में थोड़ा थोड़ा परिवर्तन और संक्षेप होता रहा है। स्थानांग आदि नव अंग सूत्रों में दूसरी वाचना के समय में स्कन्दिलाचार्य की प्रमुखता में सूत्रों का जो स्वरूप निर्धारित हुआ था, वह आज तक टिका हुआ है। देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय में जो पुस्तकालेखन हुआ उसमें मुख्यता माथुरी और वालभी वाचनानुगत सूत्रों में चलते हुए पाठान्तरों का समन्वय करने की प्रवृत्ति की थी। देवर्द्धिगणि ने तत्कालीन दोनों वाचनानुयायी श्रमणसंघों की सम्मति से सूत्रों का समन्वय किया था, तत्कालीन प्रश्नव्याकरण में १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न, १०८ प्रश्नाप्रश्न, जैसे अंगुष्ठ प्रश्नादि, बाहु-प्रश्नादि, आदर्श-प्रश्नादि के उत्तरों का निरूपण था। इनके अतिरिक्त दूसरे भी अनेक विचित्र विद्याओं के अतिशय थे उनको तिरोहित करके वर्तमानकालीन

पंचसंवर-पंचाश्रवमय प्रश्नव्याकरण बनाया और प्राचीन प्रश्न-व्याकरण के स्थान में रखा। भाषा की प्राचीनता अर्वाचीनता की मीमांसा करने वाला भिक्षुत्रितय यह बताएगा कि आचारांग, सूत्रकृतांग की भाषा में और आगे के नव अंगसूत्रों की भाषा में क्या अन्तर पड़ा है, और उनमें प्रयुक्त शब्दों तथा वाक्यों में कितना परिवर्तन हुआ है?

अंग्रेज विचारकों के अनुयायी बनकर जैन-आगमों की भाषा को महाराष्ट्रीय प्राकृत के असर वाली मानने के पहले उन्हें देशकाल-सम्बन्धी इतिहास जान लेना आवश्यक था। डा० हार्नेले जैसे अंग्रेजों की अपूर्ण शोध के रिपोर्टों को महत्त्व देकर जैन मुनियों के दक्षिण-देश में जाने की बात जो दिगम्बर भट्टारकों की कल्पनामात्र है, सच्ची मानकर जैन-आगमों में दाक्षिणात्य प्राकृत का असर मानना निराधार है। न तो मौर्य्य चन्द्रगुप्त के समय में जैनश्रमण दक्षिण प्रदेश में गए थे, न उनकी अर्द्धमागधी सौत्र भाषा में दक्षिण-भाषा का असर हुआ था। जो दिगम्बर विद्वान् कुछ वर्षों पहले श्रुतधर भद्रबाहु स्वामी के चन्द्रगुप्त के साथ दक्षिण में जाने की बात करते थे वे सभी आज मानने लगे हैं कि दक्षिण में जाने वाले भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त दूसरे थे, श्रुतधर भद्रबाहु और मौर्य्य-सम्राट चन्द्रगुप्त नहीं, क्योंकि दिगम्बरों के ग्रन्थों में भद्रबाहु का और चन्द्रगुप्त का दक्षिण में जाना उज्जैनी नगरी से बताया है, और उनका समय विक्रम की दूसरी शताब्दी में अनुमानित किया है। आज तो डा० ज्योतिप्रसाद जैन जैसे शायद ही कोई अति-श्रद्धालु दिगम्बर विद्वान् श्रुतकेवली भद्रबाहु के दक्षिण में जाने की बात कहने वाले मिलेंगे। श्रवणबेल्गोल आदि दिगम्बरों के प्राचीन तीर्थों के शिलालेखों के प्रकाशित होने के बाद अब विद्वानों ने यह मान लिया है कि दक्षिण में जाने वाले भद्रबाहु श्रुतकेवली नहीं किन्तु दूसरे ज्योतिषी-भद्रबाहु हो सकते हैं। इसका कारण उनके प्राचीन तीर्थों में से जो शिलालेख मिले हैं वे सभी शक की आठवीं शती और उसके बाद के हैं। हमारी खुद की मान्यता के अनुसार तो अधिक दिगम्बर साधुओं के दक्षिण में जाने सम्बन्धी दंतकथाएं सही हों, तो भी इनका समय विक्रम की छट्ठी शती के पहले का नहीं हो सकता। दिगम्बर-सम्प्रदाय की ग्रंथप्रशस्तियों तथा पट्टावलियों में

जो प्राचीनता का प्रतिपादन किया गया है, वह विश्वासपात्र नहीं है। इस स्थिति में श्वेताम्बर-सम्प्रदाय मान्य आगमों पर दक्षिणात्य प्राकृत-भाषा का प्रभाव बताना कोई अर्थ नहीं रखता।

"सुत्तागमे" के प्रथम अंश की प्रस्तावना के १४ वें पृष्ठ की पादटीका में लेखक कहते हैं —

"इतना और स्मरण रहे कि इससे पहले पाटलीपुत्र का सम्मेलन और नागार्जुन क्षमाश्रमण के तत्त्वावधान में माथुरी-वाचना हो चुकी थी।"

लेखकों का नागार्जुन क्षमाश्रमण के तत्त्वावधान में माथुरीवाचना बताना प्रमादपूर्ण है, माथुरी-वाचना नागार्जुन वाचक के तत्वावधान में नहीं किन्तु आचार्य स्कन्दिल की प्रमुखता में मथुरा नगरी में हुई थी, इसलिये यह वाचना "माथुरी" तथा "स्कन्दिली" नामों से भी पहचानी जाती है।

एक आगम के नाम का निर्देश दूसरे में होने के सम्बन्ध में भिक्षु-त्रितय समाधान करता है — कि यह आगमों की प्राचीन शैली है। भिक्षुत्रय का यह कथन यथार्थ नहीं, भगवान् महावीर के गणधरों ने जब द्वादशांगी की रचना की थी, उस समय यह पद्धति अस्तित्व में नहीं थी। पूर्वाचार्यों ने माथ के भय से जब आगमों को संक्षिप्त रूप से व्यवस्थित किया, तब उन्होंने सुगमता के खातिर यह शैली अपनाई है, और जिस विषय का एक अंग अथवा उपांगसूत्र में विस्तार से वर्णन कर देते थे। उसको दूसरे में कट करके विस्तृत वर्णन वाले सूत्र का निर्देश कर देते थे। अंगसूत्रों में "पन्नवणा" आदि उपांगों के नाम आते हैं उसका यही कारण है।

जैन-साहित्य पर नई-नई आपत्तियाँ :

उपर्युक्त प्रस्तावनागत शीर्षक के नीचे भिक्षुत्रितय एक नया आविष्कार प्रकाश में लाता हुआ कहता है — "जिस काल में जैनों और बौद्धों के साथ हिन्दुओं का महान् संघर्ष था उस समय धर्म के नाम पर बड़े से

बड़े अत्याचार हुए। उस अन्धड़ में साहित्य को भी भारी धक्का लगा, फिर भी जैन समाज का शुभ उदय या आगमों का माहात्म्य समझो कि जिससे आगम बाल-बाल बचे और सुरक्षित रहे।"

भिक्षुत्रितय की उपर्युक्त कल्पना उसके फलद्रूप भेजे की है। इतिहास इसकी साखी नहीं देता कि बौद्ध और जैनों के साथ हिन्दुओं का कभी साहित्यिक संघर्ष हुआ हो। साहित्यिक संघर्ष की तो बात ही नहीं, किन्तु धार्मिक असहिष्णुता ने भी बौद्ध और जैनों के साथ हिन्दुओं को संघर्ष में नहीं उतारा। किसी प्रदेश विशेष में राज्यसत्ताधारी धर्मान्ध व्यक्ति-विशेष ने कहीं पर बौद्ध जैन अथवा दोनों पर किसी अंश तक ज्यादती की होगी तो उसका अपयश हिन्दू समाज पर थोपा नहीं जा सकता और उससे जैन-साहित्य को हानि होने की तो कल्पना ही कैसे हो सकती है। इस प्रकार की देश-स्थिति जैन-साहित्य को हानिकर मुसलमानों के भारत पर आक्रमण के समय में अवश्य हुई थी, परन्तु उससे केवल जैनो का ही नहीं, हिन्दू, जैन, बौद्ध आदि सभी भारतीय सम्प्रदायों को हुई थी। आगे भिक्षुत्रितय अपनी मानसिक खरी भावनाओं को प्रकट करता हुआ कहता है –

"इसके अनन्तर चैत्यवासियों का युग आया। उन्होंने चैत्यवास का जोर-शोर से आन्दोलन किया और अपनी मान्यता को मजबूत करने के लिए नई-नई बातें घड़नी शुरु कीं, जैसे कि अंगूठे जितनी प्रतिमा बनवा देने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। जो पशु मन्दिर की ईंटें ढोते हैं वे देवलोक जाते हैं आदि-आदि। वे यहीं तक नहीं रुके, बल्कि उन्होंने आगमों में भी अनेक बनावटी पाठ घुसेड़ दिये। जिस प्रकार रामायण में क्षेपकों की भरमार है, उसी प्रकार आगमों में भी।"

भिक्षुत्रितय चैत्यवासियों के युग की बात कहता है, तब हमको आश्चर्य के साथ हंसी आती है। युग किसे कहते हैं और "चैत्यवास" का अर्थ क्या है ? इन बातों को समझ लेने के बाद भिक्षुत्रितय ने इस विषय में कलम चलाई होती, तो वह हास्यास्पद नहीं बनता।

"चैत्यवास" यह कोई नई संस्था नहीं है और चैत्यों में रहना भी वर्जित नहीं है। मौर्य्यकाल और नन्दकाल से ही पहाड़ों की चट्टानों पर "लेण" बनते थे जिसका संस्कृत अर्थ "लयन" होता था, ये स्थान बनाने वाले राजा, महाराजा और सेठ साहूकार होते थे और मेलों उत्सवों के समय में इनका उपयोग होता था, शेषकाल में उनमें साधु सन्यासी ठहरा करते थे, "लयन" बनाने वाला धनिक जिसधर्म की तरफ श्रद्धा रखने वाला होता, उस धर्म के प्रवर्तक देवों और उपदेशक श्रमणों की मूर्तियां भी उन्हीं पत्थरों में से खुदवा लेता था, जिससे कि उनमें ठहरने वाले श्रमण लोग उनको लक्ष्य करके ध्यान करते, आज भी इसी प्रकार के लयन उडीसा के खण्डगिरि आदि पर्वतों में और एजण्टा, गिरनार आदि के चट्टानों में खुदी हुई गुफाओं के रूप में विद्यमान हैं। सैकड़ों लोग उनको देखने जाते है, खोदी हुई मूर्तियों से सुशोभित इस प्रकार के लयनों को भिक्षुत्रितय "चैत्य" कहे चाहे अपनी इच्छानुसार दूसरा नाम कहे, वास्तव में इस प्रकार के स्थान "चैत्यालय" ही कहलाते थे और उनमें निस्संग और त्यागी श्रमण रहा करते थे, खास कर वर्षा के समय में श्रमण लोग उनका आश्रय लेते थे जिनको बड़े-बड़े राजा महाराजा पूज्य दृष्टि से देखते और उनकी पूजा करते थे। धीरे-धीरे समय निर्बल आया, मनुष्यों के शक्ति-संहनन निर्बल हो चले, परिणामस्वरूप विक्रम की दूसरी शती के निकट समय में श्रमणगण ग्रामों के परिसरों में बसने लगे, जब उनकी संख्या अधिक बढ़ी और परिसरों में इस प्रकार के ठहरने के स्थान दुर्लभ हो चले, तब धीरे-धीरे श्रमणों ने गांवों के अन्दर गृहस्थों के अव्यापृत मकानों में ठहरना शुरु किया, पर इस प्रकार के मकानों में भी जब उनका निर्वाह नहीं होने लगा तब गृहस्थों ने सामूहिक धार्मिक क्रिया करने के लिए स्वतंत्र मकान बनवाने का प्रारम्भ किया। उन मकानों में वे सामायिक प्रतिक्रमण, पोषध आदि धार्मिक अनुष्ठान करने के लिए जाने लगे, पौषध क्रिया के कारण ये स्थान "पौषधशाला" के नाम से प्रसिद्ध हुए, यह समय विक्रम की आठवीं शती का था।

साधुओं के उपदेश के सम्बन्ध में भिक्षुत्रितय का कथन अतिरंजित है, उपदेश के रूप में गृहस्थों के आगे उनके कर्तव्य का उपदेश करना उनको

का कर्त्तव्य है और इसी रूप में सुविहित गीतार्थ साधु जैन गृहस्थों को उनके अन्यान्य कर्त्तव्यों के उपदेश के प्रसंग में दर्शन-शुद्धयर्थं जिनभक्ति का भी उपदेश करते थे और करते हैं। प्रसिद्ध श्रुतधर श्री हरिभद्रसूरि के प्रतिष्ठा पंचाशक और षोडशक आदि में इसी प्रकार के निरवद्य उपदेश दिये गये हैं। अर्वाचीनकाल में अंगुष्ठ मात्र जिनप्रतिमा के निर्माण से स्वर्गप्राप्ति का किसी ने लिखा होगा तो वह भी अधार्मिक वचन नहीं है, किसी भी धार्मिक अनुष्ठान के करने में कर्ता का मानसिक उल्लास उनके फल में विशिष्टता उत्पन्न कर सकता है इसमें कोई असम्भव की बात नहीं, दो तीन घंटे तक मुंह बंधवाकर स्थानक में जैनों अजैनों को बिठाना और बाद में उनको मिष्टान्न खिलाकर रवाना करना इस प्रकार दया पल जानेके धार्मिक अनुष्ठान से तो भावि शुभ फल की आशा से मन्दिर तथा मूर्तियां का निर्माण करवाना और उनमें जिनदेव की कल्पना कर पूजा करना हजार दर्जे अच्छा है।

भिक्षुजितय ने उपर्युक्त फिकरे में आगमों में बनावटी पाठ घुसेड़ देने की बात कही है, वह भी उनके हृदय की भावना को व्यक्त करती है, यों तो हर एक आदमी कह सकता है कि अमुक ग्रन्थ में अमुक पाठ प्रक्षिप्त है, परन्तु प्रक्षिप्त कहने मात्र से वह प्रक्षिप्त नहीं हो सकता, किन्तु पुष्ट प्रमाणों से उस कथन का समर्थन करने से ही विद्वान् लोग उस कथन को सत्य मानते हैं। संपादक ने बनावटी पाठ घुसेड़ने की बात तो कह दी पर इस कथन पर किसी प्रमाण का उपन्यास नहीं किया। अतः यह कथन भी अरण्यरोदन से अधिक महत्त्व नहीं रखता, आगमों में बनावटी पाठ घुसेड़ने और उसमें से सच्चे पाठों को निकालना यह तो भिक्षुजितय के घर की रीति परम्परा से चली आ रही है। इनके आदि मार्गदर्शक शाह लूंका ने जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा, दान, सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, साधर्मिक, वात्सल्य आदि अनेक आगमोक्त धार्मिक कर्त्तव्यों का उच्छेद कर दिया था। और इन कार्यों का उपदेश करने वालों की निन्दा करने में अपना समय बिताया था, परन्तु इनके मन्तव्यों का प्रचार करने वाले वेश-धारी शिष्यों ने देखा कि लुंका के इस उपदेश का प्रचार करने से तो सुनने

वाला अपने पास तक नहीं फटकेगा, न अपनी पेटपूजा ही सुख से होगी, इस कारण से लौंका के वेशधारी शिष्यों ने प्रतिमापूजा के विरोध के अतिरिक्त शेष सभी लौंका के उपदेशों को अपने प्रचार में से निकाल दिया, इतना ही नहीं, कतिपय बातें तो लौंका के मन्तव्यों का विरोध करने वाली भी प्रचलित कर दीं।

भिक्षुत्रितय ने जिन 'सूत्रपाठों' को मूल में से हटा दिया है, उनको बनावटी कहकर अपना बचाव करते हैं। "गणधरों की रचना को ही ये आगम मानकर दूसरे पाठों को बनावटी मानते हैं, तब तो इनको मूल आगमों में से अभी बहुत पाठ निकालना शेष है। स्थानांग सूत्र और औपपातिक सूत्र में सात निन्हवों के नाम संन्निहित हैं, जो पिछला प्रक्षेप है, क्योंकि अन्तिम निन्हव गोष्ठामाहिल भगवान् महावीर के निर्वाण से ५८४ वर्ष बीतने पर हुआ था, इसी प्रकार नन्दीसूत्र और अनुयोग द्वार में कौटिल्य, कनकसप्तति, वैशेषिकदर्शन, बुद्धवचन, त्रैराशिकमत, षष्ठितन्त्र, माठर, भागवत, पातञ्जल, योगशास्त्र आदि अनेक अर्वाचीनमत और ग्रन्थों के नामों के उल्लेख उपलब्ध होते हैं जिनका अस्तित्व ही गणधरों द्वारा की गई आगम-रचना के समय में नहीं था, इनको प्रक्षिप्त मानकर भिक्षुत्रितय ने आगमों में से क्यों नहीं निकाला, यह समझ में नहीं आता। प्रक्षिप्त पाठ मानकर ही आगमों में से पाठों को दूर करना था तो सर्वप्रथम उपर्युक्त पाठों का निकालना आवश्यक था, अथवा तो अर्वाचीन पाठ वाले आगमों को अप्रमाणिक घोषित करना था सो तो नहीं किया, केवल "चैत्यादि के पाठों को सूत्रों में से हटाए," इससे सिद्ध है कि बनावटी कहकर चैत्य-सम्बन्धी पाठों को हटाने की अपनी जबावदारी कम करने की चाल मात्र है।

गणधर तीर्थङ्करों के उपदेशों को शब्दात्मक रचना में व्यवस्थित करके मूल आगम बनाते हैं और उन आगमों को अपने शिष्यों को पढ़ाते समय गणधर और अनुयोगधर चार प्रकार के व्याख्यानांगों से विभूषित कर पंचांगी के रूप में व्यवस्थित करते हैं। आगमों की पंचांगी के नाम ये हैं – १ सूत्र, अर्थ २, ग्रन्थ ३, निर्युक्ति ४ और ५ संग्रहणी। आज भी

यह पंचांगी तीर्थङ्कर भाषित आगमों का खरा अर्थ बता सकती है। मूल सूत्र के ऊपर उसी भाषा में अथवा तो संस्कृत आदि अन्य भाषाओं द्वारा सूत्रों का जो भाव स्पष्ट किया जाता है, उसको संक्षेप में "अर्थ" कहते हैं। सूत्र का अर्थ ही पद्यों में रचकर प्रकरणों द्वारा समझाया जाता है उसको "ग्रन्थ" कहते हैं, सूत्रों में प्रकट रूप से नहीं बंधे हुए और लक्षणा-व्यंजनाओं से उपस्थित होने वाले अर्थों को लेकर सूत्रोक्त-विषयों का जो शंका-समाधान-पूर्वक ऊहापोह करने वाला गाथात्मक निबन्ध होता है वह "निर्युक्ति" नाम से व्यवहृत होता है, तथा सूत्रोक्त विषयों को सुगमतापूर्वक याद करने के लिए अध्याय, शतक, उद्देशक आदि प्रकरणों की आदि में उनमें वर्णित विषयों का सूचित करने वाली गाथाओं का संग्रह बनाया जाता था, उसको "संग्रहणी" के नाम से पहिचानते हैं।

आजकल सूत्रों पर जो प्राकृत चूर्णियां, संस्कृत टीकाएं आदि व्याख्याएं हैं, इनको प्राचीन परिभाषा के अनुसार "अर्थ" कह सकते हैं। सूत्र तथा अर्थ में व्यक्त किये गये विषयों को लेकर प्राचीनकाल में गाथाबद्ध निर्मित भाष्यों को भी प्राचीन परिभाषा के अनुसार "ग्रन्थ" कहना चाहिए। भद्रबाहु आदि अनेक श्रुतधरों ने आवश्यक, दशवैकालिक आदि सूत्रों के ऊपर तर्कशैली से गाथाबद्ध निबन्ध लिखे हैं, उन्हें आज भी "निर्युक्ति" कहा जाता है। "भगवती", "प्रज्ञापना" आदि के कतिपय अध्यायों की आदि में अध्यायोक्त विषय का सूचन करने वाली गाथाएं दृष्टिगोचर होती हैं इनका पारिभाषिक नाम "संग्रहणी" है। भगवती-सूत्र के प्रथम शतक के प्रारम्भ में ऐसी संग्रहणी गाथा आई तब भिक्षु महोदय ने पुस्तक के नीचे पाद-टीका के रूप में उसे छोटे टाइपों में लिया, परन्तु बाद में भिक्षु महोदय की समझ ठिकाने आई और आगे की तमाम संग्रहणी गाथाएं मूल सूत्र के साथ ही रक्खीं। सम्प्रदायानभिज्ञ व्यक्ति अपनी समझ से प्राचीन साहित्य में संशोधन करते हुए किस प्रकार सत्यमार्ग को भूलते हैं, इस बात का भिक्षु महोदय ने एक उदाहरण उपस्थित किया है।

भिक्षुनिवय आगे लिखता है – "इसके बाद युग ने करवट बदली और उसी कटाकटी के समय धर्मप्राण लौंकाशाह जैसे क्रान्तिकारी पुरुष

प्रकट हुए। उन्होंने जनता को सन्मार्ग सुझाया और उस पर चलने की प्रेरणा दी × × × जिससे लोगों में क्रान्ति और जागृति उत्पन्न हुई तथा लवजी, धर्मशी, धर्मदासजी, जीवराजजी जैसे भव्य भावुकों ने धर्म की वास्तविकता को अपनाया और उसके स्वरूप का प्रचार आरम्भ किया; परिणामस्वरूप आज भी उनकी प्रेरणाओं को जीवित रखने वालों की संख्या ५ लाख से कहीं अधिक पाई जाती है। लौंकाशाह सहित इन चारों महापुरुषों ने "चैत्यवासी मान्य अन्य आगमों में परस्पर विरोध एवं मन-घड़न्त बातें देखकर ३२ आगमों को ही मान्य किया।"

भिक्षुत्रितय चैत्यवासी युग के बाद लौंकाशाह जैसे क्रान्तिकारी पुरुषों के उत्पन्न होने की बात कहता है, जो अज्ञानसूचक है, क्योंकि विक्रम की चौथी शती से ग्यारहवीं शती तक शिथिलाचारी साधुओं का प्राबल्य हो चुका था। फिर भी वह उनका युग नहीं था। हम उसे उनकी बहुलता वाला युग कह सकते हैं, क्योंकि उस समय भी उद्यतविहारी साधुओं की भी संख्या पर्याप्त प्रमाण में थी। शिथिलाचारी संख्या में अधिक होते हुए भी उद्यतविहारी संघ में अग्रगामी थे। स्नानमह, प्रथमसमवसरण आदि प्रसंगों पर होने वाले श्रमण-सम्मेलनों में प्रमुखता उद्यतविहारियों की रहती थी। कई प्रसंगों पर वैहारिक श्रमणों द्वारा पार्श्वस्थादि शिथिलाचारी फटकारे भी जाते थे, तथापि उनमें का अधिकांश शिथिलता की निम्न सतह तक पहुंच गया था और धीरे-धीरे उनकी संख्या कम होती जाती थी। विक्रम की ग्यारहवीं शती के उत्तरार्ध तक शिथिलाचारी धीरे-धीरे नियतवासी हो चुके थे और समाज के ऊपर से उनका प्रभाव पर्याप्त रूप से हट चुका था। भले ही वे जातिगत गुरुओं के रूप में अमुक जातियों और कुलों से अपना सम्बन्ध बनाए हुए हों, परन्तु संघ पर से उनका प्रभाव पर्याप्त मात्रा में मिट चुका था, इसी के परिणाम स्वरूप १२ वीं शती के मध्यभाग तक जैनसंघ में अनेक नये गच्छ उत्पन्न होने लगे थे। पौर्णमिक, आंचलिक, खरतर, साधुपौर्णमिक और आगमिक गच्छ ये सभी १२ वीं और १३ वीं शती में उत्पन्न हुए थे और इसका कारण शिथिलाचारी चैत्यवासी कहलाने वाले साधुओं की कमजोरी थी। यद्यपि उस समय में भी वर्द्धमान-

सूरि, जिनेश्वरसूरि, जिनवल्लभगरिण, मुनिचन्द्रसूरि, धनेश्वरसूरि, जयचन्द्र-सूरि आदि अनेक उद्यतविहारी आचार्य और उनके शिष्य परिवार अप्रतिबद्ध विहार से विचरते थे, तथापि एक के बाद एक नये सुधारक गच्छों की सृष्टि से जैनसंघ में जो पूर्वकालीन संघटन चला आ रहा था वह विशृंखल हो गया। इसी के परिणाम-स्वरूप शाहलौंका शाह कडुआ आदि गृहस्थों को अपने पन्थ स्थापित करने का अवसर मिला था, न कि उनके खुद के पुरुषार्थ से। उपर्युक्त जैनसंघ की परिस्थिति का वर्णन पढ़कर विचारक समझ सकेंगे कि श्रमणसमुदाय में से अधिकांश शिथिलाचार के कारण निर्बल हो जाने से सुधारकों को नये गच्छ और गृहस्थों को श्रमणगण के विरुद्ध अपनी मान्यताओं को व्यापक बनाने का सुअवसर मिला था, किसी भी संस्था या समाज को बनाने में कठिन से कठिन पुरुषार्थ और परिश्रम की आवश्यकता पड़ती है, न कि नष्ट करने में। समाज की कमजोरी का लाभ उठाकर क्रियोद्धार के नाम से नव गच्छसर्जकों ने तो अपने बाड़े मजबूत किये ही, पर इस अव्यवस्थित स्थिति को देखकर कतिपय श्रमणसंस्था के विरोधी गृहस्थों ने भी अपने-अपने अखाड़े खड़े किये और आपस के विरोधों और शिथिलाचारों से बलहीन बनी हुई श्रमणसंस्था का ध्वंस करने का कार्य शुरू किया। लौंका तथा उसके अनुयायी मन्दिर तथा मूर्तियों की पूजा की अतिप्रवृत्तियों का उदाहरण दे देकर गृहस्थवर्ग को साधुओं से विरुद्ध बना रहे थे। कडुवा जैसे गृहस्थ मूर्तिपूजा के पक्षपाती होते हुए भी साधुओं के शिथिलाचार की बातों को महत्त्व दे देकर उनसे असहकार करने लगे, चीज बनाने में जो शक्ति व्यय करनी पड़ती है वह बिगाड़ने में नहीं। लौंकाशाह तथा उनके वेषधारी चेले हिंसा के विरोध में और दया के पक्ष में बनाई गई, चौपाइयों के पुलिन्दे खोल-खोलकर लोगों को सुनाते और कहते – "देखो भगवान् ने दया में धर्म बताया है, तब आजकल के यति स्वयं तो अपना आचार पालते नहीं और दूसरों को मन्दिर मूर्तिपूजा आदि का उपदेश करके पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि के जीवों की हिंसा करवाते हैं, बोलो – धर्म दया, में कि हिंसा में ? उत्तर मिलता दया में," तब लौंका के चेले कहते – "जब धर्म दया में है तो हिंसा को छोड़ो और दया पालो" अनपढ़ लोग, लौंका के अनपढ़ अनुयायियों की इस प्रकार की बातों से भ्रमित

होकर पूजा, दर्शन आदि जो श्रमसाध्य कार्य थे, उन्हें छोड़ छोड़कर लौंका के अनुयायी बन गये, इसमें लौंका और इनके अनुयायियों की बहादुरी नहीं, विध्वसंक पद्धति का ही यह प्रभाव है, मनुष्य को उठाकर ऊंचे ले जाना पुरुषार्थ का काम है, ऊपर खड़े पुरुष को धक्का देकर नीचे गिराना पुरुषार्थ नहीं कायरता है, जैनों में से ही पूजा आदि की श्रद्धा हटाकर शाह लौंका, लवजी, रूपजी, धर्मसिंह आदि ने अपना बाडा बढ़ाया, यह वस्तु प्रशंसनीय नहीं कही जा सकती, इनकी प्रशंसा तो हम तब करते जब कि ये अपने त्याग और पुरुषार्थ से आकृष्ट करके जैनेतरों को जैनधर्म की तरफ खींचते और शिथिलाचार में डूबने वाले तत्कालीन यतियों को अपने आदर्श और प्रेरणा से शिथिलाचार से ऊंचा उठाने को बाध्य करते ।

भिक्षुत्रितय चैत्यवासियों द्वारा लौंका आदि को कष्ट दिये जाने की बात कहता है, इसके पुरोगामी लेखक शाह वाडीलाल मोतीलाल तथा स्थानकवासी साधु श्री मणिलालजी ने भी यही राग अलापा है कि यतियों ने लौंकाशाह को कष्ट दिया था, परन्तु यतियों पर किये जाने वाले इस आरोप की सच्चाई को प्रमाणित करने के लिए कोई प्रमाण नहीं बताया, वास्तव में यह हकीकत लौंकाशाह को महान् पुरुष ठहराने के अभिप्राय से कल्पित गढ़ी है । ईसाइयों के धर्मप्रवर्तक "जेसस क्राईष्ट" को उनके विरोधियों ने क्रॉस पर लटकाया था, जिसके परिणामस्वरूप लगभग सारा यूरोप उसका अनुयायी बन गया था, इसी प्रकार लौंका को कष्ट-सहिष्णु महापुरुष बताकर लोगों को उसकी तरफ खींचने का लौंका के भक्तों का यह झूठा प्रचार मात्र है । लौंका ने तो तत्कालीन किन्हीं भी साधुओं के साथ मुकाबला करने की कोई बात नहीं लिखी, परन्तु लौंकाशाह के वेशधारी शिष्यों के साथ श्री लावण्यसमय आदि अनेक विद्वान् साधु चर्चा शास्त्रार्थ में उतरे थे और उनको पराजित किया था, लेकिन यह प्रसंग कोई उनको कष्ट देने का नहीं माना जा सकता, समाज के अन्दर फूट डालने और हजारों वर्षों से चले आते धार्मिक मार्ग में बखेड़ा डालने के कारण उन पर किसी ने कटुशब्द प्रहार अवश्य किए होंगे और यह होना अत्याचार नहीं है, ऐसी बातें तो लौंका के बाड़े में से भाग छूटने वालों पर लौंका के अनुयायियों ने भी की हैं, देखिये —

सं० १५७० में लौंकामत को छोड़कर श्री विजऋषि ने मूर्तिपूजा मानना स्वीकार किया; तब लौंका के अनुयायियों ने उन पर कैसे वाग्बाण बरसाये थे, उसका नमूना निम्नलिखित केशवजी ऋषि कृत लौंकाशाह के सिलोके की कडी पढिए –

"लवरण ऋषि भीमाजी स्वामी, जगमाला रुषि सखा स्वामी।
बीजो निकल्यो कुमति पापी तेरणइं वली जिनप्रतिमा थापी ॥२३॥"

इसी प्रकार लौंकाशाह के विरोध में मूर्तिमण्डन पक्ष के विद्वानों ने लौंकाशाह के लिए "लुम्पक" "लुंकट" आदि शब्दों से कोसा होगा, तो यह कुछ कष्ट देना नहीं कहा जा सकता। लौंका की ही शती के लौंकागच्छीय भानुचन्द्र यति, केशवजी ऋषि उन्नीसवीं शती के मध्यभागवर्ती "समकितसार" के कर्त्ता श्री जेठमलजी ऋषि आदि ने लौंकाशाह तथा उनके मत के सम्बन्ध में बहुत लिखा है, फिर भी उनमें से किसी ने भी यह सूचन तक नहीं किया कि चैत्यवासियों ने लौंकाशाह को कष्ट दिया था, वास्तव में लौंकाशाह की तरफ जन समाज का ध्यान खींचने के लिए बीसवीं सदी के लेखकों की यह एक कल्पना मात्र है।

भिक्षुत्रितय आगे कहता है – वर्तमानकालीन जैन साहित्य में चैत्यवासियों ने अनेक प्रक्षेप कर उन्हें परस्पर विरोधी बना दिया है, इसलिए लौंका और उसके अनुयायी धर्मसी, आदि ने ३२ सूत्रों को ही मान्य रक्खा है। भिक्षुत्रितय की ये बातें उनके जैसे ही सत्य मानगे, विचारक वर्ग नहीं, जैन आगमों का शास्त्रवर्णित स्वरूप आज नहीं है, इस बात को हम स्वयं स्वीकार करते हैं, परन्तु लौंका के अनुयायी जिन ३२ आगमों को गणधर कृत मानते हैं, वे भी काल के दुष्प्रभाव से बचे हुए नहीं हैं, उनमें सौकर्यार्थ संक्षिप्त किये गये हैं, एक दूसरे के नाम एक दूसरे में निर्दिष्ट किये हुए हैं, उनसे यही प्रमाणित होता है, कि सूत्रों में जिस विषय का वर्णन जहां पर विस्तार से दिया गया है, उसको फिर मूल-सूत्र में न लिखकर उसी वर्णन वाले सूत्र का अतिदेश कर दिया है, जैन-सिद्धान्त के द्वादश आगम गणधर कृत होते हैं तब उपांग, प्रकीर्णक आदि शेष श्रुतस्थविर कृत होते हैं।

स्थविरों में चतुर्दश पूर्वधर भी हो सकते है और सम्पूर्ण दशपूर्वधर भी हो सकते हैं, इन श्रुतधरों की कृतियां आगमों में परिगणित होती हैं, तब इन से निम्न कोटि के पूर्वधरों की कृतियां सूत्रव्याख्यांग या प्रकीर्णक कहलाते हैं और उनमें द्रव्य, क्षेत्र, काल के अनुसार पढ़ने वालों के हितार्थ सिद्धान्त मर्यादा के बाहर नहीं जाने वाले उपयुक्त परिवर्तन भी होते रहते हैं, इस प्रकार के परिवर्तन ३२ सूत्रों में भी पर्याप्त मात्रा में हुए है, परन्तु लौंका के अनपढ़ अनुयायियों को उनका पता नहीं है। लौंका के अनुयायियों में प्रचलित सैकड़ों ऐसी बातें हैं जो ३२ आगमों में नहीं हैं और उन्हें वे सच्ची मानते हैं तब कई बातें उनमें ऐसी भी देखी जाती हैं जो उनके मान्य आगमों से भी विरुद्ध हैं, इसका कारण मात्र इस समाज में वास्तविक तलस्पर्शी ज्ञान का अभाव है।

व्याकरण व्याधिकरण है :

आज से कोई ५० वर्ष पहले लुकामत के अनुयायी साधुओं को कहते सुना है कि "व्याकरण में क्या रक्खा है, व्याकरण तो व्याधिकरण है।"

स्थानकवासी साधुओं के उपर्युक्त उद्गारों का खास कारण था सत्रहवीं शती में लुंकागच्छ के आचार्य मेघजी ऋषि ने अपना गच्छ छोड़कर तपागच्छ में दीक्षित होने की घटना। इस घटना के बाद लुंकागच्छ वालों ने व्याकरण का पढ़ना खतरनाक समझा और अपने पाठ्यक्रम में से उसको निकाल दिया था, यही कारण है कि बाद के लौंकागच्छ के आचार्य, यति और स्थानकवासी साधुओं के बनाये हुए संस्कृत, प्राकृत आदि के ग्रन्थ दृष्टि-गोचर नहीं होते "समकितसार" के कर्ता ऋषि जेठमलजी जैसे अग्रगामी स्थानकवासी साधु भी सूत्रों पर लिखे हुए टिबों मात्र के आधार से अपना काम चलाते थे, यही कारण है कि भौगोलिक आदि की आवश्यक बातों में भी वे अज्ञान रहते थे, इस विषय में हम "समकितसार" का एक फिकरा उद्धृत करके पाठकों को दिखाएगे कि उन्नीसवीं शती तक के लौंकागच्छ के वंशज कितने अबोध होते थे।

"समकितसार" के पृष्ठ ११-१२ में "आर्यक्षेत्र की मर्यादा" इस शीर्षक के नीचे ऋषि जेठमलजी ने "बृहत्कल्पसूत्र" का एक सूत्र देकर आर्य अनार्य क्षेत्र की हद दिखाने का प्रयत्न किया है –

"कप्पइ निग्गन्थाणं वा निग्गंथीणं वा पुरत्थिमेणं जाव अंग मगहाओ एत्तए, दक्खिणेणं जाव कोसम्बीओ एत्तए, पच्चत्थिमेणं जाव थूणाविसयाओ एत्तए, उत्तरेणं जाव कुणालाविसयाओ एत्तए एयावयावकप्पइ, एयावयाव आरिए खेते, नो से कप्पइ एत्तो बाहिं, तेण परं जत्थ नाणदंसणचरित्ताइं उस्सप्पन्ति ॥४८॥"

उपर्युक्त पाठ "समकितसार" में कितना अशुद्ध छपा है, यह जानने की इच्छा वाले सज्जन "समकितसार" के पाठ के साथ उपर्युक्त पाठ का मिलान करके देखे कि "समकितसार" में छपा हुआ पाठ कितना भ्रष्ट है, इस पाठ को देकर नीचे चार दिशा की क्षेत्र मर्यादा बताते हुए ऋषिजी कहते हैं –

'पूर्व दिशा में अंगदेश और मगधदेश तक आर्यक्षेत्र है, अब भी राजगृह और चम्पा की निशानियां पूर्व दिशा में हैं।

दक्षिण में कौशम्बी नगरी तक आर्यक्षेत्र है, आगे दक्षिण दिशा में समुद्र निकट है इसलिए समुद्र की जगती लगती है।

पश्चिम दिशा में थूभणानगरी कही है, वहां भी कच्छ देश तक आर्यक्षेत्र है, आगे समुद्र की जगती आती है।

उत्तर दिशा में कुणाल देश और श्रावस्ती-नगरी है, जहां आज स्यालकोट नामक शहर है।

आगे ऋषिजी कहते हैं – कितनेक नगरों के नाम बदल गए हैं; उनको लोकोत्तर से जानते हैं, जैसे – पाटलीपुर जो आज का पटना है, देसारणपुर वह मन्दसौर है, हत्थणापुर वह आज की दिल्ली, सौरीपुर वह आगरा अट्टीगांव वह वढवाण है।

इसी प्रकार बृहत्कल्पोक्त गंगा, यमुना, सरयू, इरावती और मही इन पांच महानदियों का परिचय देते हुए जेठमलजी इरावती को लाहौर के पास की रावी बताते हैं और मही गुजरात में बड़ौदा शहर के उत्तर में ८-१० माईल के फैसले पर बहने वाली मही बताते हैं।

जेठमलजी कौशम्बी के आगे दक्षिण में समुद्र और उसकी जगती बताते हैं, यह भौगोलिक "अज्ञान" मात्र है, कौशम्बी नगरी आधुनिक इलाहबाद से दक्षिण में वत्स देश की राजधानी थी। उनकी दक्षिण सीमा विन्ध्याचल के उत्तर प्रदेश में ही समाप्त हो जाती थी और समुद्र वहां से १ हजार माईल से भी अधिक दूर था, इस परिस्थिति में कौशम्बी की दक्षिण सीमा समुद्र के निकट बताना भौगेलिक अज्ञानता सूचक है।

पश्चिम दिशा में आर्यदेश की अन्तिम सीमा थूभणानगरी कहते हैं और उनकी हद कच्छ देश तक बताते हैं, यह भी गलत है, प्रथम तो नगरी का नाम ही गलत लिखा है, नगरी का नाम थूभणा नहीं, पर उसका नाम "स्थूणा" है और वह सिन्ध देश के पश्चिम में कहीं पर आयी हुई थी और उसके आस-पास के प्रदेश को जैनसूत्रों में "स्थूणाविषय" बताया है, कच्छ को नहीं।

भारत के उत्तरीय आर्यक्षेत्र की सीमा पंजाब के शहर स्यालकोट तक बताते हैं, यह भी अज्ञानजन्य हैं, स्यालकोट पंजाब प्रदेद में वर्तमान भारत के वायव्यकोण में आया हुआ है, तब कुणाल देश भारत के उत्तरीय भाग में था और आजकल के "सेटमहेट" के किले को प्राचीनकाल में श्रावस्ती कहते थे। गोरखपुर तथा बस्ति जिले के आस-पास का प्रदेश पूर्वकाल में कुणाल देश कहलाता था।

दशार्णपुर को जेठमलजी वेसारणपुर लिखते हैं और उसको आधुनिक मन्दसौर कहते हैं जो यथार्थ नहीं है। दशार्णपुर आजकल का मन्दसौर नहीं किन्तु पूर्व मालवा के पहाड़ी प्रदेश में आए हुए दशार्ण देश की राजधानी थी और दशार्णपुर अथवा मृत्तिकावती इन नामों से प्रसिद्ध थी,

आधुनिक मन्दसौर का पूर्वकालीन नाम दशार्णपुर नहीं किन्तु 'दशपुर" था, यह बात शायद जेठमलजी के स्मरण में से उतर गई है।

हत्थाणापुर अर्थात् हस्तिनापुर दिल्ली नहीं, किन्तु वह कुरु जांगल देश की राजधानी स्वतंत्र नगरी थी और आज भी है। सोरीपुर आगरा नहीं किन्तु आगरा से भिन्न प्राचीन सौर्य्यपुर नगर का नाम है। वढ़वाण को अट्ठीगांव कहना भूल से भरा है, अस्थिकग्राम प्राचीन भारत के विदेह प्रदेश में था, पश्चिम भारत में नहीं।

लाहौर के पास की रावी नदी इरावती नहीं, किन्तु कुणाल प्रदेश में बहने वाली इरावती नामक एक बड़ी नदी थी, इसी प्रकार मही नदी भी बड़ौदा के निकटवर्ती गुजरात की मही नहीं किन्तु दक्षिण कौशल की पहाड़ियों से निकलने वाली मही नदी को सूत्र में ग्रहण किया है जो गंगा की सहायक नदी है।

"समकितसार" के लेखक श्री जेठमलजी के प्रमादपूर्ण उपर्युक्त पांच सात भूलों में ही "समकितसार" गत अज्ञान विलास की समाप्ति नहीं होती। यों तो सारी पुस्तक भूलों का खजाना है, प्रमाण के रूप में दिये गये संस्कृत प्राकृत अवतरण इतनी भद्दी भूलों से भरे पड़े हैं जो देखते ही पुस्तक पढ़ने की श्रद्धा को हटा देते हैं और पुस्तक की भाषा तो किसी काम की नहीं रही, क्योंकि शब्द-शब्द पर विषयगत अज्ञान और मुद्रण-सम्बन्धी अशुद्धियों को देखकर पढ़ने वाले का चित्त ग्लानि से उद्विग्न हो जाता है।

हमारे सामने जो "समकितसार" की पुस्तक उपस्थित है यह "समकितसार" की तृतीयावृत्ति के रूप में विक्रम सं० १९७३ में अहमदाबाद में छपी हुई है, इसी "समकितसार" की सम्भवतः प्रथमावृत्ति विक्रम सं० १९३८ में निकली थी, इसकी द्वितीयावृत्ति कब निकली इसका हमें पता नहीं है और ७३ के बाद इसकी कितनी आवृत्तियां निकली यह भी साधनाभाव से कहना कठिन है। १९३८ की आवृत्ति निकलने के बाद इसके उत्तर में सं० १९४१ में "सम्यक्त्व-शल्योद्धार" नामक पुस्तक पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज ने लिखकर प्रकाशित करवाई "समकितसार"

में इसके लेखक, "ऋषि जेठमलजी ने मूर्तिपूजक जैन सम्प्रदाय का "हिंसा-धर्मी" यह नाम रक्खा है और सारी पुस्तक में उनको इसी नाम से संबोधित किया है। "सम्यक्त्व-शल्योद्धार" में जेठमलजी की इस भाषा का ही प्रत्याघात है और उसके लेखक ने "मूढ़जेठाऋष, निन्हव" इत्यादि शब्दों के प्रयोगों से लेखक ने उत्तर दिया है। जेठमलजी के "समकितसार गत" अज्ञान को देखकर बीसवीं शती के पंजाबविहारी स्थानकवासी साधुओं के मन में आया कि संस्कृत प्राकृत आदि भाषाओं का जानना जैनसाधुओं के लिए जरूरी है, इसके परिणामस्वरूप कतिपय बुद्धिशाली स्थानकवासी साधुओं ने संस्कृत भाषा सीखी और हस्तलिखित सटीकसूत्र पढ़े। संस्कृत सीखने के बाद सटीकसूत्रों के पढ़ने से वे समझने लगे कि सूत्रों में अनेक स्थानों पर मूर्तिपूजा का विधान है और दिनभर मुंह पर मुंहपत्ति बांधना शास्त्रोक्त नहीं है, इन दो बातों को पूरे तौर पर समझने के बाद उनकी श्रद्धा वर्तमान स्थानकवासी सम्प्रदाय में से निकल जाने की हुई, प्रथम श्री बूटेरायजी, श्री मूलचन्दजी, श्री वृद्धिचन्दजी नामक तीन श्रमण मुंहपत्ति छोड़कर सम्प्रदाय से निकल गये, शत्रुञ्जय आदि तीर्थों की यात्रायें कर श्री बूटेरायजी ने अहमदाबाद आकर पं० मणिविजयजी के शिष्य बने, नाम बुद्धिविजयजी रक्खा। शेष दो साधु बुद्धिविजयजी के शिष्य बने और क्रमशः मुक्तिविजयजी, वृद्धिविजयजी के नाम से प्रसिद्ध हुए। इसके अनन्तर लगभग दो दशकों के बाद श्री आत्मारामजी श्री बीसनचन्दजी आदि लगभग २० साधु स्थानकवासी सम्प्रदाय छोड़कर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में आये और बुद्धिविजयजी आदि के शिष्य बने, इस प्रकार सम्प्रदाय में से पठित साधुओं के निकल जाने से स्थानकवासी सम्प्रदाय में संस्कृत व्याकरण आदि भाषा विज्ञान के ऊपर से श्रद्धा उठ गई और व्याकरण को तो वे 'व्याधिकरण" मानने लगे।

बीसवीं शती का प्रभाव :

यों तो अन्तिम दो शतियों से जैनश्रमणों में संस्कृत का पठन-पाठन बहुत कम हो गया था, परन्तु बीसवीं शती के उत्तरार्ध में संस्कृत भाषा की

फिर कदर होने लगी। बनारस, मेसाणा आदि स्थानों में संस्कृत पाठशालाएं स्थापित हुई और उनमें गृहस्थ विद्यार्थी पढ़कर विद्वान् हुए कतिपय उनमें से साधु भी हुए, तब कई साधु स्वतंत्र रूप से पण्डितों के पास पढ़कर व्युत्पन्न हुए, इस नये संस्कृत प्रचार से अमूर्तिपूजक सम्प्रदाय को एक नई चिंता उत्पन्न हुई, वह यह कि सम्प्रदाय में से पहले अनेक पठित साधु चले गये तो अब न जायेंगे, इसका क्या भरोसा? इस चिंता के वश होकर सम्प्रदाय के अमुक साधुओं ने अपने मान्य सिद्धान्तों पर नई संस्कृत टीकाएँ बनवाना शुरू किया। अहमदाबाद शाहपुर के स्थानक में रहते हुए स्थानकवासी साधु श्री घीसीलालजी लगभग ७-८ साल से यही काम करवा रहे हैं, संस्कृतज्ञ ब्राह्मण विद्वानों द्वारा आगमों पर अपने मतानुसार संस्कृत टीकाएँ तैयार करवाते हैं, साथ-साथ उनका गुजराती तथा हिन्दी भाषा में भाषान्तर करवा कर छपवाने का कार्य भी करवा रहे हैं, इस प्रकार की नई टीकाओं के साथ कतिपय सूत्र छप भी चुके हैं। टीकाकार के रूप में उन पर अमुक प्रसिद्ध साधुओं के नाम अंकित किये जाते हैं।

उपर्युक्त व्यवस्था चालू हुई तभी से श्री फूलचन्दजी ने सबसे आगे कदम उठाया, उन्होंने सोचा नई टीकाओं के बनने पर भी संस्कृत के जानकार साधु को प्राचीन मूर्तिपूजक सम्प्रदाय-मान्य टीकाओं को पढ़ने से कौन रोक सकेगा, इस वास्ते सबसे प्रथम कर्त्तव्य यही है कि आगमों में से तमाम मूर्तिपूजा के पाठ तथा उनके समर्थक शब्दों तक को हटा दिया जाय ताकि भविष्य में सूत्रों का वास्तविक अर्थ समझकर अपने सम्प्रदाय में से मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में साधुओं का जाना रुक जाय। अगर प्राचीन टीकाओं वाले आगमों में मूर्तिपूजा के अधिकार देखकर कोई यह शंका करेंगे कि मूर्तिपूजक सम्प्रदाय-मान्य आगमों में तो प्रतिमापूजा के अधिकार विद्यमान है और अपने आगमों में नहीं इसका क्या कारण है, तो उन्हें कह दिया जायगा कि मूर्तिपूजा के पाठ चैत्यवासी यतियों ने आगमों में घुसेड़ दिये थे उनको हटाकर आगमों को संशोधित किया गया है।

स्थानकवासी सम्प्रदाय के साधुओं में व्याकरण को "व्याधिकरण" कहने की जो पुरानी परम्परा थी वह सचमुच ठीक ही थी, क्योंकि उनमें से

व्याकरण पढ़े हुए कई साधु सम्प्रदाय छोड़कर चले गये थे, श्री फूलचन्दजी तथा उनके शिष्य-प्रशिष्य भी साधारणतया व्याकरण पढ़े हुए हैं, तो उनके लिए भी "व्याकरण व्याधिकरण" होना ही था, यदि ये सम्प्रदाय में से निकल जाते तो इतना ही व्याधिकरण" होता, अन्यथा इन्होंने सूत्रों के पाठ निकालकर सूत्रों को जो खण्डित किया है और इस प्रक्रिया द्वारा सूत्रों की प्राचीनता में जो विकृति उत्पन्न की है, इसके परिणामस्वरूप भविष्य में कोई भी जैनेतर संशोधक विद्वान् इन सूत्रों को छूएगा तक नहीं, क्योंकि आगमों की मौलिकता ही उनका खरा जौहर है। वह फूलचन्दजी ने उनके सम्प्रदाय मान्य ३२ आगमों में से खत्म कर दिया है। अब उन पर संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती भाषा की टीकाएँ लिखवाते रहें और छपवाते रहें, जैन आगमों के आधार से जैनधर्म की प्राचीनता, जैनधर्मियों की प्राचीन सभ्यता और आगम-कालीन जैनों के आचार-विचार जानने के लिए ये "स्थानकवासी आगम" किसी काम के नहीं रहे। शोध, खोज, करने वालों के लिए ये आगम बीसवीं सदी के बने हुए किसी भी ग्रन्थ संदर्भ से अधिक महत्त्व के नहीं रहे।

भिक्षुत्रितय 'सुत्तागमे' के दोनों पुस्तकों में लिखता है - "पाठ शुद्धि का पूरा-पूरा ध्यान रक्खा है, इसके सम्पादन में शुद्धि प्रतियों का उपयोग किया गया है।"

सम्पादकों की पाठ-शुद्धि का अर्थ है इनकी मान्यता में बाधक होने वाले पाठों को "हटाना"। अन्यथा कई स्थानों पर सम्पादकीय अशुद्धियां ही नहीं बल्कि सम्पादकों द्वारा अपनी होशियारी से की गई अनेक अशुद्धियां सूत्रों में दृष्टिगोचर होती हैं, इस स्थिति में सम्पादन में शुद्ध प्रतियों का उपयोग करने की बात केवल दम्भपूर्ण है, क्योंकि स्थानकवासियों के पास जो भी सूत्रों के पुस्तक होंगे वे अशुद्धियों के भण्डार ही होंगे, क्योंकि इनके पुस्तकालयों तथा स्थानकों में मिलने वाले पुस्तक बहुधा इनके अनपढ़ साधुओं के हाथ के लिखे हुए ही मिलते हैं। सोलहवीं शती में लौंका का मत निकला और अठारहवीं शती के प्रारंभ में स्थानकवासी ऋषियों ने टिब्बे के साथ सूत्र लिखने शुरू किये थे, लिखने वाले साधु नकल करने

वाले लहियों से तो बढ़कर होशियार थे नहीं, फिर सम्पादकों को शुद्ध प्रतियां कहां से हाथ लगीं, यह सूचित किया होता तो इनके कथन पर विश्वास हो सकता था, परन्तु यह बात तो है ही नहीं, फिर कौन मान सकता है कि इनके सम्पादन कार्य के लिए ६००-७०० वर्ष पहले के आगमों के शुद्ध आदर्श उपलब्ध हुए होंगे। 'सुत्तागमे" के द्वितीय अंश में दी हुई पट्टावली से ही यह तो निश्चित होता है कि सम्पादकों को शुद्ध-पुस्तक नहीं मिला था। अन्यथा नन्दी की वाचक-वंशावली के ऊपर से ली हुई गाथाओं में में इतनी गड़बड़ी नहीं होती।

पट्टावली में सप्तम पट्टधर आर्य भद्रबाहु के सम्बन्ध में लेखक निम्न प्रकार का उल्लेख करते हैं – "तयाणंतरं अज्ज भद्दबाहु चउणाण चउदह-पुव्वधारगो दसाकप्पववहारकारगो सुयसमुद्दपारगो ॥ ७ ॥"

उपर्युक्त प्रतीक में दो भूलें हैं, एक तो सम्पादक के सम्पादन की और दूसरी सम्पादक के शास्त्रीय ज्ञान के अभाव की, सम्पादन की भूल के सम्बन्ध में चर्चा करना महत्त्वहीन है, परन्तु दूसरी भूल के सम्बन्ध में ऊहापोह करना आवश्यक है, क्योंकि पट्टावली-निर्माता ने इस उल्लेख में भद्रबाहु स्वामी को "चतुर्ज्ञानधारक" लिखा है, वह शास्त्रोत्तीर्ण है – क्योंकि भद्रबाहु "ज्ञानद्वयधारक" थे। लेखक ने इनको चतुर्ज्ञानधारक कहने में किसी प्रमाण का उपन्यास किया होता, तो उस पर विचार करते। अन्यथा भद्रबाहु को चतुर्ज्ञानधारक कहना प्रमाणहीन है।

पट्टावली-लेखक ने अपनी पट्टावली में ११ वें नम्बर के स्थविर को "सन्तायरिओ" लिखा है जिसका संस्कृत "शान्त्याचार्य" होता है जो कि गलत है, इन स्थविरजी का नाम "स्वात्याचार्य" (आचार्य स्वाति) है आचार्य शान्ति नहीं। शाण्डिल्य के बाद १४ वें स्थविर का नाम 'जिनधर्म' और १६ वें स्थविर का नाम "नन्दिल" लिखा है, जो दोनों अक्रम प्राप्त हैं, क्योंकि इन में से "आर्यधर्म" का नाम नन्दी की मूल गाथाओं में नहीं है और "नन्दिल" का नम्बर मूल नन्दी में १७ वां है। नम्बर २० और २१ में स्थविरों के नाम भी पट्टावली-लेखक ने गलत लिखे हैं, आर्य महागिरि

की वाचक-परम्परा में सिंहगिरि का नाम नहीं है, किन्तु इस परम्परा में वाचक "ब्रह्मद्वीपकसिंह" का नाम अवश्य आता है, २१ वें स्थविर को "सिरिमन्तो" नाम से उल्लिखित किया है, जो गलत है, वास्तव में इनका नाम "हिमवन्त" है।

पट्टावलीकार ने २३ वां नम्बर गोविन्द को दिया है, जो वास्तव में नन्दी की मूल गाथाओं में नहीं है, किन्तु यह नाम "प्रक्षिप्त गाथा में" आता है।

पट्टावलीकार ने २५ वें स्थविर का नाम "लोहाचार्य" लिखा है, जो यथार्थ नहीं है, इनका खरा नाम "लौहित्याचार्य" है।

पट्टावलीलेखक ने २६ वें स्थविर का नाय "दुप्पस" लिखा है, जो अशुद्ध है। देवद्धिगणि के पट्टगुरु का नाम ',दुप्पस" नहीं किन्तु "दूष्यगणि" है, यह लेखक को समझ लेना चाहिए था।

पट्टावलीकार ने देवद्धिगणि के बाद वीरभद्र २८ शिवभद्र २६ आदि ३३ नाम कल्पित लिखे हैं, अतः इन पर ऊहापोह करना निरर्थक है, इनके आगे पट्टावली लेखक ने "ज्ञानाचार्य" "भाणजो" आदि लौंकागच्छ को परम्परा के ऋषियों के नाम दिए हैं, इन नामों में भी पंजाबी साधुओं की पट्टावली के कई नामों के विरुद्ध पड़ने वाले नाम हैं जिनकी चर्चा पहले ही पट्टावली-विवरण में की गई है।

कड़वा-मत गच्छ की पट्टावली

१. शाह कडवा :

नाडुलाई गांव में नागरज्ञातीय बीसानागर श्री कानजी की भार्या कनकादे की कोंख से सं० १४६५ में शाह कडुवा का जन्म हुआ था। कडवा जब आठ वर्ष का हुआ, तब से हरिहर के पद बनाने लगा था। कुछ समय के बाद कडुआ को अंचलगच्छ का एक श्रावक मिला। श्रावक ने कडुआ को कहा – तुम हरिहर के पद बनाते हो वैसे जैनमार्ग के बनाओ तो तुम्हारी कदर होगी "जैन" यह शब्द सुनकर कडवा को बड़ा आनन्द हुआ, वह बोला मुझको जैनमार्ग सुनाओ तों मैं जैनधर्म के भी पद बनाऊं। आंचलिक श्रावक कडुवा को अपने गच्छ के उपाश्रय में ठहरे हुए साधुजी के पास ले गया, साधुजी ने उसे वार्ता के रूप में धर्म का उपदेश किया। कडुआ ने इस प्रकार उनके पास जाते-जाते जैनधर्म का खासा परिचय पा लिया, उसने सर्वप्रथम एक कविता बनाई जिसका प्रथम पद्य इस प्रकार था।

> माइ बाप नी कीजई भगति' विनय करन्ता रुडी युगति।
> जीव दया साची पालीजइ, सील धरी कुल उजुआलीइ ॥ १ ॥

इस प्रकार साधु-समागम से और उनको औपदेशिक बातें सुनने से कडुआ के मन में संसार की असारता का आभास हुआ, उसकी इच्छा संसार त्याग करने की हुई, अपना भाव कडुआ ने माता-पिता के सामने प्रकट किया जिसे सुनकर उसके माता-पिता को बड़ा दुःख हुआ और दीक्षा लेने की आज्ञा देने से इन्कार कर दिया। मेहता कानजी का स्वभाव

जानने वाला साधु उनकी आज्ञा के बिना कडुआ को दीक्षा देने के लिए कोई तैयार नहीं हुआ। दीक्षा लेने की धुन में कडुआ अनेक साधुओं का परिचय करता हुआ अहमदाबाद पहुँचा, वहां रूपपुरा में आगमिक पं० हरिकीर्ति शुद्ध प्ररूपक संवेग पाक्षिक साधु थे, वे अपनी शक्ति के अनुसार क्रिया कलाप करते थे। गुणी साधुओं को वन्दन करते थे, परन्तु आप किसी से वन्दन नहीं करवाते, कहते मैं वन्दन-योग्य नहीं हूं, मुझ से शास्त्रोक्त साधु का आचार नहीं पलता। हरिकीर्ति रूपपुरे की एक शून्य शाला में रहते थे, कडुवा ने उनका व्यवहार देखा और उसको पसन्द आया, उसने हरिकीर्तिजी के सामने अपना परिचय देते हुए कहा – मेरी इच्छा संसार छोड़कर साधु होने की है, मुझे दीक्षा दीजिये। हरिकीर्ति ने सोचा – मैं अगर इसको योग्य मार्ग न दिखाऊँगा तो यह किसी कपटी कुगुरु के जाल में फंस जायगा, उन्होंने कडुवा से कहा – प्रथम दशवैकालिक के चार अध्ययन पढ़ने से ही दीक्षा पाली जा सकती है, इस वास्ते पहले तुम दशवैकालिक के ४ अध्ययन पढो, उसने स्वीकार किया और हरिकीर्ति के पास दशवैकालिक के चार अध्ययन अर्थ के साथ पढ़े। अध्ययन पढ़ने के बाद कडुआ ने उन्हें पूछा – पूज्य ! सिद्धान्त मार्ग तो इस प्रकार है, तब आजकल साधु इस मार्ग के अनुसार क्यों नहीं चलते ? हरिकीर्ति ने कहा – अभी तुम पढ़ो और सुनो, बाद में सिद्धान्त की चर्चा में उतरना, महता कडुवा ने पन्यास के पास सारस्वत व्याकरण, काव्यशास्त्र, छंदशास्त्र, चिन्तामणि प्रमुख वाद शास्त्र पढ़ा और आचारांगादि सूत्रों के अर्थ सुनकर प्रवीण हुआ, बाद में पन्यास हरिकीर्ति ने कडुआ को कहा – हे वत्स ! आचारांगादि सूत्रों में जो साधु का आचार लिखा है, वह आज के साधुओं में देखा नहीं जाता, आज के सर्व यति पूजा-प्रतिष्ठा कल्पितदान आदि कार्यों में लगे हुए है, जिनमन्दिरों के रक्षक बने हुए हैं, क्योंकि वर्तमानकाल में दसवां अच्छेरा चल रहा है, यह कहकर उसने "ठाणांग" सूत्र की आश्चर्य-प्रतिपादक गाथाएँ, "संघपट्टक" की गाथाएं और "षष्टिशतकप्रकरण" की गाथाएँ सुनाकर वर्तमानकालीन साधुओं की आचारहीनता का प्रतिपादन किया और उसकी श्रद्धा कुण्ठित करने के लिए हरिकीर्ति ने पिछले समय में जैनश्रमणों में होने वाली धड़ाबन्दियों का विवरण सुनाया, उन्होंने कहा –

"११५९ में पौर्णमिक, १२०४ में खरतर, १२१३ में अंचल, १२३६ में सार्द्धपौर्णमिक, १२५० में त्रिस्तुतिक १२८५ में तपा अपने-अपने आग्रह से उत्पन्न हुए, १५०८ में लुंका ने अपने आग्रह से मत चलाया, अब तुम ही कहो तो हम नये गच्छ-प्रवर्तकों में से किस को युगप्रधान कहना और किसको नहीं, इस समय शास्त्रोक्त चतुष्पर्वी का आम्नाय भी दिखता नहीं, जहां युगप्रधान होगा, वहां उक्त सभी बातें एक रूप में ही होगी, इसलिए तुम श्री युगप्रधान का ध्यान करते हुए श्रावक के वेश में "संवरी" बनकर रहो, जिससे तुम्हारे आत्मा का कल्याण होगा।"

शाह कडुवा ने जैन सिद्धान्तों की बातें सुनी थीं, उसको हरिकीर्ति की बात ठीक जंची, वह साधुता की भावना वाला प्रासुक जल पीता, अचित्त आहार करता, अपने लिए नहीं करा हुआ भोजन विशुद्ध आहार श्रावक के घर से लेता था। ब्रह्मचर्य का पालन करता, १२ व्रत धारण करता हुआ किसी पर ममता न रखता हुआ पृथ्वी पर विचरने लगा।

कडुआशाह ने सर्व-प्रथम पाटण में लीम्बा मेहता को प्रतिबोध किया, सं० १५२४ में शाह मेहता लीम्बा ने शाह कडुआ को विरागी जानकर अपने घर भोजनार्थ बुलाया, भोजन में परोसने के लिए अनेक चीजें हाजिर कीं। कडुआ ने उनका काल पूछा, जो काल के उपरान्त की चीजें थीं उन्हें नहीं लिया। लीम्बा ने – दही शक्कर आप लेंगे ? कडुआ ने पूछा – दही कब का है। लीम्बा ने कहा – हमारे घर पर ३१ भैंसियां दूध देती हैं इसलिए यह कैसे जाना जा सकता है – कि यह दही कब का है। कडुआ ने कहा – हमको १६ पहर के उपरान्त का दही नहीं कल्पता, मेहता लींबा ने कहा – आप सब में जीव कहते हैं, दूध में से भी पोरा निकालते हैं तो एक आध हमको दृष्टान्त दिखाओ तो मैं स्वयं जैनधर्म स्वीकार कर लूं, इस पर कडवाशाह ने दांत रंगने का पोया मंगवाकर दही के उपरि भाग में लकीर खींचकर दही का बर्तन धूप में रखवाया और दही में से ताप लगने के कारण पोया की लकीर पर ऊपर आए हुए दही से सफेद जीवों को दिखाया, इससे मेहता लीम्बा जैनधर्म का श्रद्धालु बन गया।

सं १५२५ में वीरमगांव में ३०० घर अपने मत में लिए, सं० १५२६ में सलक्खपुर में चातुर्मास्य कर अनेक मनुष्यों को प्रतिबोध किया और १५० घर अपने मत में लिये, सं० १५२८ में श्री अहमदाबाद में चतुर्मास्य किया, ७०० घर अपने मत में प्रतिबोध किये। सं० १५२९ में खम्भात में चतुर्मास किया ५०० घर को प्रतिबोध किया, । सं० १५३० में मांडल में चतुर्मास किया और ५०० घरों को प्रतिबोध दिया। सं० १५३१ में सूरत में चतुर्मास, सं० १५३२ में भरुच में चतुर्मास किया, १५३३ में चांपानेर चतुर्मासक किया, घर ३०० को प्रतिबोध किया तथा धराद में ९०० घर अपने मत में किये। सं० १५३६ में राधनपुर चतुर्मास, १५३७ में मोखाड़ा में चतुर्मास किया तथा सोईगांव आदि में अपना मत फैलाया। सं० १५३८ में सर्वत्र विहार किया। सं० १५३९ में नांडलाई में ऋषि भाणा के साथ वाद किया और शास्त्रानुसार प्रतिमा को प्रमाणित किया और लुंकों के १५० घर अपने मत में लिये। सं० १५४० में पाटन में चतुर्मासक किया और ९०० घर कडुआ के समवाय में हुए, शाह खीमा, शाह तेजा, कर्मसिंह, शाह नाकर द्वादश व्रतधारक, शाह श्रीकृत १०१ नियमों के पालक संवरी गृहस्थ के वेश में रहकर दीक्षा का भाव रक्खे, संवर का खप करे।

१ नीची नजर रखकर चले।
२ रात्रि में भूमि का प्रमार्जन किये बिना न चले।
३ खास कारण बिना रास्ते चलते हुए बातचीत न करें, कोई प्रश्न करे तो यह कहे कि ज्यादा बातें स्थान पर करना।
४ औषध को छोड़कर सच्चित्त आहार न खावें।
५ दिवस की पिछली दो घड़ी दिन रहते, चउविहाहार का पच्चक्खान करे,
६ भोजन करते समय अन्नकण न बिखेरे, न झूठा छोड़े, प्रमाणातिरिक्त भोजन न करे, न बिना इच्छा के खाएँ।
७ भोजन करते न बोले।
८ द्विदल अन्न कच्चे गोरस के साथ न खाएं।
९ छुटे हाथ कोई पदार्थ न फेंके।
१० पाट पाटला प्रमुख किसी भी वस्तु को न घसीट कर ले जाय।

११ स्थण्डिल सम्बन्धी शुद्ध भूमि की यतना करे।
१२ प्रस्रवण कीडी प्रमुख जीव-जन्तु न हो वहां छोड़े।
१२ मात्रा की कुंडी को छोडकर ग्रन्य बर्तन में मल त्याग न करें।
१४ जल प्रमुख त्याज्य पदार्थ विना प्रमार्जन किये न परठे।
१५ दूसरे को पीडाकारी वचन तथा हास्यादिक वचन न बोले।
१६ शरीर को विना प्रमार्जन किये खाज न खणे।
१७ पांच स्थावर जीवों का ग्रारम्भ न करें।
१८ निवाए से स्वयं पानी न ले, ग्रगर लाए तो सब उपयोग करे।
१९ बिना छाने पानी में कपड़े न धोएँ।
२० ग्रपने हाथ से ग्रग्नि का ग्रारंभ न करें।
२१ पंखे से हवा न लें।
२२ वनस्पति ग्रपने लिए न काटे।
२३ त्रस जीव की पीड़ा के परिहार में नियम धारण करना :
२४ त्रस जीव को मारने का त्याग करना।
२५ सर्वथा ग्रसत्य का त्याग करना।
२६ चोरी-यारी ग्रौर ग्रदत्तावस्तु लेने का त्याग।
२७ मनुष्य तथा चतुष्पद जाति की स्त्री का स्पर्श तथा संघट्ट न करना यदि, हो तो घृत का उस दिन त्याग करना।
२८ ग्रपने पास धन न रक्खे।
२९ पिछली ४ घड़ी रात्रि में शयन का त्याग करें।
३० खुले मुंह न बोले, बोलते समय हाथ ग्रथवा कपड़ा रखकर बोले।
३१ रात्रि के प्रथम पहर में न सोवें।
३२ रोगादि कारण के सिवाय दिन में न सोवें।
३३ प्रतिदिन तिविहार एकाशन करें।
३४ यथाशक्ति ग्रन्थि-सहित प्रत्याख्यान करे।
३५ त्रिकाल देव-वन्दन करे तथा ग्रपने-ग्रपने समय में ग्रावश्यक तथा प्रतिलेखनादि करे।
३६ प्रतिदिन सात ग्रथवा पांच चैत्य वन्दन करें।
३७ पढ़ने गुणने का ग्रभ्यास करे, प्रतिदिन गाथा एक याद करे ग्रौर कम

से कम ५०० गाथा गिने ।

३८ पासत्थादि पांच कुदर्शनियों का संग न करे ।

३९ सामायिक दिनप्रति बहुत करे ।

४० प्रतिदिन एक विकृति वापरे, अधिक नहीं ।

४१ दिन में पाव सेर से अधिक घृत न खाएँ ।

४२ पन्द्रह दिन में दो उपवास करे ।

४३ लोगस्स १० तथा १५ का कार्योत्सर्ग करे ।

४४ एक स्थान में एक वर्ष उपरान्त न रहे ।

४५ अपने लिये घर तथा द्वार न कराये ।

४६ वस्त्र न धोए, ५ के उपरान्त अपने पास वस्त्र न रक्खे । कपड़ों की गठड़ी अन्यत्र न रखे ।

४७ बिस्तर, तकिया, गादो न वापरे ।

४८ पलंग, खाट आदि पर सोवे नहीं, तथा बैठे नहीं ।

४९ चौराहे पर न बैठे ।

५० कलशिया एक, बाटकी एक, इसके अतिरिक्त बर्तन न रखे ।

५१ ज्वर आदि रोग में तीन दिन तक लंघन करे ।

५२ स्त्री से एकान्त में बात न करे ।

५३ ब्रह्मचर्य की नव वाड़ी पालने में यत्न करे ।

५४ मास में एक बार वस्त्र धोवे ।

५५ एकान्तर संघट्ट न करे ।

५६ चार कषाय न करे ।

५७ कषाय उत्पन्न होने पर विगई का त्याग करे ।

५८ किसी को अभ्याख्यान न दे ।

५९ किसी को पीछे दोष न दे, चुगली न खाये ।

६० सुगन्ध तेल शौक के लिए न वापरें ।

६१ द्रव्य १२ के अतिरिक्त एक दिन में न ले ।

६२ सुपारी, पान, इलायची प्रमुख का उपयोग न करे ।

६३ उत्कट वस्त्र न पहिने ।

६४ रेशमी वस्त्र का त्याग करे ।

६५ खेल, तेल इकट्ठा कर स्नान न करे।
६६ अपने हाथ से न पकावे, न सचित्त वस्तु दूसरे से पकवावें।
६७ हरी वनस्पति का आहार स्वाद की दृष्टि से न करे।
६८ वर्षाकाल में खोपरा, खारक प्रमुख न वापरें।
६९ स्त्री सुनते राग न आलापें।
७० आभूषण न पहिने।
७१ दो पुरुष एक पथारो पर न सोवे।
७२ स्त्री सोती हो वहां विना अन्तर के पुरुष न सोवें।
७३ लोकायतिक के यहां का अन्न जल न लेवें।
७४ जिस पर देव द्रव्य का देना हो और वह दे न सकता हो उसके वहां न जीमे।
७५ भुखायति के यहां भोजन न करे।
७६ अकेली स्त्री को न पढ़ाएं।
७७ मन्दिरजी की हद में न सोवें।
७८ अपने सगे के लिए कोई चीज न मांगे।
७९ दूसरे का द्रव्य अपने पास हो तो उसके स्वजन को आज्ञा विना धर्म-स्थानक में न खर्चे।
८० निरन्तर एक घर में दो दिन न जीमे।
८१ जिसके यहां श्राद्ध-संवत्सरी हो उसके यहां तीन दिन नहीं जीमे।
८२ उत्कृट आहार का उपयोग न करे।
८३ सिंघोड़े लीले, सुखे, न खाए।
८४ डगला पहनने की छूट।
८५ दूसरों के बच्चों को प्यार न करे।
८६ स्वजन के अतिरिक्त लोग जीमते हो वहां न जीमे।
८७ कन्दोई के पक्वान्न की यतना।
८८ रात में तैयार किये हुए अन्न को न जीमे।
८९ गृहस्थ के घर बैठकर गप्पे न लड़ायें।
९० जूते न पहने।
९१ रथ, गाड़ी, यान पर न बैठे।

९२ घोड़ा प्रमुख वाहन पर न चढ़े।

९३ महीने में एक वार नख उतराए।

९४ कूलर, पकवान आदि बनवाकर अपने पास न रखे।

९५ मार्ग में खड़े रहकर अथवा चलते हुए स्त्री से वार्तालाप न करे।

९६ मार्ग में चल न सके तो यान में बैठे।

९७ पंचवर्णं वस्त्र न पहिने।

९८ अकेली स्त्रियों के समूह में भोजन के लिए अथवा अन्य किसी कार्य के लिए न जाये।

९९ राग उत्पन्न करने वाले गीत न गाए, न सुने।

१०० ब्राह्मण का संग न करे।

१०१ दूसरे के घर में जाते खंखार करना।

इसके अतिरिक्त दूसरी भी अनेक बातें जो संवरी की अपभ्राजना कराने वाली हों उनको न करे, तथा शाह कडुवा के लिखे हुए १०४ नियम शील पालने सम्बन्धी हैं, उनको धारण करना स्त्रियों के लिए शील पालन के ११३ नियम हैं ये सभी नियम यहां नहीं लिखे।

उस वर्ष श्री कडुवाशाह पाटन में अमरवाड़ा दरवाजा के बाहर जाते दो दिन एक योगीशाह को देखकर बहुत खुश हुआ और शाह को आग्रह करके कुछ आम्नाय दिए। यन्त्र, तन्त्र तथा रूपा सिद्धि भी दी, ऐसा वृद्धवाद है, परन्तु शाहश्री ने एक भी विद्या न चलाई, उन्होंने यावज्जीव के लिए एक घृत विकृति छूटी रखी। प्रतिदिन के लिए १० द्रव्य छूटे रखे, यावज्जीव एकाशन करने का नियम था, फिर भी महिने में १० आयम्बिल करते और श्री युगप्रधान का ध्यान धरते हुए दीक्षा की भावना रखते थे।

सं० १५४१ में शाहश्री बडोदे में शाह कुंवरपाल के घर चातुर्मास रहे, वहां भट देपाल के साथ वाद हुआ, जैन बोल ऊपर रहा, वहां पर "जय जग गुरु देवाधिदेव" यह स्तवन बनाया।

सं० १५४२ में गन्धार में शाह देवकर्ण के घर पर चातुर्मास किया, वहां चैत्यवासियों के साथ चर्चा हुई, वहां पर शाह ने "सखिसार नयर गन्धार गांव" ऐसा वीर स्तवन बनाया।

सं० १५४३ में चूड़ा राणपुर में शाह संघराज के घर चातुर्मास ठहरे, वहां शाहश्री के पास शाह राणा, शाह कर्मण, शाह जवसी, शाह पुंजा; शाह धींगा, पांच श्रावक संवरी हुए, चूड़ा राणपुर में २०० घर शाहश्री कडुआ की श्रद्धा में आए।

सं० १५४४ में जूनागढ़ में ठक्कुर राजपाल के घर चतुर्मासक किया, वहां लुंका के १५० घर अपनी श्रद्धा के बनाए।

सं० १५४५ में सौराष्ट्र में विचर कर अमरेली में ठक्कुर काशी के घर चातुर्मास किया।

सं० १५४६ में अहमदाबाद के पास अहमदपुरे में चतुर्मास किया, वहां परिख चोकसी ने आबू, राणकपुर, चित्तौड़ का संघ निकाला, उसके साथ श्री कडुवा प्रमुख ६ संवरी चले, जहां-जहां संघ गया, या ठहरा उन सब गांवों के चैत्यों की चैत्य-परिपाटी का स्तवन बनाया। श्री कडुवाशाह ने सिरोही में चत्यवासी के साथ वाद कर चैत्यवास का खण्डन किया। वहां से नाड़लाई तक की यात्रा करके वापस अहमदाबाद आए और शाह कडुवा रूपपुर में ठहरे।

सं० १५४७ में खम्भात में चतुर्मासक किया, वहां लगु(घु)शालिक तपा के साथ चर्चा हुई, जो श्री वन्तकृत हुण्डी से जान लेना, शाहश्री ने वहां से अन्यत्र विहार किया और "शाह रामा जो पहले उपाध्याय रामविमल था, वह स्तम्भतीर्थ में प्रतिक्रमण में चार स्तुतियां करता था, दूसरे भी शाह रामा के साथ प्रतिक्रमण करने वाले चार थुई करते थे, अब भी खम्भात में इसी प्रकार का मार्ग चलता है। अर्थात् कितनेक संवरी चार थुई करते हैं, सिद्धान्तोक्त गणधरोक्त ३ थुई है, परन्तु आवश्यक में, आवश्यक चूर्णि में, आवश्यक वृत्ति में, ललितविस्तरा आदि ग्रन्थों में चतुर्थ स्तुति लिखी है।

सं० १५४८ में पाटन में चतुर्मासक किया, वहां परी० थावर तथा दोसी समर्थ के बड़ेरों को प्रतिबोध दिया, पाटन में वृ० धनराज परी० की का के दादे का बिम्ब प्रवेश किया, उस समय शाह कडुवा मन्दिर में दर्शनार्थ

आये उसी समय शाह देपा जो धर्मानुरागी और दीक्षा का अभिलाषी वहां आया था, शाहश्री को मन्दिर में पगड़ी उतारकर प्रतिमा के दर्शन करते हुए देखा, उसके सम्बन्ध में पूछने की इच्छा हुई, शाह चैत्यवन्दन कर मन्दिर से बाहर निकले, तब शाह देपा ने अपनी बनाई हुई १२ व्रत की चतुष्पदी कडुवाशाह के सामने रक्खी। शाह उसे पढ़कर बहुत खुश हुए, बाद में देपाशाह ने मन्दिरजी में पगड़ी उतारने का कारण पूछा, तब श्री शाह ने शास्त्र के आधार से कहा — भगवान् के सामने शिरोवेष्टन सिर पर रखकर जाना एक प्रकार की आशातना है, इस विषय की विस्तृत चर्चा और शास्त्र के पाठ शाहश्री तेजपाल कृत "दशपदी" में देख लेना चाहिए, शाह देपा ने शाहश्री के पास संवरीपन स्वीकार किया और उनके साथ विचरने लगा, परी० पूनाशाह के पास बहुत पढ़े और होशियार हुए थे।

सं० १५४९ में शाह कडुवा नाडलाई में बहोरा टोला के घर चातुर्मासिक ठहरे, बहोरा टोला भी वैराग्यवान् और सद्गृहस्थ था। शाहश्री के पास छट्ठ-छट्ठ पारणा करने की प्रतिज्ञा की थी। शाहश्री के पास वहां तीन संवरी हुए, शाह धीरपाल, शाह धोरु, शाह लोम्बा, एवं १४ संवरी शाहश्री के पास रहते थे।

सं० १५५० में सादड़ी गए और दोसी संघराज के घर चातुर्मासिक ठहरे, वहां पर खरतरों के साथ महावीर के कल्याणकों के सम्बन्ध में चर्चा हुई और कल्पसूत्र, पञ्चाशक, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि शास्त्रों के प्रमाण से महावीर के पांच कल्याणक सिद्ध किये और गर्भापहार कल्याणक जिनवल्लभ ने स्थापित किया है, तथा स्त्री को पूजा करने का निषेध खरतरों ने किया है जिसका ज्ञातासूत्र के आधार से शाहश्री ने खण्डन किया। सादड़ी में दो संवरी हुए — शाह सिद्धर, शाह रूपा।

सं० १५५१ में शाहश्री ने सिरोही में चातुर्मासिक किया, वहां एक श्रावक संवरी हुआ, जिसका नाम शाह रावगण था, वहां पर तपागच्छ वालों के साथ सामायिक ग्रहण करने में ईरिया पथिकी-प्रतिक्रमण पहले या पीछे इस विषय की चर्चा हुई।

सं० १५५२ में थराद में चतुर्मासक हुआ, उस समय पं० हरिकीर्ति भी वहीं थे। शाह कडुवा की व्याख्या सुनकर बहुत खुश हुए, थराद में बहुतेरे आदमियों को प्रतिबोध किया, वहां पर चार श्रावक शाहश्री के पास संवरी हुए। उनके नाम शाह लूणा, शाह मांगजी, शाह जसवन्त और शाह डाहा। थराद में शाहश्री के धर्म की श्रद्धा सारे नगर को हो गई। थराद निवासी श्रावक शाह राया (राजा) शाहश्री के पास बहुत पढ़ा कुछ दिन तक उनके पास रहा, थराद, निवासी शाह दूदा पंन्यास के पास बहुत पढ़ा।

सं० १५५३ में, १५५४ में और १५५५ में जालोर प्रमुख नगरों में विचरे और अनेक तीर्थों की यात्रा की, वहां यति द्वारा प्रतिष्ठा की जाने सम्बन्धी तथा साधु के कृत्यों के विषय में चर्चा हुई, तथा पर्व के दिनों को छोड़कर शेष दिनों में पौषध करने के सम्बन्ध में आंचलिक तथा खरतरों के साथ चर्चा हुई और स्थानांग ज्ञातादि के आधार से पौषध करना प्रमाणित किया। सं० १५५६ में आगरा की तरफ गये, नागोर, मेड़ता, आगरा यावत् सर्वस्थानों में यात्राएँ की।

सं० १५५८ में पाटन गए, वहाँ परीख पूना ने शाहश्री के पास वृद्ध-शाखीय ओसवाल ज्ञातीय माता-पिता रहित एक ग्यारह वर्ष के बच्चे को लाया, जिसका नाम श्रीवंत था। शाहश्री को कहा – इस कुमार को आप पढ़ाइये, शाहश्री ने कुमार का हाथ देखा और शिर हिलाते हुए कहा – इसका आयुष्य तो कम है, परन्तु पढ़ने वाला इसकी बराबरी नहीं कर सकेगा। परीख पूना ने उसको अपने घर रक्खा और कुछ दिनों तक शाहश्री के पास पढ़ाया।

सं० १५५९ में शाहश्री नवानगर गए, वहां चौमासा करके अनेक मनुष्यों को धर्म का मार्ग समझाया।

सं० १५६० में राजनगर में चतुर्मासक किया, वहां पर पटेल संघा, पटेल हांसा संवरी बने।

सं० १५६१ में सूरत में चातुर्मासक रहे, वहां शाह बेला, शाह जीवा, संवरी हुए।

सं० १५६२ में बीरमगाव में डोसी तेजपाल के घर चतुर्मासक रहे, वहां शरीर में वेदना हुई परन्तु कुछ दिनों के बाद नीरोग हो गए।

सं० १५६३ में महेसाने में डो० वासन के घर चतुर्मासक रहे।

सं० १५६४ में कडुवाशाह पाटन गए, उस समय इनके पास जो संवरी थे उनके नाम नीचे लिखे अनुसार थे – १. शाह खीमा, २. शाह तेजा, ३. शाह कर्मसिंह, ४. शाह नाकर, ५. शाह राणा, ६. शाह कर्मण, ७. शाह शवसी, ८. शाह पुन्ना, ९. शाह धींगा, १०. शाह देपा, ११. शाह लीम्बा, १२ शाह सिघर, १३. शाह कबा, १४. शाह शवगण, १५. शाह लुणा, १६. शाह मांगजी, १७. शाह जसवंत, १८. शाह डाहा, १९. शाह वेला, २०. शाह जीवा, २१. पटेल हांसा, २२. पटेल संघा, इनके अतिरिक्त शाह वीरा, १. शाह वीरपाल, २. शाह धीरु पे तीन नाडलाई में थे और शाह रामा कर्णवेधी १ खम्भात में थे।

सं० १५६३ में थराद में पन्यास हरिकीर्ति दिवंगत हुए। उन दिनों शाह रामा श्रावक वहां व्याख्यान बांचते थे, शाम को शाह दूदा भी व्याख्यान वांचते थे। एक दिन पाक्षिक दिन के सम्बन्ध में बात चली, रामा की बात पर शाह दूदा ने कहा – पन्यास तो यह कहते थे, तब रामा ने कहा – नहीं पंन्यास यह नहीं कहते थे, इस मतभेद का निराकरण शाहश्री कडुवा को पूछकर करने का निश्चय हुआ, उस समय कडुवाशाह पाटन में थे, उनको पूछने के पहले ही कडुवाशाह के शरीर में फिर पीड़ा उत्पन्न हुई, उ होंने अपने आयुष्य की समाप्ति निकट समझकर शाह खीमा को बुलाकर अन्तिम शिक्षा देते हुए कहा – संवरी का मार्ग अच्छी तरह पालना।

कडुवाशाह ने उन्हें निम्नलिखित अपनी मान्यताओं का पुनरुच्चारण करके उन्हें फिर सावचेत किया, उन्होंने कहा –

१ जिनचैत्यों में पगडी उतार कर देव वन्दन करना।

२ प्रतिष्ठा करना श्रावक का कर्त्तव्य हैं, यति का नहीं।

३. पाक्षिक सिद्धान्त में पूर्णिमा को माना है, परन्तु आचरणा से चतुर्दशी को करते हैं।
४ पर्युषणा युगप्रधान कालकाचार्य की आचरणा से चतुर्थी को करते हैं।
५ श्रावक श्राविका के लिए मुंहपत्ति चरवला रखना शास्त्रानुसार है।
६ सामायिक बार-बार करना चाहिए, ऐसा आवश्यक में लेख है।
७ पर्व बिना भी पौषध करना चाहिए, ऐसा ज्ञातासूत्र में प्रमाण है।
८ द्विदल छोड़ना चाहिए, ऐसा कल्पभाष्यादि में प्रमाण है।
९ मालारोपण उपधान का निषेध।
१० स्थापनाचार्य रखना सिद्धान्तोक्त है।
११ स्तुति तीन करना, आवश्यक में लेख है।
१२ बासी विदल खाना निषेध है, योगशास्त्रानुसार।
१३ पौषध त्रिविधाहार चतुर्विधाहार करने का आवश्यक चूर्णि में विधान है।
१४ सिद्धान्तानुसार पंचांगी मान्य है।
१५ प्रथम सामायिक पीछे इरियावही करने का आवश्यक चूर्णि में लेख है।
१६ वीर के पांच कल्याणक मानना कल्पादिक में प्रमाण है।
१७ दूसरा वन्दन बंठे देना समवायांग वृत्ति में लेख है।
१८ साधु के कृत्यों का विचार दशवैकालिक आचारांग आदि में है।
१९ श्रावण दो होने पर पर्युषणा दूसरे श्रावण में और कार्तिक दो होने पर चातुर्मासिक समाप्ति दूसरे कार्तिक में करना, ऐसा चूर्णि आदि में है।
२० स्त्री को पौषध करने का प्रमाण उपासकदशा में और पूजा करने का ज्ञातासूत्र में है।
२१ वर्तमानकाल में संघपटक आदि के आधार से दसवां आश्चर्य चल रहा है।

प्रतिक्रमण विधि प्रमुख अनेक बातों का खुलासा कर अपने पद पर शाह खीमा को स्थापित किया। शाह खीमा आदि संवरियों ने शाहश्री को औषध के लिए कहा, इस पर शाहश्री ने कहा – मेरे लिए औषध "श्री अरि-

हन्त" का नाम है, यह कहकर उन्होंने सीमन्धर स्वामी की साक्षी से त्रिविधाहार का अनशन कर दिया, दूसरे १७ संवरियों ने भी अनशन शाह श्री कडुवा के पास किये, जिनके नाम ये हैं – शाह तेजा, शाह कर्मसी, शाह नाकर, शाह राणा, शाह कर्मण, शाह डाहा और शाह पूना, अन्य दस संवरियों ने शत्रुञ्जय तीर्थ पर जाकर अनशन किये, उनके नाम – शाह शवसो, शाह धींगा, शाह देपा, शाह लीम्बा, शाह सीधर, शाह शवगण, शाह लूणा, शाह मांगजी, शाह जसवन्त और पटेल हांसा

शाह श्री कडवा अरिहन्त, सिद्ध का जाप करते २१ वें दिन दिवंगत हुए, तथा अन्य संवरी अनशन करने वालों में से कोई महीने में, कोई ३५ दिन में स्वर्ग प्राप्त हुए।

शाह श्री कडवा के लिए मांडवो बनाकर चन्दन प्रमुख पदार्थों से देह का अग्निसंस्कार किया गया। शाह श्री खीमा के मुख से श्लोक सुनकर अग्निसंस्कार के समय आने वाले सब अपने-अपने स्थान पहुँचे।

शाह श्री कडुवा १९ वर्ष गृहस्थ रूप में रहे, १० वर्ष सामान्य संवरी के रूप में रहे, ४० वर्ष तक अपने समवाय के पट्टधर के रूप में रहकर ६९ वर्ष की उम्र में परलोकवासी हुए।

शाह श्री कडुवा के बनाये हुए गीत, स्तवन, साधु-वन्दना प्रमुख ग्रन्थों का श्लोक प्रमाण ६ हजार के लगभग पाटन में है।

थराद से शाह रामा, शाह दूदा, प्रमुख कडुआशाह को पाक्षिकतिथि के विषय में पूछने आ रहे थे; तब रास्ते में सुना कि शाहश्री दिवंगत हो गए हैं, तब यह बात विवादास्पद हो रही, शाह रामा आठवीं पाक्षिक जानकर कहने लगे, शाह दूदा और खीमा की एक बात मिली, इसलिए वर्तमान में थराद में दो उपाश्रय हैं, उनमें शाह रामा कहते हैं – शाह कडुआ यही कहते थे कि जैसा मैं कहता हूँ, यह सब पंचम आरे का प्रभाव है। कभी-कभी अष्टमी और पाक्षिक का दिन जुदा-जुदा आता है, शेष सभी बातें शा० कडुआ के समवाय में समान हैं।

२. शा० खीमा चरित्र :

पाटन राजकावाडा में पोरवाल ज्ञातीय शा० कर्मचन्द की भार्या कर्मादे की कोख से शा० खीमा का जन्म हुआ और १६वें वर्ष में वह शा० कडुआ के पास संवरी बने थे। २४ वर्ष सामान्य संवरी रहे, परी० पूना के घर शाह श्रीवंत बहुत पढ़े। परी० पूना ने प्रतिदिन एक कोडी ब्राह्मण को देकर उसके पास न्यायशास्त्र पढ़ा। थोड़े हीं समय में विद्वान् बना।

शा० कडुआ के स्वर्गवास के बाद शाह खीमा के शरीर में बवासीर की बीमारी हुई, जिससे वे विहार भी नहीं कर सकते थे और संवरी के अभाव में श्रावक शिथिल होने लगे थे।

इसी समय दर्म्यान संवत् १५६८ में बराद में पौषधशाला स्थापित हुई। कोई पौषधशाला में जाते, कोई संवरियों के स्थान पर, परन्तु सर्वत्र सामाचारी कडुआ की चलती। वर्तमान में भी इसी प्रकार चलता है।

शाह रामा के पट्टधर शाह राघव और दूसरे उपाश्रय में जाने वाले शाह दूदा के उत्तराधिकारी शाह ब्रह्मा हुए।

शाह खीमा १६ वर्ष तक गृहस्थ रूप में रहे, २४ वर्ष तक सामान्य संवरी के रूप में रहे और सात वर्ष शा० कडुआ के पट्टधर रह कर ४७ वर्ष की उम्र में शाह वीरा को अपने पद पर स्थापन कर सं० १५७१ में पाटन में देवंगत हुए।

३. शाह वीरा चरित्र :

नाडलाई गांव में श्रीश्रीमाली ज्ञातीय वृद्धशाला में दोसी कुमारपाल की भार्या कोडमदे की कोख से शाह वीरा का जन्म हुआ था। शाह वीरा श्री शा० कडुआ के पास संवरी बने थे। शाह श्री खीमा ने श्रीवन्त शाह को पढ़ा-लिखा और समझदार जानकर भण्डार की पोथियां उन्हें सौंपी थी, वे पोथियां इस समय लीम्बा महेता के घर पर हैं। जब शाह खीमा ने काल किया उस समय शाह वीरा सिरोही में थे।

एक समय प० पूना पाटन में व्याख्यान दे रहे थे तब एक श्रावक बहुत दिनों से व्याख्यान में आया। उसको पूंना ने उपालम्भ दिया और व्याख्यान आगे चलाया। जिस श्रावक को पूंना ने उपालम्भ दिया था उसने सोचा कि पूंना को पोथो का भण्डार न सम्भलाया इसलिए वह हृदय में जलता है। पोथियां लीम्बा कसुम्बीया के यहां से अपने घर मंगाई। बात बढ़ गई, श्रीवन्त को कहा – चलो दूसरे समवाय के पास जाकर इसका न्याय कराएं। शाह श्रीवन्त ने कहा – शाह श्री कडुआ के तथा शाह श्री खीमा के सिद्धान्तोक्त वचन सुनकर हीनाचारो को नमें वे हीन। इतना पढ़े लिखे आदमी को हीनाचारी को दृष्टि से भी देखना न चाहिए, इत्यादि बहुत चर्चा हुई। शाह श्रीवन्त ने हीनाचारियों का खण्डन किया तब परीख पूना ने हीनाचारी का समर्थन किया, इस प्रसंग में शाह श्रीवन्त ने "गुरु तत्त्वनिर्णय हुण्डो" रूप ग्रन्थ बनाया जो इस समय हेबतपुर में उपाश्रय के भण्डार में ४८ पत्र का ग्रन्थ रहा हुआ है, उस ग्रन्थ के अनुसार साधु का मार्ग देखना, परन्तु हीनाचारी को नमन नहीं करना। बाद में परी० पूना ने शाह श्रीवन्त को कहा – मैंने तुमको पढ़ाया, तैयार किया और मेरा ही वचन न माने यह ठीक नहीं हैं, मेरी बात का परसमवाय में आकर समर्थन करना चाहिए। श्रीवन्त ने कहा – आप कहो वैसा करने को तैयार हूं, परन्तु ऐसा करने से अपना ही धर्म ठहरेगा नहीं, वास्तव में वीतराग के मार्ग में रहकर १०० वर्ष तक सूली पर रहना अच्छा, परन्तु धर्मबुद्धि से अगीतार्थ का संग करना अच्छा नहीं, इस पर परीख पूंना ने कहा – अपन दोनों खम्भात शाह रामा कर्णवेधी को पत्र लिखे और वे जो निर्णय दें, उसे मान्य करे, शाह श्रीवन्त ने शाह पूना का उक्त प्रस्ताव स्वीकार किया और रामा को खम्भात पत्र लिखा। शाह रामा ने शास्त्राधार से उत्तर दिया, परन्तु परी० पूना ने उस बात पर श्रद्धा नहीं की, इस सम्बन्ध में आए हुए शाह रामा के १० पत्र इस समय "हैबतपुर भण्डार में पड़े हुए है।" शाह रामा बड़े विद्वान् थे, परन्तु परी० पूना ने उनकी बात पर विश्वास नहीं किया और उल्टे गुस्से में आकर शाह श्रीवन्त के पास अपनी जो-जो वस्तु थी वह भी अपने कब्जे में ले ली, बहुत मनुष्यों को पक्ष में करके ७०० घर लेकर पोषधशाला में चला गया, परन्तु भण्डार नहीं ले

सका, वहां जाने के बाद परी० पूना मूत्र कृच्छ्र रोग से एक वर्ष के बाद मरण को प्राप्त हुए।

वहां से श्रीवन्त निकलकर अहमदाबाद गए, उस समय वहां दोसी देवर की डेहली में सर्व श्रावक इकट्ठे हुए थे। शाह खीमा के देवगत होने तथा परीख० पूना के पोषधशाला जाने सम्बन्धी विचार कर रहे थे। शाह श्रीवन्त ने क्या किया होगा? इस विषय की भी विचारणा हो रही थी, इतने में शाह श्रीवन्त वहां पहुँचे। फटे वस्त्र आदि देखकर श्रीवन्त को पहचाना तक नहीं और पूछा कि कहा से आए? उत्तर दिया – "पाटन" से आता हूँ, यह सुनकर पूछा गया – परी० पूना का पौषाल गमन सुना जाता है, क्या सच है? उसने कहा – हां! आगे पूछा गया – शाह श्रीवन्त की कुछ खबर जानते हो, उसने कहा – हां जानता हूँ, सभा ने पूछा कहो वे कैसे हैं; उसने कहा – जिसको आप पूछते हैं, वह आपके पास है, यह सुनकर सब खुश हुए और आनन्द से मिले तथा श्रीवन्त को दूसरे कपड़े पहनाए। सर्व धार्मिक कहने लगे – अगर तुम हो तो सब कुछ है। शाह श्रीवन्त वहां रहा और वहां रहते हुए सुख-शान्ति के निमित्त श्री ऋषभदेव का विवाहला ढाल ४४ में जोड़ा, जो सब गच्छों में प्रसिद्ध है।

सं० १५७२ में पार्श्वचन्द्र नागोरी तपा में से निकला और अपना नया मत प्रचलित करके मलीन वेश में विचरता हुआ लोगों को अपने मत में खींचने लगा जहां धर्मार्थी उपदेशक का योग नहीं वहां लोगों को अपने मत में जोड़ता था। वीरमगांव प्रमुख अनेक स्थान पार्श्वचन्द्र ने ले लिये थे, आंचलिक तथा खरतर भी क्रिया उद्धार करके जहां संवरी श्रावक का योग नहीं था, वहां उनको अपने समाज में मिलाते थे, इस समय भी कितने ही गांवों में संवरियों के विना भी शाह श्री कडुवा की सामाचारी रख रहे हैं।

शाह श्रीवन्त जो देवर की देहली में रहे हुए हैं, वहां इनकी ख्याति सुनकर अनेक ब्राह्मण शाह श्रीवन्त के पास आए और इनके साथ प्रमाण-वाद छन्दशास्त्र आदि के सम्बन्ध में वार्तालाप हुआ। ब्राह्मणों ने कहा –

तुम अपनी रचनाएँ हमको दिखाओ। शाह श्रीवन्त ने अपने काव्य उनको दिखाए, देखकर ब्राह्मण बोले, वणिक् में ऐसी शक्ति नहीं होती, यह तो तब सच्च माने जो इस डेहली में रहे हुए पलंग का वर्णन करके हमको सुनाओ। तब शाह श्रीवन्त ने उस पलंग का धार्मिक दृष्टि से वर्णन किया, जिसे सुनकर ब्राह्मण बहुत ही खुश हुए, उन्होंने कहा — हम ब्राह्मण हैं, फिर भी हमसे इतना जल्दी काव्य बनना कठिन हैं।

शाह श्रीवन्त सर्वत्र विचरते, परन्तु शाह चोरा; शाह सरपति, जो बादशाह के वजीरशाह श्री कडुवा के समवायो थे उन्होंने शाह श्रीवन्त को बादशाह से मिलाया, वहां लहुआ व्यास के साथ दो दिन चर्चा हुई, एक दिन लहुआ व्यास ने बादशाद से कहा — श्रीवन्त आदे के एक टुकड़े में अनन्त जीव बताता है, इस पर से बादशाह ने श्रीवन्त को अपने पास बुलाया, नौकर बुलाने गए। श्रीवन्त ने नौकर से कहा मैं अभी आता हूँ, पर यह तो कहो कि क्या काम है ? सेवक ने कहा — मैं नहीं जानता, पर लहुआ व्यास अदरख का टुकड़ा लेकर आया है और वह बुलाता हैं। शाह श्रीवन्त बादशाह की तरफ चला और उसकी दृष्टि मर्यादा में एक गाय को देखकर श्रीवन्त उसकी पूंछ देखने लगा। बादशाह के पास पहुंचने पर श्रीवन्त को बादशाह ने पूछा, श्रीवन्त गाय की पूंछ में क्या देखा ? श्रीवन्त ने कहा — लहुआ व्यास गाय के पूंछ में ३३ करोड़ देवता बताया है, उनको देखता था। बादशाह ने पूछा — क्यों लहुआ क्या बात है ? लहुआ ने कहा — जी हां हमारे शास्त्र में ऐसा लिखा है और श्रीवन्त ऐसा कहता है — आदे के टुकड़े में अनन्त जोव होते हैं, इस पर श्रीवन्त ने कहा — जी हां, हमारे शास्त्र में ऐसा लिखा है। जो लहुआ व्यास गाय की पूंछ में देव दिखाये तो मैं जीव दिखाउँ। व्यास ने कहा — देव दीखते नहीं हैं। शास्त्र ही प्रमाण है, तब शाह श्रीवन्त ने आदा खंड़ बोया, उसके खंड-खंड में सजीवता प्रमाणित की।

शाह श्रीवन्त चांपानेर के सुलतान के पास भी रहते थे, उस समय सं० १५७९ में खम्भात के पास कंसारी गांव में कडुवामति के मन्दिर में जो पर समवाय का आदमी भी दर्शनार्थ आए वह गाड़ी उतार कर जिनवन्दन

करें अन्यथा नहीं, खंभात में शा० धनुवा और मनुवा राज्यमान्य पुरुष हैं, उनमें से मनुआ देववन्दन करने आए हैं, यदि वे अपने मन्दिर में पगड़ी नहीं उतारेंगे तो नियम टूट जायगा, यह सोचकर श्रावक मिलकर मन्दिर आए और मनुआ को कहा – "हम पर समवायी हैं, क्यों पगड़ो उतारेंगे ." मनुआ का विरोध होते हुए भी पगड़ी उतारी गई, इस पर विरोधियों ने मनुआ के भाई को कहा – कंसारी के कडुआमतियों ने तुम्हारे भाई की पगड़ी उतार दी, यह सुनकर मनुआ का भाई उत्तेजित होकर वहां आया, अपना भाई सन्मुख मिला और पूछा भाई ? क्या मामला था ? जब कि तुम्हारी पगड़ी उतार दी गई। भाई ने कहा – नहीं मैं स्वयं उतार रहा था उस समय उन्होंने हाथ लगाया, मनुआ के भाई का क्रोध शान्त हो गया। बाद में यथार्थ जानकर मनुआ ने कंसारी का महाजन इकट्ठा किया और बंधा लगाया कि कंसारी के कडुआमतिको कोई कुछ भी चीज न दें, यह बात सुनकर चांपानेर शाह गोरा के पास कंसारी के कडुआमति के श्रावक गए, साधर्मी जानकर उनसे गोरा मिले और आने का कारण पूछा। जाने वालों ने कहा – हम खम्भात के पास के कंसारी गांव से आये हैं, शाह गोरा ने पूछा – कंसारी में दोसी छांछा, दोसीपासा, सहिसा, आदि समस्त सकुशल हैं ? उत्तर में जाने वालों ने कहा – वे सब आपके सामने खड़े हैं, तब दूसरी वार मिले, देवपूजा की और भोजन के बाद पूछा – इतनी दूर से कैसे आना हुआ ? इस पर सब बात कही, जिसे सुनकर शाह गोरा सुलतान के पास जाके स्तम्भतीर्थ में महाजन पर बादशाह का फर्मान भिजवाया सर्व महाराज मिलकर चांपानेर पहुँचे और शाह गोरा को मिले और कंसारी के महाजन के साथ समाधान कर सकुशल घर आये। शाह गोरा ने सुलतान की आज्ञा लेकर, शत्रुञ्जय का संघ निकाला। शाह श्रीवन्त भी शत्रुञ्जय गये, शत्रुञ्जय की यात्रा कर वापस तलहटी आए, तब उनके पेट में दर्द होने लगा और शाह श्रीवन्त अरिहंत, सिद्ध जपते हुए ३३ वर्ष की उम्र में दिवंगत हुए।

बाद में शाह श्रीवीरा गुजरात गए, जहां संवरी का योग नहीं था, वहां कुछ दिन तक श्रावक ने भी व्याख्यान बांचा। सं० १५८१ में शाह रामा थराद में दिवंगत हुए तब उसके पट्टधर शाह राघव बैठे।

"सं० १५८५ में ऋषिमति की उत्पत्ति हुई, श्री प्रानन्दविमलसूरि क्रियोद्धार कर सर्वत्र फिरने लगे, धर्मार्थी के योग के बिना कडुप्रामति के सर्वक्षेत्रों को अपनी तरफ खींच लिया, जहां कहीं पढ़े लिखे श्रावक थे वहां लोग ठिकाने रहे।" सं० १५८६ में शाह श्रीराग ने स्तम्भतीर्थ के पास कसारी में दोसो पासा, सहेसा के श्री शान्तिनाथ की प्रतिष्ठा की।

सं० १५८८ में संघवी श्रीदत्त ने प्राबु, गोडी, चित्तौड़, कुम्भलमेर प्रमुख तीर्थों का संघ निकाला।

शाह वीरा सं० १५९० महमदाबाद में चतुर्मासक रहे, वहां शाह जीवराज को संवरी किया, दोसी मंगल को प्रतिबोध देकर पूनमिया से कडुवामति किया।

सं० १५९१ में पाटण में चोमासा किया, शाह रामा ने भी स्तम्भतीर्थ प्रमुख से मनुष्यां को ठिकाने रक्खा।

"सं० १५९२ में शाह रामा कर्णवेधी ने "श्री वीर विवाहला" और "लुम्पक वृद्ध हुंडी" जिसके पाने ३२९ और प्रधिकार ५७४ हैं बनाई, इस समय राजनगर के भण्डार में वह प्रति रक्खी हुई है।"

शा० वीरा सं० १५९३ में राधनपुर, थराद प्रमुख सर्वत्र विचरे और "सं० १५९४ में शाह रामा कर्णवेधी दिवंगत हुए।"

सं० १५९४ में सिरोही में चातुर्मास किया। सं० १५९५ में सादड़ी की तरफ विहार किया और नाडुलाई प्राये। वृद्धावस्था के कारण अब विहार भी नहीं कर सकते थे। सं० १६०१ में नाडुलाई में शरीर में बाधा हुई। यह वर्ष कठिन था अन्न से और रोग से। दूसरे संवरी शा० जीवराज प्रमुख सब पास में थे। शाह श्री वीरा के औषधार्थ किसी चीज की जरूरत थी, वह श्रावक के घर होते हुए भी मांगने पर नहीं मिली। औषध करना जल्दी था प्रतः शाह वीरा के पास की चार छापरी में से दो छापरी श्रावक के हाथ में दी और कहा – शाह भाणा के घर अमुक वस्तु है वह

लाओ, भावसा ने भाणां लेकर चीज तुरन्त दे दी। वह वस्तु शाहश्री के पास आयी, शाहश्री ने औषध प्रयोग किया। बाद में शाह श्री वीरा ने शाह श्री जीवराज को कहा – देख लिया न, संसार में सब स्वार्थी हैं, इसलिए आज से तुम संख्या मात्र ममता-रहित होकर द्रव्य रक्खो, आमन्त्रण से अथवा बिना आमन्त्रण से भोजन करने जाओ, हाथ में मुद्रिका पहनो, दो-चार वस्त्र ज्यादा रक्खो, समय विषम है, अपन तो द्वादशव्रतधारी श्रावक हैं, जितना भी संक्षेप करे उतना अच्छा, इनके अतिरिक्त दूसरी भी अनेक प्रकार की शिक्षा दी और शाह श्री वीरा १६०१ में सात दिन का अनशन पालकर दिवंगत हुए। शाह वीरा १४ वर्ष गृहस्थावस्था में रहे, २५ वर्ष सामान्य संवरी के रूप में रहे, ३० वर्ष पट्टधर रहकर ६९ वर्ष की उम्र में शाह जीवराज को अपने पद पर स्थापन कर स्वर्गवासी हुए।

४. शा० वीरा के पट्टधर शाह जीवराज :

जीवराज का जन्म अहमदाबाद में परीख जगपाल की भार्या बाई सोभी की कोख से सं० १५७८ में हुआ था, संवत् १५९० में शा० वीरा के पास संवरी बने, १२ वर्ष गृहस्थ रूप में, ११ वर्ष सामान्य संवरीरूप में संवरी रहने के पश्चात् आप पट्टधर बने थे। जीवराज बड़े यशस्वी थे। आपने खम्भात, अहमदाबाद, पाटन, राधनपुर, मोरवाड़ा, थराद प्रमुख अनेक स्थलों में मन्दिर तथा उपाश्रय करवाये, स्थान-स्थान पर श्रावकों को स्थिर रक्खा।

सं० १६०३ में थराद में शाह राघव दिवंगत हुए और उनके पट्टधर संवत् १६०४ में शाह जायसा (सो?) बैठे। शाह नरपति को संवरी बनाया, शाह साजन को संवरी किया।

सं० १६०६ में विजयामत की उत्पत्ति हुई सो लिखते हैं :

शा० जीवराज राधनपुर में ठहरे हुए थे, उस समय राजनगर में पार्श्वचन्द्र ने विजयदेव को पद दिया जिससे ऋषि ब्रह्मा संघ में नाराज

हुए, दरमियान पार्श्वचन्द्र हेबतपुर में उपाश्रय बनाने वाले थे। उनका अभिप्राय कडुआमतियों को अपनी तरफ खींचने का था, परन्तु मेहता आनन्द ने सोचा कि हेबतपुर में उपाश्रय हो गया तो हमारे साधर्मी शिथिल बन जायेंगे, इस कारण से ब्रह्मा ऋषि से मेहता आनन्द ने कहा – आप चिन्तामणि तक पढ़े हुए पण्डित होते हुए भी आपको पद नहीं यह क्या बात है ?, ब्रह्मा ऋषि ने कहा – आप भी तो उनके मुकाबिले के हैं. आप अपना नया गच्छ ही चला दो, आपको भी पूर्णिमा को पाक्षिक करने की श्रद्धा तो है ही ? ब्रह्मा ऋषि ने कहा – तुम्हारे कहना सत्य है, शास्त्र के आधार से मैं पूर्णिमा को पाक्षिक स्थापित कर सकता हूं, परन्तु मेरे पास श्रावक नहीं हैं, इस पर मेहता आनन्द ने कहा – मैं आपका श्रावक, यह कहकर आनन्द ने कहा – इसके लिए जो भी खर्च खाते की जरूरत हुई तो मैं करूंगा। ऋषि ब्रह्मा ने नया गच्छ कायम किया, म० आनन्द के प्रेम से उन्होंने नागिल सुमति की चतुष्पदी जोड़कर आनन्द को दी। पूर्णिमा को पाक्षिक कायम किया। पार्श्वचन्द्र जो उपाश्रय करवाने वाले थे, वह रुक गया, वहां के गृहस्थ ब्रह्मा ऋषि के गच्छ में मिल गए थे इधर राधनपुर में शाह श्री जीवराज ने सुना कि मेहता आनन्द ब्रह्मामति हो गया, इससे शाह जीवराज ने मेहता आनन्द को पत्र लिखकर पूछा कि – हमने ऐसी बातें सुनी हैं सो क्या बात है ? इस पर मेहता आनन्द ने ऋषि ब्रह्मा के पास आकर "मिच्छामि दुक्कडं" देकर बोला – मैंने प्रयोजन-विशेष से तुमको साथ दिया था सो तुम्हारा कार्य सिद्ध हो गया है, अब मैं अपने उपाश्रय जाऊंगा। बाद में आनन्द ने शाह श्री जीवराज को पत्र द्वारा अपनी सर्व हकीकत लिखी जिसे पढ़कर शाह जीवराज बहुत खुश हुए।

शाह श्री जीवराज बड़े प्रभावक थे। उन्होंने सं० १६०६ का चतुर्मासक पाटन में किया और वहीं से आबु प्रमुख की यात्रा की।

सं० १६१६ में शाह श्री जीवराज ने थराद में चतुर्मास किया बहुत उत्सव हुए, मासखमण प्रमुख तप हुए और शाह डुंगर को संवरी बनाया।

सं० १६१७ में शा० जीवराज राधनपुर चतुर्मासक रहे थे, दरमियान

खंभात में धर्मसागर के साथ सो० पौमसी ठा० मेव ने मास छह तक चर्चा की, प्रतिदिन सो० पौमसी, सो० वस्तुपाल, सो० रीढ़ा, सो० लाला प्रमुख समवाय ठा० मेरु के साथ आकर यति की प्रतिष्ठा-सम्बन्धी चर्चा करते थे, परन्तु शास्त्राधार से यति की प्रतिष्ठा प्रमाणित नहीं हुई, किन्तु श्रावक की प्रतिष्ठा सिद्ध हुई।

सं० १६१८ में शाह श्री जीवराज ने पाटन में चतुर्मास किया, वहां मन्दिर प्रमुख बहुत धर्मकार्य हुए।

सं० १६१६ में राजनगर में चतुर्मासिक किया।

सं० १६२० में खम्भात में चतुर्मासिक किया, वहां बहोरा जिनदास के मन्दिर की प्रतिष्ठा की और दोसी थावर द्वारा घृतपटी में मन्दिर करवाया और वहां से अनेक मनुष्यों के साथ आबु प्रमुख की यात्राएं की।

सं० १६२१ में थराद आकर शाहश्री ने एक श्रावक को यावज्जीव तीन द्रव्य के उपरान्त का प्रत्याख्यान कराया।

सं० १६२२ में मोरवाड़ा प्रमुख स्थानों में विचरे।

सं० १६२३ में पाटन में चतुर्मासिक किया और वहां शा० तेजपाल को और थराद में शा० नरपति तथा चोपसीशाह को संवरी किया। तथा संघवी संग्राम ने आबु प्रमुख का संघ निकाला।

सं० १६२५ में खम्भात में शाह रत्नपाल को संवरी किया।

सं० १६२६ में राजनगर में शाह श्रीवन्त तथा शा० वजूक को संवरी किया और शाह काशी प्रमुख को शाहपुरा में प्रतिबोध किया।

सं० १६२८ में शाह नरपति और शाह चोकसी के भाई जिनदास को संवरी किया।

सं० १६३० में शाह श्री जीवराज राधनपुर में चतुर्मासिक रहे और शाह साजन राजनगर में, वहां आजमखांन ने विरोध किया, उसने मनुष्य मरवाकर लटकाया, उसे देखकर शाह साजन विरक्त भाव से सोचते हैं देखो जीवधर्म के बिना इस प्रकार की पीड़ा पाते हैं, परन्तु अपनी इच्छा से कोई कष्ट नहीं करता और मनुष्य जन्म निरर्थक गंवाते हैं, यह सोचकर शाह

सज्जन ने चतुर्दशी का उत्तर वारणा किया और पाक्षिक के दिन पौषध कर काल के देव-वन्दन के बाद श्री चन्द्रप्रभ जिन की साक्ष से जावज्जीवाए तिविहाहार का प्रत्याख्यान किया। दूसरे दिन पारणे के समय पारणा न करने से लोगों ने जाना आज भी उपवास होगा, बाद में शाह साजन ने स्वयं बात कही – "मैंने तो अनशन किया है।" दोसी मंगल, दोसी सोना, शाह धना प्रमुख सघ ने विनती की, कि शाहजी यह कार्य बड़ा दुष्कर है, वास्ते आठ, अथवा १५, अथवा तो मासखमण करो पर अनशन न करो, इस पर शाह साजन ने कहा – मैंने यावज्जीव का प्रत्याख्यान कर लिया है, तब संघ ने राधनपुर शाह जीवराज को पत्र लिखकर जल्दी बुलाया, शाह जीवराज १७ वें उपवास के दिन आए, उत्सव बहुत हुए; ६१ दिन अनशन पालकर शाह साजन दिवंगत हुए, तब संघ ने मांडवी प्रमुख उत्सव करके अग्निसंस्कार किया और सघ ने असारउआ की धर्मसी पटेल की वाडी में स्तूप बनवाया, आज भी वह मोजूद है। तथा मेहुता जयचन्द को जो मेहुता नीम्बा के सन्तानीय थे उनको काबिलखान ने जेल में रक्खा था, उन्हें अहमदाबाद से दो० मंगल, प० रतना, दो० सोना, शाह धना ने पाटन जाकर तुरन्त मुक्त करवाया।

परी० कीका को शाह नरपति ने पढ़ाया, शा० नरपति बड़े पण्डित थे, अनेक विद्याएँ पढ़े थे।

सं० १६३१ में शाह नरपति दिवंगत हुए।
सं० १६३५ में शाह चोपसी दिवंगत हुए।
सं० १६३६ में शाह तेजपाल ने थराद में राजमल को संवरी किया।
सं० १६३८ में शाह गोवाल, शाह देवजी प्रमुख को प्रतिबोध किया।

सं० १६४२ में पाटन से परी० कीका ने आबु की यात्रा निकाली, साथ में शाह जीवराज प्रमुख संवरी थे, थराद से संघवी सीहा ने आबु का संघ निकाला, दोनों संघ इकट्ठे मिले, थराद से शाह जैसा आदि अनेक संवरी शाह जीवराज को मिले, आबु ऊपर शाह मांडन ने अनशन किया, उत्सव हुए, जिसकी हकीकत शाह मांडन के रास से जानना। शाह मांडन ५९ वें दिन दिवंगत हुए।

सं० १६४३ में दोसी ग्रमजी ने प्रतिष्ठा की, शाह जीवराज ने प्रतिमा प्रतिष्ठा की, बाद में खरतर शाह सोमजी शवा ने संघ निकाला, उन्होंने बहुत आग्रह करके शाहश्री को संघ के साथ लिया, शाहश्री अपने संघ के साथ खंभात के सोनी परखा प्रमुख राजनगर के भी अनेक मनुष्यों के साथ सब संवरियों को लेकर सिद्धाचल की यात्रा के लिए गए, वहां अनेक उत्सव हुए, पूजा, स्नात्रादि हुए, साह रतनपाल ने वहां पर अवन्ति सुकुमाल का नया रास बनाया और गाकर सुनाया, यात्रा करके सकुशल राजनगर आए।

सं० १६४४ में शाहश्री के शरीर में रोग उत्पन्न हुआ, समस्त संघ मिला और शाहश्री ने अपना आयुष्य निकट जानकर शाह तेजपाल को अपने पद पर स्थापन किया, संवरियों को अनेक प्रकार से शिक्षा दी, तीन दिन तक अनशन पालकर अरिहन्त सिद्ध जपते हुए जीवराजशाह दिवंगत हुए।

शाह जीवराज १२ वर्ष गृहस्थ रूप में, ११ वर्ष सामान्य संवरी के रूप में और ४३ वर्ष पट्टधर के रूप में रहकर ६६ वर्ष का आयुष्य पूर्णकर स्वर्गवासी हुए।

सार्धर्मियों ने बड़े ठाट के साथ देहसंस्कार किया, सारे नगर में दो दिन तक अमारि रही।

५. जीवराज के पट्टधर शाह तेजपाल का चरित्र :

पाटन के निवासी श्रीश्रीमाली दोसी रायचन्द की भार्या कनकादे की कोख से शा० तेजपाल का जन्म हुआ। शा० तेजपाल जीवराज के वचन से संवरी हुए थे। १३ वर्ष गृहस्थ रूप में, २१ वर्ष सामान्य संवरी के रूप में और दो वर्ष पट्टधर रहे। शाह तेजपाल बड़े विद्वान् थे। आपने 'महावीरं नमस्कृत्य" तथा "कल्याणकारणो धर्मः" इत्यादि 'सावचूरिक स्तोत्र' बनाए थे। शाह राजमल तथा चोथा को पढ़ाया और चोथा को धराद का आदेश दिया। दूसरे संवरियों को भी विद्या पढ़ा कर तैयार किया। आपको उदर-व्याधि की पीड़ा रहा करती थी।

सं० १६४५ में शाह श्रीवंत ने भी अपने स्तोत्र बनाए और शाह श्रीवंत सं० १६४६ में दिवंगत हुए।

शाह श्री तेजपाल ने पाटन में चातुर्मासक किया, वहां शरीर में विशेष प्रकार की बाधा उत्पन्न हुई। शाह रत्नपाल को पद पर स्थापन करके ३६ वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर स्वर्गवासी हुए।

६. तेजपाल के पट्टधर शाह श्री रत्नपाल का चरित्र :

शाह रत्नपाल खम्भात के समीपवर्ती कंसारी गांव के रहने वाले श्रीश्रीमाली वृद्धशाखीय दोसीवस्ता की भार्या रीढ़ी की कोख से जन्मे थे। शाह श्री जीवराज के वचन से आप संवरी बने थे, सूक्ष्म विचार में आप बहुत प्रवीण थे। आपने बहुत ही स्तवन-स्तुतियां रची हैं, चौवीस तीर्थङ्कर की, १३ काठिया की भास आदि प्रसिद्ध हैं।

सं० १६४७ में खम्भात में चातुर्मास्य कर वहां बाई सहजलदे ने शाहश्री की वाणी सुनकर तिविहार अनशन किया, उस समय हुरमज से शाह सोनी सोमसी आए और उन्होंने बहुत उत्सव किया, अनशन की बड़ी शोभा हुई। शा० श्री रत्नपाल के उपदेश से बाई को प्रतिदिन निर्यामणा होती, ५६ दिन अनशन पालकर वह दिवंगत हुई। श्रावकों ने मंडपी पूर्वक देह-संस्कार किया।

सं० १६४७ में शाह जैसा थराद में दिवंगत हुए। उसके पट्ट पर शाह खेतश्री बैठे।

सं० १६४८ में राजनगर में चतुर्मासक किया।

सं० १६४८ में शाह जिनदास की धर्मसागर के साथ चर्चा हुई। वहां धर्मसागर ने जिनदास को कहा – तुम अपने को धर्मार्थी कहते हो, इससे प्रमाणित होता है कि तुम अब तक धर्मी नहीं बने और जिन्दगी पर्यन्त धर्म प्राप्त नहीं होगा। शाह जिनदास ने कहा – हम भी युगप्रधान

के ध्यान में रहते हैं, क्योंकि मतान्तरों, गच्छान्तरों को देखकर उन पर हमारी आस्था नहीं आती। इसका धर्मसागरजी ने प्रत्युत्तर नहीं दिया।

सं० १६४६ का च ुर्मास शाह श्री रत्नपाल ने खम्भात में किया, वहां संघवी अमीपाल, सो० महीपाल, सो० पनीया, सो० लकमसी ने शाहश्री के वचन सुनकर सिद्धाचल का संघ निकाला, शाहश्री प्रमुख अनेक संवरियों के साथ खम्भात तथा दूसरे गांवों का संघ यात्रा कर सकुशल लौटा।

सं० १६५० में राजनगर में चतुर्मास किया, वहां सोन बाई ने अनशन किया और ६१वें दिन सोनबाई दिवंगत हुई।

सं० १६५३ का चतुर्मासक शाहश्री ने पाटन में किया। वहां के निवासो मेहता लालजी ने शंखेश्वर का संघ निकाला।

सं० १६५४ में शाह श्री रत्नपाल ने खम्भात में शाह माहवजी को संवरी किया।

सं० १६५५ में शाह जिनदास ने शाह तेजपाल को संवरी किया।

सं० १६५६ में शाह श्री रत्नपाल ने राजनगर में चतुर्मास किया। वहां के निवासी भणशाली जीवराज और भणशाली देवा ने सारे सौराष्ट्र का संघ निकाला, गिरनार शत्रुंजय, देव का पाटन, दीव प्रमुख सर्वत्र संघ के साथ शाहश्री आदि सर्व संवरियों ने यात्रा की और सकुशल वापस लौटे।

सं० १६५८ में शाह राजमल दिवंगत हुए।

सं० १६५६ में वस्तुपाल के बिम्ब का प्रवेश शाहश्री रत्नपाल ने करवाया।

सं० १६६० में शाहश्री रत्नपाल ने राजनगर में चतुर्मास किया। वहां के भणशाली जीवराज तथा भणशाली देवा ने आबु, गोडवाड़, राणपुर आदि का संघ निकाला, खंभात के साधर्मी तथा पाटन, राधनपुर, वराद के

संघों के साथ शाह श्री रत्नपाल आदि संवरी शाह जिनदास, शाह पुन्जा, शा० खेतसिंह, शा० चोथा, शा० महावजी, शा० तेजपाल, शा० ऋषभदास, शा० पुन्जिया, शा० गोवाल, शा० हीरजी आदि बहुतेरे संवरी साथ में थे। सर्वत्र देवपूजा विधिपूर्वक की गई। श्री संघ सिरोही आया, वहां चैत्यवासी के साथ चर्चा शाह श्री रत्नपाल तथा संघ के आदेश से शाह जिनदास ने की। वहां से संघ थराद आया, वहां समस्त संघ वात्सल्य १७ हुए, ६० मन शक्कर की जलेबी प्रतिदिन उठती थी, वहां संघ ३० दिन रहा और वहां से संघ राधनपुर तथा पाटन गया, सर्वत्र संघ वात्सल्य हुए।

इस प्रकार सकुशल यात्रा करके संघपति तथा शाहश्री प्रमुख सर्व घर आए।

सं० १६६१ में खम्भात मे चतुर्मासक किया और वहां पर शरीर में बाधा उत्पन्न हुई, शाहश्री ने जिनदास को अपने पद पर स्थापन किया और स्वयं अनशन पूर्वक स्वर्गवासी हुए।

सार्धमियों ने चन्दन प्रमुख से देहसंस्कार किया।

शाहश्री रत्नपाल १० वर्ष गृहस्थ रूप में, ३१ वर्ष सामान्य संवरी के रूप में और पांच वर्ष पट्टधर के रूप में रहकर ४६ वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर परलोकवासी हुए।

७. रत्नपाल के पट्ट पर शाह श्री जिनदास :

शाहश्री जिनदास का जन्म थराद में श्रीश्रीमाली बोहरा जयसिंह की भार्या यमुनादे की कोंख से हुआ था, जिनदास शाह नरपति के वचन से संवरी बना था।

सं० १६६२ में शाहश्री जिनदास राजनगर में चतुर्मासक किया, वहां के निवासी भणशाली देवा सुलतान का मर्जीदान था, उसने प्रतिष्ठा के मुहूर्त पर फाल्गुण वदि १ को आने की कुंकुंम पत्रिका लिखकर संघ को आमंत्रण दिया था, अनेक गांवों का संघ वहां एकत्रित हुआ, श्री ऋषभदेव की प्रतिमा एक ८५ अंगुल की प्रतिमा दो ५७-५७ अंगुल

की बड़ी, प्रतिमा एक ३७ अंगुल की बड़ी सब मिलकर १५० प्रतिमाएँ जिनदास ने तथा उनके आदेश से अन्य संवरी श्रावक ने प्रतिष्ठित की, इस समय उनमें से अधिकांश प्रतिमाएँ राजनगर में घांसी की पोल में भणशाली देवा द्वारा निर्मापित जिनचैत्य में तथा उसके भूमि-घर में बिराजमान हैं।

सं० १६६३ में शाहश्री ने पाटन में चातुर्मास किया और वहां पर परीख लटकण ने बिम्ब प्रवेश कराया, मेहता लालजी ने भी बिम्ब प्रवेश कराया, बहुत उत्सव हुए, शाह माहवजी ने "नर्मदासुन्दरी रास" बनाया।

सं० १६६४ शाहश्री ने राधनपुर में चतुर्मास किया और उसी वर्ष राजनगर से भणशाली पंचायण ने शखेश्वर का संघ निकाला, उसी वर्ष में खंभात में शाह माहवजी चतुर्मास रहे हुए थे, वहां सोनी वस्तुपाल की भार्या वैजलदे ने प्रतिष्ठा कराने का निचय किया। शाहश्री के आदेश से प्रतिष्ठा की गई, वहां दोसी शाह कल्याण शाह माहवजी के वचन से संवरी हुआ।

सं० १६६५ में शाहश्री खम्भात में चतुर्मास रहे, वहां बाई वैजलदे ने १२ व्रत ग्रहण किये, शाह माहवजी राजनगर में चतुर्मासक थे, वहां भणसाली देवा ने शान्तिनाथ का बिम्ब-प्रवेश कराने के लिए शाहश्री को वहां बुलाया, शुभ दिन में बिम्बप्रवेश करवाया।

सं० १६६६ में शाहश्री राजनगर में थे, शाह जीवा को संवरी किया, शाह माहवजी खम्भात में चतुर्मास थे, वहां २३ वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर शाह माहवजी दिवंगत हुए। शाह कल्याण खम्भात में थे, वहां धर्मनाथ के बिम्ब का प्रवेश कराने के लिए शाहश्री को बुलाया और मार्गशीर्ष सुदि ६ को बिम्ब-प्रवेश कराया गया। वहां के संघ ने शाह कल्याण को पढ़ाने के लिए, शाहश्री को सौंपा, इस समय पाटन निवासी परी० लटकन ने शत्रुञ्जय का संघ निकालने का निश्चय किया और खम्भात से शाहश्री को बुलाने के लिए आमन्त्रण किया। शाहश्री पाटन आए, वहां से संघ का प्रयाण हुआ, वहां से राजनगर आए, वराद का संघ भी अहमदाबाद आया, भणशाली

देवा प्रमुख सब शामिल हुए। शाह श्री जिनदास, शाह तेजपाल, शाह खेतसिंह, शाह चोथा, शाह ऋषभदास, शाह कल्याण, शाह जीवा, शाह पूंजिया, शाह रुडा प्रमुख बहुतेरे संवरी शत्रुञ्जय की यात्रा करके सकुशल राजनगर आए, भणशाली देवा ने साधर्मिक वात्सल्य किया, उसके ऊपर सात संघ वात्सल्य थराद के संघ ने किए, इस प्रकार सकुशल संघ पाटन पहुँचा। शाहश्री ने वहां चतुर्मास किया। शाह तेजपाल और कल्याण ने राधनपुर चतुर्मासक किया। शाहश्री पाटन से राधनपुर गए, वहां से थराद गए, सो० तेजपाल, शाह कल्याण, शाह जीवा साथ में थे, वहां ४५ दिन रहे, वहां पर शाह तेजपाल ने "नागनत्तुआ" की सज्झाई बनाई, वहां से वाव, सोहीगांव, मोरवाड़ा, महिमदाबाद आदि स्थानों में विचरते हुए राजनगर आए।

सं० १६६७ में शाहश्री ने चतुर्मास खम्भात में किया और शाह तेजपाल ने राजनगर में, शाह तेजपाल ने "दशपदी" और "पागडिसा पंचदशी" बनाई।

शाह श्रीवन्त १६६८ में राजनगर में और तेजपाल खम्भात में रहे।

सं० १६६९ में खम्भात में चतुर्मास रहे, वहां शाहश्री के शरीर में बीमारी उत्पन्न हुई और शाह तेजपाल उस समय राजनगर थे।

सं० १६७० में शाहश्री ने राजनगर में चतुर्मास किया और शाहश्री के आदेश से शाह तेजपाल तथा कल्याण थराद रहे। शाहश्री ने शाह विजयचन्द्र को संवरी बनाया।

इसी वर्ष में शाहश्री का शरीर रक्त-पित्त की पीडा से व्याप्त हुआ। शाहश्री ने संघ को इकट्ठा किया और धूमधाम के साथ भणशाली देवा के चैत्य में आकर देववन्दन किया, फिर उपाश्रय आकर शाह श्री तेजपाल को अपने पट्ट पर प्रतिष्ठित किया और शाहश्री अनशन-पूर्वक दिवंगत हुए।

शाह श्री जिनदास १७ वर्ष गृहस्थ रूप में, ३३ वर्ष सामान्य संवरी के रूप में और ९ वर्ष पट्टधर के रूप में रहकर अपने पट्टधर शाह श्री तेजपाल को स्थापन कर ५९ वर्ष का आयुष्य पूरा कर स्वर्गवासी हुए।

८. शाह श्री जिनदास के पट्टधर शाह तेजपाल :

शाह तेजपाल का जन्म खम्भात में सो० वस्तुपाल की भार्या कीकी की कोंख से हुआ था। शाह श्री तेजपाल शाह श्री जिनदास के वचन से संवरी हुआ था, अच्छा विद्वान् था। भट्ट पुष्कर मिश्र के पास चिन्तामणि शास्त्र पढ़ा था, पढ़ाई का मेहनताना प्रतिदिन का एक रुपया दिया जाता था। शाह श्री तेजपाल थराद में ठहरे, उस वक्त अनेक व्रत पच्चक्खाण हुए। मोदी हंसराज की माता जीवी ने अनशन किया, २२ दिन तक अनशन पालकर बाई ने आयुष्य समाप्त किया, बाई का दहन-संस्कार कर संघ समस्त उपाश्रय आया, शाहश्री के मुख से श्लोक सुनकर सब अपने स्थान गए।

उसके बाद शाहश्री राजनगर आए और भणशाली देवा ने स्वागत किया, उपाश्रय में जाकर श्लोक सुनाया।

शाहश्री १६७१ में पाटन में परीख लटकन के आग्रह से चतुर्मासक रहे। वहां श्री तेजपाल ने "संस्कृत-दीपोत्सवकल्प" बनाया। चतुर्विंशति जिनस्तोत्र, छन्द, स्तुति वगैरह रचे। शा० कल्याण खंभात में चतुर्मासक थे, राजनगर निवासी भणशाली देवा ने छरीपालते शत्रुञ्जय जाने की इच्छा की। चतुर्मास के बाद शाहश्री को वहां बुलाया और कार्तिक वदि ५ को शुभ मुहूर्त में यात्रार्थ प्रयाण किया, साथ में बहुतेरे परसमवायी थे। अनेक साधर्मी पाटन निवासी परी० लटकन, खंभात के संघवी अमीपाल, सो० हरजी प्रमुख संघ और परगच्छीय यात्रिक मार्ग में छरीपालते चलते थें, अनेक गांवों के संघ सम्मिलित होकर सिद्धाचल के दर्शनार्थ चले। मार्ग में एकाशन १, भूमिशयन २, उभयटंक प्रतिक्रमण ३, त्रिकाल देवपूजन ४, सचित्तत्यजन ५, ब्रह्मव्रत-पालन ६, पादचलन ७, सम्यक्त्वधरण ८ इत्यादि अनेक नियमों का पालन करते हुए आठम और पाक्षिक के दिन एक स्थान में रहते २२ दिन में श्री शत्रुञ्जय पहुंचे। शाहश्री आदि संवरी और भणशाली देवादि समस्त संघ ने श्री ऋषभदेव के दर्शन कर मनुष्य जन्म सफल किया। शाह रामजी तथा शाह हांसु को शाहश्री ने संवरी बनाया, आठ

दिन तक वहां रहकर १७ भेदादि पूजा करके समस्त संघ के साथ भणशाली देवा धोलका होते हुए सकुशल अपने घर पहुँचे।

सं० १६७२ में खम्भात में चतुर्मासक किया। शाह कल्याण ने राजनगर में चतुर्मासक किया, वहां के संघ ने व्याख्यान के समय पर उनके लिए पट्टक आसन स्थापन किया। भणशाली देवा ने शान्तिनाथ का परिकर प्रतिष्ठित करने के लिए चौमासा के बाद शाहश्री को वहां बुलवाया और शुभ दिन में परिकर को प्रतिष्ठा कराके स्थापित किया।

भणशाली देवा को शाह सलीम ने हस्ती अर्पण किया और भणशाली देवा के पुत्र भणशाली रूपजी को अजनेर में सुलतान ने हस्ती अर्पण किया।

सं० १६७३ में राजनगर में शाहश्री का चतुर्मासक था। वहां श्री भणशाली देवा ने १२ व्रत १५ मनुष्यों के साथ ग्रहण किये, उनके नाम परी० वीरदास, मं० संतोषो, मं० शवजी, शा० हरजी, परी० देवजी, शा० पनौया, गणपति प्रमुख थे। उनको सुवर्ण वेढ की प्रभावना दी गई, दूसरों को मुद्रिका की प्रभावना दी।

शा० कल्याण ने सं० १६७३ में खम्भात में चतुर्मास किया। वहां बाई हेमायी ने प्रतिष्ठा करवाने की इच्छा व्यक्त की, जिस पर से शाहश्री को वहां बुलाया गया। शाहश्री ने फाल्गुन सुदि ११ का प्रतिष्ठा-मुहूर्त दिया। शाह श्री तेजपाल ने विमलनाथ की प्रतिष्ठा की, बाई हेमायी ने संघ को वस्त्र की प्रभावना दी।

सं० १६७४ में शाहश्री ने फिर राजनगर में चतुर्मास किया और शा० कल्याण को पाटन भेजा।

सं० १६७५ में चैत्र सुदि में भणशाली देवा ने आबु, ईडर, तारंगा का संघ निकाला, सर्वत्र कुंकुम-पत्रिकाएँ भेजीं। खम्भात से अमीपाल सो०, हरजी संघवी, सोमपाल सं०, भीमजी सो०, नाकर शाह, सोमचन्द्र प्रमुख आए। सोजित्रा से बोहरा वाचा प्रमुख आए,

अहमदाबाद से भणशाली मूलिया, शा० देवजी, शा० लटकन, शा० वस्तुपाल, प० वीरदास, शा० होरजी प्रमुख संघ में आए। भणशाली देवा बड़े ठाट से चले, साथ में हाथी, घोड़े, पालकी प्रमुख सामग्री के साथ अपने स्वजन कुटुम्ब के साथ भणशाली देवा, भार्या देवलदे, पुत्र रूपजी, भ० खीमजी, पौत्र भ० लालजी, भ० देवा की बहिन रुपाई, बेटी राजबाई, सोनाई, भ० भाई कोका, भतीजे भ० विजयराज तथा भणशाली जीवराज के पुत्र भ० सूरजी, भार्या सुजाणदे, तत्पुत्र भ० समरसिंह, भ० अमरसिंह आदि परिवार के साथ संघ ने प्रयाण किया।

प्रथम श्री शंखेश्वर की यात्रा कर वहाँ से पाटन आए, वहां संघ वात्सल्य दो हुए, वहाँ से संघ सिद्धपुर यात्रा करते आबु पहुँचे, अचलगढ़ होकर देलवाड़ा गए, पूजादि उत्सव हुए, वहाँ से फिर अचलगढ़ होकर नीचे उतरे और आरासण की यात्रार्थ गए, वहाँ से ईडर यात्रा कर तारंगा गए। तारंगा से वडनगर पहुँचे, वहाँ भ० देवा ने संघ वात्सल्य किया, वडनगर के नागर ज्ञातीय बोहरा जीवा ने संघ वात्सल्य किया। भ० कोका ने वस्त्रार्पण किया और भ० समरसिंह ने मुद्रिका की प्रभावना की, इस प्रकार यात्रा करके पटनी, राधनपुरी, संघ को विदा किया और भणशाली शाह देवा सकुशल राजनगर पहुँचे और शाहश्री आदि संवरियों ने भणशाली देवा के आग्रह से सं० १६७५ का चतुर्मास वहीं किया। शाह कल्याण को चातुर्मास्य के लिए खम्भात भेजा। इस वर्ष में बाई वाली ने अनशन किया और शाह खेतसी, शाह चौथा, शाह ऋषभदास प्रमुख संवरियों की निर्यामणा से चित्त स्थिर रखकर ५७ वें दिन वह दिवंगत हुई। इस चतुर्मास्य में शाह श्री तेजपाल ने "सप्तप्रश्नी" आदि अनेक प्रकरणों की रचना की और राजनगर निवासी भणशाली शाह पंचायत ने छरी पैदल संघ निकाला। चैत्रादि स० १६७५ के कार्तिक वदि १३ के दिन संघ का प्रयाण हुआ, साथ में हाथी, घोड़े, रथ, पालकी प्रमुख साज समान आदि था। पाटन, राधनपुर, खम्भात, आदि स्थानों के भी साधर्मिक समाज संघ में सम्मिलित हुए, बड़े उत्सव के साथ यात्रा प्रभावना हुई और संघ वहां से सकुशल वापस राजनगर आया, अहमदाबाद में भ० देवा ने

नोकारसी की और सर्व गच्छों में जामी एक, मोदक एक की लाहण की, अपने गच्छ में सर्व सार्धमियों को गद्याणा एक के केवेलिये दिए, भ० देवा ने धर्म की बड़ी उन्नति की, बाद में भ० कीका दिवंगत हुआ।

सं० १६७७ में शाह तेजपाल और शाह कल्याण ने एक साथ चतुर्मास किया, वहाँ एक दिन दोनों साथ में स्थण्डिल गए, वहाँ लुम्पक के दो वेशधर मिले, उन्होंने आते ही शाहश्री को कहा – "धर्मसागर ने कहा – वह यथार्थ मिला" इसके उत्तर में शाहश्री ने कहा हमारे सम्बन्ध में तो ५–७ पाने होंगे, परन्तु तुम्हारी भक्ति तो उन्होंने बहुत की, उन्होंने कहा – कहिये क्या बात है ? तब शाहश्री ने कहा बात कहने से स्पर्द्धा बढ़ती है, इसलिए स्पष्ट न कहना अच्छा है, उन्होंने कहा – कहिये तो सही बात क्या है ? शाहश्री बोले – लो सुनो "प्रवचन परीक्षा" में तुम्हारे जिनदत्तसूरि तथा तरुणप्रभाचार्य को निन्हव ठहराया है, उनकी बहुत सी भूलें निकाली है, तब खरतरों ने कहा – अब रखिये, हम जानते थे कि तुम इन बातों से अपरिचित होंगे, इस पर लुंका ने कहा – अच्छा किया, इनकी पोल खोल दी।

वहाँ से मार्गशीर्ष सुदि में भ० पंचायत ने श्री शंखेश्वर का संघ निकाला।

सं० १६७८ में तथा १६७९ में शाहश्री पाटन ठहरे और वहां पर अनेक स्तवन सज्झाय, शतप्रश्नी आदि बनाये। शाह श्री कल्याण को इन्हीं दो वर्षों में खम्भात में चतुर्मासार्थ भेजा, वहां लुम्पक के साथ चर्चा हुई और लुंका को निरुत्तर होना पड़ा।

सं० १६७९ थराद में तपों के घर १७ है और कडुआमति के ७०० घर हैं वहां कडुवा मन्दिर में तपा देव-वंदन करने आये, तब घर से अबोटिये पहनकर जाएँ, पूजा करने के बाद, गीतगान सुनने का मन हो तो पगड़ी उतार कर रंग मंडप में बैठकर सुने, यदि पगड़ी बन्धी रखने की इच्छा हो तो वे मंडप के बाहर बैठे यह हमेशा की व्यवस्था है। दर्मियान गान्धी हरजीवन का भतीजा गाँधीलालजी पगड़ी न उतार कर रंग मंडप में बैठ,

कडुआमतियों ने उसको हमेशा की रीति से बैठने को कहा – पर लालजी ने नहीं माना और बात खींचतान में पड़ गई। गांधी हरजीवन ने राधनपुर के तपागच्छ को लिखा, "यहां कडुआमती बहुत हैं, अगर आप हमारी मदद नहीं करेंगे तो हम भी तपा मिटकर कडुवामती बन जायेंगे।"

सं० १६७१ के भाद्रवा सुदि २ के दिन पत्र पहुंचा और सभा में पढ़ा गया, पंन्यास ने कहा – धर्म के खातिर चक्रवर्ती का सैन्य मार डालने पर भी पाप नहीं लगता, तपा का साथ कडुवामती का और कडुवामती का साथ तपा का उपाश्रय गिराने आये, उपाश्रय में कुछ पौषधिक बैठे थे, चित्त को स्थिर कर बैठे रहे, तपा के साथ ने कडुवामती उपाश्रय का छप्पर गिरा दिया, अन्दर बैठे हुए स्थिर रहे और कहने लगे – हमसे आपको कोई भय नहीं है, हमारे शाहश्री का यह उपदेश नहीं है कि हम किसी को मारें, बाद में मेहता रत्ना के पुत्र म० वीरजी के पौत्र म० संघवी ने दूसरे मनुष्यों का बुलाकर तपा के साथ को रोका, वह छप्पर गिराकर चला गया, बाद में वहां के कडुवामतियों ने थराद अपने सार्धमियों को लिखा कि आज यहां इस प्रकार की घटना घटी है, पत्र पढ़कर सबको दुःख हुआ, कितने कडुवामती तपा का उपाश्रय गिराने के लिए तैयार हुए, पर शाहश्री खेतसी ने रोका, दोसी रत्ना, सेठ नाथा आदि ने उन्हें समझाकर रोका, बाद में थराद का संघ अजमेर सुल्तान शाह सलीम के पास जाने को रवाना हुआ। राधनपुर का तपा सेठ वाला भी बादशाह के पास जाने को रवाना हुआ, इतने में राजनगर से भ० देवापुत्र खीमजी तथा तपा का शान्तिदास भी बादशाह के पास जाने को रवाना हुआ, सब अजमेर पहुँचे, थराद का संघ भण० खीमजी को मिलने गया। खीमजी ने कहा – यदि द्रव्य का काम हो तो मुझे कहना, शाहश्री कडुवा के समवाय की बात ऊँची रहे वैसे करना।

संघ के बादशाह के पास जाने के पहले, संघवी चन्दु तपा ने मेहनत कर संघ को अपने घर लेजाकर जिमाया और तपा के साथ से उपाश्रय ठीक करवाने की कबूलात करवायी और रुपया १० केसर खाते देने का निश्चय हुआ, इस प्रकार समाधान कर सब अपने स्थान गए। कडुवामती सकुशल थराद आए, घर आने के बाद राधनपुरी तपा समाज ने कडुवा का उपाश्रय

ठीक नहीं करवाने का निश्चय किया, इतना ही नहीं राधनपुरी तपा साथ ने कडुवामतियों के साथ असहकार करते थे, इस प्रकार बहुत दिनों तक झगड़ा चलता रहा, तपा बहुत थे तो भी कडुवामतियों के सामने उनका कुछ भी नहीं चला, अहमदाबाद बन्दा करवाने आए, परन्तु भ० रूपजी, समरसिंह की शर्म से किसी ने बन्दा नहीं किया, बाद में थरादरी में मोर-वाडा, सोहीगांव, वाव प्रमुख सर्व गाँवों में कडुवामती और तपाओं के आपस में झगड़े चले, पर कडुवामती पराजित नहीं हुए।

सं० १६८० के बाद थराद का संघ दो० रत्ना, सेठ नाथा प्रमुख और राधनपुरीय महेता वीरजी प० मूला प्रमुख सर्व अहमदाबाद आजमखांन को मिलकर मोदी हंसराज, मोदी वधुआ, राधनपुरी तपा को बुलाने गए, उन्होंने सब बात सुन ली थी, इसलिए वे पहले से ही निकल गए थे और उनको वीरमगांव में मिले, वहां मोदी हंसराज ने बहुत आदर किया। वे सब साथ मिलकर राजनगर आए, दरमियान हाकिम आजमखांन की मृत्यु हो चुकी थी, अब आगे क्या करना, यह संघ के सामने प्रश्न खड़ा हुआ और सब ने मिलकर यह निश्चय किया कि अब बादशाह के पास जाना, यह बात तपा शान्तिदास के कानों पहुँची, उसने सोचा कि थराद के आगेवान बादशाह के पास जायेंगे तो मुझे भी बुलायेंगे। इसलिये मुझे पहले ही से अपनी व्यवस्था कर लेनी चाहिए। यह सोचकर वह राधनपुरीय तपाओं के पास जाकर बोला – कडुवामती बादशाह के पास जायेंगे तो मुझे भी बुलायेंगे, इसलिए तुम्हारी बात रखनी हो तो मैं कहूं वैसा करो। आगे उसने कहा – मेरा कहना यह है कि तुम सब सागरगच्छ के साथ रहना कबूल करके लिखत करो और उस पर सही करो। अधिकांश राधनपुरियों ने शान्तिदास की बात मान ली और शान्तिदास ने सही ले ली और रूपजी के पास आकर बोला – मैं कुछ आपसे चीज मांगता हूँ। भणशाली ने कहा – कहिये वह क्या है? शान्तिदास ने कहा–थराद और राधनपुरी संघ के आपस में मेल करा दो और १० रुपये केसर के मुझ से ले लो। बाद में शान्तिदास भणशाली को अपने साथ लेकर ईदलपुर गया और थराद के संघ को वहां बुलाकर उनकी सब बातें शान्तिदास सेठ ने कबूल करवाई, सेठ को वस्त्र देकर

और बाकी सबको श्रीफल देकर आपस में समाधान किया, बाद में थराद के संघ ने राधनपुर में सार्धमिक वात्सल्य किया। राजनगर में सार्धमिक वात्सल्य किया, अहमदाबादी संघ ने राधनपुर को तथा थराद के संघ को भोज दिए, भ० रूपजी, भ० समरसिंह ने साधर्मिकों को वस्त्र प्रभावना दी, इस प्रकार अनेक उत्सव हुए और सकुशल अपने स्थान पहुंचे। शान्तिदास के मनुष्य ने आकर कडुआमती का उपाश्रय ठीक करवाया। राधनपुर के तपाओं में सागर के पक्ष में सही करने के कारण आपस में क्लेश हुआ।

शाह श्री तेजपाल सं० १६८० में खम्भात में चतुर्मासक ठहरे और शाह श्री कल्याण को पाटन भेजा, शाहश्री ने खम्भात में "नयी स्नान विधि" तैयार की, श्री शान्तिनाथ की प्रतिष्ठा की।

सं० १६८१ में शाहश्री ने संघ के आग्रह से फिर खम्भात में चातुर्मास किया। शाह कल्याण ने राजनगर में चातुर्मास किया, वहां पर शाहश्री के आदेश से लटकन के पुत्र शाह देवकरण की तरफ से बिम्ब प्रवेश किया और शाह रूपजी की तरफ से मार्गशीर्ष में उत्सव-पूर्वक बिम्ब प्रवेश किया।

सं० १६८२ में शाहश्री ने राजनगर में चतुर्मास किया और शाह कल्याण को पाटन, तथा शाह विजयचन्द्र को खम्भात भेजा। राजनगर के चतुर्मास में भणशाली पंचायन प्रमुख ८५ मनुष्यों ने अट्ठाई की, वहां पर शाहश्री ने सीमन्धर स्वामी का "शोभातरंग" बनाया, बड़ा सुन्दर ४३ ढालों में पूरा हुआ है, श्री अजितनाथ की स्तुति, अवचूरी के साथ बनाई।

सं० १६८३ में राजनगर में भण० देवा की बहिन रूपाई ने प्रतिष्ठा के लिए बीनती की, शाहश्री ने सं० १६८३ के ज्येष्ठ सुदि ३ के दिन मुहूर्त दिया। सर्वत्र कुंकुम पत्रिकाएँ भेजी गई। रत्नमय, पित्तलमय, पाषाणमय-प्रतिमा ७५ की प्रतिष्ठा हुई।

सं० १६८३ में शाहश्री ने पाटन में चतुर्मास किया, शाह कल्याण को खम्भात चतुर्मास के लिए भेजा।

सं० १६८४ में शाहश्री ने खम्भात में चतुर्मास किया और शाह कल्याण ने राजनगर में और शाह विजयचन्द्र ने राधनपुर में भण० देवा के

पुत्र भ० रूपजी ने अपने साधर्मी भाइयों और बहिनों के चखला, नोकार वाली, पोषध आदि का वेश और बाइयों को साड़ी नोकार वाली, एवं हाथी दांत के डांडी का ने चखले प्रभावना में दिए, इस वर्ष में शाहश्री ने संस्कृत में "वीरतरंग" और "अजिततरंग" बनाये – जिनका श्लोक प्रमाण अनुमानतः दस हजार है और शाह कल्याण ने "धन्य विलास" की रचना की जिसकी ढालें ४३ हैं तथा "युगप्रधान पट्टावली" की टीका संस्कृत में बनायी तथा "युगप्रधान वन्दना" प्रमुख अनेक ग्रन्थों की रचना की, इस प्रकार कडुवागच्छ मत की पट्टावली अष्टम पट्टधर विराजमान शाह श्री तेजपाल के प्रसाद से शाह कल्याण ने सं० १६८५ के पोष सुदि पूर्णिमा पुष्य नक्षत्र के योग में बनाई ।

(कडुआमत की लघुपट्टावलो के आधार से अन्तिम दो नाम)

९. शाह कल्याण विद्यमान, १६८५ ।
१०. शाह भल्लु ।
११. शाह भाण ।

शुद्धि-पत्रक

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
गुर्वावल्य	३	१५	गुर्वावल्य:
स्यविर	६	२	स्थविर
वार्द्धवय	६	३	वार्द्धवय
सघ	६	५	सघ
एयायरियस्स	१२	४	एगायरियस्स
विण्णेय	१३	२२	विण्णेयं
निगंथा	१५	२१	निग्गंथा
भंतेवासी	१६	१८	अंतेवासी
स्यविर	१६	२४	स्थविर
काकद	१७	१२	काकंद
सभूतविजय	१७	१५	संभूतविजय
,,	१७	१६	,,
अज्जतावसाआ	१८	५	अज्जतावसाओ
स्यविर	२०	१	स्थविर
सभूतविजयजी	२०	१	संभूतविजयजी
कोडंबाणा	२०	१७	कोडंबाणी
स्यविर	२०	२०	स्थविर
,,	२०	२२	,,
राहगुप्त	२०	२४	रोहगुप्त
चउत्थयं	२२	२	चउत्थयं
गोडा	२२	२१	गोंडा

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
भद्दीया	२३	१७	भद्रीया
बभदासिय	२५	४	बंभदासिय
तियं	२५	४	बितियं
त०	२५	२५	तं०
एत्य	२६	११	एत्थ
एत्थण	२६	१३	एत्थण
एत्यणं	२६	२४	एत्थणं
ण	२७	अंतिम	णं
रासवगुत्ते	२८	२४	कासवगुत्ते
आय	२८	अंतिम	आर्य
आर्यसिह	२९	४	आर्यसिंह
हत्थि	२९	२१	हत्थि
तत्तो य	३०	१	तत्तोय
दुजंपन्त	३०	१०	दुर्जयंत
काश्यप गात्राय	३०	११	काश्यप गोत्रीय
स्यविर	३०	१६	स्थविर
ग्रोर	३४	१५	ग्रोर
बगाल	३७	१४	बंगाल
पूजापाट	३९	८	पूजापट
अत	३९	९	आत
अर्य	४२	२५	आर्य
कह	४४	८	यह
अयथाथ	४६	१३	अयथार्थ
शाखाओं	४६	२०	गाथाओं
बीसवसाणि	४७	१८	वीस वासाणि
यशाभद्र	४७	अंतिम	यशोभद्र
इनकी	४८	२	उनकी
समूतविजयजी	५२	१७	संभूतविजयजी

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
स्कन्दि	५३	६	स्कंदिल
सघ स्थविर	५४	३	संघस्थविर
श्रमणसघ	५४	९	श्रमणसंघ
सघ	५४	१८	संघ
सगोत्त	५५	१६	सगोत्तं
वि० स०	६१	१	वि० सँ०
दा हजार	६४	६	दो हजार
शिलाण्ट्ट	६४	९	शिलापट्ट
निर्वाण स०	६५	४	निर्वाण सं०
बाता	६५	६	बातों
ग्राश्चय	६५	७	ग्राश्चर्य
परम्पस	६५	२३	परम्परा
"जमालि	६७	१७	"जमालि"
खडे	६८	१७	खडा
वचा प्रयोग	६८	२४	वचन प्रयोग
बनहा	६९	५	बनता
शयाक्रियोपयुक्त	६९	६	शयन क्रियोपयुक्त
श्रमणो संघ	६९	२७	श्रमणीसंघ
जाव	७०	१६	जीव
करते हैं	७०	२२	करता है
पकवान	७१	११	पक्वान्न
सिद्धाम्त	७१	१९	सिद्धान्त
लक्ष्मोधर	७४	६	लक्ष्मीधर
रामयादि	७५	१	समवादि
तट पर ये	७५	२१	तट पर थे
स्यित	७५	२२	स्थित
गोष्ठामाहिल	७९	२१	गोष्ठामाहिल
सम्यववादो	८१	१६	सम्यग् वादी

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
षटलक	८४	२३	पटलक
उपलब्ध	८६	३	उपलब्ध
,,	८८	१६	,,
शिवभूते"	६४	६	शिवभूति"
दोक्षा	६४	१०	दीक्षा
गृन्थों	१०१	६	ग्रन्थों
प्रयोग हा नहीं	१०४	५	प्रयोग ही नहीं
दिव्यवावदान	११३	१३	दिव्यावदान
प्राची घटनाओं	१२१	२२	प्राचोन घटनाओं
आर्यमक्षु	१२२	६	आर्यमंक्षु
कषाप्राभृत	१२२	६	कषायप्राभृत
पुरुण	१२३	१५	पुराण
सिद्धान्तिक	१२४	२१	सैद्धान्तिक
पचास	१३३	१८	पंचास
बद	१३३	२०	बाद
६० वर्ष	१३५	१६	३० वर्ष
ऊहपोह	१३७	१	ऊहापोह
संविज्ञ	१४०	५	संविग्न
प्रद्योवनसूरि	१४०	१५	प्रद्योतनसूरि
कुम्रमेनागिपुरे	१४०	२३	कुम्रमेनागपुरे
ऽधिकं वीर	१४०	१४	ऽधिकंर्वीर
मानतुग कवि	१४०	२५	मानतुंग को कवि
दोकर	१४२	१३	होकर
निवृंत्ति	१४४	१६	निवृंति
बनाना	१४४	२३	बनाया
मणिरत्नप्रभसूरि	१४५	१६	मणिरत्नसूरि
चत्यवन्दादि	१४८	१२	चैत्यवन्दनादि
आकर	१४६	८	जानकर

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
पड था	१४६	१३	पड़ा था
अचार्य	१४६	२१	आचार्य
विज्ञप्तिलेखन	१५१	१८	विज्ञप्तिलेख
विमलसरि	१५२	१०	विमलसूरि
खं ात	१५४	१७	खंभात
मालिक	१५४	२०	मलिक
फजल के तीजे	१५७	६	फजल के भतीजे
बादशाह् का	१५७	८	बादशाह् को
अजन	१५६	१६	अंजन
हुआ था था।	१६०	३	हुआ था।
काई नहीं	१६०	२०	कोई नहीं
आचर्य श्री	१६१	१६	आचार्य श्री
दल ब दल	१६२	१२	बल वादल
सूातबन्दर	१६३	५	सूरतबन्दर
देश में	१६७	७	देशों में
सुत्तत्यदायगा	१७१	५	सुत्तत्थदायगा
सधा	१७१	२४	सच्चा
वर्ष	१७५	८	वर्षों
मानते	१८१	२१	मानने
सूमति साघुसूरि	१८२	२	सुमति साधुसूरि
स०	१८२	६	सं०
मेरा	१८३	१३	मेरी
हससोम	१८५	१६	हंससोम
गच्छाधिप	१८५	२६	ग.च्छाधिप
१५३६	१८७	६	१५६६
तुर्मुख	१८८	३	चतुर्मुख
लुंगा	१८८	६	लुंका
सहस्रोषधि	१८८	६	सहस्रोषधि

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
वहीं	१८८	१३	वहां
प्रश्नावक	१८८	१४	प्रश्नादिक
तैय्यार	१८८	१५	तैयार
वटियां	१८९	२	वहियां
निश्चित	१८९	१५	निश्चित
वह	१९१	२१	यह
नको	१९१	२१	नक्की
वृन्तान्त	१९१	२६	वृत्तान्त
हां	१९३	८	और
सघवी	१९४	२२	संघवी
संघविव	१९४	अंतिम	संघविन
सघवी	१९५	४	संघवी
उतराधिकारी	१९५	९	उत्तराधिकारी
अपये	१९६	१६	अपने
क्रूछ	१९७	५	कुछ
पहुंचते	१९७	२५	पहुंचने
पट्ट पर	२००	७	पट्टपर
मेहे एयो	२००	१६	मेहेल्यो
सहुसने	२०२	१०	सहुसेन
यतियों की	२०२	२३	यतियों को
निरुतर	२०३	१६	निरुत्तर
पार्टियों	२०३	१९	पार्टियां
विजयभान	२०६	९	विजयमान
स० विजयसेन	२०८	६	सं० १६७३ विजयसेन
भीसमइ	२१९	३	त्रीसमइ
पाटित्र-विग्रण	२१९	३	पाटि भवियण
जिनरंजइ	२१९	४	मनरंजइ
विजय जितेन्द्र	२२०	९	विजय जिनेन्द्र

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
क्रम:	२२०	६	क्रमशः
इसो	२२०	२०	इस
पट्टावली के	२२०	२०	पट्टावली में
उत्यापिता	२२१	६	उत्थापिता
तया	२२४	१	तथा
प० दयालवि०	२२७	११	पं० दयालवि०
गुणसमुन्द्रसूरि	२२८	१६	गुणसमुद्रसूरि
पाश्वचन्द्र	२२६	१	पार्श्वचन्द्र
आचार्यपद स०	२२६	६	आचार्यपद सं०
मानतुग सूरि	२३१	७	मानतुंग सूरि
सघ सभा	२४५	१४	संघ सभा
रवखे	२४५	२०	रक्खे
अन्यथा	२४७	६	अन्यदा
सधुओं ने	२४७	११	साधुओं ने
समुदयों के	२४७	१७	समुदायों के
चतुर्मास्य	२४७	१८	चातुर्मास्य
दुर्गाचर्य	२४६	१	दुर्गाचार्य
कालान्तर से	२४६	२२	कालान्तर में
गर्गचार्य	२४६	२२	गर्गाचार्य
धर्म भवना	२४६	२७	धर्म भावना
परलो०	२४६	२६	परलोक
चत्य की	२५१	१३	चैत्य की
हृए	२५१	१४	हुए
आम्रदेव सरि	२५१	१६	आम्रदेव सूरि
सम्पारक	२५७	८	सम्पादक
जिन नत्वा	२५८	८	जिनं नत्वा
कथयत	२५८	१३	कथयतः
स० १३०५	२५६	१३	सं० १३०५

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
वधमा सूरि	२५६	१५	वर्धमान सूरि
ग्रन्भ	२६१	१२	ग्रन्थ
मध्य भरतीय	२६१	१३	मध्य भारतीय
ज्ञत	२६१	१८	ज्ञात
सम्बधी	२६३	७	सम्बन्धी
चाहिए	२६३	२२	चाहिए
निरव विविधि	२६४	२	निरव विविधि
चन्द्रसूरि और	२६५	१६	चन्द्रसूरि जिनपति को और
तलहटो	२६६	८	तलहट्टी
माम	२६८	१६	नाम
छात्र	२६६	४	मात्र
कहनी	२६६	८	कहानी
बनाया	२७१	१४	बनवाया
पहल	२७२	२०	पहले
होगा ?	२७५	३	होगा ?,
न होगा ६	२७५	७	न होगा ७,
स्थन	२७६	३	स्थान
उलने	२७६	१०	उसने
निषद्ध	२७६	१७	निषिद्ध
जिनप्रति सूरि	२७६	२५	जिनपति सूरि
उठने	२७७	३	उठाने
पट्टं	२७८	१५	पट्टे
नेमिचन्द्र	२७८	१५	नेमिचन्द
सजाओ	२७८	१७	संजाओ
उसको	२७८	१८	उसके द्वारा
लिखना	२७८	१६	लिखे जाने में
चत्यवासी	२७६	१६	चैत्यवासी
सवत्र	२८०	१	सर्वत्र

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्तयङ्क	शुद्ध
बुद्धिसगर	२८०	५	बुद्धिसागर
पालडदा	२८३	–टिप्पणी १	पालउदा
,,	२८३	–टिप्पणी २	,,
,,	२८३	,, ५	,,
भने को	२८५	३	आने की
गुरु का	२८७	१४	गुरु के
जक	२८७	–टिप्पणी ३	तक
बावाए	२८८	१८	बनवाए
तयार	२८६	२	तैयार
अभयदव	२८६	२०	अभयदेव
जुदङं	२९१	टिप्पणी १९	जुदउं
पुत्रों में	२९२	१४	पुत्रों से
कठोग	२९२	१५	कठोर
करना	२९३	८	कराना
श्रीधरशंकरा:	२९३	१५	श्रीधरशंकरा:
स्थापना की, भावना	२९३	१८	स्थापना की भावना
स्यान	२९३	१९	स्थान
श्रीमति	२९४	१२	श्रीमती
त्रिचरे	२९६	८	विचरे
व्रत	२९९	४	पद
स्यापन	२९९	१२	स्थापन
बाचनाचर्य	३००	१०	वाचनाचार्य
भिल्लई	३०२	टिप्पणी १२	भिल्लई
समवास	३०२	टि० १९	समवाव
भणहि	३०२	टि० १९	भविहि
राजस्वकाल	३०३	टि० १५	राजत्वकाल
तीथ यात्रा	३०५	५	तीर्थयात्रा
स्मीकार	३०५	११	स्वीकार

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
पद्मप्रभाचार्य	३०६	टि० १०	पद्मप्रभाचार्य
तमाशाबीन	३०६	टि० १६	तमाशबीन
कारित	३०७	टि० ७	कारितं
दसणस्स	३०६	७	दंसणस्स
सं० १२५	३११	४	सं० १२५२
पतन भग	३११	६	पत्तन भंग
महवीर	३११	८	महावीर
साधुओंक	३११	११	साधुओं की
सुदर	३११	२४	सुन्दर
सैकडीं	३१२	७	सैकडों
पदस्यापना	३१३	३	पदस्थापना
अर्हद्त	३१३	१२	अर्हद्दत्त
विवेक प्री	३१३	१२	विवेक श्री
चन्द्रयाला	३१३	१३	चन्द्रमाला
सं० १-८०	३१३	१४	सं० १२८०
पद्मावता	३१३	१६	पद्मावती
जिनाहितोपाध्याय	३१३	२०	जिनहितोपाध्याय
चरित्रसुन्दरी	३१४	४	चारित्रसुन्दरी
उज्चयन्त	३१४	२२	उज्जयन्त
सं७	३१५	२५	सं०
कलक्ष की तिष्ठा	३१७	६	कलश की प्रतिष्ठा
परिमण	३१७	१०	परिमाण
जिनेश्व सूरि	३१६	३	जिनेश्वर सूरि
देव भण्डगार	३१६	१६	देव भण्डागार
कल्यार ऋद्धि	३१६	२५	कल्याण ऋद्धि
बोजापुर	३२२	२३	बीजापुर
चत्य	३२३	२२	चैत्य
बाडड	३२४	२२	बाहड

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
स्तूतमूर्ति	३२५	३	स्तूपमूर्ति
चैत्र में	३२५	२२	चैत्य से
वडगांव में	३२५	२५	वडगांव से
पावपुरी	३२५	२६	पावापुरी
स्यापना	३२६	२०	स्थापना
ज्ञनलक्ष्मी	३२९	१७	ज्ञानलक्ष्मी
विधिममुदाय	३२९	२१	विधिसमुदाय
उच्चापुरीय	३२९	२२	उच्चापुरी
उनको	३३०	५	उनके
साधुओं की	३३०	९	साधुओं को
सघ	३३१	१४	संघ
जिनासा	३३१	टि० १	जिनाज्ञा
राजेन्द्रार्य	३३३	८	राजेन्द्राचार्य
हेमभषण	३३३	अंतिम	हेमभूषण
भो	३३५	८	भी
लाटहृद	३३९	५	लाटह्रद
जसलमेरु	३४०	७	जेसलमेरु
बहरामपुर	३४०	२४	बहिरामपुर
बनाकर	३४१	१७	बताकर
प० अमृतचन्द्र	३४१	अंतिम	पं० अमृतचन्द्र
टहर	३४२	१२	ठहर
सघ	३४३	४	संघ
मुंगुथला	३४३	७	मुंगथला
लोटकर	३४३	१३	लौटकर
रूप्य टक	३४३	१५	रूप्य टंक
छोटे में	३४३	२१	छोटे से
पढंकर	३४४	१३	पढकर
सघ	३४४	२०	संघ

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
स० १३६०	३४५	६	सं० १३६०
दिवमत	३४६	१३	दिवंगत
पटरट्ट	३४६	१७	पाटरट्ट
प्री	३४६	२२	श्री
विस्तार	३४७	१६	निस्तार
सघ बहिष्कृत	३५०	१२	संघ बहिष्कृत
सघ	३५१	१७	संघ
सभव	३५२	७	संभव
चामत्कारिक	३५३	२२	चमत्कारिक
वामावती रात्रिक	३५४	६	वामावर्ता रात्रिक
संकडों	३५४	२३	सैकडों
दिया गया	३५५	६	किया गया
निरूण	३५५	१२	निरूपण
यथाकोश	३५७	८	कथाकोश
दूसगेये	३५७	१६	दूसगेय
बंठने	३५८	१८	बंठाने
नत्वा	३५६	६	नत्वा,
जिनप्रभ	३६३	१०	जिनभद्र
अचार्य	३६३	१०	आचार्य
आचर्य	३६५	१६	आचार्य
नेमिचद्र	३६७	१८	नेमिचन्द्र
बुद्धिसाग सूरि	३६७	२०	बुद्धिसागर सूरि
नामधेय	३६७	२२	नामधेयं
विरुद्ध	३६८	३	विरुद
अत	३६८	१४	अन्त
पार्श्वनाथ प्रतिष्ठा	३७१	अंतिम	पार्श्वनाथ की प्रतिष्ठा
सकाशाद्वृहीत	३७५	१७	सकाशाद्गृहीतं

पृष्ठांक ३८१ पंक्ति ७ में "श्रावकों के" इन शब्दों के आगे "कुलों की नाम सूचियों के भूङ्गले लिखकर" पढ़ें।

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
अ।स्तित्व	३८२	२२	अस्तित्व

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यंक	शुद्ध
चाउवण्णे सघो	३८६	२१	चाउवण्णो संघो
कुशल	३८७	३	कुशील
तया	३८७	१२	तथा
लघुषरसंगजी	३९७	२२	लघुवरसंगजी
त्तेजसिंहजी	३९७	२५	तेजसिंहजी
पंच्चयसिए	४०६	९	पच्चासिए
बाघकर	४०७	११	बांधकर
अनुपायियों मे	४०८	१२	अनुयायियों में
निकालकर	४१०	१७	निकालकर
सीघस्थ छ ।	४११	५	सीघस्थ छे ।
सदिदत्र	४१२	४	संडिल्ल
आयनाग	४१२	२१	आर्यनाग
उपभ्रंश	४१२	२६	अपभ्रंश
नाम छोड़कर	४१२	२७	नामों को छोड़कर
उटपरांग	४१४	७	उटपटांग
सं० १५३३	४१४	१९	सं० १५५३
दशवैकालिक को	४१५	५	दशवैकालिक की
यानेंगे	४१५	१०	मानेंगे
घाडी	४१५	१९	गाडी
गोडे	४१५	१९	घोडे
संघ के	४१६	६	संघ का
कल्पित कया	४१६	१४	कल्पित कथा
रवाने	४१६	१४	खाने
तकल	४१६	२२	नकल
यांत्रिक	४१७	२२	य त्रिक
सामके	४१८	३	सामने
वस्त्रापात्र	४१९	अंतिम	वस्त्रपात्र
शा०	४२०	२	श्र०
निकालने	४२०	३	निकलने
सूत्रों को	४२२	९	सूत्र को

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
छीपा दोक्षा	४२३	२	छीपा धर्मदास दीक्षा
अभीपाल	४२३	७	अमोपाल
बीच शास्त्रार्थ	४२६	१६	बीच हुए शास्त्रार्थ
१७८७	४२७	१	१८७८
सं० १७८७	४२७	६	१८७८
पाय बांधकर	४२८	२०	पाटा बांधकर
हमको	४२८	२७	हकमो
वहां मर्यादा	४२९	२१	वहां न आकर मर्यादा
में आये	४३०	३	में न आये
बक्तचन्द	४३१	१०	वखतूचन्द
साधते	४३२	७	सांधते
सबरद्वार से	४३२	१३	संवरद्वार में
विजयदेव ने	४३२	१९	विजयदेव के
नहीं न दे	४३२	२१	नहीं दे
स्त्रा	४३२	२२	स्त्री
करले	४३३	११	कर लें
मांये	४३४	१६	मांहे
दिवमें	४३५	१	दिवसे
दृष्टि ने	४३७	१४	दृष्टि से
पट्टधर	४३७	१८	पट्टधर
सुतागमों की प्रस्तावनो	३३९	१	सुत्तागमे की प्रस्तावना
जयपाल गणि	३३९	१४	जयपाल गणि
शकरसेन	३३९	१६	शंकरसेन
उन्मूनाचार्य	३३९	१८	उन्मनाचार्य
सकने	४४२	२	सकते
स्वास्तिसूरि	४४२	९	स्वातिसूरि
गोविन्दवाचक	४४२	१५	गोविन्दवाचक
कोष्टक के	४४३	८	कोष्टक में

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
वज्रशाख	४४३	१२	वज्रशाखा
विद्याबर	४४३	१६	विद्याधर
मानला	४४५	८	मानना
भार्ग	४४५	१२	मार्ग
सस्बन्ध	४४५	१६	सम्बन्ध
नामों से मी	४४५	१७	नामों से भी
एकमत्य	४४५	१८	ऐकमत्य
तत्र	४४९	८	तब
कटार	४५०	५	कत्तर
सूत्रों में	४५१	३	सूत्र में से
वहार सूत्र	४५१	१४	व्यवहार सूत्र
जनवाणी	४५१	२६	जिनवाणी
सुतागमे	४५३	१८	सुत्तागमे
मुनिवय	४५३	२०	मुनिवर्य
सस्था	४५३	२३	संस्था
बैटकर	४५६	२०	बैठकर
चैत्य	४५६	२१	चैत्यं
इन नाम	४५७	१०	इस नाम
चैतस्	४५७	१५	चैतस
प्रायश्चित	४५८	१	प्रायश्चित्त
शिष्यि	४५८	१६	शिष्य
हुआ था	४६०	१३	हुआ था
जाने का	४६०	२०	जाने की
दक्षिणात्य	४६१	२	दाक्षिणात्य
नयां	४६१	२३	नया
स्थानक	४६४	६	स्थानक
मूर्तियां	४६४	११	मूर्तियों
अप्रमाणिक	४६५	२०	अप्रामाणिक

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
हटाए	४६५	२१	हटाया
स्वकर	४६६	४	रचकर
विषयों का	४६६	१०	विषयों को
सुझाया	४६७	१	सूझाया
वे कारण	४६९	२६	के कारण
सखा	४७०	५	सरवा
मानगे	४७०	१९	मानेंगे
संक्षिप्त	४७०	२३	संक्षेप
प्रकार्णक	४७१	३	प्रकीर्णक
फैसले	४७३	४	फासले
उनकी	४७३	७	उसकी
,,	४७३	१२	,,
हस्थाणापुर	४७४	३	हत्थणापुर
लेखक ने	४७५	५	लेखक को
बूटेरायजी ने	४७५	१६	बूटेरायजी
घोसीलालजी	४७६	९	घासीलालजी
शुद्धि प्रतियों	४७७	१७	शुद्ध प्रतियों
त्रिश्वास	४७८	२	विश्वास
पढने	४७९	१८	पढ़ने
तुझ से	४८१	६	मुझ से
पन्यास	४८१	१९	पन्यास
,,	४८१	२१	,,
चतुर्मास्य	४८३	३	चातुर्मास्य
कार्योत्सर्ग	४८५	७	कायोत्सर्ग
चत्यवासी	४८८	१३	चैत्यवासी
संवरी	४८८	२१	संवरो
चतुथ	४८८	२३	चतुर्थ
पन्यास	४९१	१३	पंन्यास

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
,, चतुथ	४६१	१६-१७	चतुर्थ पन्यास
उहोने	४६१	२०	उन्होंने
नामा	४६२	१	माना
पढा	४६४	६	पढाया
बताया	४६७	१८	बताता
वजीरशाह	४६७	८	वजीर शाह
गगडी	४६७	अंतिम	पगडी
शाह श्रीराग	४६६	४	शाह श्रीरामा
तुम्हारे	५०१	६	तुम्हारा
हुई तो	५०१	१२	होगी सो
सज्जन ते	५०३	१	सज्जन ने
सघ	५०३	१२	संघ
जिन दिवंगत	५०३	अंतिम	दिन दिवंगत
स्वतन	५०५	१०	स्तवन
खेतश्री	५०५	१६	खेतसी
च ुर्मास	५०६	४	चतुर्मास
जिनदास राजनगर	५०७	२२	जिनदास ने राजनगर
शखेश्वर	५०८	११	शंखेश्वर
निचय	५०८	१३	निश्चय
पट्टघर	५०६	२६	पट्टपर
वीरदस	५११	१३	वीरदास
सघ	५१२	८	संघ
संघ	५१२	१०	सब
पंचायत	५१२	२३	पंचायन
स० १६७५	५१२	२४	सं० १६७५
समान	५१२	२६	सामान
चतुर्भास	५१३	५	चतुर्मास
बले	५१३	११	बोले

अशुद्ध	पृष्ठांक	पंक्त्यङ्क	शुद्ध
पंचायत	५१३	१६	पंचायन
रग मंडप	५१३	२५	रंग मंडप
मंडा के	५१३	२६	मंडप के
बहु ।	५१४	३	बहुत
चवला	५१७	१	चरवला
चवले	५१७	३	चरवले

▼